शार्ङ्गदेवकृत

संगीतरत्नाकर

द्वितीय खण्ड

'सरस्वती' व्याख्या और अनुवाद सहित

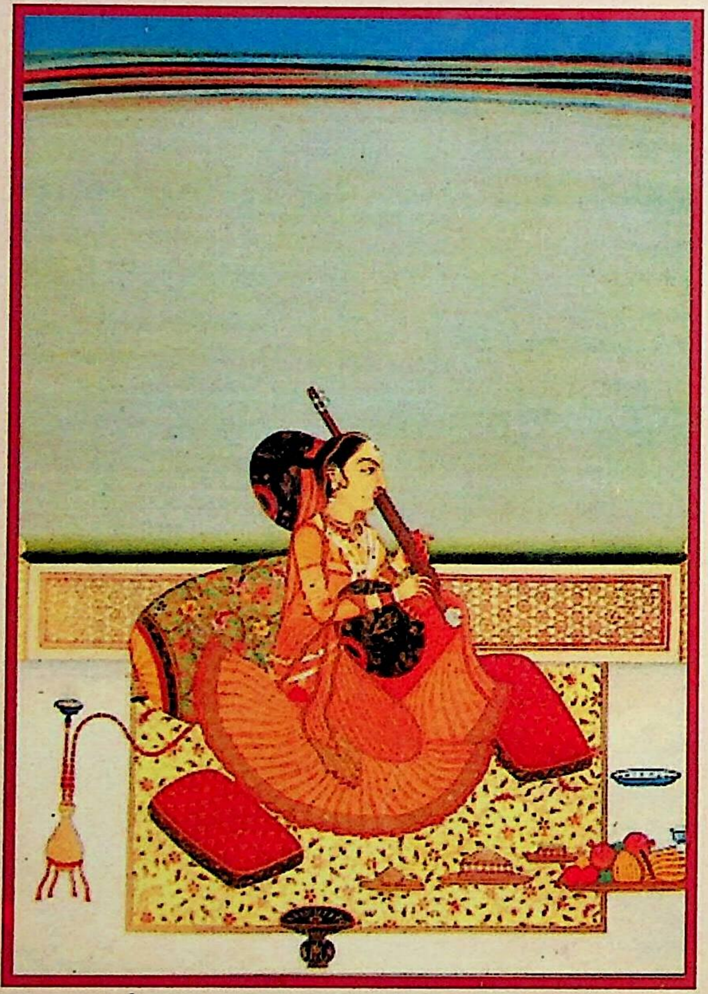

व्याख्या और अनुवादकर्त्री

सुभद्रा चौधरी

१३वीं शताब्दी में लिखित शार्ङ्गदेव का 'संगीतरत्नाकर' भारतीय संगीत का अनुपम शास्त्रग्रन्थ है जिसमें सिद्धान्तों का ऐसा व्यवस्थित, स्पष्ट, सूक्ष्म और प्रामाणिक निरूपण हुआ है जैसा संगीत के किसी दूसरे ग्रन्थ में नहीं है। यह बाद के सभी शास्त्रकारों को सर्वाधिक प्रभावित करने वाला, ग्रन्थरचना का आदर्श, आलोचना का पात्र और सबसे ज़्यादा अध्ययन किया जाने वाला ग्रन्थ रहा है।

संस्कृत में लिखे गये संगीत के सबसे लम्बे ग्रन्थों में से एक, जिस पर सबसे ज़्यादा टीकाएँ लिखी गईं, जिसके कई संस्करण प्रकाशित हुए, जिसका कई भाषाओं में अनुवाद हुआ और जिसके बिना संगीत के प्राचीन सिद्धान्तों को समझना संभव नहीं, ऐसे संगीतरत्नाकर के व्याख्यासहित प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद की, संगीत के छात्रों, शिक्षकों और शोधार्थियों के लिए, पिछले ३०-३५ साल से ज़रूरत महसूस की जा रही थी जिसे यह कार्य पूरा करेगा।

चार खण्डों में प्रकाशित होने वाले इस ग्रन्थ का पहला खण्ड सन् २००० में निकल चुका है। इस द्वितीय खण्ड में संगीतरत्नाकर के दूसरे, तीसरे और चौथे अध्यायों के मूल श्लोक, अन्वयसहित हिन्दी अनुवाद और लेखिका की 'सरस्वती' व्याख्या है। दूसरे अध्याय में रागों का, तीसरे अध्याय में वाग्गेयकार, गायक, कण्ठ-ध्वनि ('शब्द'), 'शारीर'. गमक, स्थाय, आलप्ति, वृन्द का और चौथे अध्याय में प्रबन्ध-निरूपण है। ये तीनों अध्याय वर्तमान संगीत से सीधे संबद्ध हैं और उस पर इनका गहरा प्रभाव भी है। इसलिये यह खण्ड संगीत की क्रिया और शास्त्र के अध्ययन में प्रवृत्त तथा रुचि रखने वाले छात्रों, शिक्षकों और अध्येताओं के लिये विशेष रूप से उपयोगी है।

5.2

संगीतरत्नाकर

शार्ङ्गदेवकृत

संगीतरत्नाकर

('सरस्वती' व्याख्या और अनुवादसहित)

द्वितीय खण्ड

दूसरा, तीसरा, चौथा अध्याय

व्याख्या और अनुवादकर्त्री

सुभद्रा चौधरी

राधा पब्लिकेशन्स
नई दिल्ली

राधा पब्लिकेशन्स

© लेखक

प्रथम संस्करण—2002
ISBN 81-7487-268-X

मूल्य : 750 रुपये

श्री नितिन गर्ग द्वारा राधा पब्लिकेशन्स 4378/4बी अन्सारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-2 के लिए प्रकाशित।
जे० आर० प्रिंटर्स खजानी नगर, जौहरीपुर, दिल्ली-94 द्वारा शब्द संयोजन
तथा तरुण आफसेट प्रिंटर्स, दिल्ली-53 में मुद्रित।

SAṄGĪTARATNĀKARA : *by Subhadra Chaudhary*

संगीतोद्धारक

दादागुरु पं० विष्णु दिगम्बर पलुस्कर को

समर्पित

जिनके द्वारा

शास्त्रीय संगीत में पुनःप्रवाहित भक्ति की धारा ने

परोक्ष रूप से

बाल्यकाल में मेरे संगीत-संस्कारों को

जगाया

अनुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

१. भूमिका (९-१९)

२. संकेत-सूची (२०)

३. विषय-सूची (२१-३६)

४. मूलपाठ, अन्वय, व्याख्या

  दूसरा अध्याय १-१०६

    पहला प्रकरण १-१४

    दूसरा प्रकरण १५-१०६

  तीसरा अध्याय १०७-२००

  चौथा अध्याय २०१-३२५

५. संदर्भ ग्रन्थ-सूची ३२६-३२७

भूमिका

मार्ग संगीत के विशिष्ट गेयरूपों—जाति, कम्बल, कपाल आदि और उनसे संबद्ध सभी मूल सिद्धान्तों का निरूपण पहले अध्याय में करने के बाद तज्जात या सहजात अथवा सहप्रवाही राग और तत्संबद्ध गमक, स्थाय, आलप्ति और प्रबन्ध तथा कुछ अन्य विषयों का निरूपण संगीतरत्नाकर के इस दूसरे खण्ड के तीन अध्यायों में हुआ है। एक ओर तो ये विषय प्राचीन संगीत से संबद्ध हैं और दूसरी ओर वर्तमान संगीत से भी इनका अति निकट का संबन्ध और उस पर गहरा प्रभाव है।

भारतीय संगीत में स्वरपक्ष का विकास और विस्तार शास्त्रबद्ध संगीत में जाति और राग के रूप में हुआ। इनकी अभिव्यक्ति दो प्रकार से होती है—एक तो अनिबद्ध, 'अ-पूर्वरचित', तत्काल स्फूर्त विस्तार के द्वारा और दूसरे निबद्ध, पूर्वरचित रचना के द्वारा। ये दोनों मिल कर ही राग के संपूर्ण स्वरूप और व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। लेकिन इनकी रचना विशिष्ट स्वरगुच्छों या स्वरसंचारों से होती है जो हर राग में कुछ विशेष यानी हर राग के अपने-अपने और कुछ सामान्य अर्थात् कई रागों में प्रयोग किये जा सकने वाले होते हैं। इन स्वरसंचार रूप अवयवों की शास्त्रीय संज्ञा 'स्थाय' है क्योंकि ये राग में स्थायी रूप से रहते हैं। वस्तुतः इनके बिना रागरूपी व्यक्ति की रचना संभव ही नहीं है।

स्थायों के द्वारा निबद्ध और अनिबद्ध के रूप में राग के व्यक्तित्व का निर्माता वाग्गेयकार होता है और प्रस्तुतकर्ता वाग्गेयकार अथवा गायक जो स्थायों को गमक आदि के द्वारा अलंकृत करके राग को सौंदर्य से परिपूर्ण करता है। उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम कण्ठ होता है लेकिन राग की सहज अभिव्यक्ति की शक्ति शरीर की सहजात यानी जन्मजात होती है। गायक द्वारा प्रस्तुति अकेले भी की जा सकती है और दूसरे गायक के साथ या समूह में भी।

इस प्रकार वाग्गेयकार, गायक, कण्ठध्वनि ('शब्द') और उसकी शक्ति ('शारीर'), गमक, स्थाय, अनिबद्ध ('आलप्ति'), बृन्द और निबद्ध ('प्रबन्ध')—इतने विषय राग की अभिव्यक्ति से सीधे जुड़े हुए हैं। इन्हीं का सांगोपांग निरूपण इस खंड के तीन अध्यायों में शार्ङ्गदेव का प्रतिपाद्य है। रागों को मार्ग और देशी—इन दो वर्गों में विभाजित करके दूसरे अध्याय के पहले प्रकरण में मार्गरागों का और दूसरे प्रकरण में देशीरागों का विवेचन है। इसीलिये इस अध्याय को 'रागविवेकाध्याय' नाम दिया है। तीसरे अध्याय में ऊपर उल्लिखित वाग्गेयकार से बृन्द तक के फुटकर और विविध विषयों का समावेश है। तदनुरूप इसे 'प्रकीर्णकाध्याय' कहा है। चौथे अध्याय में प्रबन्ध का विस्तार से निरूपण है अतः इसकी संज्ञा है 'प्रबन्धाध्याय'।

रागविवेकाध्याय के पहले प्रकरण में सिर्फ़ मार्ग वर्ग के अन्तर्गत आने वाले ग्रामराग से लेकर अन्तरभाषा तक के (ग्रामराग, राग, उपराग, भाषा, विभाषा और अन्तरभाषा) रागों के नाम ही गिनाए हैं और ग्रामरागों में भिन्नता की आधारभूत पाँच गीतियों के लक्षण दिये हैं, मार्गरागों के लक्षण नहीं दिये हैं, न उनका कोई विवेचन है। विवेचन तो वास्तव में दूसरे प्रकरण में देशीवर्ग के उन रागों का है जो ग्रन्थकार के समय में प्रचलित थे। यद्यपि इनमें स्वर प्रस्तारों के द्वारा राग का रूप भी दिया है लेकिन तत्कालीन लक्ष्य के अभाव में उन रागों के स्वरूप को यानी वे किस तरह गाए जाते थे और सुनने में कैसे लगते थे इसे आँकना फिर भी संभव नहीं है। रागों के निरूपण से यह तो झलकता ही है कि ग्रन्थकार की रुचि मुख्यतः लक्ष्यगत रागों के लक्षण-निरूपण में है और रागों के मूल रूपों के साथ तत्कालीन रागों का संबन्ध स्थापित करना तथा पुराने रागरूपों के आधार पर अपने समय के रागों का लक्षण देना मुख्य प्रयोजन है। इसीलिये मार्ग वर्ग के कुछ रागों के भी लक्षण दिये हैं। प्राचीन परम्परा का रक्षण या निर्वाह भी शार्ङ्गदेव की दृष्टि में है क्योंकि प्राचीन के आधार पर ही सातत्य और परिवर्तन की समप्रवाहिनी धारा को आँकना-परखना और अपने वर्तमान को प्राचीन की कसौटी पर कस कर उसकी प्रामाणिकता को समझना संभव है।

भूमिका

मार्ग संगीत के विशिष्ट गेयरूपों—जाति, कम्बल, कपाल आदि और उनसे संबद्ध सभी मूल सिद्धान्तों का निरूपण पहले अध्याय में करने के बाद तज्जात या सहजात अथवा सहप्रवाही राग और तत्संबद्ध गमक, स्थाय, आलप्ति और प्रबन्ध तथा कुछ अन्य विषयों का निरूपण संगीतरत्नाकर के इस दूसरे खण्ड के तीन अध्यायों में हुआ है। एक ओर तो ये विषय प्राचीन संगीत से संबद्ध हैं और दूसरी ओर वर्तमान संगीत से भी इनका अति निकट का संबन्ध और उस पर गहरा प्रभाव है।

भारतीय संगीत में स्वरपक्ष का विकास और विस्तार शास्त्रबद्ध संगीत में जाति और राग के रूप में हुआ। इनकी अभिव्यक्ति दो प्रकार से होती है—एक तो अनिबद्ध, 'अ-पूर्वरचित', तत्काल स्फूर्त विस्तार के द्वारा और दूसरे निबद्ध, पूर्वरचित रचना के द्वारा। ये दोनों मिल कर ही राग के संपूर्ण स्वरूप और व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। लेकिन इनकी रचना विशिष्ट स्वरगुच्छों या स्वरसंचारों से होती है जो हर राग में कुछ विशेष यानी हर राग के अपने-अपने और कुछ सामान्य अर्थात् कई रागों में प्रयोग किये जा सकने वाले होते हैं। इन स्वरसंचार रूप अवयवों की शास्त्रीय संज्ञा 'स्थाय' है क्योंकि ये राग में स्थायी रूप से रहते हैं। वस्तुतः इनके बिना रागरूपी व्यक्ति की रचना संभव ही नहीं है।

स्थायों के द्वारा निबद्ध और अनिबद्ध के रूप में राग के व्यक्तित्व का निर्माता वाग्गेयकार होता है और प्रस्तुतकर्ता वाग्गेयकार अथवा गायक जो स्थायों को गमक आदि के द्वारा अलंकृत करके राग को सौंदर्य से परिपूर्ण करता है। उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम कण्ठ होता है लेकिन राग की सहज अभिव्यक्ति की शक्ति शरीर की सहजात यानी जन्मजात होती है। गायक द्वारा प्रस्तुति अकेले भी की जा सकती है और दूसरे गायक के साथ या समूह में भी।

इस प्रकार वाग्गेयकार, गायक, कण्ठध्वनि ('शब्द') और उसकी शक्ति ('शारीर'), गमक, स्थाय, अनिबद्ध ('आलप्ति'), बृन्द और निबद्ध ('प्रबन्ध')—इतने विषय राग की अभिव्यक्ति से सीधे जुड़े हुए हैं। इन्हीं का सांगोपांग निरूपण इस खंड के तीन अध्यायों में शार्ङ्गदेव का प्रतिपाद्य है। रागों को मार्ग और देशी—इन दो वर्गों में विभाजित करके दूसरे अध्याय के पहले प्रकरण में मार्गरागों का और दूसरे प्रकरण में देशीरागों का विवेचन है। इसीलिये इस अध्याय को 'रागविवेकाध्याय' नाम दिया है। तीसरे अध्याय में ऊपर उल्लिखित वाग्गेयकार से बृन्द तक के फुटकर और विविध विषयों का समावेश है। तदनुरूप इसे 'प्रकीर्णकाध्याय' कहा है। चौथे अध्याय में प्रबन्ध का विस्तार से निरूपण है अतः इसकी संज्ञा है 'प्रबन्धाध्याय'।

रागविवेकाध्याय के पहले प्रकरण में सिर्फ़ मार्ग वर्ग के अन्तर्गत आने वाले ग्रामराग से लेकर अन्तरभाषा तक के (ग्रामराग, राग, उपराग, भाषा, विभाषा और अन्तरभाषा) रागों के नाम ही गिनाए हैं और ग्रामरागों में भिन्नता की आधारभूत पाँच गीतियों के लक्षण दिये हैं, मार्गरागों के लक्षण नहीं दिये हैं, न उनका कोई विवेचन है। विवेचन तो वास्तव में दूसरे प्रकरण में देशीवर्ग के उन रागों का है जो ग्रन्थकार के समय में प्रचलित थे। यद्यपि इनमें स्वर प्रस्तारों के द्वारा राग का रूप भी दिया है लेकिन तत्कालीन लक्ष्य के अभाव में उन रागों के स्वरूप को यानी वे किस तरह गाए जाते थे और सुनने में कैसे लगते थे इसे आँकना फिर भी संभव नहीं है। रागों के निरूपण से यह तो झलकता ही है कि ग्रन्थकार की रुचि मुख्यतः लक्ष्यगत रागों के लक्षण-निरूपण में है और रागों के मूल रूपों के साथ तत्कालीन रागों का संबन्ध स्थापित करना तथा पुराने रागरूपों के आधार पर अपने समय के रागों का लक्षण देना मुख्य प्रयोजन है। इसीलिये मार्ग वर्ग के कुछ रागों के भी लक्षण दिये हैं। प्राचीन परम्परा का रक्षण या निर्वाह भी शार्ङ्गदेव की दृष्टि में है क्योंकि प्राचीन के आधार पर ही सातत्य और परिवर्तन की समप्रवाहिनी धारा को आँकना-परखना और अपने वर्तमान को प्राचीन की कसौटी पर कस कर उसकी प्रामाणिकता को समझना संभव है।

रागों का विकास जातियों से माना जाता है। अगर इसे स्वीकार करें तो सातत्य और परिवर्तन की वह धारा राग के विकास में स्पष्ट अनुभव की जा सकती है जो भारतीय कलाओं में, ख़ास तौर पर संगीत जैसी चल कला में, अनवरत प्रवाहित होती रही है। इसका एक प्रमाण यह है कि जातियों के जो नियम, जो लक्षण थे वही रागों के लिये ग्रहण कर लिये गए और कुछ परिवर्तन के साथ आज तक चले आए हैं। फलतः वर्तमान रागपद्धति को प्राचीन जातिपद्धति का ही रूपान्तर मानने के लिये प्रेरित करते हैं। लेकिन जैसे ७ स्वरनामों वाली मूल जातियों के नियमों में शिथिलता से उसी काल में उनके विकृत रूप और फिर उनके मिश्रण से संसर्गज रूप बने ठीक उसी तरह उन शुद्ध, विकृत और संसर्गजों से ऐसे नए रूप विकसित होना स्वाभाविक और सहज था जो लौकिक प्रयोजन वाले थे और रंजन जिनका प्राण था। इसी रंजन धर्म के कारण वे 'राग' कहलाये।

लेकिन यह भी एक तथ्य है कि नियमबद्ध, शास्त्रीय, परिनिष्ठित रूप नियमों के कड़े बन्धनों से रहित, सहज रूप से प्रयुक्त होने वाले लौकिक रूपों के आधार पर निर्मित होकर शास्त्रीय बनता है। इसलिये कोई आश्चर्य नहीं अगर जातियों का मूल आधार साम से इतर लौकिक गेय रूप भी रहे हों और उसी तरह रागों के मूल में भी जातियों के अलावा लोकानुरंजक गेय रूप रहे हों। नाट्यशास्त्र से लेकर परवर्ती ग्रन्थों ओर वर्तमान लक्ष्य को देखने से उक्त तथ्य की पुष्टि होती है। किसी एक मूल या प्रमुख राग से नए रागों के उपजने की प्रक्रिया का साक्षात् दर्शन आज प्रचलित तोड़ी, मल्हार, बिलावल, कल्याण आदि 'अंग' और उन अंगों के रागों में किया जा सकता है। दूसरी ओर वर्तमान उत्तर भारतीय 'शास्त्रीय' संगीत के पीलू, पहाड़ी, माँड, काफ़ी, सारंग आदि बहुत से रागों का मूल विभिन्न प्रदेशों के लोकसंगीत में प्रचलित धुनें ही मानी जाती हैं।

भारतीय संगीत की दो प्रमुख विशेषताएँ उसकी राग और ताल पद्धतियाँ हैं जो नाट्यशास्त्र से पहले से चली आई हैं। यद्यपि कुछ पूर्वी एशियाई देशों में भी राग से मिलते-जुलते कुछ रूप हैं लेकिन धारणा और स्वरूप की दृष्टि से रागपद्धति उन सबसे भिन्न और विशिष्ट है, निजी और अतुलनीय है। नाट्यशास्त्र में गान्धर्वनिरूपण का मुख्य लक्ष्य नाट्यसंबन्धी संगीत का निरूपण है। नाट्य के पूर्वरंग में देवपूजा के लिये मुख्यतः जातिसंगीत का प्रयोग होने से जाति और तत्संबन्धी सिद्धान्त मुख्य लक्षणीय विषय हैं। लेकिन नाट्य की कथा के अन्तर्गत पात्र की प्रकृति, रस-भाव की स्थिति और प्रसंगानुकूल संगीत की योजना करने का कार्य प्रयोक्ता का था इसलिए विशिष्ट अवसरों पर कुछ नियत रागों के प्रयोग का विधान करके अन्य स्थलों पर संगीतयोजना प्रयोक्ता पर छोड़ दी गई। नाट्यशास्त्र के परवर्ती ग्रन्थों और टीकाकारों की व्याख्याओं में नाट्यशास्त्र के उद्धरणों और उल्लेखों से भी यह प्रकट होता है। कल्लिनाथ की संगीतरत्नाकर पर टीका में ७ ग्रामरागों के नामसहित उनके प्रयोग के अवसरों का उल्लेख नाट्यशास्त्र से उद्धृत अंश में है।

प्रायः ऐसा समझा जाता है कि नाट्यशास्त्र में 'ग्रामराग' शब्द या ग्रामराग नहीं हैं। लेकिन कम से कम दो जगह ग्रामराग शब्द आया है। एक तो 'जातिसम्भूतत्वात् ग्रामरागाणां' में और दूसरे अवनद्ध वाद्यों की वादनविधि के अन्तर्गत पूर्वरंग में देवताओं के आवाहन के समय प्रयोग किये जाने वाले मृदंग को प्रयोज्य ग्रामराग के अनुसार मिलाने (मार्जना) के संदर्भ में— '.....यथाग्रामरागमार्जनालिप्तेषु मृदङ्गेषूरुद्वयनिपीडने........' (ना. शा., ३४/२१७)। इससे तो यह भी प्रकट होता है कि ग्रामरागों का प्रयोग न केवल नाट्य के अन्तर्गत ध्रुवाओं में होता था बल्कि पूर्वरंग में भी किया जाता था।

नाट्यशास्त्र में ७ ग्रामरागों के नाम तो हैं लेकिन उनके लक्षण या जातियों से उनके संबन्ध का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। रागों का निरूपण मतंग ने ही किया इसीलिए कहा कि भरतादि ने जिस रागमार्ग का निरूपण नहीं किया उसका निरूपण लक्ष्य और लक्षण के आधार पर वे करेंगे। नाट्यशास्त्र के ये रागनाम दत्तिलम् को छोड़ कर संगीतरत्नाकर तक लगभग सभी परवर्ती ग्रन्थों में भी हैं। बृहद्देशी में इनके विस्तृत लक्षण ग्रह, अंश आदि उसी शब्दावली में हैं जो नाट्यशास्त्र में जातिलक्षण में प्रयुक्त हुई है। बृहद्देशी में हर ग्रामराग का ग्राम से संबन्ध और जननी जाति का उल्लेख ग्राम के साथ-साथ जातियों से ग्रामरागों के संबन्ध की स्वीकृति का भी सूचक है।

जाति और ग्रामरागों के संबन्ध का कुछ संकेत भरत अथवा दत्तिल के इस कथन में भी है— 'यत्किञ्चिद्गीयते लोके तत्सर्वं जातिषु स्थितम्'। लेकिन इससे यह भी प्रकट है कि लोक में जाति के साथ-साथ रागों के प्रयोग की परम्परा भी भरत से पहले से रही है। संभवतः जाति और राग का विकास साथ-साथ हुआ और जातियाँ ज़्यादा नियमबद्ध हो जाने से प्रायः पूर्वरंग के लिये

ले ली गईं तथा रंजकता की प्रधानता और अनिवार्यता के कारण नाट्य के भीतर उन रागों का ग्रहण किया गया जो लोक में प्रचलित थे।

जाति और राग में कुछ समानताएँ और भी हैं। जाति एक ओर सामान्य है तो दूसरी ओर व्यक्ति। उसी तरह राग भी सामान्य और व्यक्ति दोनों है। सभी जातियों में कुछ लक्षण समान थे, जिस कारण वे सभी जाति कहलाती थीं, और हर जाति के, व्यक्तिरूप जाति के अपने-अपने, स्वतन्त्र लक्षण भी थे जिनके आधार पर हर जाति अन्य जातियों से अलग और स्वतन्त्र रूप धारण करती थी तथा नए गेय रूपों को जन्म देती थी। ठीक उसी तरह सभी रागों में रंजकतासहित कुछ सामान्य लक्षण थे और हर राग के विशेष लक्षण भी। शुरू में मूल ग्रामराग भी नए रागों के जनक थे और इस रूप में वे जाति के समकक्ष ही थे। लेकिन आगे चलकर हर राग का अपना स्वतन्त्र रूप और व्यक्तित्व निर्मित और निश्चित हो जाने पर राग व्यक्ति बने। समानता का दूसरा पक्ष यह है कि जाति सामान्य रूप से अन्य गेयरूपों के वर्गीकरण के लिए आधार प्रदान करती है वहीं, दूसरी और व्यक्ति के रूप में गान-वादन का ढाँचा या सामग्री भी देती है। ७ शुद्धा जातियों के आधार पर अन्य जातियों और ग्रामरागों आदि का वर्गीकरण करना भी संभव है तो हर जाति अपने नियमों और विशेष लक्षणों के द्वारा उसके विस्तार की सामग्री भी देती है। इसी तरह मूल या मुख्य रागों (ग्रामरागों) के आधार पर परवर्ती रागों का वर्गीकरण भी हुआ और राग के विशेष लक्षणों ने उस राग के विस्तार के लिये ढाँचा भी दिया।

जैसा पहले कहा जा चुका है जाति और राग के परस्पर संबन्ध या रागों के रूप में जातियों के विस्तार अथवा रूपान्तर की पुष्टि जातिलक्षण और रागलक्षण में एकरूपता से ही हो जाती है। शायद अन्तर्वस्तु या स्वरूप की दृष्टि से जाति और राग पृथक् नहीं थे, लेकिन प्रयोजन का भेद था। जातियों का संबन्ध मुख्य रूप से नियत विधि-विधान वाले पूर्वरंग से था और प्रयोजन धार्मिक यानी देवस्तुति था। राग का प्रयोग नाट्य की कथा के अन्तर्गत और नाट्य से स्वतन्त्र भी था और दोनो में ही प्रयोजन चित्त का रंजन करना था।

हालाँकि जातियों और रागों की उत्पत्ति के देश और काल के बारे में निर्णायक रूप से कुछ कहना संभव नहीं है लेकिन इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इनका विकास ईस्वी पूर्व उस सुदूर अतीत में हुआ जब भारत भौगोलिक दृष्टि से परवर्ती काल जितना सीमित नहीं था बल्कि बृहत्तर भारत था। उसमें वर्तमान मध्य एशिया और भारत के इर्द-गिर्द का बड़ा भूभाग राजनैतिक, भौगोलिक दृष्टि से सम्मिलित या भारतीय संस्कृति का पोषक था। रागों के नाम देखने से यह प्रमाणित होगा कि उनमें ख़ास तौर पर भारत के पश्चिमी और उत्तर पश्चिमी प्रदेशों, उनसे संबद्ध मानवजातियों और वहाँ के निवासियों से और सामान्य रूप से अन्य विभिन्न प्रदेशों से जुड़े बहुत से नाम हैं। इसके प्रमाण तो नाट्यशास्त्र की शुद्धा संसर्गजा जातियों में भी हैं; जैसे—गान्धारी, नैषादी, षड्जोदीच्यवा, गान्धारोदीच्यवा, मध्यमोदीच्यवा, आन्ध्री। संगीतरत्नाकर में यद्यपि परम्परा का अनुसरण करते हुए स्वरनाम के अलावा सिर्फ़ देशनाम से जुड़े रागों को ही स्वराख्या और देशाख्या के रूप में प्रमुखता दी गई है लेकिन रागों के विपुल विस्तार में प्रदेश के साथ-साथ जाति या प्रदेशवासियों से संबद्ध नाम भरे पड़े हैं। उदाहरणार्थ—गौडकैशिक मध्यम, गौडकैशिक, गौडपंचम, टक्ककैशिक 'ग्रामराग'; शकतिलक, टक्कसैन्धव, रेवगुप्त, नागगान्धार, नागपंचम 'उपराग'; बंगाल 'राग'; सौवीरी, गान्धारी, काम्भोजी, शकमिश्रा, भोगवर्धनी, आभीरी, शालवाहनी, मालववेसरी, सैन्धवी, सौराष्ट्री, गांधारपंचमी, मालवी, गुर्जरी, दाक्षिणात्या, कौशली, द्राविडी, गौडी, पुलिन्दका, शका, पल्लवी 'भाषा'-'विभाषा'-'अन्तरभाषाएँ'; देशीरागों में—कर्णाटी, लाटी, पांचाली, गान्धारगतिका, नागकृति 'पूर्वप्रसिद्ध'; मालवश्री, वराटी, गौड, कर्णाटबंगाल, तुरुष्कतोडी, महाराष्ट्री, स्तम्बतीर्थिका, खम्भाइति, कर्णाटगौड, तुरुष्कगौड, द्राविडगौड आदि 'अधुनाप्रसिद्ध' राग। ये नाम इस तथ्य के सूचक हैं कि रागों के विकास और उनके स्वरूप के निर्माण व निर्धारण में विशेष प्रदेशों और विशेष मानव समुदायों का ख़ास योगदान रहा है।

तीसरे अध्याय में जिन विषयों का प्रतिपादन है उनमें वाग्गेयकार, गमक, स्थाय और आलप्ति मुख्य हैं और वर्तमान रागदारी संगीत के साथ इनका गहरा संबन्ध है। वाग्गेयकार नई रचना करने वाला यानी स्रष्टा भी होता है और गायक के रूप में प्रयोक्ता भी। इसलिये, ज़ाहिर है कि उसमें सर्जनाशक्ति यानी विशेष प्रतिभा भी अपेक्षित है और प्रस्तुति-संबन्धी गुण भी। इसीलिये स्वर, ताल, पद की रचना से संबन्धित सारे पक्षों को वाग्गेयकार के लक्षण में सम्मिलित करते हुए गायक की दृष्टि से अपेक्षित गुणों

का निरूपण भी हुआ। वह बन्दिश की रचना भी करता है और स्थायों के द्वारा आलप्ति के माध्यम से रागरूप को भी खड़ा करता है, राग को व्यक्तित्व प्रदान करता है, उसे जीवन्त बनाता है, राग की स्थापना करता है। इसीलिये तीसरे अध्याय में शार्ङ्गदेव ने सबसे पहले वाग्गेयकार और गायक का निरूपण किया है।

नाट्यशास्त्र के 'गुणदोषविचार' नामक ३३वें अध्याय में गायिका के गुणों में से एक है—'सुविहितगमकविधायिनी'। इस प्रकार नाट्यशास्त्र में 'गमक' शब्द तो है लेकिन उसके प्रकार नहीं हैं किन्तु रेचित, कम्पित, कुहर अलंकारों को कम्पयुक्त कहा है। नाट्य में रस-भाव की अभिव्यक्ति मुख्य प्रयोजन है और रस-भाव अभिव्यक्त करने में गमक महत्त्वपूर्ण साधन है। संगीतरत्नाकर में गमक का लक्षण ही 'स्वरस्य कम्पो गमकः' है।

बृहद्देशी में गमक शब्द बहुत बार प्रयुक्त हुआ है। गीतियों के अन्तर्गत 'रागगीति' के लक्षण में गमक शब्द इस प्रकार आया है—'ललितैर्गमकैः'। भाषा-विभाषा गीतियों में, ग्रामरागों के लक्षणों में और एला प्रबन्ध के भेद-प्रभेदों में भी कई बार यह शब्द आया है। विभाषा गीति के अन्तर्गत 'गमकैःश्रोत्रसुखदैः' में संगीतरत्नाकर के गमकलक्षण में प्रयुक्त 'श्रोतृचित्तसुखावहः' का मूल भी देखा जा सकता है। कम्प शब्द भी बृहद्देशी में कई अलंकारों, रागों, गीतियों और प्रबन्धों के लक्षणों में बार-बार आया है लेकिन उसके उपलब्ध पाठ में गमक या गमक भेदों के लक्षण नहीं मिलते। किन्तु गमक का विभिन्न स्थानों पर जिस तरह उल्लेख हुआ है उससे यह ज़रूर अनुमान किया जा सकता है कि गमक राग के स्वरूप, गीति के रूप में शैली और प्रबन्धों का महत्त्वपूर्ण घटक थी जो मतंग से पहले से चली आ रही राग, गीति और प्रबन्ध की परम्परा का अनिवार्य अंग थी।

बृहद्देशी और संगीतरत्नाकर के बीच नान्यदेव के 'भरतभाष्य' और सोमेश्वर के 'मानसोल्लास' में भी कुछ गमकों का विवरण है। भरतभाष्य के गमकसंबन्धी खण्डित अंश में ७ गमकों के नाम और कुछ लक्षण हैं। मानसोल्लास में भी ७ गमक लक्षणसहित हैं लेकिन दोनों की गमकों में कुछ नामभेद है। पार्श्वदेव के 'संगीतसमयसार' में भी इन ग्रन्थों की ७ गमकें ही हैं।

सबसे पहले संगीतरत्नाकर में गमक का स्पष्ट लक्षण, ग्रन्थों में पहले से चली आ रही ७ गमकें और उनके अलावा ८—यों कुल १५ गमकें लक्षणसहित प्राप्त होती हैं। इसमें गमक का यह लक्षण है—'स्वरस्य कम्पो गमकः श्रोतृचित्तसुखावहः' अर्थात् श्रोता के चित्त में सुख का वहन करने वाला कम्प गमक है। इससे स्पष्ट है कि गमक का संबन्ध मूलतः व्यक्तिरूप स्वर से है, स्वरसमुदाय से नहीं। लेकिन स्थाय में यानी स्वरसमुदाय में प्रयुक्त होकर ही गमक सार्थक बनती है। इस दृष्टि से वह स्थाय का अंग है। इसलिये गमक पर कुछ विचार स्थाय के संदर्भ में भी करेंगे।

वर्तमान उत्तर भारतीय संगीत में ध्रुपद आदि विभिन्न शैलियों में विभिन्न गमकों का प्रयोग होता है। बड़े कालमान वाली आन्दोलित, प्लावित गमकें ध्रुपद, ख़्याल में; हुम्फित, मुद्रित ध्रुपद में; छोटे कालमान वाली तिरिप आदि और वक्रताप्रधान वलि, कुरुल टप्पा-ठुमरी में बहुलता से रहती हैं।

'स्थाय' शब्द संगीतरत्नाकर के किसी पूर्ववर्ती ग्रन्थ में नहीं मिलता। लेकिन इसका प्रयोगगत मूल नाट्यशास्त्र और बृहद्देशी के अलंकारों, वीणावादन की धातुओं और नाट्यशास्त्र के कण्ठगुणों में है। स्थाय शब्द, उसकी धारणा, स्थाय भेदों और उनके लक्षणों का व्यवस्थित और संपूर्ण निरूपण-विश्लेषण सबसे पहले संगीतरत्नाकर में ही प्राप्त होता है लेकिन संगीतरत्नाकर से बहुत पहले से स्थायों की विविधता की लम्बी परम्परा रही होगी यह इस बात से ही प्रकट है कि शार्ङ्गदेव ने स्थायों को दो वर्गों में रखा है—१. 'पूर्वप्रसिद्ध' यानी ऐसे स्थाय जो उनके समय तक अप्रचलित हो गए थे और २. 'अधुनाप्रसिद्ध' अर्थात् उस काल में प्रचलित। इससे प्रकट है कि १२वीं-१३वीं सदी तक अनेक स्थाय जीवित और संगीतज्ञों में प्रचलित थे लेकिन परवर्ती ग्रन्थों में प्रायः स्थाय का कोई स्थान नहीं रहा। आज कर्णाटकी और उत्तर भारतीय—दोनों ही पद्धतियों से यह शब्द पूरी तरह लुप्त हो चुका है यद्यपि प्रयोग में स्थाय पूरी तरह जीवित है।

संगीतसमयसार में एक पूरा अध्याय स्थाय पर है जिसमें स्थाय और स्थायभेदों के लक्षण हैं। उसमें स्थाय और 'ठाय' शब्दों का पर्याय के रूप में प्रयोग हुआ है। इस अध्याय के पहले ही श्लोक में बड़े महत्त्व की बातें हैं। उसमें कहा है कि भोज और सोमेश्वर आदि के द्वारा 'भाण्डीकभाषा' में 'ठाय' शब्द से अभिहित कुछ ठायों के लक्षण लक्ष्य के अनुसार कहे जायँगे।

इस कथन में तीन बातें ध्यान देने की हैं। पहली तो 'भाण्डीक-भाषा' शब्द का प्रयोग, जो संगीतज्ञों की मौखिक परम्परा में प्रयुक्त होने वाले पारिभाषिक शब्दों का सूचक है। संगीतरत्नाकर के वाद्याध्याय में वादकों के गुण-दोष में ग्रन्थकार द्वारा कहे गए एक गुण 'उद्घट्टनपटुः' शब्द की व्याख्या करते हुए कल्लि० ने कहा है कि भाण्डिक उद्घट्टन शब्द का व्यवहार करते हैं (७/१२१७ और उस पर कल्लि०)। आज की भाषा में इसे 'पढ़न्त' यानी पाटाक्षरों या बोलों का मुँह से उच्चारण करना कहा जाता है। दूसरी बात यह है कि भाण्डीक भाषा में स्थाय के लिये 'ठाय' शब्द प्रचलित कहा गया है। संगीतसमयसार में 'गाणा चे ठाय', 'चित्ता चे ठाय', 'शारीरा चे ठाय' आदि स्थायनाम हैं जो मराठी भाषा के शब्द हैं। इससे यह अनुमान होता है कि 'ठाय' मूलतः मराठी का शब्द रहा होगा जिससे 'स्थाय' बना लिया गया। यह ध्यान देने की बात है कि स्थाय शब्द संस्कृत के प्रकृति-प्रत्यय नियम से सिद्ध भी नहीं होता। संभवतः 'ठाय' को ही संस्कृत रूप दे दिया गया हो। तीसरे, स्थायनिरूपण के संदर्भ में भोज और सोमेश्वर का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है क्योंकि भोज का संगीत संबंधी कोई ग्रन्थ आज प्राप्त नहीं होता यद्यपि संगीत पर उनका ग्रन्थ था, ऐसा उल्लेख मिलता है। मानसोल्लास के उपलब्ध पाठ में स्थाय या ठाय का कोई उल्लेख नहीं है। पार्श्वदेव द्वारा स्थाय के संदर्भ में इन दोनों आचार्यों का नामोल्लेख अगर सही है तो यह सूचित करता है कि उनके ग्रन्थों में स्थाय का निरूपण था और पार्श्वदेव को वे ग्रन्थ संपूर्ण रूप में उपलब्ध थे। भोज १०वीं-११वीं शताब्दी में और सोमेश्वर १२वीं सदी में हुए थे।

स्थाय मुख्य रूप से राग की रूपनिर्मिति, राग के 'बर्ताव' या शैली और रंजकता से जुड़े तत्त्वों को समेटता है जैसा कि स्थायों के लक्षणों से प्रकट होता है। संगीतरत्नाकर और संगीतसमयसार के निरूपण से यह भी व्यक्त होता है कि स्थायों के रूप में प्रयोगगत सूक्ष्मताओं की और उनके विश्लेषण की लम्बी और विकसित परम्परा रही होगी।

स्थाय कई स्वरों से बनने वाला संनिवेश है और गमक उसमें प्रयुक्त होने वाले स्वर के उच्चार या लगाव का प्रकार। गमक के द्वारा राग के स्वरसंचारों का स्वरूप बनता है और स्वरसंचार-रूप विभिन्न स्थाय मिल कर राग के स्वरूप का निर्माण करते हैं। गमक का उन संचारों में विशेष स्थान है क्योंकि एकसे स्वरों और मिलते-जुलते स्वरसंनिवेशों वाले कई राग हो सकते हैं लेकिन गमक यानी स्वर के लगाव की भिन्नता के कारण वे परस्पर भिन्न हो जाते हैं। जैसे—मनि्धनिसा—इस स्थाय में मनि्-ध नि्-ध निसा करने से मियाँ मल्हार और म नि्--ध निसा से बहार खड़ा हो जाता है। ग रे सा रे ध सा में ग -- रेसा - रेध सा देशकार का और ग ^{ग}रे -- सा रे $^{\text{सा}}$ध -- ^{ध}सा भूपाली प्रस्तुत करता है। भिन्न गमक के द्वारा स्वर का रूप बदल जाता है और एक स्वर दूसरे स्वर से जुड़ कर कैसा स्थाय बनाता है इसके अनुसार स्वर का और फलतः राग का रूप और प्रभाव बनता है। पार्श्वदेव ने यह उल्लेख किया है कि राग के स्वरूप की अभिव्यक्ति में गमक प्रमुख रूप से सहायक होती है। इस प्रकार गमक और स्थाय में घनिष्ठ संबन्ध है। यह संगीतरत्नाकर के मिश्रस्थायों के भेदों से भी प्रकट होता है जो गमकों के मिश्रण से ही बने हैं।

शार्ङ्गदेव ने प्रबन्धाध्याय में रूपक (बन्दिश) में नयेपन के पाँच हेतु बताये हैं जिनमें से एक यह है कि राग बदल देने से रूपक नया हो जाता है। राग नया कैसे होता है तो शार्ङ्गदेव के अनुसार स्थाय बदल देने से—'रागः स्थायान्तरैर्नवः'। इसका यह अर्थ है कि जैसे स्थाय बदल देने से राग बदल जाता है उसी तरह बन्दिश के स्थायों को बदल दें तो बन्दिश भी नई हो जाएगी क्योंकि स्थाय राग के रूप को तो बनाते ही हैं, रूपक या बन्दिश की रचना भी स्थायों के द्वारा ही होती है अर्थात् स्थाय रागरूप की तरह बन्दिश के रूप निर्माण के घटक भी हैं। जब यह कहते हैं कि यह अमुक राग की बन्दिश है तो संकेत बन्दिश में भी रागरूप के स्थायों की तरफ़ ही होता है। इसलिये स्थाय लक्षण में स्थाय को राग का अवयव कहने में प्रबन्ध में भी स्थाय का अवयवत्व अन्वित है।

गान, वादन के अलावा नृत्त में भी स्थाय का महत्त्व रहा है। संगीतरत्नाकर के नर्तनाध्याय में वर्णित देशीनृत्त की 'गौण्डली' पद्धति में जब नर्तकी स्वयं आलप्ति करते हुए नृत्त करती है तो आलप्ति में भिन्न-भिन्न स्थायों का ही प्रयोग करती है।

संगीतशास्त्र में स्थाय और गमक पर विचार स्वर के संदर्भ में ही हुआ है। लेकिन गीत, वाद्य और नृत्त—संगीत के इन तीनों अंगों में इनकी सार्थकता है। गीत (गायन और स्वरवाद्य) के आधार पर तो गमक और स्थाय का निरूपण किया ही गया है लेकिन अवनद्ध वाद्य और नृत्त की क्रिया भी इन दोनों धारणाओं से जुड़ी है। जिस तरह राग में स्थाय के रूप में कुछ स्वर

संचार स्थायी रूप से रहते हैं; अलंकार उनमें विस्तार, विविधता और विचित्रता लाते हैं तथा गमक उन संचारों को भावपूर्ण बनाती हैं उसी तरह अवनद्ध वाद्यों के वादन में भी बोलों के कुछ समूह (धाधा, तिट, धिरकिट, धुमकिट आदि) स्थायी रूप से रहते हुए वादन की आधार सामग्री देते हैं जो स्थाय के समकक्ष हैं। उन बोलों के विविध प्रकार के संयोजन से वादन में विविधता उत्पन्न की जाती है (जैसे—धा धा तिट धा धा तूना के द्वारा), इन्हें अलंकार कह सकते हैं। वाद्य पर बाएँ हाथ का दबाव घटा-बढ़ा कर या घसीट आदि के द्वारा वादन को सरस बनाया जाता है जो गमकस्थानीय है।

इसी तरह नृत्य की शैलियों में भी कुछ बोल स्थायी होते हैं जिनके विभिन्न प्रकार से संयोजन के द्वारा विस्तार करते हुए विविधता उत्पन्न की जाती है और उनके साथ शरीर के विभिन्न अंगों के संचालन और अभिनय के द्वारा भाव उत्पन्न किया जाता है।

'आलप्ति' शब्द नाट्यशास्त्र में नहीं है लेकिन आलाप का मूल उसमें ज़रूर है, यद्यपि आलाप या आलप्तिरूप विस्तार का उतना व्यापक क्षेत्र वहाँ प्रकट नहीं है जितना परवर्ती देशी संगीत में है। पूर्वरंग में प्रयुक्त कुछ गीतकों में 'ऽपोहन' नामक अंग छोटे से आलाप जैसा ही प्रयोग है। ध्रुवागीतों में भी किसी-किसी ध्रुवा से पहले स्वरालाप करने का विधान है। लेकिन उपोहन और स्वरालाप संक्षिप्त होते हैं, आलप्ति की तरह विस्तृत नहीं।

किसी व्यक्ति के प्रथम दर्शन में उसकी बाह्य आकृति का ही दर्शन होता है लेकिन उसके चलने, उठने-बैठने, बात करने आदि पूरे व्यवहार से ही उसका संपूर्ण व्यक्तित्व प्रकट होता है। उसी तरह राग के स्वरों का जैसा चलन होता है उसी से राग का पूरा स्वरूप व्यक्त होता है। सामान्य भाषा में स्वरों का यह चलन या व्यवहार ही आलप्ति या आलापचारी है।

बृहद्देशी में आलाप शब्द है लेकिन आलप्ति नहीं। कल्लिनाथ के उल्लेख के आधार पर अनुमान होता है कि बृहद्देशी में ग्रामरागों के प्रस्तार भी रहे होंगे जिन्हें संक्षिप्त आलाप कह सकते हैं जैसे संगीतरत्नाकर में भी हैं। लेकिन आलप्ति की धारणा, स्वरूप या राग के स्वरूप के निर्माण में आलाप की भूमिका का कोई उल्लेख नहीं है। फिर भी उसमें गीतियों का जैसा निरूपण और उनके आधार पर ग्रामरागों का जो वर्गीकरण हुआ है, समान लक्षण वाले रागों में गीतिभेद के कारण अंतर आने का जो उल्लेख है वह इस बात का पर्याप्त प्रमाण है कि मतंग के समय तक आलाप की धारणा, स्वरूप और प्रयोजन काफ़ी हद तक स्थिर हो चुके थे। बृहद्देशी में मार्ग और देशी संगीत की प्राय: सभी प्रमुख धारणाओं और संबद्ध पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या मिलती है लेकिन आलप्ति की नहीं। यह भी सत्य है कि शार्ङ्गदेव या परवर्ती शास्त्रकारों ने भी आलप्ति के संदर्भ में बृहद्देशी का उल्लेख नहीं किया है और न ही संगीतरत्नाकर के दोनों टीकाकारों ने, जिन्होंने अनेक अवसरों पर मतंग के ऐसे उद्धरण दिये हैं जिनकी आज अन्यथा जानकारी भी न होती और अनेक महत्त्वपूर्ण पक्षों पर मतंग का प्रमाण भी प्राप्त न होता। लेकिन यह स्मरणीय है कि बृहद्देशी का बड़ा भाग आज लुप्त है और जिस खण्डित रूप में वह हमें उपलब्ध है उसमें क्या-क्या खो गया, यह कहना कठिन है।

संगीतरत्नाकर में आलाप, आलप्ति और आलपन शब्दों के प्रयोग और उनमें भेद का जो संकेत है तथा कल्लिनाथ ने जिसे अपनी टीका में विस्तार से स्पष्ट किया है, वह इसका प्रमाण है कि रत्नाकर तक आते-आते राग के स्वररूप और उसके माध्यम से भावरूप की अभिव्यक्ति आलप्ति के द्वारा ही होती थी; उसी के द्वारा राग की मूर्ति की स्थापना होती थी।

आलप्ति के द्वारा राग का प्रकटीकरण दो तरह से होता है—एक तो निबद्ध रचना के बिना यानी बन्दिश शुरू होने से पहले मुक्त विस्तार के रूप में और दूसरे निबद्ध के साथ यानी बन्दिश प्रस्तुत होने के बाद बन्दिश के पद और ताल के साथ। रागालप्ति और रूपकालप्ति इन्हीं दो प्रकारों की सूचक हैं। रागालप्ति के द्वारा राग के पूरे स्वरूप की प्रतिष्ठा हो जाने के बाद रूपकालप्ति के द्वारा रूपक (प्रबन्ध या बन्दिश) के स्वररूप यानी स्थायों का ही विस्तार किया जाता है। इस रूप में रागालप्ति राग के विस्तार की और रूपकालप्ति रूपक के स्थायों के विस्तार की सूचक है।

संगीतरत्नाकर में आलाप और आलप्ति का निरूपण दो अलग-अलग जगह हुआ है—आलाप का राग संबंधी दूसरे अध्याय में और आलप्ति का तीसरे प्रकीर्णकाध्याय में। मोटे रूप में ये दोनों शब्द अनिबद्ध विस्तार के द्वारा राग के रूप की अभिव्यक्ति के सूचक हैं। लेकिन दोनों का स्वरूप और प्रयोजन भिन्न है। ऐसा स्वरसंनिवेश जिसमें ग्रह, अंश आदि (दस लक्षणों) की स्पष्ट

अभिव्यक्ति हो, यह रागालाप यानी आलाप का लक्षण है। बात साफ़ है कि राग के लक्षणों की अभिव्यक्ति लक्ष्य है, राग के पूरे स्वरूप की नहीं। इसलिये आलाप के द्वारा राग का स्थूल ढाँचा खड़ा होता है। आलप्ति इससे इस रूप में भिन्न है कि उसके द्वारा राग का मात्र स्थूल रूप नहीं बल्कि संपूर्ण स्वरूप प्रकट होता है। दूसरे, आलाप संक्षिप्त होता है जो रागों में दिये गए लिपिबद्ध आलापों को देखने से प्रकट होता है। किन्तु आलप्ति के विवरण से यह स्पष्ट है कि उसमें स्वस्थानों की विधि से आविर्भाव-तिरोभाव आदि के द्वारा राग का व्यक्तित्व खड़ा किया जाता है। तीसरे, आलाप राग की प्रस्तावना मात्र होता है जैसे ख़्याल शैली में बन्दिश से पहले किया जाने वाला संक्षिप्त आलाप। लेकिन रागालप्ति केवल प्रस्तावना नहीं होती, ध्रुपद शैली के नोम्-तोम् की तरह विस्तृत होती है। चौथे, आलाप ग्रामराग, भाषा आदि मार्ग रागों में किया जाता था यह रत्नाकर में दिए गए आलापों से समझ सकते हैं, किसी देशीराग में आलाप नहीं है। आलप्ति का संबंध देशीरागों से था। वाग्गेयकार और गायक के लक्षणों में देशीरागों के अभिज्ञान और विविध प्रकार की आलप्ति के तत्त्वज्ञान में यह संकेतित है। आलप्ति का प्रयोजन चित्त का रंजन था, राग के लक्षण प्रकट करना नहीं। हालाँकि यह निश्चित है कि लक्षणों के अनुसार प्रयोग करने से ही स्वरूप की अभिव्यक्ति और रंजन संभव है। आलाप और आलप्ति पर कल्लिनाथ की टीका से इन तथ्यों की पुष्टि होती है।

वाग्गेयकार, स्थाय और आलप्ति पर ऊपर किए गए विचार से यह स्पष्ट हुआ कि नाट्यशास्त्र में ये शब्द नहीं है। अब जिस विषय की चर्चा की जायगी वह है निबद्ध और यह नाट्यशास्त्र में है लेकिन भिन्न संदर्भ में।

ध्रुवाध्याय में ध्रुवा की पद रचना दो तरह की कही गई है—निबद्ध और अनिबद्ध। नाट्यशास्त्र और अभिनवगुप्त की व्याख्या अभिनवभारती के आधार पर निबद्ध को छन्दोबद्ध रचना यानी पद्य और अनिबद्ध को छन्द से रहित यानी गद्य कहा जा सकता है। लेकिन वहाँ ये दोनों शब्द पद रचना से ही संबंधित हैं। नाट्य से स्वतन्त्र संगीत के ग्रन्थों में ये शब्द सबसे पहले बृहद्देशी में दिखाई देते हैं जहाँ देशी संगीत का 'मार्ग' अर्थात् रास्ता (यानी प्रयोग करने की विधि) मार्ग और देशी यों दो प्रकार का कहा गया। इनमें से पहला वह है जो आलापादि से युक्त है और दूसरा आलापादि से रहित। देशी संगीत के—मार्ग और देशी—ये दो मार्ग ही मतंग के अनुसार क्रमशः निबद्ध और अनिबद्ध हैं। मार्ग में नियमों के स्थूल ढाँचे के बन्धन में रहते हुए आलाप के लिए रास्ता खुल जाता है जबकि देशी में कड़े नियमों के अभाव के कारण आलापादि की गुंजाइश नहीं होती, जैसे आज का लोकसंगीत। यद्यपि इसका एक अपवाद राजस्थान की लंगा, माँगणियार आदि संगीतजीवी जातियों के लोकसंगीत में है जिसमें बँधे-बँधाए गीतों के बीच-बीच में आलाप के ढंग का कुछ विस्तार करने की परम्परा, शास्त्रीय संगीत के आलाप के बोध के बिना, सदियों से चली आई है। आज का रागदारी संगीत मतंगोक्त देशी संगीत के मार्गरूप के समकक्ष है क्योंकि उसमें नियमों के कारण आलाप का व्यापक क्षेत्र है लेकिन जनरंजन प्रयोजन की दृष्टि से वह देशी भी है। दूसरी ओर आज का लोकसंगीत आलापादि विस्तार के अभाव और लोकरंजन के कारण देशी ही है।

संगीतरत्नाकर में निबद्ध और अनिबद्ध शब्द पारिभाषिक हैं और न तो सिर्फ़ पद से संबद्ध हैं और न केवल नियमबद्ध या नियमरहित संगीत के सूचक हैं। शार्ङ्गदेव ने स्पष्ट रूप से 'धातु' (स्वर योजना के अन्तर्गत बनने वाले उद्ग्राह आदि खण्ड) और 'अंगों' (मुख्य रूप से पदरचना के बिरुद, तेन, पाट आदि शब्दों के प्रकार) से बँधे प्रकार को निबद्ध और इनके बन्धन से रहित प्रकार को अनिबद्ध कहा। इन्हीं की अन्य संज्ञा 'प्रबन्ध' और 'आलप्ति' है। आज इन्हीं को 'बन्दिश' और 'उपज' कहा जाता है। स्वर, ताल और पद के द्वारा धातु और अंगों के रूप में बँधी (पूर्व रचित) रचना ही निबद्ध है। यों तो आलप्ति में भी कुछ बन्धन होता है, रागालप्ति में 'स्वस्थानों' का और रूपकालप्ति में प्रबन्ध के ताल, शब्द और शब्दों के मूलमान (मात्रा काल)का। लेकिन प्रबन्ध की तरह वह पूरी बँधी-बँधाई यानी पूर्वरचित नहीं होती। प्रबन्ध की जैसी रचना हो, उस मूल प्रबन्ध के रूप में उसे वैसा ही गाया जाता है लेकिन आलप्ति तो नित्य नवीन होकर ही राग की मूर्ति को प्रस्तुत करती है।

प्रबन्ध की ही अन्य संज्ञाएँ वस्तु और रूपक भी हैं। आज के संगीतज्ञ प्रबन्ध या निबद्ध को बन्दिश, चीज़, गत कहते हैं।

प्रबन्ध की धातु का संबंध स्वर रचना से और अंगों का पद रचना और तालपक्ष से है जिन्हें संगीतज्ञ 'धातु' और 'मातु' कहते थे और शास्त्र में उन्हें 'गेय' और 'वाक्' कहा गया। वाक् और गेय दोनों की रचना करने के कारण ही वाग्गेयकार का संगीत में सर्वोपरि स्थान था। संगीतरत्नाकर के प्रकीर्णक अध्याय की शुरूआत ही वाग्गेयकार के लक्षण से हुई है।

प्रबन्ध की ४ धातुओं—उद्ग्राह, मेलापक, ध्रुव और आभोग में से उद्ग्राह और ध्रुव हर प्रबन्ध में अनिवार्य कही गईं, शेष दो में विकल्प था। आज के स्थायी, अन्तरा इन्हीं धातुओं के अवशेष हैं। बन्दिश में खण्ड की अनुभूति दो रूपों में होती है—एक तो किस पदांश की स्वर रचना किस स्थान में है और दूसरे, किसी अंश के बाद किसी नियत अंश की आवृत्ति से। जैसे, दो खण्ड वाली वर्तमान बन्दिशों में पहला खण्ड स्थायी प्रायः मन्द्र-मध्य स्थान में होता है और दूसरा खण्ड अन्तरा मध्य-तार स्थान में और हरेक के अन्त में स्थायी की पहली पंक्ति दोहराई जाती है। संगीतरत्नाकर में शुद्ध सूड, सालग सूड, आलि और विप्रकीर्ण—इन चार वर्गों के प्रबन्धों में से विशेष रूप से सालग सूडों में और एला शुद्ध सूड में स्वर रचना संबंधी ब्योरे हैं, आलि और विप्रकीर्ण में एकाध को छोड़कर प्रायः इस तरह के उल्लेख नहीं हैं, विभिन्न खण्ड मातु संबंधी यानी अंगों की संख्या और क्रम तथा तालों और रागों की संख्या के आधार पर दिए गए हैं।

प्रबन्ध के ६ अंग स्वर, ताल, बिरुद, पाट, तेन और पद हैं। स्वर नामक अंग षड्जादि स्वर ध्वनियों और उनके स, रि, ग आदि संकेताक्षरों का सूचक है। स्वरध्वनियों के बिना तो संगीत की कोई रचना हो ही नहीं सकती, लेकिन वह 'स्वर' अंग नहीं है। प्रबन्ध की शब्द रचना में शब्दों के अलावा जहाँ स्वराक्षर रहते हैं और जो उन्हीं स्वरध्वनियों में गाए जाते हैं जिनके वे वाचक होते हैं वहाँ स्वर नामक अंग होता है; जैसे, चतुरंग की बन्दिश की शब्द रचना में 'सरगम' अंश। गुण सूचक या विशेषणों की संज्ञा 'बिरुद' है। वाद्यों के, विशेष रूप से अवनद्ध वाद्यों के, अक्षर 'पाट' हैं जिन्हें आज 'बोल' कहा जाता है जो आज भी किसी-किसी बन्दिश में मिलते हैं। 'तेन' ब्रह्म के वाचक शब्द होते हैं लेकिन त, न आदि निरर्थक अक्षरों के रूप में भी उनका प्रयोग होता है, जैसे तराने में। इन सब प्रकारों के अलावा बन्दिश में जो सार्थक शब्द होते हैं वे 'पद' अंग में आते हैं। पद और स्वर रचना को नियत कालमान में बाँधने वाला अंग 'ताल' है। ये सभी अंग आज की बन्दिशों में रहते हैं लेकिन बिरुद, तेन और पद में कोई अंतर नहीं किया जाता।

यों तो प्रबन्धों के लक्षण बृहद्देशी और उसके परवर्ती ग्रन्थों में भी हैं लेकिन प्रबन्ध, उसकी धातुएँ और अंग तथा प्रबन्ध के भेद-प्रभेदों का जैसा सांगोपांग निरूपण संगीतरत्नाकर में है वैसा दूसरे किसी ग्रन्थ में नहीं है जो इस तथ्य का सूचक है कि १३वीं सदी तक प्रबन्धगान रागदारी संगीत के अनिवार्य अंग के रूप में प्रतिष्ठित, परिनिष्ठित और अत्यन्त प्रचलित हो चुका था। रूपकालप्ति के विवरण से यह प्रकट होता है कि प्रबन्ध के पद के द्वारा उसमें विस्तार किया जाता था जिससे आलप्ति में विविधता के लिए बड़ा क्षेत्र मिलता था। आज बन्दिशों में किया जाने वाला सरगम का काम स्वरार्थ जैसी रचनाओं में पदस्थानीय स्वराक्षरों के उच्चारण के द्वारा की जाने वाली आलप्ति का रूप कह सकते हैं। इसी तरह तेन के आधार पर रूपकालप्ति का कुछ दर्शन तराने के विस्तार में किया जा सकता है।

रंजन प्रयोजन वाले देशी संगीत का अंग होने के कारण प्रबन्धों की रचना देशी रागों और देशी तालों में हो, यह सहजगम्य है। इसीलिए वाग्गेयकार के लिए 'देशी रागों का अभिज्ञान' अनिवार्य समझा गया। लेकिन एला के भेदों, चच्चरी और मंगल जैसे प्रबन्धों के लिए ग्रामराग और पञ्चतालेश्वर के लिए मार्गतालों का निर्देश किया गया है।

निबद्ध रचनाओं का प्राचीनतम रूप नाट्यशास्त्र में वर्णित गीतक हैं जिनके तीन घटक स्वर, ताल, पद हैं और प्रयोजन देवाराधना यानी धार्मिक माना गया। नाट्य में प्रयुक्त ध्रुवाओं के भी स्वर, ताल, पद—यही तीन अंग हैं। प्रबन्धों के ६ अंग भी इन्हीं तीन घटकों के अन्तर्गत आते हैं, यद्यपि ध्रुवाओं की तरह प्रबन्धों का प्रयोजन भी रंजन है। लेकिन एला इसका प्रमाण है कि कोई-कोई देशी प्रबन्ध गीतक के सादृश्य पर रचित होने के कारण गीतकों के समान पवित्र और धार्मिक प्रयोजन वाले मान लिए गए।

प्रबन्ध मुख्यतः दो प्रकार के हैं—एक, वे जो रागदारी संगीत के अंगभूत रहे होंगे और जिनमें संभवतः स्वर पक्ष प्रधान रहा होगा, जो आज की दृष्टि से, संगीत की प्रदर्शन रूप प्रस्तुति में गाए जाते होंगे। दूसरे, वे जो विभिन्न सामाजिक अवसरों, त्यौहारों, प्रसंगों पर या विभिन्न कार्यों के साथ प्रयुक्त होते थे और जिनका प्रयोग संभवतः रागदारी संगीत के लिए उतना नहीं होता होगा। उनमें संभवतः आलप्ति या विस्तार भी नहीं या बहुत कम रहता हो। इन्हें लोकरूप मान सकते हैं। विप्रकीर्ण वर्ग में षट्पदी, चर्या, लोली, दन्ती आदि के लक्षण इस पक्ष का संकेत देते हैं।

संख्या की दृष्टि से देखें तो अकेले एला प्रबन्ध के ३५६, झोम्बड के ३५१० और सारे प्रबन्धों के भेद-प्रभेद मिला कर हज़ारों -हज़ारों प्रबन्ध होते हैं। निबद्ध रचनाओं की यह विविधता वाग्गेयकार की विशेष रचना-प्रतिभा की सूचक भी है। यह ज़रूरी नहीं है कि हर वाग्गेयकार सभी प्रबन्धों या किसी प्रबन्ध के सारे भेदों की रचना करने में सक्षम या कुशल हो लेकिन उनका ज्ञान होना नये प्रबन्ध की रचना के लिए ज़रूरी है। इस परिप्रेक्ष्य में वर्तमान स्थिति पर दृष्टिपात करने पर यह अनुभव होता है कि शास्त्रीय संगीत में बन्दिशों की विविधता में बहुत कमी आई है क्योंकि अब कुछ गिने-चुने प्रकार ही रह गए हैं। वाग्गेयकार की रचनाशक्ति में भी भारी ह्रास हुआ है क्योंकि न तो विविध प्रकार की नई बन्दिशों की रचना हो रही है और न ग्रन्थोक्त लक्षणों के अनुरूप प्रतिभासम्पन्न वाग्गेयकारों की संख्या ही ज़्यादा है।

यद्यपि कालावधि और विस्तार क्षेत्र की दृष्टि से राग में आलप्ति की तुलना में प्रबन्ध भाग बहुत छोटा होता है और राग के सम्पूर्ण स्वरूप को अभिव्यक्त करने में सक्षम भी नहीं होता फिर भी राग की विशेष भंगिमाओं को प्रस्तुत करने, रागालप्ति के प्रकार के लिए आधार देने और रूपकालप्ति की आधार सामग्री देने की दृष्टि से प्रबन्ध का भारतीय संगीत में हमेशा महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है।

राग और उसके घटकों—गमक, स्थाय, आलप्ति, प्रबन्ध आदि—में प्राचीन काल से लेकर अब तक निरन्तर होते रहे परिवर्तनों के बावजूद यह अनुभूति होती है कि भारतीय संस्कृति में विद्यमान अनेकता में एकता का सूत्र संगीत में भी कभी टूटा नहीं और भारतीय संगीत का मौलिक स्वरूप अविकल, अखण्डित, अक्षुण्ण, अक्षत रहा। इस विशाल भूखण्ड के विभिन्न प्रदेशों में भाषाओं, रचना शैलियों, अभिव्यक्ति के माध्यमों और प्रकारों में भिन्नता और राग, ताल, अनिबद्ध, निबद्ध, वाद्यों की वादन-शैलियों, नृत्य शैलियों आदि में काफ़ी भिन्नता होते हुए भी विविधता में एकता का जो दर्शन होता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

स्वर और राग जैसे विषयों पर विगत शताब्दी में काफ़ी काम हुआ लेकिन संगीतरत्नाकर के तीसरे अध्याय के एक-दो विषयों को छोड़ कर कोई विशेष विचार नहीं हुआ। चौथे प्रबन्धाध्याय पर लेखिका की पुस्तक 'भारतीय संगीत में ताल और रूप-विधान' में काफ़ी विस्तार से काम हुआ। उसके बाद डॉ० ऍन्० रामनाथन की पुस्तक Musical Forms in Saṅgītaratnākara में भी प्रबन्ध पर पर्याप्त विचार हुआ। प्रस्तुत खण्ड की भूमिका में और व्याख्या की सीमा में रहते हुए व्याख्या में इन दोनों अध्यायों पर कुछ विस्तार में जाने की कोशिश हुई है। इस खण्ड में प्रतिपादित विषयों का संगीत के वर्तमान लक्ष्य पर गहरा प्रभाव है इसलिए यह खण्ड संगीत की क्रिया के अभ्यास और शास्त्र के अध्ययन में प्रवृत्त और रुचि रखने वाले विद्यार्थियों, शिक्षकों और अध्येताओं के लिए विशेष रूप से उपयोगी है।

पार्श्वदेव का संगीतसमयसार संगीतरत्नाकर का लगभग समसामयिक ग्रन्थ है जिसकी विषय-वस्तु और विषय-विभाजन बहुत कुछ संगीतरत्नाकर जैसा है। लेकिन उसमें देशी संगीत का निरूपण रत्नाकर की अपेक्षा ज़्यादा है जिससे तत्कालीन लक्ष्य और लक्ष्यगत पारिभाषिक शब्दों पर काफ़ी प्रकाश पड़ता है। संगीतरत्नाकर के प्रकीर्णक और प्रबन्ध अध्यायों के विषयों पर संगीत-समयसार में रत्नाकर की तुलना में ज़्यादा विस्तार भी है और कुछ भिन्नता भी दृष्टिगोचर होती है। इसलिए इस ग्रन्थ का प्रस्तुत खण्ड में काफ़ी उपयोग किया है।

इसके अलावा डॉ० मुकुन्द लाठ और डॉ० ऍन्० रामनाथन् की उस प्रकाशित सामग्री का भी उपयोग किया है जिसके द्वारा संबद्ध विषयों पर नये तथ्य सामने आए हैं। छात्रगण उस सामग्री को स्वयं पढ़ें, यह अपेक्षित है।*

अगस्त सन् २००० में संगीतरत्नाकर का पहला खण्ड प्रकाशित हुआ था। उसमें सिर्फ़ पहला अध्याय—स्वरगताध्याय—था। उसके लगभग दो साल के अन्तराल से यह दूसरा खण्ड प्रकाशित हो रहा है। इस खण्ड में दूसरा, तीसरा और चौथा—तीन

---

* द्रष्टव्य—१. केन्द्रीय संगीत नाटक अकादमी, दिल्ली द्वारा प्रकाशित Śārṅgadeva And His Saṅgītaratnākara में मुकुन्द लाठ का लेख—'राग की इतिहास-यात्रा का एक प्रमुख पड़ाव—शार्ङ्गदेव का सङ्गीतरत्नाकर'।

२. Musical Forms in Saṅgītaratnākara, N. Ramanathan, Pub., Sampradāya, Chennai.

अध्याय सम्मिलित हैं। इस ग्रन्थमाला का तीसरा खण्ड भी जल्दी निकल जाय ऐसी मेरी कोशिश होगी। उसमें पाँचवाँ तालाध्याय और छठा वाद्याध्याय रहेंगे। अन्तिम चौथे खण्ड में नर्तनाध्याय दिया जायगा।

कार्य की जो रूपरेखा पहले खण्ड में थी वही सभी खण्डों में रहेगी। तदनुरूप दूसरे खण्ड में सामग्री इस क्रम से है— संस्कृत शीर्षक, श्लोक, हिन्दी शीर्षक, अन्वयसहित अर्थ (अ०) और मेरी सरस्वती व्याख्या (सर०)। मूलग्रन्थ का आधार आड्यार संस्क० १९५९ का पाठ और आवश्यकतानुसार आनन्द० का पाठ है। कहीं-कहीं पाठ संशोधन करना भी आवश्यक लगा।

दूसरे रागविवेकाध्याय में जो नोटेशन मूलग्रन्थ में सम्मिलित हैं उनमें कई त्रुटियाँ हैं, ख़ास तौर पर मन्द्र-तार चिन्हों के अभाव या ग़लत स्थान पर और ग़लत सप्तक के चिन्ह देने और अपेक्षित स्वरों पर चिन्ह न होने के कारण आई त्रुटियाँ। इसका बोध कराने की दृष्टि से कुछ स्थानों पर ग्रन्थोक्त लक्षण के आधार पर नोटेशन शुद्ध किया है। लेकिन सब जगह शुद्ध करने के लिए ग्रन्थ या टीकाओं से कोई आधार न मिलने के कारण ऐसा नहीं किया जा सका है। यों यह एक स्वतन्त्र अध्ययन का विषय हो सकता है।

पहले खण्ड की तरह प्रस्तुत खण्ड में भी अन्वय और अनुवाद इस तरह दिया है जिससे संस्कृत न जानने वाले पाठक भी मूल ग्रन्थ का सही अर्थ समझ सकें। व्याख्या ख़ास तौर पर संगीत के छात्रों और शिक्षकों की ज़रूरत को ध्यान में रख कर की है। इसी दृष्टि से वर्तमान संगीत के यथासंभव उदाहरण दिए हैं ताकि ग्रन्थ की धारणाएँ और उनके लक्षण स्पष्ट हो सकें और आज के लक्ष्य के साथ उनका संबन्ध प्रकट हो सके।

सुभद्रा चौधरी

वाराणसी, चैत्र शुक्ल नवमी (रामनवमी)
वि० संवत् २०५९
रविवार
२१ अप्रैल ई० सन् २००२

कृतज्ञता-ज्ञापन

डॉ० अनिल बिहारी ब्योहार, रीडर, संगीतशास्त्र विभाग, इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ ने इस खण्ड की सामग्री को आद्योपान्त सुन कर अनेक उपयोगी सुझाव दिये। इसके लिए मैं सर्वप्रथम उनके प्रति आभार व्यक्त करते हुए उन्हें हृदय से आशीर्वाद देती हूँ।

डॉ० मुकुन्द लाठ की प्रकाशित विशिष्ट सामग्री से मुझे स्थाय जैसी विस्मृत धारणा पर सोचने की नई दिशा मिली और वर्तमान संगीत से ग्रन्थगत सामग्री को जोड़ने का सबल सूत्र। इसलिए उनकी अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय स्थित संस्कृत विद्या एवं धर्म-विज्ञान संकाय के वैदिक दर्शन विभाग से सेवानिवृत्त विद्वान् पं० रतिनाथ झा के प्रति आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने अन्वय और अनुवाद की कई शंकाओं का तत्परता से समाधान किया।

उसी विभाग में कार्यरत डॉ० कृष्णकान्त शर्मा, रीडर ने प्रस्तुत खण्ड के अन्वय-अनुवाद को देखकर उसमें आवश्यक परिष्कार करके जो अमूल्य सहयोग दिया उसके लिए उनके प्रति हृदय से आभार व्यक्त करती हूँ।

प्रकाशक राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली ने सुन्दर और सुरुचिपूर्ण पुस्तक के रूप में प्रस्तुत खण्ड को प्रकाशित किया इसके लिए श्री० नितिन गर्ग को और सुन्दर सैटिंग व कम समय में पुस्तक तैयार करने के लिए श्री० जयवीर सिंह को धन्यवाद देती हूँ।

संकेत-सूची

अ०	अन्वय (अन्वय और अनुवाद में)
अ०	अध्याय (संदर्भों में)
अनु०	अनुवाक्
अभि०	अभिनवभारती
आनन्द०	आनन्दाश्रम
कल्लि०	कल्लिनाथ
काव्य०	काव्यप्रकाश
ग०ओ०मै०ला०	गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मैन्युस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी
ध्वन्या०	ध्वन्यालोक
नान्य०	नान्यदेव
ना०शा०	नाट्यशास्त्र
ना०शि०	नारदीयशिक्षा
पार्श्व०	पार्श्वदेव
पृ०	पृष्ठ
पं०	पंक्ति
प्र०	प्रथम
बृह०	बृहद्देशी
भ०भा०	भरतभाष्य
मान०	मानसोल्लास
वृ०र०	वृत्तरत्नाकर
शार्ङ्ग०	शार्ङ्गदेव
सर०	सरस्वती व्याख्या
सं०र०	संगीतरत्नाकर
सं०रा०	संगीतराज
सं०स०सार	संगीतसमयसार
सं०सं०प्र०	संगीतसम्प्रदायप्रदर्शिनी
संस्क०	संस्करण
सिंह०	सिंहभूपाल

विषय-सूची

	श्लोक संख्या	पृष्ठ संख्या
दूसरा रागविवेकाध्याय		१-१०६
१. पहला ग्रामराग-उपराग-राग-भाषा-विभाषा-अन्तरभाषाविवेक नामक प्रकरण		१-१४
प्रतिपाद्य विषय का सूचन	१	
गीतियों के आश्रित ग्रामराग	२ क-ख	
पाँच गीतियाँ और उनके लक्षण	२ ग-७	
रागों का उद्देश		
(क) ग्रामराग	८-१४	
(ख) उपराग	१५-१६ ख	
(ग) राग	१६ ग-१८	
भाषाजनक राग	१९-२१ ख	
(घ) भाषाएँ, विभाषाएँ और अन्तरभाषाएँ	२१ ग-४३	
भाषाओं के प्रकार	४४-४७	
२. दूसरा रागांगादि-निर्णय नामक प्रकरण		१५-१०६
उपोद्घात	१-३	
रागों का उद्देश		
पूर्वप्रसिद्ध रागांग आदि		
रागांग	४-५ क	
भाषांग	५ क-६ ग	
क्रियांग	६ ग-८ ख	
उपांग	८ ग-९ ख	
अधुना प्रसिद्ध रागांग आदि		
रागांग	९ ग-११ ख	
भाषांग	११ ग-१२	
क्रियांग	१३ क-ग	
उपांग	१३ ग-१८	

रागों की कुल संख्या १९

रागों के लक्षण २०

कुछ ग्रामरागों के लक्षण

(ग्रामराग-१) शुद्धसाधारित २१-२३ ख

रागालाप का लक्षण २३ ग-२४

रूपक का लक्षण २५ क-ख

आक्षिप्तिका का लक्षण २५ ग-२६ ख

करण, वर्तनी २६ ग-२७ ख

(ग्रामराग-२) षड्जग्राम २७ ग-३० ख

(ग्रामराग-३) शुद्धकैशिक ३० ग-३२

(ग्रामराग-४) भिन्नकैशिकमध्यम ३३-३५ ख

(ग्रामराग-५) भिन्नतान ३५ ग-३७ ख

(ग्रामराग-६) भिन्नकैशिक ३७ ग-३९

(ग्रामराग-७) गौडकैशिकमध्यम ४०-४२ ख

(ग्रामराग-८) गौडपंचम ४२ ग-४५ ख

(ग्रामराग-९) गौडकैशिक ४५ ग-४७

(ग्रामराग-१०) वेसरषाडव ४८-५० ख

(ग्रामराग-११) बोट्ट ५० ग-५२

(ग्रामराग-१२) मालवपंचम ५३-५५ ख

(ग्रामराग-१३) रूपसाधार ५५ ग-५७

(ग्रामराग-१४) शक ५८-५९

(ग्रामराग-१५) भम्माणपंचम ६०-६२ ख

(ग्रामराग-१६) नर्त ६२ ग-६५ ख

(ग्रामराग-१७) षड्जकैशिक ६५ ग-६७ ख

अधुना प्रसिद्ध देशी रागों के लक्षण, उनके जनक रागों सहित

रागांग

(ग्रामराग-१८) मध्यमग्राम ६७ ग-७० ख

(रागांग-१) मध्यमादि ७० ख-ग

(ग्रामराग-१९) मालवकैशिक ७० घ-७३ क

(रागांग-२) मालवश्री ७३ ख-घ

(ग्रामराग-२०) षाडव ७४-७६ ग

(रागांग-३) तोडी ७६ घ-७७

(रागांग-४) बंगाल ७८

(ग्रामराग-२१) भिन्नषड्ज ७९-८१ ग
(रागांग-५) भैरव ८१ घ-८२ ख
(ग्रामराग-२२) भिन्नपंचम ८२ ग-८५ क
(रागांग-६) वराटी ८५ ख-८६ ख
(उपराग-१) पंचमषाडव ८६ ग-८८
(रागांग-७) गुर्जरी ८९
(ग्रामराग-२३) टक्क ९०-९२ ख
(रागांग-८) गौड ९२ ग-घ
(रागांग-९) कोलाहल ९३ क-ख
(ग्रामराग-२४) हिन्दोल ९३ ग-९६ क
(रागांग-१०) वसन्त ९६ ख-घ
(ग्रामराग-२५) शुद्धकैशिकमध्यम ९७-९९ ख
(रागांग-११) धन्नासी ९९ ग-१०० ख
(उपराग-२) रेवगुप्त १०० ग-१०२ ख
(रागांग-१२) देशी १०२ ग-१०३ ख
(ग्रामराग-२६) गान्धारपंचम १०३ ग-१०५ ख
(रागांग-१३) देशाख्या १०५ ग-१०६ ख

भाषांग

(भाषा-१) त्रवणा १०६ ग-१०७
(भाषांग-१) डोम्बकृति १०८ क-ख
(ग्रामराग-२७) ककुभ १०८ ग-११० क
(भाषा-२) रगन्ती ११० क-१११ ख
(भाषांग-२) सावरी १११ ग-११२ ख
(विभाषा-१) भोगवर्धनी ११२ ग-११३
(भाषांग-३) वेलावली ११४
(भाषांग-४) प्रथममंजरी ११५
(भाषा-३) बांगाली ११६
(भाषांग-५) आडिकामोदिका ११७
(भाषा-४) वेगरंजी ११८
(भाषांग-६) नागध्वनि ११९
(ग्रामराग-२८) सौवीर १२०-१२२ ख
(भाषा-५) सौवीरी १२२ ख-१२३ ख
(भाषांग-७) वराटी १२३ ग-१२४ ख

(भाषा-६) पिंजरी १२४ ग-घ
(भाषांग-८) नट्टा १२५
(भाषांग-९) कर्णाटबंगाल ११६

क्रियांग

(क्रियांग-१) रामकृति १२७
(क्रियांग-२) गौडकृति १२८
(क्रियांग-३) देवकृति १२९

उपांग

(उपांग-१) कौन्तली वराटी १३०
(उपांग-२) द्राविडी वराटी १३१ क-ख
(उपांग-३) सैन्धवी वराटी १३१ ग-१३२ ख
(उपांग-४) अपस्थान वराटी १३२ ग-घ
(उपांग-५) हतस्वर वराटी १३३ क-ख
(उपांग-६) प्रताप वराटी १३३ ग-घ
(उपांग-७) छाया तोडी १३४ क-ख
(उपांग-८) तुरुष्क तोडी १३४ ग-घ
(उपांग-९) महाराष्ट्री गुर्जरी १३५
(उपांग-१०) सौराष्ट्री गुर्जरी १३६ क-ख
(उपांग-११) दक्षिणी गुर्जरी १३६ ग-घ
(उपांग-१२) द्राविडी गुर्जरी १३७ क-ख
(उपांग-१३) भुच्छी १३७ ग-१३८ ख
(उपांग-१४) खम्भाइति १३८ ग-१३९ ख
(उपांग-१५) छाया वेलावली १३९ ग-घ
(उपांग-१६) प्रताप वेलावली १४० क-ख
(उपांग-१७) भैरवी १४० ग-१४१ ख
(उपांग-१८) सिंहलीकामोदा १४१ ग-१४२ ख
(उपांग-१९) छायानट्टा १४२ ग-१४३ ख
(भाषा-७) कोलाहला १४३ ग-१४४ ख
(उपांग-२०) रामकृति १४४ ग-१४५
(भाषा-८) छेवाटी १४६-१४७ ख
(उपांग-२१) वल्लाता १४७ ग-१४८ ख
(ग्रामराग-२९) शुद्धपंचम १४८ ग-१५०
(भाषा-९) दाक्षिणात्या १५१-१५२ क

(विभाषा-२) आन्धाली १५२ क-१५३
(उपांग-२२) मल्हारी १५४
(उपांग-२३) मल्हार १५५
(उपांग-२४) कर्णाट गौड १५६ क-ख
(उपांग-२५) देशवाल गौड १५६ ग-घ
(उपांग-२६) तुरुष्क गौड १५७
(उपांग-२७) द्राविड गौड १५८

अधुना प्रसिद्ध निरुपपद राग

(राग-१) श्रीराग १५९-१६० ख
(राग-२) प्रथम बंगाल १६० ग-१६१ ख
(राग-३) द्वितीय बंगाल १६१ ग-१६२ ख
(राग-४) मध्यमषाडव १६२ ग-१६३ ख
(राग-५) शुद्धभैरव १६३ ग-१६४ ख
(राग-६) मेघराग १६४ ग-१६५ ख
(राग-७) सोमराग १६५ ग-१६६ ख
(राग-८) प्रथम कामोद १६६ ग-१६७ ख
(राग-९) द्वितीय कामोद १६७ ग-१६८ ख
(राग-१०) आम्रपंचम १६८ ग-१६९

अधुना प्रसिद्ध भाषा-विभाषाएँ

(भाषा-१०) कैशिकी १७०-१७१
(भाषा-११) प्रथम सौराष्ट्री १७२-१७३ ख
(भाषा-१२) द्वितीय सौराष्ट्री १७३ ग-१७४ ख
(भाषा-१३) प्रथम ललिता १७४ ग-१७५
(भाषा-१४) द्वितीय ललिता १७६-१७७ ख
(भाषा-१५) प्रथम सैन्धवी १७७ ग-१७८
(भाषा-१६) द्वितीय सैन्धवी १७९-१८० ख
(भाषा-१७) तृतीय सैन्धवी १८० ग-१८१
(भाषा-१८) चतुर्थ सैन्धवी १८२
(भाषा-१९) प्रथम गौडी १८३-१८४ ख
(भाषा-२०) द्वितीय गौडी १८४ ग-१८५
(भाषा-२१) त्रावणी १८६-१८७
(भाषा-२२) हर्षपुरी १८८
(विभाषा-३) भम्माणी १८९

(ग्रामराग-३०) टक्क कैशिक १९०-१९२
(भाषा-२३) मालवा १९३
(विभाषा-४) द्राविडी १९४

तीसरा प्रकीर्णकाध्याय १०७-२००

उपोद्घात १
वाग्गेयकार का लक्षण २
उत्तम वाग्गेयकार ३-९
मध्यम वाग्गेयकार १०
अधम वाग्गेयकार ११ क-ख
मातु के आधार पर वाग्गेयकार के भेद ११ ग-१२ ख
गान्धर्व और स्वरादि १२ ग-१३ ख
गायन (गायक) के गुण और भेद १३ ग-१९ ख
गायन के पुनः ५ भेद १९ ग-२० ख
(१) शिक्षाकार २० ग-घ
(२) अनुकार २१ क-ख
(३, ४, ५) रसिक, रंजक और भावक २१ ग-२२ ख
तीन प्रकार के गायक २२ ग-२३
गायनी (गायिका) का लक्षण २४
गायक के दोष २५-३८
शब्द (कण्ठध्वनि) के भेद ३९
(१) खाहुल ४०
(२) नाराट ४१ क-ग
(३) बोम्बक ४१ ग-४२ ख
(४) मिश्रक ४२ ग-४४
मिश्र के भेद-प्रभेद ४५-५० ख
द्वन्द्वज (दो के मिश्रण से उत्पन्न) भेद
खाहुल-नाराट के मिश्र भेद ५० ग-५५ क
खाहुल-बोम्ब के मिश्र भेद ५५ ख-५७
नाराट-बोम्ब के मिश्र भेद ५८-६०
सांनिपातिक भेद ६१-६७
शब्द के गुण ६८-७७
शब्द के दोष ७८-८१
शारीर का लक्षण ८२

शारीर के गुण ८३-८४ ख
शारीर के दोष ८४ ग-८५
'सुशारीर'-प्राप्ति के उपाय ८६
गमक का लक्षण ८७ क-ख
गमक के भेद ८७ ग-८९ ख
    (१) तिरिप ८९ ग-९० ख
    (२) स्फुरित ९० ग-घ
    (३) कम्पित ९१ क-ख
    (४) लीन ९१ ग
    (५) आन्दोलित ९१ घ
    (६) वलि ९२ क-ख
    (७) त्रिभिन्न ९२ ग-घ
    (८) कुरुल ९३ क-ख
    (९) आहत ९३ ग-घ
    (१०) उल्लासित ९४ क-ग
    (११) प्लावित ९४ ग-घ
    (१२) हुम्फित ९५ क-ख
    (१३) मुद्रित ९५ ग-घ
    (१४) नामित ९६ क-ख
    (१५) मिश्र ९६ ग-९७ ख
स्थाय का लक्षण ९७ ग-९८

स्थाय के भेद

स्थायभेदों का उद्देश ९९-११२ ख

स्थायभेदों के लक्षण

(अ) प्रसिद्ध असंकीर्ण लक्षण वाले स्थाय

१. शब्द-संबन्धी ११२ ग-घ
२. ढाल-संबन्धी ११३ क-ग
३. लवनी-संबन्धी ११३ घ-११४ ख
४. वहनी-संबन्धी स्थाय और उसके भेद ११४ ग- ११९ ख
५. वाद्यशब्दज ११९ ग-घ
६. यन्त्रज १२० क-ख
७. छाया-संबन्धी स्थाय और उसके भेद १२० ग-१२१ ख
    (१) स्वरकाकु १२१ ग-१२२ ख
    (२) रागकाकु १२२ ग-घ

(३) अन्यरागकाकु १२३ क-ख
(४) देशकाकु १२३ ग-घ
(५) क्षेत्रकाकु १२४
(६) यन्त्रकाकु १२५-१२६ ख
८. स्वरलंघित १२६ ग-घ
९. प्रेरित १२७ क-ख
१०. तीक्ष्ण १२७ ग-घ

(आ) प्रसिद्ध संकीर्ण लक्षण वाले स्थाय

१. भजन-संबन्धी १२८ क-ग
२. स्थापना-संबन्धी १२८ घ-१२९ ख
३. गति-संबन्धी १२९ ग-१३० क
४. नाद-संबन्धी १३० ग-घ
५. ध्वनि-संबन्धी १३१ क-ख
६. छवि-संबन्धी १३१ ग-घ
७. रक्ति-संबन्धी १३२ क-ख
८. द्रुत-संबन्धी १३२ ग
९. भृत-संबन्धी १३२ घ
१०. अंश-संबन्धी स्थाय और उसके भेद १३३-१३४ ग
(१) कारणांश १३४ ग-१३५ ख
(२) कार्यांश १३५ ग-१३६ क
(३) सजातीयांश १३६ क-१३७ क
(४) सदृशांश १३७ क-घ
(५) विसदृशांश १३८
(६) मध्यस्थांश १३९
(७) अंशांश १४०
११. अवधानज १४१ क-ख
१२. अपस्थान-संबन्धी १४१ ग-१४२
१३, १४. निकृति और करुणा-संबन्धी १४३ क-ख
१५. विविधत्वज १४३ ग-घ
१६. गात्र-संबन्धी १४४ क
१७. उपशम-संबन्धी १४४ ख-घ
१८. काण्डारणा-संबन्धी १४५ क-ख
१९. निर्जवन-संबन्धी १४५ ग-१४६ ख
२०. गाढ़ १४६ ग

२१. ललितगाढ़ १४६ घ-१४७ क

२२. ललित १४७ ख

२३. लुलित १४७ ग

२४. सम १४७ घ-१४८ क

२५. कोमल १४८ ख

२६. प्रसृत १४८ ग

२७. स्निग्ध १४८ घ

२८. चोक्ष १४९ क

२९. उचित १४९ ख

३०. सुदेशिक १४९ ग-घ

३१. अपेक्षित १४९ घ-१५० ख

३२. घोषज १५० ग-१५१ ख

३३. स्वर-संबन्धी १५१ ग-घ

(इ) अप्रसिद्ध असंकीर्ण लक्षण वाले स्थाय

१. वह-संबन्धी १५२ क-ख

२. अक्षराडम्बर-संबन्धी १५२ ग-घ

३. उल्लासित १५३ क-ख

४. तरंगित १५३ ग-घ

५. सलंबित अथवा प्रलंबित १५४

६. अवस्खलित १५५ क-ग

७. त्रोटित १५५ घ-१५६ ख

८. संप्रविष्ट १५६ ग-घ

९. उत्प्रविष्ट १५६ घ-१५७ क

१०, ११, १२. निसृत, भ्रामित, दीर्घकम्पित १५७ ख

१३. प्रतिग्राह्योल्लासित १५७ ग-१५८ ख

१४. अलम्बविलम्बक १५८ ग-घ

१५. त्रोटितप्रतीष्ट १५९

१६. प्रसृताकुंचित १६० क-ख

१७. स्थिर १६० ग-घ

१८. स्थायुक १६१

१९. क्षिप्त १६२ क

२०. सूक्ष्मान्त १६२ ख

(ई) अप्रसिद्ध संकीर्ण लक्षण वाले स्थाय

१. प्रकृतिस्थ-शब्द-संबन्धी १६२ ग-१६३ ख

२. कला-संबन्धी १६३ ग-घ
३. आक्रमण-संबन्धी १६४ क-ख
४. घटना-संबन्धी १६४ ग-घ
५. सुख-संबन्धी १६५ क
६. चालि-संबन्धी १६५ ख-ग
७. जीवस्वर-संबन्धी १६५ घ-१६६ ख
८. वेदध्वनि-संबन्धी १६६ ग-घ
९. घनत्व-संबन्धी १६७ क
१०. शिथिल १६७ ख
११. अवघट १६७ ग
१२. प्लुत १६७ घ
१३. रागेष्ट १६८ क-ख
१४. अपस्वराभास १६८ ग-घ
१५. बद्ध १६९ क
१६. कलरव १६९ ख-ग
१७. छान्दस १६९ घ
१८. सुकराभास १७० क-ख
१९. संहित १७० ग-घ
२०. लघु १७१ क
२१. अन्तर १७१ ख-ग
२२. वक्र १७१ ग-घ
२३. दीप्तप्रसन्न १७१ घ-१७२ क
२४. प्रसन्नमृदु १७२ ख-ग
२५. गुरु १७२ घ
२६. ह्रस्व १७३ क
२७,२८. शिथिलगाढ़, दीर्घ १७३ क-ख
२९. असाधारण १७३ ख-१७४ ख
३०. साधारण १७४ ग-घ
३१. निराधार १७५ क-ग
३२. दुष्कराभास १७५ घ-१७६ क
३३. मिश्र १७६ ख-१७८ ख
मिश्र स्थायों के नाम १७८ ग-१८९ ख
आलप्ति का लक्षण और भेद १८९ ग-१९० ख
रागालप्ति १९० ग-१९६

रूपकालप्ति १९७-१९८ ख
प्रतिग्रहणिका रूपकालप्ति १९८ ग-१९९ ख
भञ्जनी रूपकालप्ति १९९ ग-घ
स्थायभञ्जनी २००
रूपकभञ्जनी २०१
आलप्ति का सामान्य लक्षण २०२
वृन्द का लक्षण और उसके भेद २०३
गायकवृन्द २०४-२०६
गायिकावृन्द २०७-२०९
वृन्द के गुण २१०-२११ ख
कुतप २११ ग-२१२ ख
तत कुतप २१२ ग-२१६ ख
अवनद्ध कुतप २१६ ग-२२० ख
नाट्य कुतप २२० ग-२२३

चौथा प्रबन्धाध्याय २०१-३२५

गीत का लक्षण और भेद १
गान्धर्व का लक्षण २
गान का लक्षण ३-४ ख
गान के दो भेद ४ ग-घ
निबद्ध का लक्षण ५ क-ख
अनिबद्ध का लक्षण ५ ग-६ ख
निबद्ध की तीन संज्ञाएँ ६ ग-घ
'धातु' का लक्षण और भेद ७-१२ ग
प्रबन्ध के 'अंग' १२ ग-१९ ख
प्रबन्ध की जातियाँ १९ ग-२१ ख
प्रबन्ध के भेद
(अ) निर्युक्त और अनिर्युक्त २१ ग-२२ ख
(आ) सूड, आलि और विप्रकीर्ण २२ ग-२३ ख
प्रबन्धों का उद्देश २३ ग-३३ ख
प्रबन्धों के लक्षण
(क) शुद्ध सूड प्रबन्ध
१- एला
सामान्य लक्षण ३३ ग-४१

- एला के वर्णों के देवता ४२
- एला के पदों के नाम ४३-४४
- एला के पदों के देवता ४५-४६
- एला के पदों के प्राण ४७-५२
- एला के मुख्य भेद ५३-५६
- वर्णगण ५७-५८ ख
- वर्णगणों के देवता और फल ५८ ग-६० ख
- वर्णवर्गों के देवता और फल ६० ग-६२
- मात्रागण ६३-६५
- (१) गणैला ६६-६८ ख

शुद्ध गणैला के भेद

- (अ) नादावती ६८ ग-६९
- (आ) हंसावती ७०-७१
- (इ) नन्दावती ७२-७३
- (ई) भद्रावती ७४-७५
- संकीर्णा गणैला ७६
- विकृता गणैला ७७-७८ ग
  - (अ) वासवी ७८ ग-७९
  - (आ) संगता ८०-८३ ख
  - (इ) त्रेता ८३ ग-८६
  - (ई) चतुरा ८७-८८ ख
  - (उ) बाणा ८८-८९ ग
  - (ऊ) अन्य भेद ८९ घ-९४ ख
- (२) मात्रैला ९४ ग-९५ ग
  - (अ) रतिलेखा ९५ ग-९६ ग
  - (आ) कामलेखा ९६ घ-९७ क
  - (इ) बाणलेखा ९७ ख-ग
  - (ई) चन्द्रलेखा ९७ घ-९८ क
  - अन्य भेद ९८ ख-९९ क
  - (अ) इन्दुमती ९९ क-ख
  - (आ) ज्योतिष्मती ९९ ग-घ
  - (इ) नभस्वती १०० क-ख
  - (ई) वसुमती १०० ग-घ
  - पुनः अन्य भेद १०१-१०२

विचित्र मात्रैला १०३

अन्य भेद १०४-१०५ ख

(३) वर्णैला १०५ ग-११२ ख

मतंग के मत से वर्णैला के भेद ११२ ग-११३

(४) देशैला ११४

(अ) कर्णाटी एला ११५-१२६

(आ) लाटी एला १२७ क-ख

(इ) गौडी एला १२७ ग-घ

(ई) आन्ध्री एला १२८ क-ख

(उ) द्राविडी एला १२८ ग-१३२ ख

२- करण १३२ ग-१३३

(१) स्वरकरण १३४-१३६ ख

(२) पाटकरण १३६ ग-१३७ ख

(३) बन्धकरण १३७ ग-घ

(४) पदकरण १३८ क-ख

(५) बिरुदकरण १३८ ग-घ

(६) तेनकरण १३९ क-ख

(७) चित्रकरण १३९ ग-१४० ख

(८) मिश्रकरण १४० ग-घ

करण के भेद १४१

(अ) मंगलारम्भ १४२

(आ) आनन्दवर्धन १४३

(इ) कीर्तिलहरी १४४

३- ढेंकी १४५-१५२ ख

४- वर्तनी १५२ ग-१५४

५- झोम्बड १५५-१६८

६- लम्भ १६९-१७५ ख

७- रासक १७५ ग-१७९

८- एकताली १८०-१८१ ख

(ख) आलि प्रबन्धों का निरूपण

१- वर्ण १८१ ग-१८२ ख

२- वर्णस्वर १८२ ग-१८३

३- गद्य १८४-१८५ ख

(अ) उत्कलिका १८५ ग-१८६ ख

(आ) चूर्ण १८६ ग-१८७ ख
(इ) ललित १८७ ग-१८८ ख
(ई) वृत्तगन्धि १८८ ग-१८९ ख
(उ) खण्ड १८९ ग-१९० ख
(ऊ) चित्र १९० ग-१९१ ख
गद्य के भेद १९१ ग-१९५ ख
गद्य का गानप्रकार १९५ ग-१९८
४- कैवाड १९९-२०० ख
५- अंकचारिणी २०० ग-२०४ ख
६- कन्द २०४ ग-२०९ ख
७- हयलीला २०९ ग-२१२ ख
८- गजलीला २१२ ग-२१३ ख
९- द्विपदी २१३ ग-२१९ ख
१०- चक्रवाल २१९ ग-२२०
११- क्रौञ्चपद २२१
१२- स्वरार्थ २२२-२२३
१३- ध्वनिकुट्टनी २२४-२२५ ख
१४- आर्या २२५ ग-२३१ ख
१५- गाथा २३१ ग-२३२ ख
१६- द्विपथ २३२ ग-२४१ क
१७- कलहंस २४२-२४३
१८- तोटक २४४-२४५
१९- घट २४६ क-ख
२०- वृत्त २४६ ग-२४८ ख
२१- मातृका २४८ ग-२५२
२२- रागकदम्ब २५३-२५६ ख
२३- पञ्चतालेश्वर २५६ ग-२६४
२४- तालार्णव २६५ क-ख

(ग) विप्रकीर्ण प्रबन्ध

१- श्रीरंग २६५ ग-घ
२- श्रीविलास २६६ क-ख
३,४,५- पंचभंगि, पंचानन, उमातिलक २६६ ग-२६७
६- त्रिपदी २६८-२७०
७- चतुष्पदी २७१-२७२ ख

८- षट्पदी २७२ ग-२७४
९- वस्तु २७५-२७६
१०- विजय २७७
११- त्रिपथ २७८ क-ख
१२- चतुर्मुख २७८ ग-२७९ ख
१३- सिंहलील २७९ ग-२८० ख
१४- हंसलील २८० ग-घ
१५- दण्डक २८१
१६- झम्पट २८२ क-ख
१७- कन्दुक २८२ ग-घ
१८- त्रिभंगि २८३-२८४
१९- हरविलास २८५ क-ख
२०- सुदर्शन २८५ ग-घ
२१- स्वरांक २८६
२२- श्रीवर्धन २८७
२३- हर्षवर्धन २८८ क-ख
२४- वदन २८८ ग-२८९
२५- चच्चरी २९०- २९२ ख
२६- चर्या २९२ ग-२९४
२७- पद्धडी २९५
२८- राहडी २९६
२९- वीरश्री २९७ क-ख
३०- मंगलाचार २९७ ग-२९८ ख
३१- धवल २९८ ग-३०३ ख
३२- मंगल ३०३ ग-३०४ ख
३३- ओवी ३०४ ग-३०६
३४- लोली ३०७
३५- ढोल्लरी ३०८
३६- दन्ती ३०९-३१०
(घ) सालगसूड प्रबन्ध ३११-३१४
१- ध्रुव ३१५-३३२ ख
२- मण्ठ ३३२ ग-३३८ ख
३- प्रतिमण्ठ ३३८ ग-३४३ ख
४- निःसारुक ३४३ ग-३४७

५- अड्डताल ३४८-३५२ ख
६- रासक ३५२ ग-३५६ ख
७- एकताली ३५६ ग-३६० ख
आलाप का लक्षण ३६० ग-३६१ ख

त्रिविध रूपक प्रबन्ध

१- उत्तम रूपक ३६१ ग-३६७ ख

२- मध्यम रूपक

(१) परिवृत्त रूपक ३६७ ग-३६९
(२) पदान्तर रूपक ३७०
(३) भंजनीसंश्रित रूपक ३७१

३- अधम रूपक

(१) खल्लोत्तार रूपक ३७२
(२) अनुसार रूपक ३७३
गीत के गुण ३७४-३७९ ख
गीत के दोष ३७९ ग-३८०

संदर्भग्रन्थ-सूची ३२६-३२७

श्रीनिःशङ्कशार्ङ्गदेवप्रणीतः

संगीतरत्नाकरः

द्वितीयो रागविवेकाध्यायः

ग्रामरागोपरागरागभाषाविभाषान्तरभाषाविवेकाख्यं

प्रथमं प्रकरणम्

श्रीनिःशङ्कशार्ङ्गदेव-प्रणीत

संगीतरत्नाकर

दूसरा रागविवेकाध्याय

ग्रामराग-उपराग-राग-भाषा-विभाषा-अन्तरभाषा का विवेक नामक

पहला प्रकरण

(प्रतिपाद्यविषयसूचनम्)

अथ ग्रन्थेन संक्षिप्तप्रसन्नपदपङ्क्तिना।
निःशङ्को निखिलं रागविवेकं रचयत्यमुम्॥ १॥

प्रतिपाद्य विषय का सूचन

१. (अ०) **अथ** अब **निःशङ्कः** शंकारहित (शार्ङ्गदेव) **संक्षिप्त-प्रसन्न-पदपङ्क्तिना** संक्षिप्त (और) स्पष्ट अर्थ से युक्त पदों (शब्दों) की पंक्ति (अर्थात् वाक्यों) वाले **ग्रन्थेन** ग्रन्थ (के प्रस्तुत भाग) के द्वारा **अमुं** इस **निखिलं** संपूर्ण (विस्तारपूर्वक) **रागविवेकं** राग के विवेक (परस्पर भेद) को **रचयति** रचता है।

(सर०) पहले अध्याय में ग्रन्थकार ने उन विषयों का निरूपण किया जो ना०शा० में 'गान्धर्व' के अन्तर्गत आये हैं। कुछ आगे चलकर शार्ङ्गदेव ने 'मार्ग' को गान्धर्व के समकक्ष रखा (देखें, अध्याय ४/१-२)। इस दृष्टि से यह कह सकते हैं कि पहले अध्याय में स्वरपक्ष के मार्गसंबन्धी विषयों का प्रतिपादन किया गया। उस अध्याय में जाति-निरूपण हो चुका है जो भरतकालीन गेयरूप थे। उन्हीं जातियों से रागों का विकास हुआ समझा जाता है। इसलिए जाति के बाद उनसे जन्य रागों का निरूपण दूसरे अध्याय में ग्रन्थकार के प्रतिपादन का विषय है।

यह उल्लेखनीय है कि ना०शा० में 'राग' शब्द तो कई जगह आया है और नाट्य की विशिष्ट सन्धियों में प्रयुक्त होने

वाले सात ग्रामरागों के नाम भी दिए गये हैं (जिनका उल्लेख आगे यथास्थान किया जायगा) लेकिन जाति-लक्षण की तरह रागलक्षण नहीं दिया गया है।

भरत का प्रतिपाद्य नाट्य से संबद्ध संगीत के दो प्रकार—गान्धर्व और गान थे। नाट्य के पूर्वरंग में गान्धर्व और नाट्य के अन्तर्गत गान का प्रयोग विहित था। गान का आधार भी गान्धर्व था इसलिए गान्धर्व भरत का मुख्य प्रतिपाद्य था। पूर्वरंग में गीतकों का गान जातियों में होता था लेकिन, जैसा प्रस्तुत कार्य की भूमिका में कहा जा चुका है, ग्रामरागों का पूर्वरंग में प्रयोग भी विहित था। नाट्य की कथा में भावों, रसों, पात्रों की प्रकृति, परिस्थितियों की विविधता आदि के अनुरूप संगीत की योजना अपेक्षित थी इसलिए वहाँ जाति या राग आदि निश्चित स्वररूपों का नियत विधान करना संभव नहीं था। अत: भरत ने वहाँ संगीत की योजना प्रयोक्ता पर छोड़ दी, यद्यपि रसविशेष की अभिव्यंजक जाति की स्वरावली का संकेत अंश के द्वारा कर दिया। इस निर्देश का अभिप्राय यही था कि रसानुसार अंश-विशेष की जाति से उत्पन्न ग्रामरागों व भाषादि का प्रयोग किया जाय, जैसा कि अभिनवगुप्त ने कहा है (ना०शा०, २९/८-९ पर अभि०)। अन्यत्र भी अभिनव ने रस और अंश के परस्पर संबंध के संदर्भ में ग्रामराग, भाषादि के प्रयोग का उल्लेख किया है। भरत ने उन्तीसवें अध्याय के शुरू में जातियों में जो अंश और रसविनियोग कहा है उसमें भी अभिनव के अनुसार उन-उन जातियों से उत्पन्न ग्रामराग आदि का प्रयोग ही भरत को अभिप्रेत है। भरत द्वारा नाट्य की सन्धियों में ग्रामरागों का उल्लेख इसी का सूचक है।

भरत ने गान्धर्व से उत्पन्न स्वररूपों की चर्चा स्वयं न करके उसे परवर्ती आचार्यों के लिए छोड़ दिया जैसा कि मतंग ने कहा है कि जिस रागमार्ग के रूप को भरतादि ने नहीं कहा उसका लक्ष्य और लक्षण के अनुसार वे निरूपण करेंगे (बृह०, ३/२६२)।

श्लोक में आए **प्रसन्नपदपङ्क्तिना** का अर्थ कल्लि०के अनुसार इस प्रकार है—**प्रसन्नपद** यानी ऐसे शब्द जिनसे उनके अभिधेय का तुरन्त बोध हो जाय। **पङ्क्तिना** अर्थात् वाक्यों के द्वारा। पूरे पद का अर्थ है—जिनसे उनके अर्थ का तुरन्त बोध हो जाय ऐसे संक्षिप्त पदों से युक्त वाक्यों के द्वारा। **संक्षिप्तपद** का खुलासा करते हुए कल्लि० ने उदाहरण दिया कि जैसे बृह० आदि दूसरे ग्रन्थों में *'षड्जो न्यास:, षड्जोंऽशक:'* आदि कई वाक्यों से जो अर्थ कहा गया उसे सं०र० में *'षड्जग्रहांशन्यास:'* इत्यादि संक्षिप्त वाक्य से अथवा *'षड्जग्रहांशन्यास:'* को *'साद्यन्ता'* के द्वारा कह दिया गया।

रागविवेक के द्वारा ग्रन्थकार ने दशविध रागों का विवेक यानी असंकीर्ण रूप में रागों के परस्पर भेद का प्रतिपादन करने की प्रतिज्ञा की है। सिंह० ने व्याख्या में १० प्रकार के रागों के ये नाम दिए हैं—ग्रामराग, उपराग, राग, भाषा, विभाषा, अन्तरभाषा, रागांग, भाषांग, क्रियांग और उपांग। इन्हीं का 'विवेक' ग्रन्थकार ने इस अध्याय में किया है। शार्ङ्गदेव ने इस अध्याय को 'रागाध्याय' न कहकर '**रागविवेकाध्याय**' कहा उसका यही कारण है कि उन्हें सिर्फ़ रागों के लक्षण देकर उनका स्वरूपवर्णन करना ही अभिप्रेत नहीं है बल्कि विपुल संख्या के रागों का वर्गीकरण करना और उनमें परस्पर भेद का प्रतिपादन करना भी है।

ग्रन्थकार ने यहाँ राग का कोई लक्षण नहीं दिया। दूसरे प्रकरण में भाषादि और रागांगादि में रागत्व दिखाते हुए केवल इतना सा कहा—*'रञ्जनात् रागता'* (२/२/२) जिसमें मतंग द्वारा दिए गये रागलक्षण की ही ध्वनि है। दोनों टीकाकारों ने मतंग द्वारा दिया गया राग का लक्षण और राग शब्द की व्युत्पत्ति उद्धृत की है जो इस प्रकार है—

स्वरवर्णविशिष्टेन ध्वनिभेदेन वा पुन:।
रज्यते येन सच्चित्तं स राग: संमत: सताम्॥

योऽसौ ध्वनिविशेषस्तु स्वरवर्णविभूषित:।
रञ्जको जनचित्तानां स राग: कथितो बुधै:॥ (बृह०, २६३-६४)

श्लोकों का मुख्य कथ्य यह है कि स्वर और स्थायी, आरोही आदि वर्ण से विभूषित ध्वनि के जिस विशेष प्रकार के द्वारा चित्त का रंजन होता है वह 'राग' कहलाता है। तदनुसार रंजन राग का मुख्य लक्षण या धर्म है जिसे शार्ङ्गदेव ने *'रञ्जनात् रागता'* से व्यक्त किया है।

राग शब्द की व्युत्पत्ति दोनों टीकाकारों ने मतंग से उद्धृत की है लेकिन उन्होंने पूरा पाठ नहीं दिया है। सम्पूर्ण पाठ इस प्रकार है—

रञ्जनाज्जायते रागो व्युत्पत्तिः समुदाहृता।
इत्येवं रागशब्दस्य व्युत्पत्तिरभिधीयते॥

अश्वकर्णादिवद्रूढो यौगिको मण्डपादिवत्।
योगरूढोऽथवा रागो ज्ञेयः पङ्कजशब्दवत्॥ (वही, २६६-६७)

अर्थात् रंजन से राग उत्पन्न होता है, यह राग शब्द की व्युत्पत्ति कही गई है। राग शब्द 'अश्वकर्ण' की तरह रूढ़ है अथवा 'मण्डप' आदि के समान यौगिक है अथवा 'पङ्कज' शब्द की भाँति योगरूढ़ है।

रूढ़ शब्द वह होता है, जहाँ व्युत्पत्तिमूलक अर्थ नहीं बल्कि प्रचलित अर्थ ही संगत होता है। जैसे—'अश्वकर्ण' शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है 'घोड़े का कान'। लेकिन रूढ़ि से अश्वकर्ण एक विशेष वृक्ष ही समझा जाता है। व्युत्पत्तिमूलक अर्थ देने वाले शब्द यौगिक कहलाते हैं। जैसे—'मण्डप' शब्द 'मण्डम्' और 'पिबति' के योग से बना है जिसका अर्थ है 'माँड पीने वाला'। अथवा विवाह, नाट्यप्रस्तुति या अन्य अवसरों पर बनाया जाने वाला मण्डप, व्युत्पत्ति के अनुसार, 'मण्डं' (भूषा, सज्जा आदि की) 'पाति' रक्षा करता है इसलिए 'मण्डप' यौगिक शब्द है।

जब किसी शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ रहते हुए भी वह शब्द प्रचलन के आधार पर सीमित अर्थ में नियत हो जाता है तो वह योगरूढ़ कहलाता है। जैसे—'पङ्कज' शब्द का व्युत्पत्ति-अर्थ है 'पङ्क' अर्थात् कीचड़ से 'जः' यानी उत्पन्न होने वाला। यद्यपि कीचड़ से कई तरह के जीव और वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं, लेकिन पंकज शब्द के द्वारा कीचड़ से उत्पन्न केवल कमल का ही ग्रहण किया जाता है।

'राग' शब्द भी इन तीनों प्रकार से अर्थ देता है। 'रञ्जनाज्जायते' यह राग का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है इस अर्थ में राग शब्द यौगिक है। लेकिन रंजक होते हुए भी स्वर और वर्ण से विभूषित विशेष नियमों से लक्षित विशिष्ट प्रकार की ध्वनिरचना को ही संगीत में राग कहा जाता है, यह राग का योगरूढ़ अर्थ है। रंजन राग का लक्षण या धर्म है फिर भी जब कोई यह कहता है कि अमुक राग मुझे रंजक नहीं लगता तो उसके लिए राग का रंजक धर्म सार्थक नहीं होता। इस प्रकार स्वरवर्ण से विभूषित विशेष प्रकार की ध्वनिरचना होते हुए भी यहाँ राग शब्द भिन्न, सीमित अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। इस दृष्टि से वह रूढ़ है। राग शब्द के यही विशिष्ट अर्थ मतंग के उक्त श्लोकों में संक्षेप में व्यक्त किए गये हैं।

दूसरे अध्याय के इस पहले प्रकरण को ग्रन्थकार ने ग्रामराग, उपराग, राग, भाषा, विभाषा और अन्तरभाषा का विवेक नामक प्रकरण कहा है। वास्तव में इस प्रकरण में इन ६ वर्गों में रागों का वर्गीकरण और उद्देश ही किया है, लक्षण-निरूपण के द्वारा उनके स्वरूप और परस्पर भेद का प्रतिपादन दूसरे प्रकरण में ही हुआ है।

यहाँ यह समझना ज़रूरी है कि यद्यपि शार्ङ्गदेव ने इन ६ वर्गों के लिए 'मार्गराग' संज्ञा का प्रयोग नहीं किया है लेकिन मार्ग और देशी में से ये मार्ग कोटि के वर्ग हैं। दूसरे प्रकरण में श्लोक १५९-६० की व्याख्या में कल्लि० ने देशीत्व और मार्गत्व में जो अन्तर किया है, उससे भी यही सूचित होता है। दूसरे प्रकरण के दूसरे श्लोक में रागांगादि चार प्रकारों को देशीराग कहा गया है, ग्रन्थकार का यह कथन भी ग्रामराग आदि ६ प्रकारों के मार्गत्व का सूचक है।

(गीतीनामाश्रिता ग्रामरागाः)

पञ्चधा ग्रामरागाः स्युः पञ्चगीतिसमाश्रयात्।

गीतियों के आश्रित ग्रामराग

२ क-ख. (अ०) **पञ्चगीतिसमाश्रयात्** पाँच (प्रकार की) गीतियों के समाश्रय से (अर्थात् आश्रित होने से) **ग्रामरागाः** ग्रामराग **पञ्चधा स्युः** पाँच प्रकार से होते हैं।

(सर०) यहाँ से ग्रामराग वर्ग शुरू होता है। शुद्धा, भिन्ना आदि पाँच गीतियों के आश्रय से ग्रामराग पाँच प्रकार के होते हैं इसलिए ग्रामरागों का वर्गीकरण करने के लिए सबसे पहले गीतियों का उल्लेख करके उनके लक्षण दे रहे हैं।

मतंग ने ७ गीतियाँ कही हैं—शुद्धादि पाँच और भाषा तथा विभाषा। मतंग ने शुद्धा के लिए 'चोक्षा' शब्द का प्रयोग किया है। बृह० में गीतियों की संख्या के बारे में मतभेदों का उल्लेख याष्टिक, कश्यप और शार्दूल के आधार पर हुआ है। ये तीनों आचार्य शुद्धादि पाँच को गीति नहीं मानते बल्कि शार्दूल सिर्फ़ भाषा को, कश्यप भाषा और विभाषा को तथा याष्टिक भाषा, विभाषा और अन्तरभाषा को गीति मानते हैं। दुर्गशक्ति ने शुद्धादि पाँच गीतियाँ ही कही हैं। मतंग ने भाषा-विभाषा को लेकर पुरानी शुद्धादि पाँच के साथ ७ गीतियाँ कही हैं। सिंह० ने ध्यान दिलाया कि सं०र० में दुर्गशक्ति मत को मानते हुए शुद्धादि पाँच गीतियाँ कही हैं। यद्यपि मतंग ने भाषा और विभाषा को भी गीति मानकर सातों को एक वर्ग में रख दिया है पर वे शुद्धादि पाँच से भिन्न कोटि की हैं। शुद्धादि गीतियों का संबन्ध ग्रामरागों से है और भाषादि का ग्रामरागों के जन्य रागों से। ग्रामरागों को जिन ५ वर्गो में बाँटा है वे शुद्धादि पाँच गीतियों के आधार पर ही बने हैं। एक ही राग को किसी अन्य गीति में गाने पर लक्षण एक से होते हुए भी अन्तर हो जाता है, जैसे—शुद्धकैशिक और भिन्नकैशिक! भाषा और विभाषा उनमें नहीं आती क्योंकि वे वास्तव में गीति के प्रकार नहीं बल्कि ग्रामरागों के प्रकार हैं। कल्लि० ने मतंग के उद्धरण के आधार पर यही कहा भी है जिसकी चर्चा आगे व्याख्या में की जायगी।

(पञ्च गीतयः तासां लक्षणानि च)

गीतयः पञ्च शुद्धा च भिन्ना गौडी च वेसरा॥ २॥

साधारणीति शुद्धा स्यादवक्रैर्ललितैः स्वरैः।
भिन्ना वक्रैः स्वरैः सूक्ष्मैर्मधुरैर्गमकैर्युता॥ ३॥

गाढैस्त्रिस्थानगमकैरोहाटीललितैः स्वरैः।
अखण्डितस्थितिः स्थानत्रये गौडी मता सताम्॥ ४॥

ओहाटी कम्पितैर्मन्द्रैर्मृदुद्रुततरैः स्वरैः।
हकारौकारयोगेण हृन्यस्ते चिबुके भवेत्॥ ५॥

वेगवद्भिः स्वरैर्वर्णचतुष्केऽप्यतिरक्तितः।
वेगस्वरा रागगीतिर्वेसरा चोच्यते बुधैः॥ ६॥

चतुर्गीतिगतं लक्ष्म श्रिता साधारणी मता।
शुद्धादिगीतियोगेन रागाः शुद्धादयो मताः॥ ७॥

पाँच गीतियाँ और उनके लक्षण

२ ग-७. (अ०) शुद्धा भिन्ना च शुद्धा और भिन्ना, गौडी वेसरा च गौडी और वेसरा (तथा) साधारणी साधारणी इति इस प्रकार (ये) पञ्च गीतयः पाँच गीतियाँ (हैं)।

शुद्धा शुद्धा अवक्रैः वक्रता से रहित (और) ललितैः स्वरैः ललित (मनोहर) स्वरों से स्यात् होती है।

भिन्ना भिन्ना सूक्ष्मैः मधुरैः गमकैः युता सूक्ष्म और मधुर गमकों से युक्त वक्रैः स्वरैः वक्र स्वरों के द्वारा (होती है)।

त्रिस्थान-गाढैः गमकैः तीनों स्थानों में गाढ़ (सघन) गमकों के द्वारा, **ओहाटी-ललितैः स्वरैः** ओहाटी से ललित (बनाए गये) स्वरों के द्वारा (और) **स्थानत्रये** तीनों स्थानों में **अखण्डितस्थितिः** अविच्छिन्न रूप से रहने वाली (अर्थात् प्रयुक्त होने वाली) **सतां** सज्जनों (के मत) में **गौडी मता** गौडी (गीति) मानी गई (है)। **हृद्-न्यस्ते चिबुके** हृदय पर ठोडी टिकाने पर (अर्थात् टिका कर) **हकार-ओकार** (अथवा) **औकार-योगेण** 'ह'-कार (और) 'ओ'-कार अथवा 'औ'-कार के योग से **कम्पितैः** कम्पित (गमक)से (युक्त) **मन्द्रैः** मन्द्र (स्थान के), **मृदु** कोमल, **द्रुततरैः स्वरैः** द्रुततर (अत्यन्त द्रुत) स्वरों के द्वारा **ओहाटी भवेत्** 'ओहाटी' होती है।

वर्णचतुष्के अपि (स्थायी आदि) चारों वर्णों में भी **अतिरक्तितः** अत्यन्त रंजकता से **वेगवद्भिः स्वरैः** वेगवान् (अर्थात् द्रुत गति में प्रयुक्त) स्वरों के द्वारा (होने वाली) **वेगस्वरा** वेगस्वरा (नामक) **रागगीतिः** रागगीति **बुधैः** बुद्धिमानों के द्वारा **वेसरा च** वेसरा (नाम से) भी **उच्यते** कही जाती है।

चतुर्गीतिगतं लक्ष्म श्रिता (इन) चारों गीतियों के लक्षणों के आश्रित (गीति) **साधारणी मता** साधारणी मानी गई है। **शुद्धा-आदिगीतियोगेन** शुद्धा आदि (पाँच) गीतियों के योग से (अर्थात् आधार पर) **रागाः** राग **शुद्ध-आदयः मताः** शुद्ध आदि माने गये (हैं)।

(सर०) **अवक्रैः** का अर्थ है जो टेढ़े-मेढ़े न हों यानी स्वरों का सीधा, सरल प्रयोग। सिंह० द्वारा उद्धृत मतंग के आधार पर भिन्ना गीति में 'भिन्न' का अर्थ 'विकृत' है। तदनुसार शुद्धा गीति के सीधे सरल स्वरों की अपेक्षा वक्र और सूक्ष्म स्वरों के प्रयोग को विकार (परिवर्तन) मान कर भिन्ना गीति का लक्षण दिया गया है।

गौडी गीति में **ओहाटी** का विशेष स्थान है जिसमें हृदय पर ठोडी को टिका कर कम्पित गमक से युक्त, द्रुत गति में किन्तु मृदु रीति से मन्द्र स्वरों का उच्चार किया जाता है। कल्लि० ने कहा कि इसमें 'हो' (अथवा 'हौ') का साक्षात् उच्चारण नहीं किया जाता बल्कि लक्षित रीति से स्वरोच्चारण करने पर 'हो' (अथवा 'हौ') के अनुकरण की प्रतीति होती है। कल्लि० के अनुसार गौड प्रदेश के वासियों को प्रिय होने से इस गीति की संज्ञा गौडी है।

चौथी गीति 'वेगस्वरा' है जिसकी संज्ञा सार्थक है क्योंकि इसमें स्वरों का वेग से प्रयोग किया जाता है। वेगस्वरा का ही अपभ्रंश रूप 'वेसरा' है जो इस गीति का प्रचलित नाम है। मतंग द्वारा इसे 'रागगीति' कहा गया है। कल्लि० के अनुसार विशिष्ट प्रकार के स्वरप्रयोग से यह राग की आश्रयभूत गीति है इसीलिए इसे रागगीति कहा गया है।

इन चार गीतियों के लक्षणों का मिश्रण होने से साधारणी गीति होती है।

कल्लि० ने इसी अध्याय के दूसरे प्रकरण में शुद्धकैशिक ग्रामराग की व्याख्या में भरत के कुछ श्लोक उद्धृत किए हैं। उनमें पूर्वरंग में शुद्धा गीति का, प्रस्तावना में भिन्ना का, मुख और प्रतिमुख सन्धि में वेसरा का, गर्भसन्धि में गौडी का तथा अवमर्श और निर्वहण सन्धियों में साधारिता गीति का प्रयोग कहा गया है (२/२/३०-३२, कल्लि०)। गीतिसंबन्धी ये श्लोक ना०शा० में आज नहीं हैं और आज यह धारणा भी है कि ना०शा० में केवल मागधी आदि पदगीतियाँ ही हैं, रागाश्रित शुद्धा, भिन्ना आदि नहीं।

श्लोक में आए रागाः का तात्पर्य ग्रामरागों से है, तदनुसार शुद्धादि गीतियों के योग से शुद्धादि ग्रामराग होने का आशय यह है कि शुद्धा गीति के प्रयोग से शुद्ध ग्रामराग, भिन्ना से भिन्न ग्रामराग, गौडी से गौड ग्रामराग, वेसरा से वेसर ग्रामराग और साधारणी गीति से साधारण ग्रामराग कहे जाते हैं। जैसे पाँच गीतियों के सूचक कुछ ग्रामरागों के ये नाम हैं—शुद्धकैशिकमध्यम, भिन्नपंचम, गौडकैशिक, वेसरषाडव, रूपसाधारित।

भरत ने मागधी, अर्धमागधी, संभाविता और पृथुला—ये चार गीतियाँ कही हैं जो पद-तालगीतियाँ हैं, स्वरगीतियाँ नहीं (देखें, सं०र० का प्रथम अध्याय, आठवाँ प्रकरण)। शुद्धादि स्वराश्रित गीतियाँ हैं।

(रागोद्देशः)

(ग्रामरागाः)

षड्जग्रामसमुत्पन्नः शुद्धकैशिकमध्यमः।
शुद्धसाधारितः षड्जग्रामो ग्रामे तु मध्यमे॥ ८॥

पञ्चमो मध्यमग्रामः षाडवः शुद्धकैशिकः।
शुद्धाः सप्तेति, भिन्नाः स्युः पञ्च कैशिकमध्यमः॥ ९॥

भिन्नषड्जश्च षड्जाख्ये मध्यमे तानकैशिकौ।
भिन्नपञ्चम इत्येते, गौडकैशिकमध्यमः॥ १०॥

गौडपञ्चमकः षड्जे मध्यमे गौडकैशिकः।
इति गौडास्त्रयः, षड्जे टक्कवेसरषाडवौ॥ ११॥

ससौवीरौ मध्यमे तु बोट्टमालवकैशिकौ।
मालवः पञ्चमान्तोऽथ द्विग्रामष्टक्ककैशिकः॥ १२॥

हिन्दोलोऽष्टौ वेसरास्ते, सप्त साधारणास्ततः।
षड्जे स्याद्रूपसाधारः शको भम्माणपञ्चमः॥ १३॥

मध्यमे नर्तगान्धारपञ्चमौ षड्जकैशिकः।
द्विग्रामः ककुभस्त्रिंशद् ग्रामरागा अमी मताः॥ १४॥

रागों का उद्देश

(क) ग्रामराग

८-१४. (अ०) **षड्जग्रामसमुत्पन्नः** षड्जग्राम से उत्पन्न हुए **शुद्धकैशिकमध्यमः** (१) शुद्धकैशिकमध्यम, **शुद्धसाधारितः** (२) शुद्धसाधारित (और) **षड्जग्रामः** (३) षड्जग्राम (ये तीन, और) **मध्यमे ग्रामे तु** मध्यमग्राम में तो **पञ्चमः** (४) पंचम, **मध्यमग्रामः** (५) मध्यमग्राम, **षाडवः** (६) षाडव (और) **शुद्धकैशिकः** (७) शुद्धकैशिक (ये चार) **इति सप्त** इस प्रकार सात **शुद्धाः** शुद्ध (ग्रामराग हैं)।

कैशिकमध्यमः भिन्नषड्जः च (१) कैशिकमध्यम और (२) भिन्नषड्ज **षड्ज-आख्ये** षड्ज नामक (अर्थात् षड्जग्राम) में (और) **तान-कैशिकौ** (३) तान और (४) कैशिक (तथा) **भिन्नपञ्चमः** (५) भिन्नपंचम **मध्यमे** मध्यम (ग्राम) में **इति** इस प्रकार **एते पञ्च** ये पाँच **भिन्नाः स्युः** भिन्न (ग्रामराग) होते हैं।

षड्जे षड्ज (ग्राम) में **गौडकैशिकमध्यमः** (१) गौडकैशिकमध्यम, **गौडपञ्चमकः** (२) गौडपंचम (और) **मध्यमे** मध्यम (ग्राम) में **गौडकैशिकः** (३) गौडकैशिक **इति त्रयः** ये तीन **गौडाः** गौड (ग्रामराग हैं)।

षड्जे षड्ज (ग्राम) में **स-सौवीरौ टक्क-वेसरषाडवौ** (१) सौवीरसहित (२) टक्क और (३) वेसरषाडव (और) **मध्यमे तु** मध्यम (ग्राम) में तो **बोट्ट-मालवकैशिकौ** (४) बोट्ट और (५) मालवकैशिक **अथ** इसके बाद **पञ्चम-अन्तः मालवः** (६) पंचम से अन्त होने वाला मालव (अर्थात् मालवपंचम) (तथा) **द्विग्रामः** दो ग्राम वाले **टक्ककैशिकः** (७) टक्ककैशिक (और) **हिन्दोलः** (८) हिन्दोल **ते अष्टौ** वे आठ **वेसराः** वेसर (ग्रामराग हैं)।

ततः तब **सप्त साधारणाः** सात साधारण (ग्रामराग) **स्यात्** होते हैं। **षड्जे** षड्ज (ग्राम) में **रूपसाधारः** (१) रूपसाधार, **शकः** (२) शक (और) **भम्माणपञ्चमः** (३) भम्माणपंचम (तथा) **मध्यमे** मध्यम (ग्राम) में **नर्त-गान्धारपञ्चमौ** (४) नर्त और (५) गान्धारपंचम (तथा) **षड्जकैशिकः** (६) षड्जकैशिक (और) **द्विग्रामः ककुभः** दो ग्राम वाला (७) ककुभ।

अमी त्रिंशत् ये तीस **ग्रामरागाः मताः** ग्रामराग माने गये हैं।

(सर०) यहाँ गिनाए गये ३० ग्रामरागों में से कुछ षड्ज-ग्राम से उत्पन्न, कुछ मध्यमग्राम से और कुछ द्वैग्रामिक कहे गये हैं। ग्रामों से इनका संबन्ध कैसे माना जाय, यह शंका उठाकर मतंग ने भरत के वचन उद्धृत करते हुए जो समाधान किया है उसे दोनों टीकाकारों ने उद्धृत किया है जो महत्त्वपूर्ण है क्योंकि भरत के ये दोनों श्लोकार्ध ना०शा० के प्रकाशित संस्करणों में उपलब्ध नहीं हैं। भरतोक्त *'जातिसम्भूतत्वात् ग्रामरागाणां'* का अर्थ यह है कि ग्रामराग जातियों से उत्पन्न हुए हैं और *'यत्किञ्चिद्गीयते लोके तत्सर्वं जातिषु स्थितं'* का अर्थ है कि लोक में जो कुछ गाया जाता है वह सब जातियों में स्थित है। इन रागों को ग्रामराग नाम क्यों दिया इसे स्पष्ट करने के लिए कल्लि० के कथन का आशय यह है कि ये राग जातियों से उत्पन्न हैं और जातियाँ ग्रामों से। इस प्रकार ये ग्रामों से संबद्ध हैं। यद्यपि इनके बीच जाति का व्यवधान है फिर भी भाषादि की अपेक्षा यह व्यवधान कम है क्योंकि भाषादि ग्रामरागों से उत्पन्न माने जाते हैं इसलिए भाषाओं और ग्रामों के बीच ग्रामराग का व्यवधान भी है। वास्तव में ग्रामों से संबद्ध होने से इन्हें ग्रामराग कहा गया है।

(उपरागाः)

अष्टोपरागास्तिलकः शकादिष्टक्कसैन्धवः।
कोकिलापञ्चमो रेवगुप्तः पञ्चमषाडवः॥ १५॥

भावनापञ्चमो नागगान्धारो नागपञ्चमः।

(ख) उपराग

१५-१६ ख. (अ०) **शकादिः तिलकः** (१) शक से शुरू होने वाला तिलक (अर्थात् शकतिलक), **टक्कसैन्धवः** (२) टक्कसैन्धव, **कोकिलापञ्चमः** (३) कोकिलापंचम, **रेवगुप्तः** (४) रेवगुप्त, **पञ्चमषाडवः** (५) पंचमषाडव, **भावनापञ्चमः** (६) भावनापंचम, **नागगान्धारः** (७) नागगांधार (और) **नागपञ्चमः** (८) नागपंचम **अष्ट-उपरागाः** (ये) आठ उपराग (हैं)।

(सर०) 'उपराग' वर्ग के राग भी ग्रामरागों की तरह जातियों से उत्पन्न हैं। ये संभवतः ग्रामरागों के बाद विकसित हुए हैं लेकिन ग्रामरागों के समीप होने से इन्हें उपराग कहा है, कल्लि० ने इस ओर ध्यान दिलाया है। 'उपराग' शब्द में 'उप' का अर्थ है समीप और 'राग' से तात्पर्य ग्रामराग से है। इसलिए जो राग ग्रामराग के समीप हों वे उपराग कहे गये।

(रागाः)

श्रीरागनट्टौ बङ्गालौ भासमध्यमषाडवौ॥ १६॥

रक्तहंसः कोल्हहासः प्रसवो भैरवो ध्वनिः।
मेघरागः सोमरागः कामोदौ चाम्रपञ्चमः॥ १७॥

स्यातां कन्दर्पदेशाख्यौ ककुभान्तश्च कैशिकः।
नट्टनारायणश्चेति रागा विंशतिरीरिताः॥ १८॥

(ग) राग

१६ ग-१८. (अ०) **श्रीराग-नट्टौ** (१) श्रीराग और (२) नट्ट, **बङ्गालौ** (३,४) दो (प्रकार के) बंगाल, **भास-मध्यमषाडवौ** (५) भास और (६) मध्यमषाडव, **रक्तहंसः** (७) रक्तहंस, **कोल्हहासः** (८) कोल्हहास, **प्रसवः** (९) प्रसव,

भैरवः (१०) भैरव, **ध्वनिः** (११) ध्वनि, **मेघरागः** (१२) मेघराग, **सोमरागः** (१३) सोमराग, **कामोदौ च** (१४, १५) और दो (प्रकार के) कामोद, **आम्रपञ्चमः** (१६) आम्रपंचम (तथा) **कन्दर्प-देश-आख्यौ** (१७) कन्दर्प और (१८) देश नामक **स्यातां** (ये दो राग) होते हैं। **ककुभ-अन्तः कैशिकः च** और (१९) ककुभ से अन्त होने वाला कैशिक (अर्थात् कैशिककुभ) **नट्टनारायणः च** और (२०) नट्टनारायण (मिला कर) **इति विंशतिः** ये बीस **रागाः ईरिताः** राग कहे गये हैं।

(सर०) 'राग' वर्ग के राग भी जातियों से ही उत्पन्न हैं, लेकिन उपरागों के बाद उत्पन्न हुए। ग्रामराग और उपराग शब्दों में जैसे 'ग्राम' और 'उप' उपपद हैं उस तरह इस वर्ग के सूचक शब्द 'राग' में कोई उपपद नहीं है इसलिए कल्लि० ने इन्हें 'निरुपपद' (निः = रहित अर्थात् उपपद से रहित) राग कहा है। टीकाकार ने यह स्पष्टीकरण करना इसलिए ज़रूरी समझा कि यों तो ग्रामराग से लेकर उपांग तक मार्ग और देशी—दोनों वर्गों के सभी राग राग ही हैं फिर इस एक वर्ग के लिए राग शब्द के प्रयोग से भ्रान्ति उत्पन्न हो सकती है। इसीलिए कल्लि० ने इस वर्ग को 'निरुपपद राग' शब्द से अभिहित किया।

बृह० में 'उपराग' और 'राग'—ये दोनों ही वर्ग नहीं हैं। न इन वर्गों के रागों का कोई स्थान है। यद्यपि शार्ङ्गदेवोक्त रेवगुप्त, पंचमषाडव और टक्कसैन्धव—ये तीन उपराग बृह० में 'साधारण' ग्रामरागों में लक्षित हुए हैं।

बङ्गालौ और **कामोदौ** में द्विवचन से यह सूचित होता है कि इन दोनों रागों के दो-दो प्रकार हैं।

(भाषाजनकरागाः)

सौवीरः ककुभष्टक्कः पञ्चमो भिन्नपञ्चमः।
टक्ककैशिकहिन्दोलबोट्टमालवकैशिकाः॥ १९॥

गान्धारपञ्चमो भिन्नषड्जो वेसरषाडवः।
मालवः पञ्चमान्तश्च तानः पञ्चमषाडवः॥ २०॥

भाषाणां जनकाः पञ्चदशैते याष्टिकोदिताः।

भाषाजनक राग

१९-२१ ख. (अ०) (तीस ग्रामरागों में से) **सौवीरः** (१) सौवीर, **ककुभः** (२) ककुभ, **टक्कः** (३) टक्क, **पञ्चमः** (४) पंचम, **भिन्नपञ्चमः** (५) भिन्नपंचम, **टक्ककैशिक-हिन्दोल-बोट्ट-मालवकैशिकाः** (६) टक्ककैशिक, (७) हिन्दोल, (८) बोट्ट और (९) मालवकैशिक, **गान्धारपञ्चमः** (१०) गांधारपंचम, **भिन्नषड्जः** (११) भिन्नषड्ज, **वेसरषाडवः** (१२) वेसरषाडव, **पञ्चम-अन्तः मालवः च** और (१३) पंचम से अन्त होने वाला मालव (अर्थात् मालवपंचम), **तानः** (१४) तान, **पञ्चमषाडवः** (और) (१५) पंचमषाडव **एते पञ्चदश** ये पन्द्रह **याष्टिक-उदिताः** याष्टिक के द्वारा कहे गये **भाषाणां जनकाः** भाषाओं के जनक (राग हैं)।

(सर०) यहाँ दिए गये १५ रागों में पंचमषाडव उपराग है। इस प्रकार १४ ग्रामराग और १ उपराग भाषाजनक हुए। ये नाम ग्रन्थकार ने याष्टिक के मत से दिए हैं। कल्लि० का कथन है कि मतंग ने ६ ही ग्रामरागों को भाषाजनक कहा है। लेकिन बृह० में भाषाजनक के रूप में ग्रामरागों का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं है।

शार्ङ्गदेव ने दूसरे प्रकरण में जहाँ रागांगों और उनके जनक रागों के लक्षण दिए हैं वहाँ पंचमषाडव और रेवगुप्त का लक्षण भी दिया है जो उपराग हैं (२/२/८६-८८, १००-०२)। ग्रन्थकार ने रेवगुप्त को भाषाजनक रागों में गिनाया नहीं है लेकिन भाषा आदि का उद्देश करते समय रेवगुप्त में एक भाषा 'शका' कही है यद्यपि लक्षण देते समय शका का लक्षण न देकर 'देशी' नामक रागांग का ही लक्षण दिया है। कल्लि० ने शका के संदर्भ में कहा कि ग्रन्थकार ने रेवगुप्त को भाषाजनक रागों में नहीं रखा लेकिन कुछ आचार्य उसमें एक भाषा शका मानते हैं, उस मत की दृष्टि से रेवगुप्त को भाषाजनक स्वीकार करके यहाँ शका को उसकी भाषा कहा है।

श्लोक में आए भाषा शब्द पर कल्लि० ने मतंग को उद्धृत करते हुए स्पष्ट किया कि भाषाएँ ग्रामरागों के आलाप प्रकार हैं। मतग का वचन इस प्रकार है—*'ग्रामरागाणामेवालापप्रकारा भाषावाच्याः। भाषाशब्दोऽत्र प्रकारवाची'*। अर्थात् ग्रामरागों के आलापप्रकार भाषा से वाच्य हैं। भाषा शब्द यहाँ 'प्रकार' का वाचक है। ध्यान देने की बात है कि यह अंश बृह० के उपलब्ध पाठ में नहीं है। कल्लि० ने यह भी कहा कि भाषा के साथ ही विभाषा और अन्तरभाषा शब्द भी उन-उनके (यानी पूर्व-पूर्ववर्ती के) बाद उत्पन्न आलापप्रकार के वाचक समझने चाहिएँ और उनसे भी रंजन होता है इसलिए उनमें भी रागत्व है। इसमें दो बातें कही गई हैं। एक तो यह कि भाषा से विभाषा और विभाषा से अन्तरभाषा के क्रम से उत्पन्न होने वाले ये दो रूप भी अपने-अपने जनक रागों के आलाप प्रकार हैं अर्थात् विभाषा भाषा का और अन्तरभाषा विभाषा का आलाप प्रकार है। दूसरे, विभाषा और अन्तरभाषा से भी रंजन होता है इसलिए ये भी राग हैं।

एक तीसरी बात यह भी ध्वनित होती है कि विशिष्ट ग्रामराग का उसके मूल रूप से कुछ भिन्न रूप में किए गये आलाप के द्वारा बनने वाला रूप उस ग्रामराग की भाषा कहलाता है और इसी तरह भाषा के भिन्न आलाप प्रकार से विभाषा और विभाषा के भिन्न आलाप प्रकार से अन्तरभाषा उत्पन्न होती है। इस रूप में ग्रामों से (जाति के द्वारा) ग्रामराग, ग्रामराग से भाषा, भाषा से विभाषा और विभाषा से अन्तरभाषा उत्पन्न होती हैं। यही बात बृह० में याष्टिक के मतानुसार कही गई है (बृह,४/९-१०)। बृह० के भाषादि और देशीराग अध्याय लुप्त होने से इस संबन्ध में मतंग का मत उपलब्ध नहीं है। सं०र० में ग्रामरागों में ही उनकी भाषा, विभाषा और अन्तरभाषाओं का उद्देश किया गया है, भाषा से विभाषा और विभाषा से अन्तरभाषा उत्पन्न होने की बात नहीं कही है। लक्षण-निरूपण में भी ४ विभाषाओं में से ३ (भोगवर्धनी, भम्माणी, द्राविडी) को सीधे ग्रामरागों से जन्य ही कहा है, केवल एक आन्धालिका विभाषा भाषा से उत्पन्न है। अन्तरभाषा में से किसी का भी लक्षण नहीं है। यह इसका सूचक है कि शार्ङ्गदेव के समय तक कोई भी अन्तरभाषा प्रचार में नहीं रह गई थी।

भाषादि के उद्देश में यह ध्यान देने योग्य है कि एक ही नाम विभिन्न ग्रामरागों में आया है और कहीं भाषा तथा कहीं विभाषा है। जैसे—काम्भोजी सौवीर की भाषा और मालवकैशिक की विभाषा है। आभीरी सौवीर की विभाषा और पंचम तथा बोट्ट की भाषा है। सैन्धवी टक्क, पंचम, मालवकैशिक और भिन्नषड्ज सभी में है और भाषा है। सैन्धवी एक उपांग राग भी है।

इससे यह प्रकट होता है कि एक ही नाम से कई रूप प्रचलित रहे हैं जैसा आज के लक्ष्य में भी दिखाई देता है, उदाहरणार्थ कौशिककानड़ा या कौंसीकानड़ा। वर्तमान लक्ष्य के एक अंग में आने वाले रागों को भी मूल अंग की भाषा कहा जा सकता है। जैसे—तोड़ी अंग में गुर्जरी, बिलासखानी, भूपाल आदि प्रकार तोड़ी के मूल अंग को अलग-अलग तरह से गाने से बने रूप हैं। जिस तरह ये तोड़ी के 'प्रकार' हैं कुछ उसी तरह भाषाएँ भी ग्रामरागों के प्रकार रहे होंगे।

(भाषाः विभाषा अन्तरभाषाः)

भाषाश्चतस्रः सौवीरे सौवीरी वेगमध्यमा॥ २१॥

साधारिता च गान्धारी, ककुभे भिन्नपञ्चमी।
काम्भोजी मध्यमग्रामा रगन्ती मधुरी तथा॥ २२॥

शकमिश्रेति षट्, तिस्रो विभाषा भोगवर्धनी।
आभीरिका मधुकरी, तथैकान्तरभाषिका॥ २३॥

शालवाहनिका, टक्के त्रवणा त्रवणोद्भवा।
वैरञ्जी मध्यमग्रामदेहा मालववेसरी॥ २४॥

छेवाटी सैन्धवी कोलाहला पञ्चमलक्षिता।
सौराष्ट्री पञ्चमी वेगरञ्जी गान्धारपञ्चमी॥ २५॥

मालवी तानवलिता ललिता रविचन्द्रिका।
तानाम्बाहेरिका दोह्या वेसरीत्येकविंशतिः॥ २६॥

भाषाः स्युरथ देवारवर्धन्यान्ध्री च गुर्जरी।
भावनीति विभाषाः स्युश्चतस्त्रः, पञ्चमे पुनः॥ २७॥

कैशिकी त्रावणी तानोद्भवाभीरी च गुर्जरी।
सैन्धवी दाक्षिणात्यान्ध्री माङ्गली भावनी दश॥ २८॥

इति भाषा, विभाषे द्वे भम्माण्यान्धालिके ततः।
चतस्त्रः पञ्चमे भिन्ने भाषा धैवतभूषिता॥ २९॥

शुद्धभिन्ना च वाराटी विशालेत्यथ कौशली।
विभाषा, मालवाभिन्नवलिते टक्ककैशिके॥ ३०॥

भाषे द्वे, द्राविडीत्येका विभाषा; प्रेङ्खके नव।
भाषाः स्युर्वेसरी चूतमञ्जरी षड्जमध्यमा॥ ३१॥

मधुरी भिन्नपौराली गौडी मालववेसरी।
छेवाटी पिञ्जरीत्येका बोट्टे भाषा तु माङ्गली॥ ३२॥

बाङ्गाली माङ्गली हर्षपुरी मालववेसरी।
खञ्जनी गुर्जरी गौडी पौराली चार्धवेसरी॥ ३३॥

शुद्धा मालवरूपा च सैन्धव्याभीरिकेत्यमूः।
भाषास्त्रयोदश ज्ञेया विज्ञैर्मालवकैशिके॥ ३४॥

विभाषे द्वे तु काम्भोजी तद्वद्देवारवर्धनी।
गान्धारपञ्चमे भाषा गान्धारी, भिन्नषड्जके॥ ३५॥

गान्धारवल्ली कच्छेल्ली स्वरवल्ली निषादिनी।
त्रवणा मध्यमा शुद्धा दाक्षिणात्या पुलिन्दका॥ ३६॥

तुम्बुरा षड्जभाषा च कालिन्दी ललिता ततः।
श्रीकण्ठिका च बाङ्गाली गान्धारी सैन्धवीत्यमूः॥ ३७॥

भाषाः सप्तदश ज्ञेयाश्चतस्त्रस्तु विभाषिकाः।
पौराली मालवा कालिन्द्यपि देवारवर्धनी॥ ३८॥

वेसरे षाडवे भाषे द्वे नाद्या बाह्यषाडवा।
विभाषे पार्वती श्रीकण्ठ्यथ मालवपञ्चमे॥ ३९॥

भाषास्तिस्त्रो वेदवती भावनी च विभावनी।
ताने तानोद्भवा भाषा, भाषा पञ्चमषाडवे॥ ४०॥

पोता, भाषां शकामेके रेवगुप्ते विदुर्विदः।
विभाषा पल्लवी, भासवलिता किरणावली॥ ४१॥

शकाद्या वलितेत्येतास्तिस्त्रस्त्वन्तरभाषिकाः।
चतस्त्रोऽनुक्तजनका बृहद्देश्यामिमाः स्मृताः॥ ४२॥

एवं षण्णवतिर्भाषा विभाषा विंशतिस्तथा।
चतस्त्रोऽन्तरभाषाः स्युः शार्ङ्गदेवस्य संमताः॥ ४३॥

(घ) भाषाएँ, विभाषाएँ और अन्तरभाषाएँ

२१ ग-४३. (अ०) (यहाँ रागनामों का अन्वय नहीं दिया जा रहा है।) **सौवीरे** सौवीर (ग्रामराग) में **चतस्रः भाषाः** चार भाषाएँ (हैं)—(१) सौवीरी, (२) वेगमध्यमा, (३) साधारिता और (४) गान्धारी।

ककुभे ककुभ में (१) भिन्नपंचमी, (२) काम्भोजी, (३) मध्यमग्रामा, (४) रगन्ती, (५) मधुरी और (६) शकमिश्रा **इति षट्** ये ६ (भाषाएँ); (१) भोगवर्धनी, (२) आभीरिका (और) (३) मधुकरी **तिस्रः विभाषाः** (ये) तीन विभाषाएँ **तथा एका अन्तरभाषिका** और एक अन्तरभाषा शालवाहनिका (है)।

टक्के टक्क में (१) त्रवणा, (२) त्रवणोद्भवा, (३) वैरंजी, (४) मध्यमग्रामदेहा, (५) मालववेसरी, (६) छेवाटी, (७) सैन्धवी, (८) कोलाहला, (९) पंचमलक्षिता, (१०) सौराष्ट्री, (११) पंचमी, (१२) वेगरंजी, (१३) गांधारपंचमी, (१४) मालवी, (१५) तानवलिता, (१६) ललिता, (१७) रविचन्द्रिका, (१८) ताना, (१९) अम्बाहेरिका, (२०) दोह्या (और) (२१) वेसरी **इति एकविंशतिः** ये इक्कीस **भाषाः स्युः** भाषाएँ होती हैं। **अथ** इसके बाद (१) देवारवर्धनी, (२) आन्ध्री, (३) गुर्जरी और (४) भावनी **इति चतस्रः** ये चार **विभाषाः स्युः** विभाषाएँ होती हैं।

पुनः पञ्चमे फिर पंचम में (१) कैशिकी, (२) त्रावणी, (३) तानोद्भवा, (४) आभीरी, (५) गुर्जरी, (६) सैन्धवी, (७) दाक्षिणात्या, (८) आन्ध्री, (९) मांगली (और) (१०) भावनी **इति दश भाषाः** ये दस भाषाएँ (और) (१) भम्माणी तथा (२) आन्धालिका **द्वे विभाषे** दो विभाषाएँ (होती हैं)।

ततः तब **भिन्ने पञ्चमे** भिन्नपंचम में (१) धैवतभूषिता, (२) शुद्धभिन्ना, (३) वाराटी और (४) विशाला **इति चतस्रः भाषाः** ये चार भाषाएँ **अथ** और कौशली विभाषा (है)।

टक्ककैशिके टक्ककैशिक में (१) मालवा और (२) भिन्नवलिता **द्वे भाषे** (ये) दो भाषाएँ (तथा) **द्राविडी इति एका विभाषा** द्राविडी इस प्रकार एक विभाषा (होती है)।

प्रेङ्खके हिन्दोल में (१) वेसरी, (२) चूतमंजरी, (३) षड्जमध्यमा, (४) मधुरी, (५) भिन्नपौराली, (६) गौडी, (७) मालववेसरी, (८) छेवाटी (और) (९) पिंजरी **इति** इस प्रकार **नव भाषाः स्युः** नौ भाषाएँ होती हैं।

बोट्टे तु बोट्ट में तो **एका भाषा** एक (ही) भाषा मांगली (है)।

मालवकैशिके मालवकैशिक में (१) बांगाली, (२) मांगली, (३) हर्षपुरी, (४) मालववेसरी, (५) खंजनी, (६) गुर्जरी, (७) गौडी, (८) पौराली, (९) अर्धवेसरी, (१०) शुद्धा, (११) मालवरूपा, (१२) सैन्धवी और (१३) आभीरिका **इति** इस प्रकार **विज्ञैः** विज्ञों के द्वारा **अमूः त्रयोदश** ये तेरह **भाषाः ज्ञेयाः** भाषाएँ जानी गई हैं। **द्वे विभाषे तु** दो विभाषाएँ तो (१) काम्भोजी **तद्वत्** उसी प्रकार (२) देवारवर्धनी (हैं)।

गान्धारपञ्चमे गांधारपंचम में गांधारी भाषा (है)।

भिन्नषड्जके भिन्नषड्ज में (१) गांधारवल्ली, (२) कच्छेल्ली, (३) स्वरवल्ली, (४) निषादिनी, (५) त्रवणा, (६) मध्यमा, (७) शुद्धा, (८) दाक्षिणात्या, (९) पुलिन्दका, (१०) तुम्बुरा, (११) षड्जभाषा, (१२) कालिन्दी, **ततः** तब (१३) ललिता, (१४) श्रीकण्ठिका और (१५) बांगाली, (१६) गांधारी (और) (१७) सैन्धवी **इति** इस प्रकार **अमूः सप्तदश** ये सत्रह **भाषाः ज्ञेयाः** भाषाएँ जानी गई हैं। (१) पौराली, (२) मालवा, (३) कालिन्दी, (४) देवारवर्धनी **चतस्त्रः तु** (ये) चार तो **विभाषिकाः** विभाषाएँ (हैं)।

वेसरे षाडवे वेसरषाडव में (१) नाद्या (और) (२) बाह्यषाडवा **द्वे भाषे** दो भाषाएँ (और) (१) पार्वती (तथा) (२) श्रीकण्ठी **विभाषे** दो विभाषाएँ (हैं)।

अथ मालवपञ्चमे अब मालवपंचम में **तिस्त्रः भाषाः** तीन भाषाएँ—(१) वेदवती, (२) भावनी और (३) विभावनी (हैं)।

ताने तान में तानोद्भवा भाषा (है)।

पञ्चमषाडवे पंचमषाडव में पोता भाषा (है)।

रेवगुप्ते रेवगुप्त में **एके विदः** कुछ विज्ञ लोग **शकां भाषां** भाषा शका; विभाषा पल्लवी (तथा) (१) भासवलिता, (२)किरणावली, **शक-आद्या वलिता** (३) शक आदि में है जिसके ऐसी वलिता (अर्थात् शकवलिता) **एताः तिस्त्रः तु** ये तीन तो **अन्तरभाषिकाः विदुः** अन्तरभाषाएँ जानते हैं।

इमाः चतस्त्रः ये (अन्तिम) चार (अर्थात् पल्लवी, भासवलिता, किरणावली और शकवलिता) **बृहद्देश्यां** बृहद्देशी में **अनुक्तजनकाः** जनक के बिना कही गई हैं (अर्थात् इनका जनकराग नहीं कहा गया है)।

एवं इस प्रकार **षण्णवतिः भाषाः** छियानवे भाषाएँ, **विंशतिः विभाषाः** बीस विभाषाएँ **तथा** और **चतस्त्रः अन्तरभाषाः** चार अन्तरभाषाएँ **शार्ङ्गदेवस्य** शार्ङ्गदेव की **संमताः स्युः** संमत (स्वीकृत) हैं।

(सर०) पल्लवी आदि चार विभाषा व अन्तरभाषाओं को बृह० में किन्हीं अन्य रागों से उत्पन्न नहीं कहा गया है, ग्रन्थकार का यह कथन इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि बृह० का भाषालक्षण आज प्राप्त नहीं है और मतंग के अन्यत्र प्राप्त उद्धरणों और उल्लेखों के आधार पर ही मतंग का मत कुछ-कुछ समझा जा सकता है। इसी अध्याय के दूसरे प्रकरण के अन्त में कल्लि० ने मतंग, आंजनेय आदि पूर्वाचार्यों के मतानुसार उन रागों का लक्षण-निरूपण किया है जिनका उद्देश तो शार्ङ्गदेव ने किया है लेकिन अप्रसिद्ध होने के कारण लक्षण नहीं दिए हैं। उल्लेखनीय है कि वहाँ पल्लवी आदि को 'अनुक्तजनका' कह कर ही उनके लक्षण दिए हैं।

विभिन्न ग्रन्थकारों के अनुसार ग्रामरागों की संख्या तो तीस से तैंतीस के बीच ही रही लेकिन ग्रामरागों के बाद विकसित सभी वर्ग के रागों की संख्या के बारे में विभिन्न ग्रन्थों में काफ़ी अन्तर रहा है। इसका कारण यह है कि तत्कालीन लक्ष्य में जो ज़्यादा प्रचलित रहे उन रागों का निरूपण करना ही ग्रन्थकारों को अभिप्रेत रहा। सं०र० के 'प्राक्प्रसिद्ध' और 'अधुनाप्रसिद्ध' वर्ग और अधुनाप्रसिद्ध रागों का लक्षण-निरूपण इसी तथ्य का सूचक हैं।

(भाषाणां प्रकाराः)

भाषा मुख्या स्वराख्या च देशाख्या चोपरागजा।
चतुर्विधा मतङ्गोक्ता; मुख्यानन्योपजीवनी॥ ४४॥

स्वरदेशाख्यया ख्याता स्वराख्या देशजा क्रमात्।
अन्योपरागजा ताभ्यः,

भाषाओं के प्रकार

४४-४५ ग. (अ०) **मतङ्गोक्ताः भाषाः चतुर्विधा** मतंग के द्वारा कही गई भाषाएँ चार प्रकार की (हैं)—**मुख्या** (१) मुख्या **स्वराख्या च** और (२) स्वराख्या, **देशाख्या उपरागजा च** (३) देशाख्या और (४) उपरागजा। **मुख्या अनन्य-उपजीवनी** मुख्या किसी अन्य पर (निर्भर होकर) जीने वाली नहीं (है, अर्थात् स्वतन्त्र स्वरूप वाली है), **स्वराख्या** स्वराख्या (और) **देशजा** देशजा **क्रमात्** क्रम से **स्वर-देश-आख्यया** स्वर (और) देश के नाम से **ख्याताः** जानी गई हैं। **ताभ्यः अन्य-उपरागजा** उपरागजा उनसे अलग (है)।

(सर०) मतंग के मत से भाषाओं के मुख्या, स्वराख्या आदि जो चार भेद ग्रन्थकार ने यहाँ कहे हैं वे बृह० का भाषालक्षण प्राप्त न होने से शार्ङ्गदेव के उक्त कथन से ही जाने जा सकते हैं।

मुख्या वह है जो, कल्लि० के अनुसार, स्वराख्या, देशाख्या के बिना स्वतन्त्र रूप से प्रवर्तित होती है। आशय यह लगता है कि मुख्या सिर्फ़ अपने जनक ग्रामराग से ही संबद्ध होती है। जिन भाषाओं का नाम किसी स्वरसंज्ञा से युक्त हो वे स्वराख्या और जो किसी प्रदेश के नाम से संबद्ध हों वे देशाख्या कही जाती हैं। सिंह० ने इनके उदाहरणस्वरूप क्रमशः गान्धारी और आन्ध्री भाषाएँ कही हैं। स्पष्ट है कि सिंह० ने गान्धारो को गान्धार स्वर से संबद्ध माना है लेकिन गान्धारी का संबन्ध गान्धार प्रदेश से भी हो सकता है। भाषाओं में स्वर और प्रदेश सम्बन्धी और भी अनेक नाम हैं। जैसे—पंचमी, गांधारपंचमी, निषादिनी, शुद्धमध्यमा आदि तथा काम्भोजी, सैन्धवी, सौराष्ट्री, मालवी, गुर्जरी, गौडी, बांगाली आदि। विभिन्न मानव जातियों से संबद्ध नाम भी भाषादि में भरे पड़े हैं, यद्यपि देशाख्या की तरह उनका कोई अलग वर्ग नहीं कहा गया है। जैसे—शका, पुलिन्दका आदि। ये तीनों प्रकार के रागनाम स्वरविशेष अथवा स्वररचनाविशेष के, प्रदेश अथवा जाति के वैशिष्ट्य से भाषारागों के संबन्ध का संकेत देते हैं।

उपरागजा का दोनों टीकाकारों ने अलग-अलग अर्थ दिया है। सिंह० ने **ताभ्यः** का अन्वय पूर्वोक्त तीनों प्रकारों के साथ करते हुए कहा कि उन तीनों से 'अन्योपरागजा' उत्पन्न होती है। लेकिन यह अर्थ संगत नहीं लगता क्योंकि संज्ञा 'उपरागजा' है 'अन्योपरागजा' नहीं। यहाँ 'अन्या' का 'ताभ्यः' के साथ अन्वय करना चाहिए जिसका अर्थ होगा—उन तीनों से भिन्न उपरागजा होती है। कल्लि० ने यही अर्थ किया है और वह उचित प्रतीत होता है।

'उपरागजा' का अर्थ 'उपराग से उत्पन्न' है तदनुसार उपरागजा भाषाओं को उपराग से जन्य कहा जाना चाहिए लेकिन ग्रन्थकार या टीकाकारों ने ऐसा कोई संकेत नहीं दिया है। यद्यपि भाषादि के उद्देश में पंचमषाडव उपराग में पोता नामक भाषा का और रेवगुप्त उपराग में शका भाषा का नाम आया है। इन्हें उपरागजा भाषा कहा जा सकता है। शार्ङ्गदेव ने लक्षणनिरूपण करते समय पंचमषाडव में गुर्जरी और रेवगुप्त में देशी नामक रागांगों के लक्षण दिए हैं लेकिन उद्देश में कही गईं पोता और शका भाषाओं के नहीं। कारण यह है कि शार्ङ्गदेव ने अपने समय में प्रचलित भाषाओं के या जिन भाषाओं के जन्य राग प्रचलित थे उन्हीं के लक्षण दिए हैं, पोता और शका भाषाएँ उसके समय प्रचार में नहीं रहीं इसलिए इनके लक्षण नहीं दिए।

याष्टिकेनोदिताः पुनः ॥ ४५ ॥
संकीर्णा देशजा मूला छायामात्रेति नामभिः ।

४५ घ-४६ ख. (अ०) **पुनः** फिर (ये) **संकीर्णा देशजा मूला छायामात्रा** संकीर्णा, देशजा, मूला (और) छायामात्रा **इति नामभिः** इन नामों के द्वारा **याष्टिकेन उदिताः** याष्टिक के द्वारा कही गईं।

(सर०) बृह० में याष्टिक का भाषालक्षण संबन्धी जो अंश उद्धृत है उसके शुरू में ही भाषाओं के संकीर्णा आदि चार भेद कहे गये हैं लेकिन नाम के अलावा उनके लक्षण नहीं हैं। कल्लि० ने याष्टिकोक्त नामों को मतंगोक्त नामों से संबद्ध करते हुए कहा कि मूला यानी मुख्या, संकीर्णा यानी स्वराख्या, देशजा अर्थात् देशाख्या और छायामात्रा उपरागजा है।

शुद्धाभीरी रगन्ती च त्रिधा मालववेसरी ॥ ४६ ॥

मुख्याः षडिति शेषाः स्युर्विज्ञेयाः स्फुटलक्षणाः।
नामसाम्यं तु कासांचिद् भिन्नानामपि लक्ष्मतः॥ ४७॥

४६ ग-४७. (अ०) **शुद्धा** शुद्धा, **आभीरी** आभीरी, **रगन्ती** रगन्ती **त्रिधा मालववेसरी च** और तीन प्रकार की मालववेसरी **इति षट्** ये ६ **मुख्याः स्युः** मुख्या होती हैं। **शेषाः** शेष **स्फुटलक्षणाः विज्ञेयाः** स्पष्ट लक्षणों वाली विशेष रूप से जानी गई हैं। **लक्ष्मतः** लक्षणों से **भिन्नानाम् अपि** भिन्नों की (अर्थात् भिन्न होते हुए) भी **कासांचिद् तु** कुछ (भाषादि) के तो **नामसाम्यं** नाम की समानता (है अर्थात् कुछ के नाम एक से हैं लेकिन लक्षण भिन्न हैं)।

(सर०) भाषाओं में से ६ को मुख्या कहा है जिनमें ३ प्रकार की मालववेसरी भी है। तीन भिन्न ग्रामरागों में इस भाषा का नाम आया है—टक्क, हिन्दोल और बोट्ट में। इससे यह प्रकट ही है कि एक ही नाम से भिन्न रूप वाले कई राग प्रचार में रहे हैं। इसी तथ्य की पुष्टि ग्रन्थकार ने यह कह कर की है कि नाम एक होते हुए भी उनके लक्षण भिन्न हैं। लक्षण स्वरूप का सूचक होता है क्योंकि लक्षण स्वरूप के आधार पर ही बनाए जाते हैं। इसलिए लक्षण भिन्न होने का अर्थ यह है कि नाम एक होने पर भी उनका स्वरूप अलग-अलग है। वर्तमान उत्तर भारतीय संगीत में भी ऐसे कुछ राग अवश्य मिल जायँगे।

इति द्वितीये रागविवेकाध्याये ग्रामरागोपरागरागभाषाविभाषान्तर-
भाषाविवेकाख्यं प्रथमं प्रकरणम्

दूसरे रागविवेकाध्याय का ग्रामराग-उपराग-राग-भाषा-विभाषा-अन्तरभाषा का विवेक
नामक पहला प्रकरण समाप्त

रागाङ्गादिनिर्णयाख्यं द्वितीयं प्रकरणम्
रागांगादि-निर्णय नामक दूसरा प्रकरण

(उपोद्घातः)

अथ रागाङ्गभाषाङ्गक्रियाङ्गोपाङ्गनिर्णयम्।
केषाञ्चिन्मतमाश्रित्य कुरुते सोढलात्मजः॥ १॥

उपोद्घात

१. (अ०) **अथ** अब **सोढल-आत्मजः** सोढल का पुत्र (शार्ङ्गदेव) **केषाञ्चित् मतम् आश्रित्य** कुछ (अन्यों) के मत के आश्रय से **रागाङ्ग-भाषाङ्ग-क्रियाङ्ग-उपाङ्गनिर्णयं** रागांग, भाषांग, क्रियांग (और) उपांग (रागों) का निर्णय **कुरुते** करता है।

(सर०) पहले प्रकरण में मार्ग वर्ग के रागों का उद्देश करने के बाद दूसरे प्रकरण में रागांग, भाषांग, क्रियांग और उपांग—इन चार प्रकार के रागों का यहाँ से निरूपण आरम्भ हो रहा है जो देशी वर्ग के हैं। यह निरूपण मतंगादि कुछ पूर्वाचार्यों के मतानुसार किया गया है। सिंह० ने ध्यान दिलाया कि 'कुछ आचार्यों के मत से' कथन का आशय यह है कि देशी होने के कारण ये भरतमुनिप्रणीत नहीं हैं।

दोनों व्याख्याकारों ने रागांगादि का मतंगोक्त लक्षण उद्धृत किया है जिसके अनुसार ग्रामरागों की छाया (अंग) जिन रागों में आ जाये वे रागांग कहलाते हैं, जिनमें भाषाओं की छाया हो वे भाषांग और जिनके द्वारा करुणा, शोक, उत्साह आदि के प्रभाव से कोई क्रिया उत्पन्न होती है वे क्रियांग कहलाते हैं। इनका रागांगादि की तरह किन्हीं अन्य रागों से संबन्ध नहीं कहा गया है। क्रियांग रागों के नामों के अन्त में प्रायः 'क्री' या 'कृति' शब्द जुड़ा रहता है। मतंग ने उपांग अलग से नहीं कहे हैं लेकिन उनका अन्तर्भाव रागांगादि में ही हो गया है, ऐसा कल्लि० का कथन है।

कल्लि० ने 'अंग' संज्ञा वाले किसी राग की छाया के अनुकरण को 'उपांगत्व' कहा है यानी रागांगादि में से किसी राग के अंग की छाया आने को उपांगत्व समझना चाहिए। ग्रन्थकार द्वारा उपांग का अलग वर्ग मतंग के मत से नहीं, किसी अन्य मत के आधार पर कहा गया है।

रागांग आदि शब्दों में 'अंग' पद का अर्थ उक्त लक्षण के अनुसार छाया है। 'रागांग' में 'राग' शब्द ग्रामराग का सूचक है। वर्तमान लक्ष्य में भी यह धारणा जीवित है। अमुक राग मल्हार अंग का अथवा अमुक कल्याण अंग का कहते समय अंग से तात्पर्य किसी मूल या प्रमुख राग के किसी रागवाची अवयव का अन्य राग में प्रयोग होना सूचित होता है जिससे मूलराग की छाया दूसरे राग में आ जाती है इसीलिए उसे मुख्य राग का अंग कहा जाता है।

रञ्जनाद्रागता भाषारागाङ्गादेरपीष्यते।
देशीरागतया प्रोक्तं रागाङ्गादिचतुष्टयम्॥ २॥

२. (अ०) **रञ्जनात्** रंजन के कारण **भाषा-रागाङ्गादेः अपि** भाषा (आदि और) रागांग आदि की भी **रागता इष्यते** रागता इच्छित होती है (अर्थात् उनमें भी रागत्व माना जाता है)। **रागाङ्ग-आदिचतुष्टयं** (किन्तु) रागांग आदि चार का समूह (अर्थात् रागांग, भाषांग, क्रियांग और उपांग) **देशीरागतया प्रोक्तं** देशीराग के रूप में कहा गया है (अर्थात् वे देशीराग हैं)।

(सर०) ग्रन्थकार ने यहाँ **रञ्जनात् रागता**—राग का यह बहुत संक्षिप्त लक्षण दिया है जिसका यह अर्थ है कि रंजन करने से रागता होती है। आशय यह है कि राग संज्ञा वाला स्वररूप रंजन करता है इसलिए राग कहलाता है। शार्ङ्गदेव ने कहा कि रंजन के आधार पर भाषादि भी राग होते हैं लेकिन रागांगादि चार प्रकार देशी हैं। यद्यपि भाषादि के लिए यहाँ मार्गराग शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है लेकिन रागांगादि का भाषादि से व्यावर्तक (अलग करने वाला) लक्षण देशीत्व बता कर भाषादि को परोक्ष रूप से मार्गराग कहना ही अभिप्रेत है।

कल्लि० ने 'कामचारप्रवर्तन' अर्थात् इच्छानुसार प्रयोग देशीत्व का लक्षण बताया जिससे यह सूचित होता है कि देशी में नियमों के बन्धन मार्ग जैसे कड़े नहीं हैं। यद्यपि नियम तो देशी में भी हैं लेकिन उनमें यथेच्छ परिवर्तन की छूट है। वास्तव में मार्ग के नियमों में शिथिलता ही देशी के जन्म का आधारभूत कारण है। कल्लि० द्वारा उद्धृत मतंग के अंश में कहा गया है कि पहले मार्गरागों में जो नियम कहा गया वह देशीरागों में और कभी-कभी भाषाओं में अन्यथा भी हो जाता है यानी उसमें परिवर्तन हो जाता है।

इस श्लोक का कथ्य यह है कि यद्यपि रंजक होने से भाषादि और रागांगादि सभी राग हैं लेकिन रागांगादि चार देशीराग हैं और भाषादि मार्गराग हैं।

प्रसिद्धा ग्रामरागाद्याः केचिद्देशीत्यपीरिताः।
तत्र पूर्वप्रसिद्धानामुद्देशः क्रियतेऽधुना॥ ३॥

३. (अ०) **केचिद्** कुछ **प्रसिद्धाः ग्रामराग-आद्याः** प्रसिद्ध ग्रामराग आदि **देशी इति अपि** देशी—इस प्रकार भी **ईरिताः** कहे गये हैं। **तत्र** उनमें से **अधुना** अब **पूर्वप्रसिद्धानां** पूर्व प्रसिद्धों (पहले प्रचलित रागों) का **उद्देशः क्रियते** उद्देश किया जाता है।

(सर०) पिछले श्लोक में ग्रन्थकार रागांगादि को देशी कह चुके हैं लेकिन मतंग द्वारा भाषादि में भी नियमों में परिवर्तन की गुंजाइश होने से उनमें भी देशीत्व की बात कही गई। यहाँ ग्रन्थकार यह कह रहे हैं कि कुछ ग्रामराग आदि भी देशी कहे गये हैं। इसका कारण यह है कि उन ग्रामरागों में भी परम्परा से चले आए नियमों का अभाव हो गया अर्थात् उनमें भी देशीत्व आ गया। ग्रामरागों में देशीत्व का उदाहरण देते हुए सिंह० ने पंचम, रेवगुप्त, नट्टनारायण का उल्लेख किया है।

मार्ग-देशी के अन्तर्गत रागों के वर्गीकरण का मुख्य आधार नियमबद्धता और कामचार है। जिनमें नियम रूढ़ हो गये और जो ज़्यादा नियमबद्ध थे वे मार्ग कहे गये और जिनमें कामचार था वे देशी कहलाये। लेकिन इस श्लोक में यह संकेत है कि मार्ग वर्ग के और पुराने रागों में भी रूढ़ नियमों में छूट ली जाने लगी इसलिए मूलतः मार्ग होते हुए भी उनमें देशीत्व आ गया। इसीलिए शार्ङ्गदेव ने कुछ तत्कालीन प्रचलित ग्रामरागों को देशी भी कहा।

(रागोद्देशः)

(पूर्वप्रसिद्धरागाङ्गादीनि)

शङ्कराभरणो घण्टारवो हंसकदीपकौ।
रीतिः कर्णाटिका लाटी पाञ्चालीति बभाषिरे॥ ४॥

रागाङ्गाण्यष्टः, गाम्भीरी वेहारी श्वसितोत्पली।
गोली नादान्तरी नीलोत्पली छाया तरङ्गिणी॥ ५॥

गान्धारगतिका वैरञ्जीत्येकादश मेनिरे।
भाषाङ्गाण्यथ भावक्रीस्वभावक्रीशिवक्रियः॥ ६॥

मकरक्रीत्रिनेत्रक्रीकुमुदक्रीदनुक्रियः।
ओजक्रीन्द्रक्रियौ नागकृतिर्धन्यकृतिस्तथा॥ ७॥

विजयक्रीः क्रियाङ्गाणि द्वादशेति जगुर्बुधाः।
त्रीण्युपाङ्गानि पूर्णाटी देवालश्च गुरुञ्जिका॥ ८॥

चतुस्त्रिंशदिमे रागाः प्राक्प्रसिद्धाः प्रकीर्तिताः।

रागों का उद्देश
पूर्वप्रसिद्ध रागांग आदि
रागांग

४-५ क. (अ०) (१) शंकराभरण*, (२) घण्टारव, (३) हंसक, (४) दीपक, (५) रीति, (६) कर्णाटी, (७) लाटी और (८) पांचाली **इति अष्ट** ये आठ **रागाङ्गाणि बभाषिरे** रागांग कहे गये हैं।

भाषांग

५ क-६ ग. (अ०) (१) गाम्भीरी, (२) वेहारी, (३) श्वसिता, (४) उत्पली, (५) गोली, (६) नादान्तरी, (७) नीलोत्पली, (८) छाया, (९) तरंगिणी, (१०) गान्धारगतिका (और) (११) वैरंजी **इति एकादश** ये ग्यारह **भाषाङ्गाणि मेनिरे** भाषांग माने गये हैं।

क्रियांग

६ ग-८ ख. (अ०) **अथ** इसके बाद (१) भावक्री, (२) स्वभावक्री, (३) शिवक्री, (४) मकरक्री, (५) त्रिनेत्रक्री, (६) कुमुदक्री, (७) दनुक्री, (८) ओजक्री, (९) इन्द्रक्री, (१०) नगकृति, (११) धन्यकृति और (१२) विजयक्री **इति द्वादश** इस प्रकार बारह **बुधाः** बुधजनों ने **क्रियाङ्गाणि** क्रियांग **जगुः** कहे।

उपांग

८ ग-घ. (अ०) (१) पूर्णाटी, (२) देवाल और (३) गुरुंजी **त्रीणि उपाङ्गानि** (ये) तीन उपांग (हैं)।

९ क-ख. (अ०) **इमे** ये **चतुस्त्रिंशत् रागाः** चौंतीस राग **प्राक्प्रसिद्धाः प्रकीर्तिताः** प्राक्प्रसिद्ध विशेष रूप से जाने गये हैं।

(सर०) ग्रन्थकार ने मार्ग और देशी—इन दो बड़े वर्गों के अन्तर्गत ग्रामराग आदि ६ और रागांग आदि ४ अवान्तर वर्गों में रागवर्गीकरण का मूल आधार रखा। इन्हीं वर्गों के अनुसार उद्देश (संग्रह) भी किया है। लेकिन जिन २६४ रागों का उद्देश किया है वे सभी शार्ङ्गदेव के समय में प्रचलित नहीं थे। इसलिए रागों को फिर से दो वर्गों में विभक्त किया—१. पूर्वप्रसिद्ध अर्थात् जो पहले प्रचलित थे और २. अधुनाप्रसिद्ध यानी शार्ङ्गदेव के काल में प्रचलित। रागांगादि चार प्रकारों में से जो राग पूर्वप्रचलित थे उनका उद्देश उन-उन प्रकारों के अन्तर्गत पूर्वप्ररिद्ध वर्ग में किया और अपने समय में प्रचलित रागों का उद्देश

---

* उद्देश में जहाँ केवल नाम गिनाए हैं उनका अन्वय नहीं दिया जायगा। आगे भी सर्वत्र ऐसा ही समझा जाय।

रागांगादि के अनुसार अधुनाप्रसिद्ध वर्ग में किया। पूर्वप्रसिद्ध रागों का सिर्फ़ उद्देश किया गया है लेकिन अधुनाप्रसिद्ध रागों का उद्देश करके फिर उनका लक्षण-निरूपण किया गया है। जिन रागों के लक्षण ग्रन्थकार ने दिए हैं उनके जनक ग्रामराग, उपराग, भाषा, विभाषा आदि के लक्षण भी दिए हैं।

(अधुनाप्रसिद्धरागाङ्गादीनि)

अथाधुनाप्रसिद्धानामुद्देशः प्रतिपाद्यते॥ ९॥

अधुनाप्रसिद्ध रागांग आदि

९ ग-घ. (अ०) अथ अब अधुनाप्रसिद्धानाम् उद्देशः अधुनाप्रसिद्ध (रागों) का उद्देश प्रतिपाद्यते प्रतिपादित किया जाता है।

मध्यमादिर्मालवश्रीस्तोडी बङ्गालभैरवौ।
वराटी गुर्जरी गौडकोलाहलवसन्तकाः॥ १०॥

धन्यासीदेशिदेशाख्या रागाङ्गाणि त्रयोदश।
डोम्बक्री सावरी वेलावली प्रथममञ्जरी॥ ११॥

आडिकामोदिका नागध्वनिः शुद्धवराटिका।
नट्टा कर्णाटबङ्गालो भाषाङ्गाणि नवाब्रुवन्॥ १२॥

क्रियाङ्गत्रितयं रामकृतिर्गौडकृतिस्तथा।
देवक्रीरित्यथोपाङ्गसप्तविंशतिरुच्यते॥ १३॥

कौन्तली द्राविडी सैन्धव्यपस्थानवराटिका।
हतस्वरवराटी च स्यात्प्रतापवराटिका॥ १४॥

वराट्यः षडिति च्छायातुरुष्काद्ये तु तोडिके।
महाराष्ट्री च सौराष्ट्री दक्षिणा द्राविडीत्यमूः॥ १५॥

उक्ताश्चतस्रो गुर्जर्यो भुञ्जिका स्तम्बतीर्थिका।
छायाप्रतापोपपदे वेलावल्यौ च भैरवी॥ १६॥

कामोदासिंहली छायानट्टा रामकृतिस्तथा।
भल्लातिका च मल्हारी मल्हारो गौडकास्ततः॥ १७॥

कर्णाटो देशवालश्च तौरुष्कद्राविडाविति।
एतेऽधुनाप्रसिद्धाः स्युर्द्वापञ्चाशन्मनोरमाः॥ १८॥

रागांग

१०-११ ख. (अ०) (१) मध्यमादि, (२) मालवश्री, (३) तोडी, (४) बंगाल और (५) भैरव, (६) वराटी, (७) गुर्जरी, (८) गौड, (९) कोलाहल, (१०) वसन्त, (११) धन्यासी, (१२) देशी (और) (१३) देशाख्या त्रयोदश रागाङ्गाणि तेरह रागांग (हैं)।

भाषांग

११ ग-१२. (अ०) (१) डोम्बक्री, (२) सावरी, (३) वेलावली, (४) प्रथममंजरी, (५) आडिकामोदी, (६) नागध्वनि, (७) शुद्धवराटी, (८) नट्टा, (९) कर्णाटबंगाल **नव** (ये) नौ **भाषाङ्गाणि** भाषांग (राग) **अब्रुवन्** कहे।

क्रियांग

१३ क-ग. (अ०) (१) रामकृति, (२) गौडकृति और (३) देवक्री **इति क्रियाङ्गत्रितयं** यह क्रियांग का त्रितय (तीन का समूह) है।

उपांग

१३ ग-१८. (अ०) **अथ** अब **उपाङ्ग-सप्तविंशतिः** सत्ताईस उपांग **उच्यते** कहे जाते हैं।

(१) कौन्तली, (२) द्राविडी, (३) सैंधवी, (४) अपस्थानवराटी, (५) हतस्वरवराटी और (६) प्रतापवराटी **इति षट्** ये ६ **वराट्यः स्यात्** वराटी (के उपांग) होते हैं।

तोडिके तु तोडी तो **च्छाया-तुरुष्क-आद्ये** (१) छाया और (२) तुरुष्क से आरम्भ होने वाली (अर्थात् छायातोडी और तुरुष्कतोडी—ये दो उपांग वाली है)।

(१) महाराष्ट्री, (२) सौराष्ट्री, (३) दक्षिणा (और) (४) द्राविडी **इति अमूः** इस प्रकार ये **चतस्रः गुर्जर्यः उक्ताः** चार (प्रकार की) गुर्जरी कही गई हैं।

(१) भुंजिका (भुंजी), (२) स्तम्बतीर्थिका, **छाया-प्रताप-उपपदे वेलावल्यौ** (३) छाया और (४) प्रताप उपपद होने पर दो (प्रकार की) वेलावली (अर्थात् छायावेलावली और प्रतापवेलावली) और (५) भैरवी, (६) कामोदासिंहली, (७) छायानट्टा, (८) रामकृति, (९) भल्लातिका और (१०) मल्हारी, (११) मल्हार **ततः** उसके बाद **गौडकाः** (चार प्रकार के) गौड—(१२) कर्णाट (गौड) और (१३) देशवाल (गौड); **तौरुष्क-द्राविडौ** (१४) तुरुष्क (गौड) और (१५) द्राविड (गौड) **इति एते** इस प्रकार ये **अधुनाप्रसिद्धाः** अधुनाप्रसिद्ध **द्वापञ्चाशत् मनोरमाः स्युः** बावन मनोरम (उपांग) होते हैं।

(सर०) कल्लि० ने अधुनाप्रसिद्ध वर्ग के कई रागों के पर्याय नाम दिए हैं, जैसे—डोम्बक्री का भूपाली, रामकृति का बौलि, देशवाल का केदारगौल, तुरुष्कगौड का मालवगौड। ये नाम संभवतः उसके समय में प्रचलित थे।

(रागाणां सम्मिलितसंख्या)

सर्वेषामपि रागाणां मिलितानां शतद्वयम्।
चतुःषष्ट्यधिकं ब्रूते शार्ङ्गी श्रीकरणाग्रणीः ॥ १९ ॥

रागों की कुल संख्या

१९. (अ०) **श्रीकरणाग्रणीः शार्ङ्गी** महालेखाधिकारी शार्ङ्गदेव **सर्वेषाम् अपि मिलितानां** कुल मिला कर **चतुःषष्टि-अधिकं शतद्वयं** दो सौ चौंसठ **रागाणां ब्रूते** रागों को कहता है (अर्थात् शार्ङ्गदेव ने २६४ रागों का उद्देश किया)।

(सर०) पहले कहा जा चुका है कि शार्ङ्गदेव ने जिन २६४ रागों का उद्देश किया है उन सभी के लक्षण नहीं दिए हैं। नीचे दी जा रही तालिका से यह व्यक्त होता है कि किस-किस वर्ग में कितने राग उद्दिष्ट (गिनाए गये) हैं और कितने लक्षित (लक्षण दिए हुए) हैं।

वर्ग	उद्दिष्ट	लक्षित
१. ग्रामराग	३०	३०
२. उपराग	८	२
३. राग	२०	१०
४. भाषा	९६	२३
५. विभाषा	२०	४
६. अन्तरभाषा	४	×
	कुल १७८	कुल ६९
७. रागांग	२१	१३
८. भाषांग	२०	९
९. क्रियांग	१५	३
१०. उपांग	३०	२७
	कुल ८६	कुल ५२
	कुल उद्दिष्ट २६४	कुल लक्षित १२१

(रागलक्षणानि)

तत्रादौ ग्रामरागाणां केषांचिल्लक्ष्म चक्ष्महे।
देशीरागादिहेतूनां शेषाणां तत्र तत्र तु॥ २०॥

रागों के लक्षण

२०. (अ०) तत्र आदौ उनमें से सर्वप्रथम केषांचित् ग्रामरागाणां लक्ष्म कुछ ग्रामरागों के लक्षण चक्ष्महे कह रहे हैं। देशीराग-आदि-हेतूनां देशीराग आदि के कारण (अर्थात् जनक) शेषाणां तु शेष (ग्रामरागों) के (लक्षण) तो तत्र तत्र वहीं-वहीं (कहेंगे)।

(सर०) लक्षण-निरूपण में सबसे पहले उन १७ ग्रामरागों के लक्षण एक क्रम से दिए गये हैं जो देशीरागों के हेतु नहीं हैं यानी जिनसे अधुनाप्रसिद्ध देशीराग उत्पन्न नहीं हुए अथवा प्रचलित नहीं रहे। रागांगादि देशीराग और भाषादि जिन ग्रामरागों से उत्पन्न हुए उनका निरूपण उन-उन जन्य देशीरागों व भाषादि के साथ ही किया गया है।

(केषाञ्चिद् ग्रामरागाणां लक्षणानि)

(शुद्धसाधारितः)

षड्जमध्यमया जातस्तारषड्जग्रहांशकः।
निगाल्पो मध्यमन्यासः पूर्णः षड्जादिमूर्छनः॥ २१॥

अवरोहिप्रसन्नान्तालङ्कृतो रविदैवतः।
वीरे रौद्रे रसे गेयः प्रहरे वासरादिमे॥ २२॥

विनियुक्तो गर्भसन्धौ शुद्धसाधारितो बुधैः।

कुछ ग्रामरागों के लक्षण

(ग्रामराग—१) शुद्धसाधारित

२१-२३ ख. (अ०) **षड्जमध्यमया जातः** षड्जमध्यमा (जाति) से उत्पन्न, **तारषड्जग्रह-अंशकः** तार षड्ज ग्रह (और) अंश वाला, **नि-ग-अल्पः** अल्प नि-ग वाला, **मध्यमन्यासः** मध्यम न्यास वाला, **पूर्णः** संपूर्ण, **षड्जादिमूर्छनः** षड्ज से आरम्भ होने वाली मूर्छना वाला, **अवरोहिप्रसन्नान्त-अलङ्कृतः** अवरोही (वर्ण) के प्रसन्नान्त (नामक अलंकार) से अलंकृत, **रविदैवतः** रवि (जिसका) देवता (है), **वीरे रौद्रे रसे** वीर (और) रौद्र रस में, **वासर-आदिमे प्रहरे** दिन के प्रथम प्रहर में **गेयः** गाया जाने वाला **शुद्धसाधारितः** शुद्धसाधारित (ग्रामराग) **बुधैः** बुद्धिमानों के द्वारा **गर्भसन्धौ विनियुक्तः** (नाटक की) गर्भ सन्धि में विनियुक्त (होता है)।

(सर०) शुद्धसाधारित ग्रामराग षड्जमध्यमा जाति से उत्पन्न कहा है जो षड्जग्राम की संसर्गजा विकृता जाति है। तार षड्ज ही ग्रह और अंश है। इस पर कल्लि० ने स्पष्टीकरण दिया कि रागों में कभी-कभी ग्रह अंश भिन्न भी होते हैं इसलिए 'किसी एक का निर्देश होने पर दोनों का ग्रहण करना'—जातियों के लिए कहा गया यह नियम रागों में सब जगह लागू नहीं होता। यह नियम सिर्फ़ जातियों में ही नियत है। इसीलिए यहाँ दोनों को कहा गया है।

शुद्धसाधारित में स अंश है और षड्जमध्यमा जाति से उत्पन्न है, जो षड्जग्रामिक है, इसलिए मूर्छना जो षड्जादि कही है वह षड्जग्राम की समझनी चाहिए। कल्लि० ने षड्जादि को षड्जग्राम की उत्तरमन्द्रा कहा है। स्वर वाले मूर्छनानाम प्रायः द्वादशस्वर मूर्छनाओं के सूचक समझे जाते हैं और उत्तरमन्द्रादि विशेष नाम सप्तस्वर मूर्छनाओं के। षड्जग्राम की द्वादशस्वर षड्जादि मूर्छना उत्तरमन्द्रा नहीं उत्तरायता होती है। लेकिन षड्जग्रामिक सप्तस्वर षड्जादि मूर्छना उत्तरमन्द्रा ही है इसलिए उत्तरमन्द्रा स्वीकार करने पर वह सप्तस्वर समझनी होगी। कल्लि० के कथन के अनुसार यहाँ सप्तस्वर षड्जादि मूर्छना का ही ग्रहण होगा।

सं०र० के मूर्छना प्रकरण (प्रथम खण्ड, पृ० १०५) और जातिप्रकरण (पृ० १९७) की व्याख्या में जातियों की मतंगोक्त मूर्छनाओं पर कुछ विचार किया गया है। उसके तारतम्य में ग्रामरागों में कही गई मूर्छनाओं के संदर्भ में फिर से कुछ विचार करना अपेक्षित है।

जातियों और ग्रामरागों में मूर्छनानिर्देश के आधार के बारे में ग्रन्थों में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है और न कोई निश्चित नियम कहा गया है बल्कि कश्यप के अनुसार जाति के अनेक अंशों के आधार पर मूर्छना निर्देश करने की बात कही गई है—*'ज्ञात्वा जात्यंशबाहुल्यं निर्देश्या मूर्छना बुधैः'* (बृह०, खण्ड २, अनु० २१३)। जातियों की तरह ग्रामरागों में भी शार्ङ्गदेव ने मूर्छना मतंग के अनुसार ही कही हैं और ये अंश के आधार पर ही कही गई लगती हैं। लेकिन यह ज़रूरी नहीं कि ग्रामराग की मूर्छना उसकी जननी जाति के समान हो क्योंकि जातियों में विकृता आदि भेदों की दृष्टि से अनेक अंश होते हैं इसलिए उनमें से उस स्वर की मूर्छना निर्दिष्ट की गई जिसकी स्वरावली वीणा पर स्थापित करने से उस जाति के शुद्ध, विकृत भेदों का वादन, स्वरावली को बदले बिना, किया जा सके। लेकिन ग्रामरागों में एक-एक ही अंश स्वर होता है इसलिए उनमें अंशस्वर से ही शुरू होने वाली मूर्छना कही गईं। उनमें कश्यप का कथन लागू नहीं होता।

सं०र० में दिए गये ग्रामरागों के लक्षणों में रागों की जो मूर्छनाएँ कही गई हैं वे सप्तस्वर ही हैं, द्वादशस्वर नहीं, चाहे उन्हें षड्जादि स्वरनामों से कहा है अथवा उत्तरमन्द्रादि विशेष नामों से। ग्रामरागों के ग्राम, अंश और मूर्छना की नीचे दी गई सारिणी से इस तथ्य की पुष्टि होती है।

ग्रामराग	ग्राम	अंश	मूर्छना	टिप्पणी
१. शुद्धसाधारित	षड्ज	स	षड्जादि	
२. षड्जग्राम	षड्ज	स	षड्जादि	यह ग्रामराग बृह० में नहीं है।
३. शुद्धकैशिक	मध्यम	स	षड्जादि	
४. भिन्नकैशिकमध्यम	षड्ज	स	षड्जादि	
५. भिन्नतान	मध्यम	प	अन्तिम	मतंग ने पंचमादि मूर्छना कही, मध्यमग्राम की सप्तस्वर अन्तिम मूर्छना पंचम से ही शुरू होती है।
६. भिन्नकैशिक	मध्यम	स	षड्जादि	
७. गौडकैशिकमध्यम	षड्ज	स	षड्जादि	मतंग ने मध्यमग्राम कहा है।
८. गौडपंचम	षड्ज	ध	धैवतादि	
९. गौडकैशिक	मध्यम	स	षड्जादि	
१०. वेसरषाडव	षड्ज	म	मध्यमादि	
११. बोट्ट	मध्यम	प	पंचमादि	मतंग ने षड्जग्राम कहा है।
१२. मालवपंचम	मध्यम	प	हृष्यका	मतंग ने पंचमादि मूर्छना कही है। मध्यमग्राम की सप्तस्वर हृष्यका पंचम से ही शुरू होती है।
१३. रूपसाधार	षड्ज	स	षड्जादि	
१४. शक	षड्ज	स	षड्जादि	
१५. भम्माणपंचम	षड्ज	स	षड्जादि	मतंग ने मध्यमग्राम कहा है।
१६. नर्त	मध्यम	प	पंचमादि	
१७. षड्जकैशिक	मध्यम	स	षड्जादि	बृह० में इस राग का लक्षण लुप्त है।
१८. मध्यमग्राम	मध्यम	स	सौवीरी	बृह० में यह ग्रामराग नहीं है।
१९. मालवकैशिक	मध्यम	स	षड्जादि	
२०. षाडव	मध्यम	म	मध्यमादि	
२१. भिन्नषड्ज	षड्ज	ध	उत्तरायता	मतंग ने धैवतादि मूर्छना कही है। षड्जग्राम की सप्तस्वर उत्तरायता धैवत से ही शुरू होती है।
२२. भिन्नपंचम	मध्यम	ध	पौरवी	मतंग ने धैवतादि कही है। मध्यमग्राम की सप्तस्वर पौरवी धैवत से ही शुरू होती है।
२३. टक्क	षड्ज	स	उत्तरमन्द्रा	मतंग ने षड्जादि मूर्छना कही है। षड्जग्राम की सप्तस्वर उत्तरमन्द्रा षड्ज से ही शुरू होती है।
२४. हिन्दोल	द्विग्राम	स	शुद्धमध्या	मतंग ने षड्जादि मूर्छना कही है जो उसके अनुसार म-ग्राम की है। सं०र० में इसे द्विग्राम राग कहा लेकिन अंश स और मूर्छना शुद्धमध्या कही जो म-ग्राम की सप्तस्वर षड्ज की ही है।
२५. शुद्धकैशिकमध्यम	षड्ज	स	आद्य	मतंग ने षड्जादि कही है। षड्जग्राम की पहली सप्तस्वर मूर्छना षड्ज से ही शुरू होती है।
२६. गान्धारपंचम	मध्यम	ग	हारिणाश्वा	मतंग ने गान्धारादि कही है, म-ग्राम की सप्तस्वर हारिणाश्वा गान्धार से ही शुरू होती है।

ग्रामराग	ग्राम	अंश	मूर्छना	टिप्पणी
२७. ककुभ	द्विग्राम	ध	धैवतादि	मतंग ने इसे षड्जग्राम का राग कहा है व मूर्छना धैवतादि। तदनुसार स-ग्राम की सप्तस्वर धैवत की मूर्छना होगी। शार्ङ्गदेव ने द्विग्राम राग कहा और धैवत की मूर्छना। इसका अर्थ षड्जग्राम की उत्तरायता मूर्छना समझना चाहिए।
२८. सौवीर	षड्ज	स	षड्जादि	
२९. शुद्धपंचम	मध्यम	प	हृष्यका	मतंग का लक्षण खण्डित है। मध्यमग्राम की सप्तस्वर हृष्यका पंचम की मूर्छना ही है।
३०. टक्ककैशिक	द्विग्राम	ध	उत्तरायता	मतंग ने षड्जग्राम और धैवतादि मूर्छना कही है। स-ग्राम की सप्तस्वर उत्तरायता धैवत से ही शुरू होती है।

ऊपर के विवरण और टिप्पणियों से यह स्पष्ट है कि मतंग और शार्ङ्गदेव के मूर्छनानिर्देश में कोई अन्तर नहीं है। दोनों ने ही ग्रामरागों में सप्तस्वर मूर्छना ही कही हैं जबकि जातियों में सर्वत्र ऐसा नहीं है। सं०र० के आधार पर शुद्धा जातियों के नीचे दिए गये विवरण से यह स्पष्ट हो जायगा।

जाति	ग्राम	अंश	मूर्छना	टिप्पणी
१. षाड्जी	षड्ज	स, ग, म, प, ध	धैवतादि	शुद्धा षाड्जी के अंश स के अनुसार सप्तस्वर षड्जाादि मूर्छना होनी चाहिए। द्वादशस्वर मूर्छनाओं में वह धैवतादि ही है।
२. आर्षभी	षड्ज	रि, ध, नि	पंचमादि	शुद्धा आर्षभी के अंश रि की सप्तस्वर ऋषभादि मूर्छना होनी चाहिए। द्वादशस्वर मूर्छनाओं में वह पंचमादि ही है।
३. गान्धारी	मध्यम	स, ग, म, प, नि	धैवतादि	शुद्धा गान्धारी के ग अंश के अनुसार सप्तस्वर गान्धारादि मूर्छना होनी चाहिए जो द्वादशस्वर मूर्छनाओं में म-ग्राम की षड्जादि होती है। यहाँ धैवतादि कही है।
४. मध्यमा	मध्यम	स, रि, म, प, ध	ऋषभादि	शुद्धा मध्यमा के म अंश के अनुसार सप्तस्वर मध्यमादि मूर्छना होनी चाहिए जो द्वादशस्वर मूर्छनाओं में म-ग्राम की निषादादि होती है। यहाँ ऋषभादि कही है।
५. पञ्चमी	मध्यम	रि, प	ऋषभादि	शुद्धा पंचमी के प अंशानुसार सप्तस्वर पंचमादि होनी चाहिए जो द्वादशस्वर मूर्छनाओं में म-ग्राम की धैवतादि होती है। यहाँ ऋषभादि कही है।
६. धैवती	षड्ज	रि, ध	ऋषभादि	शुद्धा धैवती के अंश ध के अनुसार सप्तस्वर धैवतादि मूर्छना होनी चाहिए जो स-ग्राम की द्वादशस्वर षड्जादि है। यहाँ ऋषभादि कही है।
७. नैषादी	षड्ज	रि, ग, नि	गान्धारादि	शुद्धा नैषादी के अंश नि के अनुसार सप्तस्वर नैषादी मूर्छना होनी चाहिए जो स-ग्राम की द्वादशस्वर निषादादि है। यहाँ गान्धारादि कही है।

षाड्जी और आर्षभी में निर्दिष्ट मूर्छनाएँ स्पष्टतः द्वादशस्वर हैं। किन्तु अन्य जातियों में कही गई मूर्छनाएँ भी द्वादशस्वर ही हैं जो जाति के कई अंशों की दृष्टि से कही गई हैं। (विशेष स्पष्टीकरण के लिए देखें—भरत का संगीत सिद्धान्त, ले० कैलासचन्द्रदेव बृहस्पति, पृ० ९२-१३४)।

दोनों सारिणियों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि जातियों में सप्तस्वर के बजाय द्वादशस्वर मूर्छना कही गई हैं और ग्रामरागों में कही गई मूर्छनाएँ सप्तस्वर हैं।

आगे ग्रामरागों के लक्षणों के अन्तर्गत दी गई मूर्छनाओं पर व्याख्या में कोई टिप्पणी नहीं दी है, उसे इस सारिणी से ही समझ लेना चाहिए।

रागलक्षणों में रागों का विनियोग भी कहा गया है जिसमें देवता, रस, ऋतु, गानसमय और नाटक की सन्धि-विशेष कही गई है। ग्रामरागों में ये सभी दिए हैं, उपरागों में देवता और रस, 'रागों' में सिर्फ़ रस और शेष में रस-भाव और कहीं-कहीं गानसमय कहा गया है।

पहले अध्याय के तीसरे प्रकरण के अन्त में व्याख्या में यह बताया जा चुका है कि संगीत की नादोपासना पर वैदिक और तान्त्रिक मन्त्रोपासना और नादोपासना का गहरा प्रभाव रहा है। इसीलिए संगीत में देवता, ऋषि आदि कहे गये। ग्रामराग अदृष्टफलदायक जातियों से ही उत्पन्न हुए इसलिए उनमें भी देवता कहे गये जिसका व्यावहारिक पक्ष यह है कि उन रागों के प्रयोग के समय उन देवताओं का ध्यान करने से वे प्रसन्न होते हैं और वांछित प्रभाव उत्पन्न होता है।

ग्रामरागों का प्रयोग नाटक की कथा के अन्तर्गत यानी ध्रुवागान में होता था इसलिए रस और सन्धि का उल्लेख हुआ है। नाट्य में पाँच सन्धियाँ होती हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श या अवमर्श और निर्वहण। ये नाट्य की कथा आगे बढ़ाने (विकास) से संबन्धित विशेष स्थल हैं जो कथावस्तु के विभिन्न प्रसंगों को जोड़ते हैं इसलिए सन्धि कहलाती हैं। नाट्य में जिस कारण से इष्ट फल प्राप्त होता है उसे 'बीज' कहा गया है। इस बीज के वर्णन से लेकर बीज के अंकुरण तक का कथाभाग 'मुखसन्धि' कहलाता है। बीज का अंकुरण कभी दृष्टिगोचर होता है और कभी नहीं—इससे संबद्ध कथाभाग को 'प्रतिमुख' सन्धि कहते हैं। (बीज का अंकुरण होने के बाद) फलप्राप्ति होगी या नहीं ऐसी आशा-निराशा से युक्त कथाभाग 'गर्भ' सन्धि कहा गया है। फलप्राप्ति में आने वाली बाधाओं के कारण फलप्राप्ति के बारे में संशय उत्पन्न होने और अन्त में फलप्राप्ति निश्चित होने से संबद्ध कथाभाग को 'विमर्श' या 'अवमर्श' सन्धि कहते हैं। पूरी कथा का समापन करते हुए इष्टप्राप्ति के वर्णन से युक्त कथाभाग 'निर्वहण' सन्धि है जिसे संहरण, उपसंहृति या संहार भी कहा जाता है।

शुद्धसाधारित ग्रामराग का गर्भसन्धि में विनियोग बताया गया है। रागों में यह विनियोग कहाँ से प्राप्त है यह शंका उठाते हुए सिंह० और कल्लि० ने सन्धियों में विशिष्ट ग्रामरागों के विनियोग से संबद्ध कुछ श्लोक भरत के नाम से उद्धृत किए हैं। पाठभेद से ये श्लोक ना०शा० में मिलते हैं जिनमें ५ सन्धियों में ५ ग्रामरागों के नाम प्राप्त हैं (३२/४२८-२९)। सिंह० के उद्धृत पाठ में ६ शुद्ध ग्रामरागों का विनियोग इस प्रकार है—मुख में मध्यमग्राम, प्रतिमुख में षड्जग्राम, गर्भ में साधारित, अवमर्श में पंचम, संहार में कैशिक और पूर्वरंग में षाडव। पूर्वरंग मुख्य कथा शुरू होने से पहले विधि-विधानसहित देवपूजा-विषयक विशिष्ट प्रयोग है। कल्लि० ने भी कुछ आगे चलकर शुद्धकैशिक ग्रामराग की व्याख्या में संबद्ध अंश उद्धृत किया है। उसमें ७ ग्रामरागों के साथ ही शुद्धादि गीतियों का भी सन्धियों में विनियोग दिया है। इसमें एक अतिरिक्त ग्रामराग कैशिकमध्यम का पूर्वरंग के १८ अंग वाले 'चित्र' नामक प्रकार में विनियोग कहा है।

शुद्धसाधारित के लिए दिन का प्रथम प्रहर गानसमय कहा गया है। इसी प्रकार अन्य ग्रामरागों में भी गाने का समय दिया गया है। क़िसी-किसी राग में ऋतु का भी उल्लेख है। ये दोनों पक्ष नाट्य से स्वतन्त्र संगीत में ग्रामरागों के गान से संबद्ध हैं क्योंकि यह आवश्यक नहीं कि जिस ग्रामराग का जो समय और जो ऋतु कही गई है नाट्य का संबद्ध अंश उसी समय पर और उसी ऋतु में गाया जा सके। लेकिन स्वतन्त्र संगीत में किसी राग को किसी नियत समय और ऋतु में गाना बिल्कुल संभव है, जैसा आज के लक्ष्य में भी होता है। कुछ रागों का संबन्ध आज भी ऋतु विशेष से जोड़ा जाता है, जैसे मल्हार के प्रकारों का वर्षा ऋतु से। रागों को ऋतुविशेष और प्रहर विशेष से जोड़ने की परम्परा मतंग से पहले से रही है जैसा कि अभिनव द्वारा उद्धृत कश्यप के अंश से प्रकट है (ना०शा०, २९/१३ के बाद अभि०, पृ० ७८)। हालांकि बृह० में रागलक्षणों में गानसमय या ऋतु का कोई उल्लेख नहीं है और न बृह० में उद्धृत पूर्वाचार्यों के अंश में ही है।

नाट्य के संदर्भ में इस विनियोग का संभवत: यह प्रयोजन है कि दिन के प्रहर विशेष अथवा ऋतुविशेष से संबद्ध नाट्य के प्रसंग या कथाभाग में उस प्रहर या ऋतुसंबन्धी राग का प्रयोग किया जाय।

ना०शा० में राग शब्द और सन्धिविशेष में प्रयोज्य ग्रामरागों के उल्लेख के अलावा और कोई विशेष जानकारी नहीं मिलती। राग की धारणा, प्रयोजन और रागों के स्वररूपों व स्वरूप का व्यवस्थित निरूपण सबसे पहले बृह० में ही प्राप्त है जो मतंग

ने रागप्रयोग की परम्परा के प्रामाणिक वेत्ता आचार्यों कश्यप, याष्टिक, शार्दूल आदि के मतों का आधार लेकर और उन्हें उद्धृत करते हुए किया है। मतंग ने ऐसा न किया होता तो शायद आज हम इन आचार्यों और उनके मतों के बारे में प्रमाणसहित न जान पाते। कश्यप के आधार पर बृह० में ही इस तथ्य की जानकारी मिलती है कि नाट्य के अन्तरंग भाग में प्रयोज्य ध्रुवाओं में किन-किन ग्रामरागों और भाषादि का प्रयोग होता था।

हर ग्रामराग के लक्षण में वर्ण और अलंकार का निश्चित विधान है जिसका आधार स्पष्ट नहीं है।

(रागालापलक्षणम्)

ग्रहांशमन्द्रताराणां न्यासापन्यासयोस्तथा॥ २३॥

अल्पत्वस्य बहुत्वस्य षाडवौडुवयोरपि।
अभिव्यक्तिर्यत्र दृष्टा स रागालाप उच्यते॥ २४॥

रागालाप का लक्षण

२३ ग-२४. (अ०) **यत्र** जहाँ (अर्थात् जिसमें) **ग्रह-अंश-मन्द्र-ताराणां** ग्रह, अंश, मन्द्र और तार की **तथा न्यास-अपन्यासयोः** तथा न्यास और अपन्यास की, **अल्पत्वस्य** अल्पत्व की, **बहुत्वस्य** बहुत्व की **षाडव-औडुवयोः अपि** (तथा) षाडव और औडव की भी **अभिव्यक्तिः दृष्टा** अभिव्यक्ति देखी गई (अर्थात् दिखाई दे) **सः** वह **रागालापः** रागालाप **उच्यते** कहा जाता है।

(सर०) ग्रन्थकार ने 'राग' का लक्षण नहीं दिया है। कल्लि० ने आगे शुद्धकैशिक ग्रामराग पर लम्बी व्याख्या के अन्त में मतंग द्वारा उद्धृत कश्यप के अंश का जो उद्धरण दिया है उसमें दिए गये राग के दस लक्षण ही यहाँ ग्रन्थकार द्वारा रागालाप में उल्लिखित हैं। ये दस लक्षण वही हैं जो जातिलक्षण के अन्तर्गत दिए गये हैं (१/७/२९-३०)। जाति रागों का पूर्वरूप या मूल रूप थीं इसलिए रागों के लक्षण-निरूपण के लिए जाति के लक्षण ही ले लिए गये। इसके द्वारा यह समझ सकते हैं कि जिस तरह इन दस तत्त्वों से राग में आलाप किया जाता था उसी तरह जाति में भी आलाप किया जाता होगा क्योंकि जाति या राग का रूप उसके विस्तार में ही व्यक्त होता है।

कल्लि० द्वारा इस श्लोक की टीका में कहा मया है कि जिस 'स्वरसंनिवेशविशेष' में ग्रह, अंश, अल्पत्व आंदि का 'अवधारण' हो अर्थात् इनकी अभिव्यक्ति हो और स्पष्ट रूप से इनका बोध हो उसे 'रागालाप' कहते हैं, जो धातु और अंगों से बँधे हुए प्रबन्धों से भिन्न होता है। जहाँ ग्रह, अंशादि १० लक्षणों की ही अभिव्यक्ति होती है और उनके द्वारा स्वरूप का प्रकाशन या आविर्भाव होता है, स्वरूप का प्रकटीकरण नहीं, कल्लि० के अनुसार ऐसा समझना चाहिए। स्वरूप का प्रकाशन और आविर्भाव राग के अपने स्वरूप को व्यक्त करना है और प्रकटीकरण राग में आविर्भाव-तिरोभाव करते हुए कभी उसके स्वरूप को व्यक्त करना और कभी उसे ढक देना, विविधता के द्वारा किंचित् प्रतीयमान बनाना है जो रागालाप में नहीं बल्कि 'आलप्ति' में अपेक्षित है। इसलिए कल्लि० ने कहा कि आगे (प्रकीर्णकाध्याय में) कही जाने वाली 'आलप्ति' से रागालाप भिन्न है। (आविर्भाव, तिरोभाव, प्रकटीकरण आदि का पूरा अर्थ आलप्ति में स्पष्ट किया जायगा।)

कल्लि० की व्याख्या का संकेत यह है कि रागालाप प्रबन्ध की तरह निबद्ध नहीं है और स्वरों का ऐसा संक्षिप्त ढाँचा है जिससे रागविशेष के लक्षण स्पष्ट हो जाएँ। आलप्ति की तरह यह न तो विस्तृत है और न स्वरूप-प्रकटीकरण के द्वारा हृदय का रंजन करना इसका प्रयोजन है, बल्कि राग की आकृति का ज्ञान कराना मात्र अपेक्षित है। इससे यह भी समझ सकते हैं कि रागालाप का उपयोग राग की प्रस्तुति की अपेक्षा राग की समझ और शिक्षण के लिए अधिक है।

सभी ग्रामरागों और उनकी भाषाओं में आलाप ज़रूर दिए गये हैं। कुछ ग्रामरागों के आलाप अपेक्षाकृत बड़े हैं जबकि भाषाओं के आलाप प्रायः ग्रामरागों से संक्षिप्त हैं।

(रूपकलक्षणम्)

रूपकं तद्वदेव स्यात्पृथग्भूतविदारिकम्।

रूपक का लक्षण

२५ क-ख. (अ०) **रूपकं** रूपक **तद्वत् एव स्यात्** उसके (रागालाप के) समान ही होता है **पृथक्-भूतविदारिकं** (किन्तु) अलग-अलग हुई विदारियों वाला (होता है) (पाठान्तर से) **पृथक्-भूतविवादिकं** विवादी स्वर जिससे अलग हुए हों (ऐसा होता है)।

(सर०) जैसा कल्लि० ने कहा है रूपक आलाप का ही भेद है यानी एक प्रकार का आलाप ही है, (चौथे अध्याय में) प्रबन्ध के पर्याय के रूप में कहा गया रूपक नहीं है। उसके अनुसार आलाप और रूपक में इतना ही अन्तर है कि रागालाप में खण्ड नहीं होते, एकाकार आलाप होता है लेकिन रूपक में उसी तरह खण्ड बनते हैं जैसे गीत की विदारियों में। अपन्यास स्वरों पर रुक-रुक कर प्रवृत्त होने से रूपक होता है और अपन्यासों पर बिना रुके रागालाप। हालाँकि रागालाप में ग्रन्थकार ने ग्रह, अंश के साथ अपन्यास की अभिव्यक्ति भी कही है लेकिन टीकाकार का आशय यह लगता है कि रागालाप में तो ग्रह, अंश आदि दसों लक्षणों की अभिव्यक्ति होती है लेकिन रूपक में अपन्यास पर बार-बार रुक कर आलाप किया जाता है जिससे खण्डों के रूप में राग उभरता है। रूपक के ग्रन्थोक्त लक्षण और उस पर कल्लि० की व्याख्या के संदर्भ में भाषाओं के लक्षण और रूपकों को देखें तो यह प्रकट होता है कि अधिकांश भाषाओं में अपन्यास बताए नहीं है और जिनमें कहे हैं उनके रूपकों में कहीं-कहीं तो अपन्यास पर रुकने का बोध होता है लेकिन सर्वत्र नहीं। किन्तु यह ध्यान रखना ज़रूरी है कि शाब्दी लक्षण स्वरूप के सूचक तो ज़रूर होते हैं पर लक्ष्य के अभाव में वे स्वरूप का प्रत्यक्ष नहीं करा सकते। लक्षण के आधार पर यह फिर भी समझ सकते हैं कि रूपकों के गेयरूप में खण्डों की अनुभूति होती होगी।

कारिका में **विदारिकं** के स्थान पर सिंह० का पाठ **विवादिकं** है तदनुसार उसने विवादी स्वरों को पृथक् करके (संभवत: छोड़कर) किया जाने वाला रागालाप ही रूपक कहा है। पर भाषाओं में न तो विवादी स्वर का उल्लेख है और न आलाप और रूपक के उदाहरणों में ऐसा कोई स्पष्ट अन्तर ही दिखाई देता है। वास्तव में पूरे रागाध्याय में रागलक्षणों में विवादी शब्द का प्रयोग ही नहीं हुआ है।

रागालाप और रूपक दोनों आलप्ति की तरह आलाप के प्रकार ही हैं लेकिन रागालाप रागालप्ति से और रूपक रूपकालप्ति से भिन्न है। मुख्य भेद यह है कि रागालाप और रूपक राग के लक्षणों को ही व्यक्त करते हैं, उसका आविर्भाव करते हैं, रागालप्ति और रूपकालप्ति की तरह अनेक प्रकार के वर्ण, अलंकार, गमक, स्थाय आदि का प्रयोग करके बहुविध भंगिमाओं से राग के स्वरूप का प्रकटीकरण करते हुए सहृदयों के हृदयों का रंजन नहीं करते।

(आक्षिप्तिकाया लक्षणम्)

चच्चत्पुटादितालेन मार्गत्रयविभूषिता॥ २५॥
आक्षिप्तिका स्वरपदग्रथिता कथिता बुधैः।

आक्षिप्तिका का लक्षण

२५ ग-२६ ख. (अ०) **बुधैः** बुद्धिमानों के द्वारा **आक्षिप्तिका** आक्षिप्तिका **चच्चत्पुट-आदि-तालेन** चच्चत्पुट आदि तालों के द्वारा. **मार्गत्रयविभूषिता** तीन मार्गों से विभूषित (तथा) **स्वरपदग्रथिता** स्वर (और) पद से गुँथी हुई **कथिता** कही गई (है)।

(सर०) आक्षिप्तिका शब्द 'आक्षेप' (फेंकना, प्रकट करना) से बना है। नाट्य में किसी रस की स्थिति में विपरीत रस को प्रकट करने वाली एक ध्रुवा 'आक्षेपिकी' है। संभवत: आक्षिप्तिकाएँ भी नाट्य में रस का आक्षेप करने के लिये प्रयुक्त की जाती हों जैसा अन्यत्र प्राप्त उल्लेखों से भी प्रकट होता है (देखें, Musical Forms in Saṅgītaratnākara, N. Ramanathan. PP. 491-94)। सं०र० में आक्षिप्तिकाएँ हर ग्रामराग के अन्त में उदाहरण के रूप में ही दी गई हैं। आक्षिप्तिका पर कुछ विचार आगे गौडकैशिक ग्रामराग की व्याख्या में भी करेंगे। राग के लक्षणों को सामने लाकर पूरी तरह प्रकट करने के कारण इसकी संज्ञा सार्थक है।

ग्रन्थगत लक्षण से यह तो स्पष्ट ही है कि यह स्वर, पद और ताल से बँधी रचना है इसलिए निबद्ध गीत है। आक्षिप्तिकाओं के पद संस्कृत या प्राकृत में हैं और विषयवस्तु देवस्तुति या प्रकृतिवर्णन-विषयक और कहीं-कहीं शृंगारिक है। जातिप्रस्तारों की तरह इनमें भी खण्ड विभाजन नहीं है।

चच्चत्पुटादि तालों और चित्र आदि मार्गों की चर्चा पहले अध्याय में जातिप्रस्तारों में की जा चुकी है।

(करणवर्तन्यौ)

नौक्ते करणवर्तन्यौ प्रबन्धान्तर्गतेरिह॥ २६॥

करण-वर्तनी

२६ ग- घ. (अ०) **प्रबन्ध-अन्तर्गतेः** प्रबन्ध के अन्तर्गत (निरूपण) होने से **करण-वर्तन्यौ** करण और वर्तनी **इह न उक्ते** यहाँ नहीं कही गईं (अर्थात् उनका लक्षण यहाँ नहीं दिया है।)

(सर०) करण और वर्तनी का निरूपण प्रबन्धों के अन्तर्गत हुआ है इसलिए यहाँ उनके लक्षण न देना यह प्रकट करता है कि ग्रामरागों के करण और वर्तनी भी निबद्ध प्रकार हैं, रागालाप और रूपक की तरह अनिबद्ध नहीं।

प्रबन्धाध्याय में शुद्ध सूड वर्ग के अन्तर्गत करण और वर्तनी प्रबन्ध हैं। करण का एक भेद स्वरकरण स्वर नामक अंग से रचित होता है यानी उसमें सार्थक शब्दों के बजाय स, रि, ग आदि स्वराक्षर ही होते हैं, केवल अन्तिम खण्ड आभोग पद से निर्मित होता है। वर्तनी स्वरकरण से मिलता-जुलता प्रबन्ध है। ग्रामरागों के करण और वर्तनी भी केवल स्वरबद्ध हैं लेकिन प्रबन्धों की तरह इनमें न तो उद्ग्राह आदि खण्ड ही दिखाई देते हैं, न ये तालबद्ध हैं और न ही पदयुक्त हैं। इनमें सिर्फ़ स्वर हैं, सार्थक पद नहीं हैं किन्तु स, रि, ग आदि स्वराक्षर ही पदस्थानीय हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि करण और वर्तनी के रूप में रागों में जो स्वरबद्ध प्रस्तार दिए हैं वे निबद्ध यानी पूर्वरचित हैं, आज की भाषा में 'बँधे हुए' हैं इसलिए हर राग में नियत हैं। इसी अर्थ में उन्हें निबद्ध कहा जा सकता है अन्यथा पद, ताल और खण्ड-विभाजन के अभाव में उनमें निबद्धता नहीं कही जा सकती। यह भी संभव है कि करण और वर्तनी प्रबन्धों के पद और ताल को छोड़कर उनका स्वरबद्ध रूप ही रागों के शुरू में आलाप के बाद गाया जाता हो।

मतङ्गादिमताद् ब्रूमो भाषादिष्वेव रूपकम्।

सा॑ पा॑ [पा] धां [धा] रीपापाधारी पाधा सासा [सा॑ सा॑] पाधानीधा पामांमां [मामा] रीं [री] पा धारीं [री] पाधारीं [री] पाधापाधापापा सासा मा। सा॑ गा॑ री॑ मा॑। मगरि सासा सरिग पाधारीपाधारीपाधापाधासासा [सा॑सा॑] सारीगामाधापानीधापानीधापा सां [मा] सां [मा]—इत्यालापः।

सस पप धध रिरि पप धस [स॑] सां [साम्] २ रिरि पप धनि पप रिप धस [स] सा॑ [सा] सा॑ [सा॑] २ धध मंमं [मम] गारी गंमं [गम] रिग मम मगरिग सासा २ सस धस रिंगं [रिग] सासा पाधा निधप मंमं [मम]—इति करणम्।

१.	स[स॑]	स[स॑]	ध	नि	प	प	प	प
	उ	द	य	गि	रि	शि	ख	र
२.	ध	ध	नि	नि	रिं[रि]	रिं[रि]	प	प
	शे	ख		र	तु	र	ग	खु
३.	रि	प	प	प	ध	नि	प	म
	र		क्ष	त	वि	भि		न्न

४.	ध	म	ध	स	स	स	स	स
	घ	न	ति	मि	रः			
५.	ध	ध	स	ध	स	रि	ग	स
	ग	ग	न	त	ल	स	क	ल
६.	रि	ग	प	प	प	प	प	प
	वि	लु	लि	त	स	ह		स्त्र
७.	ध	म	ध	म	स	स	स	स
	कि	र		णो	ज	य		तु
८.	प	ध	निध	प	म	प	म	म
	भा				नुः			

—इत्याक्षिप्तिका।

२७ क-ख. (अ०) **रूपकं** रूपक को **भाषा-आदिषु एव** भाषा आदि (रागों) में ही **मतङ्ग-आदिमतात्** मतंग आदि के मत से **ब्रूमः** कहेंगे।

(सर०) मूल पाठ के आलाप, आक्षिप्तिका आदि यहाँ फिर से नहीं दिए हैं।

ग्रन्थकार द्वारा रूपक मतंग के मत से दिए गये हैं और वे भाषा आदि में ही हैं। यह स्मरणीय है कि मतंग का भाषा लक्षण आज प्राप्त नहीं है। आदि शब्द ग्रामराग, उपराग, राग आदि तीन और रागांगादि चार को भाषा आदि से अलग करने और भाषा के साथ विभाषा व अन्तरभाषा का ग्रहण करने के लिए प्रयुक्त किया गया है, यह कल्लि० की व्याख्या से सूचित होता है। लेकिन शार्ङ्गदेव ने अन्तरभाषाओं के लक्षण नहीं दिए हैं।

कल्लि० ने शुद्ध, भिन्न, गौड, वेसर और साधारण रागों का भेद स्पष्ट करते हुए मतंग को उद्धृत किया है। उसमें 'भिन्न' चार प्रकार से कहा गया है जो संक्षेप में इस प्रकार है—१. स्वरभिन्न—स्वरप्रयोग के भेद से; २. जातिभिन्न—जननी जाति के अंश, अल्पत्व, बहुत्व को बनाए रखते हुए सूक्ष्म, अतिसूक्ष्म और वक्र प्रयोगों से; ३. शुद्धभिन्न—अन्य जाति का त्याग करते हुए अपनी जाति और कुल (संभवतः जाति से उत्पन्न शुद्ध राग) के द्वारा ही अपने को विभूषित करने से, और ४. श्रुति-भिन्न—चतुःश्रुति स्वर के द्विश्रुति स्वर बन जाने से।

करण के प्रस्तार में पहली बार प्रयुक्त २ के अंक से पहले का सां कल्लि० के अनुसार अनुस्वारयुक्त सा है इसलिए सां को 'साम्' बनाया है जो सा के अनुस्वारसहित उच्चारण को सूचित करता है। २ का अंक उससे पहले के अंश की आवृत्ति का सूचक है। आक्षिप्तिका के शुरू के सा सा पर तारचिन्ह लगाया है क्योंकि राग में ग्रह तार सा है। दूसरी कला में रीं रीं से मन्द्रचिन्ह हटाया है क्योंकि वह अस्थानस्थ है। उस कला में मध्य नि नि के तुरन्त बाद (मन्द्र) रिं रिं और फिर मध्य प प में इतना बड़ा अन्तर है जो राग में रंजकता को कम करता है इसलिए मन्द्र चिन्ह असंगत है। लेकिन यह अजीब बात है कि कल्लि० की व्याख्या से मुद्रित पाठ की ही पुष्टि होती है।

कल्लि० के अनुसार आक्षिप्तिकाओं में भी जातिप्रस्तारों की कलाओं की तरह आठ लघु की एक कला होनी चाहिए। तदनुसार हमने आक्षिप्तिकाओं में स्वराक्षर लघु (ह्रस्व) रखे हैं। चच्चत्पुट ताल के दो आवर्तनों की आक्षिप्तिका है। अन्य ग्रामरागों में भी ८ कलाओं वाली आक्षिप्तिकाएँ चच्चत्पुट ताल में और १२ कलाओं वाली पंचपाणि ताल में समझनी चाहिएँ। केवल गौडकैशिक ग्रामराग की आक्षिप्तिका १४ कला वाली है जिसके बारे में उस राग की व्याख्या में कुछ विचार करेंगे।

रागों के आलाप, करण और वर्तनी के नोटेशन में से आलाप और वर्तनी में प्रायः दीर्घाक्षर हैं इससे उनमें स्वरों का लम्बा और धीमी गति में प्रयोग प्रतीत होता है। लेकिन करणों में ह्रस्वाक्षर ज्यादा होने से उनमें आलाप और वर्तनी की अपेक्षा

कुछ द्रुत गति समझी जा सकती है। आलापों में प्रायः लम्बे संचार हैं और करणों में छोटे स्वरसंचार। करणों में एक या दो स्वरों की आवृत्ति बहुत दिखाई देती है, जैसे—रिरि गग या रिगरिग, जो आलाप में कम है।

इस प्रकरण में दिए गये रागों के आलापादि के नोटेशन लक्षणों के अनुसार संगत नहीं हैं। उन्हें संगत बनाने का प्रयत्न करने की दृष्टि से निम्न बिन्दुओं पर विचार करना ज़रूरी है—

१. तार-मन्द्र के चिन्ह प्रायः अस्थानस्थ प्रतीत होते हैं क्योंकि क्रमिक स्वरों के बीच दो-दो सप्तकों का अन्तर दिखाई देता है। चिन्ह यथास्थान लगाते समय इसका ध्यान रखना होगा कि दो क्रमिक स्वरों में बहुत बड़े अन्तराल न रहें जैसा कि मुद्रित पाठ में दिखाई देता है। बार-बार ऐसे प्रयोग से रागरूप बिगड़ता है और राग रंजक नहीं रहता। रंजकता के लिए स्वरों में क्रमिकता और निरन्तरता होना ज़रूरी है। फिर भी कहीं-कहीं बड़े अन्तरालों में वर्तमान लक्ष्य की मींड जैसा प्रयोग होता हो, यह संभव है।

२. नोटेशन में अन्तर-काकली के लिए किसी चिन्ह का प्रयोग न होने से यह समझना कठिन है कि कहाँ मूल ग-नि होंगे और कहाँ अन्तर-काकली। सं०र० के साधारण प्रकरण में दी गई इन स्वरों के प्रयोग की विधि के अनुसार अन्तर का प्रयोग मगम या मगरि के रूप में और काकली का सनिस या सनिध—इस तरह होना चाहिए (१/५/४-६) और इनका अल्प प्रयोग कहा है। यद्यपि अल्पता का पालन जातियों में ही कड़ाई से होता था, रागों में इस नियम में शिथिलता आई जो इसी से प्रकट है कि ३० ग्रामरागों में से २७ में एक या दोनों साधारण स्वरों का प्रयोग कहा गया है।

ना०शा० के अनुसार साधारण स्वरों का प्रयोग आरोही में ही होना चाहिए, अवरोही में कदापि नहीं। तदनुसार सनिध और मगरि में काकली और अन्तर का प्रयोग भरतसम्मत नहीं है। लेकिन शार्ङ्गदेव के समय तक हुए परिवर्तनों में इन संचारों में भी अन्तर-काकली का प्रयोग होने लगा, यह प्रकट होता है। फिर भी रागों के नोटेशन में अन्तर-काकली के प्रयोग स्थलों को अनुमान से ही चिन्हित किया जा सकता है।

३. कई रागों में आलापादि के बीच-बीच में कोष्ठक में स्वरनाम दिखाई देते हैं, जैसे—(षड्ज)। ऐसा क्यों है इस पर दोनों टीकाकार भी मौन हैं। इसलिए यह निश्चय करना कठिन है कि ये स्वरनाम मूल ग्रन्थ में रहे होंगे या लिपिक के द्वारा जोड़े गये होंगे। अगर यह समझा जाय कि स्वरनाम से अंकित स्वरों को उभारना इसका प्रयोजन हो तो यह भी सर्वत्र घटित नहीं होता क्योंकि कई जगह स्वरनाम से पहले या बाद में वह स्वर प्रयुक्त होता दिखाई नहीं देता। जैसे—भिन्नतान की वर्तनी के अन्तिम अंश में **गम(पञ्चम)नी** में, गौडकैशिकमध्यम के करण के अन्तिम भाग में **गमा म (षड्ज) पधमा** और **रीरीधाधरिधा (षड्जमध्यमधैवत)** में। अथवा यह समझा जाय कि अंकित स्थान पर उस स्वर या स्वरों को ही उभारना अभिप्रेत है? ऐसे स्थानों पर नोटेशन में किस आधार पर परिवर्तन किया जाय अथवा न किया जाय?

इन बिन्दुओं को ध्यान में रखकर नोटेशन में परिवर्तन किया भी जाय तो वह मूल नोटेशन के और राग के तत्कालीन लक्ष्यगत रूप के कितना निकट ले जायगा यह प्रश्न फिर भी बना रहेगा। इसलिए जहाँ लक्षण के अनुसार स्पष्टतः विसंगति दिखाई देती है और उसे दूर करना सर्वथा आवश्यक है केवल वहीं हमने [ ]—इस कोष्ठक में पाठभेद किया है अन्यथा मुद्रित पाठ को वैसा ही रहने दिया है। परिवर्तन करते समय आनन्द० संस्क० और सं० राज के पाठ को भी ध्यान में रखा है।

(षड्जग्रामः)

षड्जमध्यमया सृष्टस्तारषड्जग्रहांशकः॥ २७॥

संपूर्णो मध्यमन्यासः षड्जापन्यासभूषितः।
अवरोहिप्रसन्नान्तर्भूष षड्जादिमूर्छनः॥ २८॥

काकल्यन्तरसंयुक्तो वीरे रौद्रेऽद्भुते रसे।
विनियुक्तः प्रतिमुखे वर्षासु गुरुदैवतः॥ २९॥

गेयोऽह्नः प्रथमे यामे षड्जग्रामाभिधो बुधैः।

संसं [स॑स॑] री गधगरिस संनिंधापाधाधारीगासां। री गा सा सग पनिधनिस सा सा। गसरिग पधनिप मामा—इत्यालापः।

रीं रीं गाधा गरि सासा नींधपापा। रीं रीं गध परि सा॑ सा॑ सा॑ सा॑। सा॑ सा॑ गानिधा रीरीगा। धा गारी सा॑ सा॑ निधपापा। री री पापा निधनि सा॑ सा॑ सा॑। सरि सरि पधनिध पमामामामा—इति करणम्।

१.	रि	रि	ग	स	ग	रि	ग	स
	स	ज	य	तु	भू		ता	
२.	नि	ध	प	प	रि	रि	ग	ध
	धि	प	तिः		प	रि	क	र
३.	ग	रि	स	स	स	स	स	स
	भो		गीं	द्र		कुं		ड
४.	स	स	ग	धनि	नि	नि	नि	नि
	ला		भ	र	णः			
५.	ग	रिग	ध	ध	ग	गरि	स	स
	ग	ज	च		र्म	प	ट	नि
६.	नि	ध	प	प	रि	रि	प	प
	व	स	नः		श	शां	क	
७.	नि	ध	नि	स	स	स	स	रिसरि
	चू		डा	म	णिः			
८.	प	ध	निध	प	म	म	म	म
	शं				भुः			

—इत्याक्षिप्तिका।

(ग्रामराग—२) षड्जग्राम

२७ ग-३० ख. (अ०) **षड्जमध्यमया सृष्टः** षड्जमध्यमा (जाति) के द्वारा उत्पन्न, **तारषड्जग्रह-अंशकः** तार षड्ज ग्रह, अंश वाला, **संपूर्णः** संपूर्ण, **मध्यमन्यासः** मध्यम (जिसमें) न्यास (है), **षड्ज-अपन्यासभूषितः** षड्ज अपन्यास से भूषित **अवरोहि-प्रसन्नान्तः भूषः** अवरोही (वर्ण) के प्रसन्नान्त अलंकार वाला, **षड्जादिमूर्छनः** षड्जादि मूर्छना वाला, **काकली-अन्तरसंयुक्तः** काकली (निषाद और) अन्तर (गांधार) से संयुक्त, **वीरे रौद्रे अद्भुते रसे** वीर, रौद्र (और) अद्भुत रस में, **प्रतिमुखे विनियुक्तः** प्रतिमुख (सन्धि) में विनियुक्त, **वर्षासु** वर्षा (ऋतु) में, **गुरुदैवतः** गुरु (जिसका) देवता (है, ऐसा) **षड्जग्राम-अभिधः** षड्जग्राम नाम वाला (ग्रामराग) **बुधैः** बुद्धिमानों के द्वारा **अह्नः प्रथमे यामे** दिन के प्रथम प्रहर में **गेयः** गाया जाना चाहिए (अर्थात् गाया जाता है)।

(सर०) आलाप के शुरू में सस पर मन्द्रचिन्ह है लेकिन इस राग में तार षड्ज को ग्रह कहा है इसलिए यहाँ मन्द्र के स्थान पर तार चिन्ह लगाए हैं।

(शुद्धकैशिकः)

कार्मारव्याश्च कैशिक्याः संजातः शुद्धकैशिकः॥ ३०॥
तारषड्जग्रहांशश्च पञ्चमान्तः सकाकली।
सावरोहिप्रसन्नान्तः पूर्णः षड्जादिमूर्छनः॥ ३१॥

वीररौद्राद्भुतरसः शिशिरे भौमवल्लभः।
गेयो निर्वहणे यामे प्रथमेऽह्नो मनीषिभिः॥ ३२॥

सांसां [सा॑सा॑] गामा गारी गामां सांनी सांरी साधा माधा माधा नीधा पामा गामा पापा—इत्यालापः।

सांसांसांसां रीरीसासारीरी गागा सांसांसांसां मामा गारी गारी सासारीरी पनि सा॑सा॑सा॑सा॑ रीरी मामा पापाधामा मामाधानी सासासासा रीरीगामा सासापापा धामागामा पामा पापापापा—इति वर्तनी।

१.	स[स॑]	स[स॑]	स[स॑]	स[स॑]	स[स॑]	स[स॑]	नि	ध
	अ		ग्नि		ज्वा		ला	शि
२.	स	स	रि	म	स	रि	ग	म
	खा		के		शि			
३.	स	ग	रि	स	स	स	स	स
	मां				स	शो		णि
४.	स	स	स	स	नि	स	नि	नि
	त	भो				जि	नि	
५.	म	म	ग	रि	म	म	प	प
	स		र्वा		हा		रि	णि
६.	ध	नि	प	म	ध	म	ध	स
	नि		र्मां		से			
७.	स	स	स	स	नि	ध	प	प
	च			र्म	मुं	डे	न	
८.	ध	नि	ग	म	प	प	प	प
	मो			स्तु	ते			

—इत्याक्षिप्तिका।

(ग्रामराग-३) शुद्धकैशिक

३० ग-३२. (अ०) **कार्मारव्याः कैशिक्याः च संजातः** कार्मारवी और कैशिकी (जातियों) से उत्पन्न, **तारषड्जग्रह-अंशः च** तार षड्ज ग्रह और अंश, **पञ्चम-अन्तः** पंचम से अन्त (अर्थात् न्यास) वाला, **सकाकली** काकली (निषाद) सहित, **स-अवरोहि-प्रसन्नान्तः** अवरोही (वर्ण) के प्रसन्नान्त (अलंकार) सहित, **पूर्णः** संपूर्ण, **षड्जादिमूर्छनः** षड्जादि मूर्छना वाला, **वीर-रौद्र-अद्भुत-रसः** वीर, रौद्र, अद्भुत रस वाला, **शिशिरे** शिशिर (ऋतु) में, **भौम-वल्लभः** मंगल (ग्रह) का प्रिय (अर्थात् मंगल देवता वाला), **शुद्धकैशिकः** शुद्धकैशिक (ग्रामराग) **अह्नः प्रथमे यामे** दिन के प्रथम प्रहर में **मनीषिभिः** मनीषियों के द्वारा **निर्वहणे गेयः** निर्वहण (सन्धि) में गाया जाता है।

(सर०) व्याख्या में कल्लि० ने इस ओर ध्यान दिलाया है कि कुछ रागों में उद्देश और लक्षण में और कहीं लक्षणों में विरोध दिखाई देता है। कल्लि० ने जिन रागों में मतंग आदि के मत से विरोध का परिहार किया है वे हैं—शुद्धकैशिकमध्यम, गौडकैशिक, बोट्ट, टक्ककैशिक, हिन्दोल, नर्त, ककुभ, रेवगुप्त और पंचमषाडव। हम इन रागों की व्याख्या में उसका उल्लेख करेंगे।

बृह० के रागलक्षणाध्याय के अन्तिम भाग में मतंग और कश्यप द्वारा बताया गया राग और गीत का भेद कल्लि० ने उद्धृत किया है। उसमें गीत और राग का क्या भेद है यह प्रश्न उठाकर मतंग ने उत्तर दिया कि दस लक्षणों से लक्षित गीत (स्वरसंनिवेश) राग कहलाता है। गीत चार अंगों से युक्त होता है जो (पंचविध) ध्रुवा के योग से पाँच प्रकार का होता है। यह अन्तर कश्यप के आप्तवचन के अनुसार है जिसमें ग्रह, अंश, न्यास, अपन्यास, षाडव, औडव, अल्पत्व, बहुत्व, मन्द्र और तार—ये दस राग के लक्षण बताए गये हैं और कहा है कि इन्हें जानकर दशरूपकों (नाट्य के १० प्रकारों) में प्रवेश, आक्षेप, निष्क्राम, प्रासादिक और अन्तर नामक ५ प्रकार के गान (ध्रुवा) में ग्रामरागों का प्रयोग करना चाहिए (अ०३, अनु० २१४)। कल्लि० ने इसका यह अर्थ किया कि ग्रह, अंशादि दस लक्षणों से लक्षित केवल स्वरों का संनिवेश राग होता है और उसी राग के स्वरों से तथा पद, ताल और मार्ग—इन चार अंगों से युक्त ध्रुवादि संज्ञक गीत होता है। कश्यप व मतंग के कथन और कल्लि० की व्याख्या से यह स्पष्ट है कि केवल स्वरों से युक्त होने से राग हो जाता है लेकिन गीत बनने के लिए स्वर के साथ पद, ताल और मार्ग भी ज़रूरी हैं।

इस राग में ग्रह तार स है इसलिए तदनुसार आलाप के शुरू में **स स** पर तार चिन्ह लगाया है। इसी तरह आक्षिप्तिका में भी पहली कला में स पर तार चिन्ह रखा है।

(भिन्नकैशिकमध्यमः)

षड्जमध्यमिकोत्पन्नो भिन्नकैशिकमध्यमः।
षड्जग्रहांशो मन्यासो मन्द्रसान्तोऽथवा भवेत्॥ ३३॥

षड्जादिमूर्छनः पूर्णः संचारिणि सकाकली।
प्रसन्नादियुतो दानवीरे रौद्रेऽद्भुते रसे॥ ३४॥

दिनस्य प्रथमे यामे प्रयोज्यः सोमदैवतः।

सां निधा सामां। मम धम मम धम गामाधाधा नीधा सस सां गां माधानीधा सां सां धमा मगा स गास साधा मामा। सां गां माधानीधा सांसां मधा पमाप मामा—इत्यालापः।

सस निध सस मम मध मग मध निमम। नीधांनीमधनिस। निधनि संसंसंसंसं धध। मम गसं सं गमा सांग गधांधांधधममधंमगममधसंसं। संसंधमधपमापा मामा—इति वर्तनिका।

१.	स	स	नि	ध	स	स	म	म
	बृ	ह	दु	द	र	वि	क	ट
२.	म	ध	म	ग	म	ध	नि	म
	ग		म	न	ज	ठ	र	वि
३.	म	नि	ध	नि	म	ध	नि	नि
	भ		क्तं		सु	वि	पु	ल
४.	नि	ध	नि	स	स	स	स	स
	पी		नां		गं			
५.	म	मस	स	स	नि	ध	प	प
	अ	रि	द	म	न	वि	ष	म
६.	ध	नि	म	म	ग	रि	म	म
	लो		च	नं	सु	र	न	मि
७.	म	म	म	म	ध	नि	म	म
	तं	वि	ना		य	कं		
८.	स	स	ध	नि	म	म	म	म
	वं				दे			

—इत्याक्षिप्तिका।

(ग्रामराग-४) भिन्नकैशिकमध्यम

३३-३५ ख. (अ०) **भिन्नकैशिकमध्यमः** भिन्नकैशिकमध्यम (ग्रामराग) **षड्जमध्यमिका-उत्पन्नः** षड्जमध्यमा (जाति) से उत्पन्न, **षड्जग्रह-अंशः** षड्ज ग्रह, अंश वाला, **म-न्यासः** म न्यास वाला **अथवा** या **मन्द्र-स-अन्तः** मन्द्र स से अन्त (होने) वाला **भवेत्** होता है। **षड्जादिमूर्छनः** षड्जादि मूर्छना वाला, **पूर्णः** संपूर्ण, **सञ्चारिणि प्रसन्नादियुतः** संचारी (वर्ण) में प्रसन्नादि (अलंकार) से युक्त, **सकाकली** काकली सहित, **दानवीरे रौद्रे अद्भुते रसे** दानवीर, रौद्र (और) अद्भुत रस में, **सोमदैवतः** चन्द्रमा (जिसका) देवता (है, ऐसा यह राग) **दिनस्य प्रथमे यामे** दिन के प्रथम प्रहर में **प्रयोज्यः** प्रयुक्त करना चाहिए।

(भिन्नतानः)

मध्यमापञ्चमीजातः पञ्चमांशग्रहोऽल्परिः॥ ३५॥

रिहीनो वा मध्यमान्तो मध्यमाल्पः सकाकली।
संचारिणि प्रसन्नादिमण्डितोऽन्तिममूर्छनः॥ ३६॥

प्राग्यामे करुणे गेयो भिन्नतानः शिवप्रियः।

पां नीं सागा मापा धापागामांमां। ममध ममग सां सां संसं सं मागम पापापानी सांगांमां धापाम गंमंमां। मम धप धध संसं पांपां संसंसं मागम पापा मंमं पप धध निनि पध मध मग गंसां सां गंसगससम पापापानी सांगांपापा धापामगमामा—इत्यालापः।

पापा नीनी संसं गंगं पापानीपांनी सांगंगं सांगामा पाधा पाम गामापापा (पञ्चम) पापा सांसां धामापापापा (षड्ज) सस गम (पञ्चम) नी सांगां मापाधाम गां मामा—इति वर्तनी।

१.	प	प	नि	नि	सं	सं	ग	ग
	ह	र	व	र	मु	कु	ट	ज
२.	स	गं	मप	मग	सं	सं	सं	सं
	टा		लु	लि	तं			
३.	स	ग	म	प	ध	प	मप	मग
	अ	म	र	व	धू		कु	च
४.	स	ग	म	प	प	प	प	प
	प	रि	म	लि	तं			
५.	ध	प	स	म	प	प	ध	ध
	ब	हु	वि	ध	कु	सु	म	र
६.	स	स	प	प	ध	प	म	ग
	जो		रु	णि	तं			
७.	ध	प	पम	मपग	सं	गं	मं	पं
	वि	ज	य	ते	गं		गा	
८.	ध	प	मग	म	म	म	म	म
	वि	म	ल	ज	लं			

—इत्याक्षिप्तिका।

(ग्रामराग-५) भिन्नतान

३५ ग-३७ ख. (अ०) **मध्यमापञ्चमीजातः** मध्यमा (और) पंचमी (शुद्धा जातियों) से उत्पन्न, **पञ्चम-अंशग्रहः** पंचम अंश (और) ग्रह (वाला), **अल्प-रिः** रि अल्प, **रि-हीनः वा** अथवा रि रहित, **मध्यम-अन्तः** मध्यम से अन्त होने वाला (न्यास वाला), **मध्यम-अल्पः** अल्प मध्यम (वाला), **सकाकली** काकली सहित, **सञ्चारिणि प्रसन्नादिमण्डितः** संचारी (वर्ण) में प्रसन्नादि (अलंकार) से भूषित, **अन्तिममूर्छनः** (मध्यमग्राम की पंचम से आरम्भ होने वाली) अन्तिम मूर्छना, **शिवप्रियः** शिव को प्रिय **भिन्नतानः** भिन्नतान (ग्रामराग) **प्राक्-यामे** (दिन के) प्रथम प्रहर में **करुणे गेयः** करुण (रस) में गाया जाना चाहिए।

(सर०) सिंह० ने अन्तिम मूर्छना का अर्थ ऋषभादि मूर्छना समझा है। लेकिन भिन्नतान मध्यमग्रामिक राग है और इस ग्राम की अन्तिम सप्तस्वर मूर्छना पंचमादि है, ऋषभादि नहीं। मतंग ने भी मध्यमग्राम की पंचमादि मूर्छना ही कही है।

कोष्ठक में स्वरनाम देने का प्रयोजन स्पष्ट नहीं है, यह पहले कहा जा चुका है।

(भिन्नकैशिकः)

कैशिकीकार्मारवीभ्यामुद्भूतो भिन्नकैशिकः॥ ३७॥

षड्जग्रहांशः पन्यासः संपूर्णः काकलीयुतः।
मन्द्रभूरिः ससंचारी प्रसन्नादिविभूषणः॥ ३८॥

षड्जादिमूर्छनो दानवीरे रौद्रेऽद्भुते रसे।
गेयोह्नः प्रथमे यामे शिशिरः शिववल्लभः॥ ३९॥

साधा मांधासा निधस नीसां सां सांरीं मांपांधांमांधांसां निध सनि सासा सारीं सामा धानी साधा सा मपांमापापा—इत्यालापः।

सासाधा माधापा मारी पापा धामाधासांसां सां। सांसां रीरी गांगां सारी गांगां सारी सासामाधा पापा सारी मापा धासा धापा मापापापा—इति वर्तनी।

१.	स	स	स	स	रि	रि	म	म
	इं			द्र	नी			ल
२.	म	म	पम	प	प	प	प	प
	स			प्र	भं			म
३.	म	ध	स	प	ध	म	रि	स
	दां			ध	गं			ध
४.	म	म	संनि	सं	सं	सं	सं	सं
	वा			सि	तं			
५.	स	स	स	स	स	स	स	स
	ए			क	दं			त
६.	नि	ग	स	स	ध	प	म	प
	शो			भि	तं			न
७.	म	ध	स	प	ध	म	रि	म
	मा			मि	तं			वि
८.	म	म	पम	प	प	प	प	प
	ना			य	कं			

—इत्याक्षिप्तिका।

(ग्रामराग-६) भिन्नकैशिक

३७ ग-३९. (अ०) **कैशिकी-कार्मारवीभ्याम्-उद्भूतः** कैशिकी और कार्मारवी (जातियों) से उद्भूत, **षड्जग्रह-अंशः** षड्ज ग्रह, अंश (और) **प-न्यासः** प न्यास वाला, **संपूर्णः** संपूर्ण, **काकलीयुतः** काकलीयुक्त, **मन्द्रभूरिः** मन्द्र (स्थान का जिसमें) बहुल (प्रयोग हो), **ससंचारी-प्रसन्नादिविभूषणः** संचारी (वर्ण) सहित प्रसन्नादि अलंकार वाला, **षड्जादिमूर्छनः** षड्जादि मूर्छना वाला, **दानवीरे रौद्रे अद्भुते रसे** दानवीर, रौद्र, अद्भुत रसों में (प्रयोज्य), **शिशिरे** शिशिर में, **अह्ने प्रथमे यामे** दिन के प्रथम प्रहर में **शिववल्लभः भिन्नकैशिकः** शिव को प्रिय भिन्नकैशिक (ग्रामराग) **गेयः** गाया जाता है।

(सर०) मुद्रित पाठ 'षड्जग्रहांशापन्यासः' है जिसके अनुसार स ग्रह, अंश और अपन्यास होता है। इसमें अपन्यास तो कह दिया गया लेकिन लक्षण में न्यास छूट गया। इस राग के आलाप, वर्तनी और आक्षिप्तिका में पंचम पर ही न्यास हुआ है। बृह० में भी पंचम ही न्यास कहा गया है। इसलिए हमने षड्जग्रहांशः पन्यासः पाठ रखकर तदनुसार अर्थ किया है।

सिंह० की टीका में 'शौरिः' और 'सौरिः' इन दो पाठों के आधार पर 'शौरि' यानी विष्णु और 'सौरि' यानी शनैश्चर अर्थ दिया गया है। तदनुसार यह राग विष्णु अथवा शनि और कामदेव को प्रिय समझना चाहिए।

(गौडकैशिकमध्यमः)

षड्जमध्यमया सृष्टो गौडकैशिकमध्यमः।
षड्जग्रहांशो मन्यासः पूर्णः काकलिना युतः॥ ४०॥

प्रसन्नमध्येनारोहिवर्णः षड्जादिमूर्छनः।
भयानके च वीरादौ रसे शीतांशुदैवतः॥ ४१॥

यामद्वये मध्यमेऽह्नो गेयो निःशङ्ककीर्तितः।

सां सां सधस सधसा सधस रिमागामामा मम धमधरिधधधध धनिधनि धमाधमा गधरि धनिध (षड्ज) ससध धसससधसरिसा सधधससससरिगरिमरि गसगसधसस (मध्यम) मममधमध (ऋषभ) रिरिरिधरिधधनिधध धसपधमामा। रीरीरिरिगरिगगधां सासाधधसधधरिधरि। ममधारि रिधानि धनिमधामा। गधारिधानिधा (षड्ज) ससधधससस। रिगरिमरिगसगसां धसासं (मध्यम) मममधमध (ऋषभ) रिरिरिधरिधधनिधधधस पधमामा। रीरीरिरिगरिगगधासासाधधसध-सधधरिधरिममधारिरिधानिधनिमधमा। गधारिधानि धाध (षड्ज) ससधधससस। रिगरिगरिगस गसांनिनिनिसनिससससससससससधसध-सारिममममधाधाध गसगसा। धाधाधमपधमामा—इत्यालापः।

धाधाध (षड्ज) सधसासा धध धस धाममाध मध मां (मध्यम) ममध मग निध धध रिधधा। रिधधा निधध सांसांध धधसं संसं धध सामधरिम रिग सांसंसंधससा। (षड्ज) समामाममधामधाधनिधाधा धनिध गधा सगधा धधधस पप मधमारीगाग (धैवत) धासाधाध रिरिरि (ऋषभ) रिगा मामधमधानिधनिधधा (धैवत) रिधधाधधा। धनिसांसा। सधधधधसंसंसंसांधधधसं मममम रिरिरिग। संगंधा संधध सां सग (षड्ज) स धा सस धसरि। रिमं मधध मधा। मध धध रिधधा धनि (धैवत) धधधगं ससंसगं धधधसपधधधमामाम रिग गमा म (षड्ज) पधमा मधमा मामधा (धैवत) रीरीधाधरिधा (षड्जमध्यमधैवत) धासपधमा ममगामामा—इति करणम्।

१.	स	स	ध	स	सं	सं	सं	सं
	त	रु	ण	र	वि	स	दृ	श
२.	मं	मं	स	स	ध	स	रि	म
	भा		सु	र	वि	क	ट	ज
३.	मम	रि	स	स	स	स	गरि	सम
	टा		जू		ट	शि	ख	ऽर
४.	मं	मं	मं	मं	सं	सं	सं	सं
	प	रि	र	चि	ता			

५.	म	ध	म	ग	म	ध	म	ग
	हि	म	शि	ख	रि	शि	ख	र
६.	म	ध	स	स	नि	ध	स	स
	मा		ला		श	र	ण	ग
७.	सं	सं	म	मग	रि	ग	स	सनि
	ता		पा		तु	वः		स
८.	ध	स	प	ध	मग	म	म	म
	दा		गं		गा			

—इत्याक्षिप्तिका।

(ग्रामराग-७) गौडकैशिकमध्यम

४०-४२ ख. (अ०) **षड्जमध्यमया सृष्टः** षड्जमध्यमा (जाति) से उत्पन्न, **षड्ज-ग्रह-अंशः** षड्ज ग्रह (और) अंश (वाला), **म-न्यासः** म न्यास (वाला), **पूर्णः** संपूर्ण, **काकलिना युतः** काकली से युक्त, **प्रसन्नमध्येन-आरोहि-वर्णः** प्रसन्नमध्य (अलंकार) से आरोही वर्ण वाला (अर्थात् आरोही वर्ण के प्रसन्नमध्य अलंकार वाला), **षड्जादिमूर्छनः** षड्जादि मूर्छना वाला, **भयानके वीर-आदौ च रसे** भयानक और वीर आदि रसों में (विनियुक्त) **शीतांशुदैवतः** चन्द्रमा देवता वाला, **गौडकैशिकमध्यमः** गौडकैशिकमध्यम (ग्रामराग) **अह्नः मध्यमे यामद्वये गेयः** दिन के मध्य के दो प्रहरों में गाया जाता है (ऐसा) **निःशङ्ककीर्तितः** निःशंक (शार्ङ्गदेव) के द्वारा कहा गया (है)।

(गौडपञ्चमः)

धग्रहो धैवतीषड्जमध्यमाजातिसंभवः॥ ४२॥

धांशो मान्तस्तथा गौडपञ्चमः पञ्चमोज्झितः।
काकल्यन्तरसंयुक्तो धैवतादिकमूर्छनः॥ ४३॥

प्रसन्नमध्येनारोहिवर्णः शौरिस्मरप्रियः।
भयानके च बीभत्से विप्रलम्भे रसे भवेत्॥ ४४॥

उद्भटे नटने गेयो ग्रीष्मेऽह्नो मध्ययामयोः।

धामा धधमधधधनिधनिध धधनिधनिधसरिगगरिगरिगगधधनिधनिधधमगममगामाम (धैवत) धधधधधनिधनिधधधधसधनिधसरिगधनिधधधनि ममनि धगससमग (मध्यम) ममममधधधधनिधनिधमाधधमाधधनिध निध धधध ममधा मधध धनि धनिमधमगागससगसा। धधनि ममनि धनिसाधाधा (धैवत) धधधधधनिधनिधधधधसधनी धसरिगधनिध धधनि ममनि धग सगमगम (मध्यम) ममममध ममध ममध धनि धनि धमामध निध निधनिधधसधधधधसधधनिधनिधनिधमधमगागसगमगमधधधधधनिधनिधगं ससमगममधसरिमधमगधाधमधधाधा। धधनि धधस धधनि धधध धधनिधधधमधसरिमगामामामाधधधमधधधधधधधधधधधनिधनिमधमगामामा—इत्यालापः।

मध मध धाधनिधास धनिधा धस रिगा धनि धामगामामा। धमधमा धमधमा। (मध्यम) मनि धध

रिध धाममम धागमधानिध धनि धामममसं गम धाधनि धनि धनि धाध धधस। धनिधा धसरिग धनिधा मधसरि मधमधधा धधधनि धनि धनि धनि मधमा मागामामा—इति करणम्।

१.	ध	ध	म	ध	सं	सं	सं	सं
	घ	न	च	ल	न	खिं		न
२.	ध	ध	ध	ध	ध	ध	स	ध
	पं		न	ग	वि	ष	म	वि
३.	सं	सं	मं	मं	मं	ध	ध	ध
	निः		श्वा		स	धू		म
४.	ध	ध	म	ग	म	म	म	म
	धू		म्र	श	शि			
५.	म	म	म	ग	म	ध	ध	ध
	वि	र	चि	त	क	पा		ल
६.	ध	नि	ध	म	म	म	म	ग
	मां		लं		ज	य	ति	ज
७.	म	ध	ध	ध	म	म	म	म
	टा		मं	ड	लं			
८.	ध	ध	ध	धनि	ग	म	म	म
	शं				भोः			

—इत्याक्षिप्तिका।

(ग्रामराग-८) गौडपंचम

४२ ग-४५ ख. (अ०) **गौडपञ्चमः** गौडपंचम (ग्रामराग) **धैवती-षड्जमध्यमाजाति-संभवः** धैवती (और) षड्जमध्यमा जाति से उत्पन्न, **ध-ग्रहः** ध ग्रह, **ध-अंशः** ध अंश, **म-अन्तः** म न्यास वाला तथा और **पञ्चम-उज्झितः** पंचमरहित (है)। **काकलि-अन्तरसंयुक्तः** काकली (और) अन्तर (गांधार) से संयुक्त, **धैवतादिकमूर्छनः** धैवतादि मूर्छना (वाला) **प्रसन्नमध्येन आरोहिवर्णः** प्रसन्नमध्य (अलंकार) से आरोही वर्ण (तथा) **शौरि-स्मरप्रियः** विष्णु (और) कामदेव को प्रिय (है)। **भयानके बीभत्से विप्रलम्भे च रसे** भयानक, बीभत्स और विप्रलंभ (शृंगार) रस में **भवेत्** (प्रयुक्त) होता है। **ग्रीष्मे** ग्रीष्म में, **अह्नः मध्ययामयोः** दिन के मध्य के दो प्रहरों में (तथा) **उद्भटे नटने** उद्भट नृत्य में **गेयः** गाया जाता है।

(सर०) इसके आलाप में क्वचित् दीर्घाक्षरों को छोड़कर लगभग सभी स्वराक्षर ह्रस्व हैं। इससे लगता है कि यह द्रुत गति में गाया जाने वाला राग है। इस राग में ध ग्रह और अंश दोनों है। अन्य कई रागों में भी ग्रह और अंश एक ही स्वर है लेकिन उनकी अपेक्षा इस राग में ग्रह-अंशस्वरूप ध का लम्बी-लम्बी आवृत्तियों के साथ अत्यधिक प्रयोग दिखाई देता है।

(गौडकैशिकः)

उद्भूतः कैशिकीषड्जमध्यमाभ्यां ग्रहांशसः॥ ४५॥

सकाकलिः पञ्चमान्तः पूर्णः षड्जादिमूर्छनः।
आरोहिणि प्रसन्नादिभूषितः करुणे रसे॥ ४६॥

वीरे रौद्रेऽद्भुते गेयः शिशिरे शङ्करप्रियः।
दिनस्य मध्यमे यामे द्वितीये गौडकैशिकः॥ ४७॥

सासा सग सनिसरी मगगसमम पम निप पगम गरि रिगम मस। गसां संनि सरिम गपम पपरिमपाधारी मापाधानि रिमापा धास नि सासा। सासा (षड्ज) ससससस ससस मगसं गसनि सासा। सासा सस ग ससस मगमरि गसग सधस। पधप मापमापापा। पमपापापधपधपापप पधरिरिरि मरि मसरि मधासनि-सासा। सासा (षड्ज) सससससससस सग सग सनिसासा। सासा ससगस समग मरिगस गसधसपध पमा पापा धम पापा गम गगम (पञ्चम) पप गग मम गग गमग। निनिपनिपागमगस सनिपनिप। गमग पम मगमग गरीरी रिगमम (षड्ज) स ससससससस ससगसधसा गध सरीमामापमपापा—इत्यालापः।

निस निध सस रिम रिगम ममगपपनिगा पमगारि परीरीरिमरिम समरी मरिगसा मपधस रिमापमापांपां-रिमरिम रिमपापारिम पनि रीरीरिमसा पध सससनिसा सम रिगा सग सनिर्नीनिनि निनि सधध सध मम पपपा गागगनि पपधनी गगगप गमागा रीरी रिगामाम (षड्ज) स सनी निसा गारी रिम गम सागा मापा पनि धनि गमग धधम रिस गा सग सनि धसा धसरि मा पम पापा पम धमा रिमा रीसध सारी रिम मम मग साधध सस मम पप मम पापा पप गग मम पापापा—इति करणम्।

१.	स	स	स	स	नि	नि	नि	नि
	भ		स्मा		भ्यं		ग	वि
२.	नि	नि	स	रि	रि	ग	स	स
	भू		षि	त		दे		हं
३.	स	स	रि	स	रि	स	रि	स
	सु	र	व	र	मु	नि	स	हि
४.	रि	रि	रि	रि	म	म	म	म
	तं				भी		म	भु
५.	स	स	स	स	रि	रि	रि	रि
	जं		ग	म	वे		ष्टि	त
६.	स	स	स	स	म	म	रि	म
	बा		हुं		सु	र	व	र
७.	रि	म	म	म	प	प	प	प
	न	मि	त	प	दं			
८.	रि	रि	रि	रि	प	प	प	प
	चं		द्र	क	ला		क	र
९.	स	रि	रि	रि	स	स	नि	नि
	सं		त	ति	ध	व	ल	
१०.	नि	नि	स	नि	रि	म	रि	ग
	सु	र	स	रि	दं		बु	ध

११.	स	स	सम	गरि	स	स	सध	धनि
	रं				प्र	ण	म	त
१२.	पध	पध	पप	पप	मप	मप	प	प
	स	त	त		नि	ष्क	लं	
१३.	पध	पध	रिम	पम	ध	स	स	स
	स	क	ल		प	र	म	
१४.	ध	नि	पध	म	प	प	प	प
	शि	व	म	जे	यं			

—इति ध्रुवाक्षिप्तिका।

(ग्रामराग-९) गौडकैशिक

४५ ग-४७. (अ०) **कैशिकी-षड्जमध्यमाभ्याम् उद्भूतः** कैशिकी और षड्जमध्यमा से उत्पन्न, **ग्रह-अंश-सः** स ग्रह (और) अंश, **पञ्चम-अन्तः** पंचम न्यास (वाला), **सकाकलिः** काकली सहित, **पूर्णः** संपूर्ण, **षड्जादिमूर्छनः** षड्जादि मूर्छना वाला, **आरोहिणि** आरोही (वर्ण) में **प्रसन्नादिभूषितः** प्रसन्नादि (अलंकार) से भूषित, **करुणे वीरे रौद्रे अद्भुते रसे** करुण, वीर, रौद्र (और) अद्भुत रस में, **शिशिरे** शिशिर में, **दिनस्य मध्यमे** दिन के मध्य (मध्याह्न) में **द्वितीये यामे** दूसरे प्रहर में **शङ्करप्रियः** शंकर को प्रिय **गौडकैशिकः गेयः** गौडकैशिक गाया जाता है।

(सर०) गौडकैशिक षड्जग्राम की षड्जमध्यमा और मध्यमग्रामिक कैशिकी से उत्पन्न है इसलिए द्वैग्रामिक होना चाहिए जबकि इस राग को मध्यमग्राम का कहा है। पहले उल्लिखित विरोध परिहार में कल्लि० ने मतंग का उद्धरण देकर इस विरोध का परिहार किया है। उद्धृत अंश में कहा गया है कि इस राग में त्रिश्रुतिक पंचम और चतुःश्रुतिक धैवत होने से यह मध्यमग्राम का राग ही है यद्यपि दो ग्रामों की जातियों से उत्पन्न है। उद्धरण के अन्तिम अंश का पाठ बृह० के मुद्रित पाठ से भिन्न है। कल्लि० के पाठ में यह कहा गया है कि यद्यपि यह राग दो ग्रामों से उत्पन्न जातियों से उत्पन्न है फिर भी इसका ग्रह षड्ज है, मध्यम नहीं, ऐसा दिखाई देता है। लेकिन इसका ग्रामसंबन्धी निर्देश से संबन्ध नहीं जुड़ता। मुद्रित पाठ का अर्थ यह है कि यद्यपि यह दो ग्रामों से उत्पन्न जातियों से उत्पन्न है फिर भी मध्यम इसका ग्राम है, षड्ज नहीं। इसकी पूर्ववाक्य से पूरी संगति है।

इस राग की आक्षिप्तिका को 'ध्रुवाक्षिप्तिका' कहा है और वह १४ कला वाली है। इन दोनों दृष्टियों से यह दूसरे रागों की आक्षिप्तिकाओं से भिन्न है इसलिए इस पर कुछ विचार करना अपेक्षित है।

ध्रुवा और आक्षिप्तिका—इन दोनों के मेल से 'ध्रुवाक्षिप्तिका' शब्द बना है। नाट्य की कथा में विभिन्न अवसरों पर गाए जाने वाले छन्दोबद्ध गीत ध्रुवा कहलाते हैं। अन्यत्र प्राप्त उल्लेखों के आधार पर ऐसा समझा जाता है कि आक्षिप्तिकाएँ भी नाट्य के अन्तर्गत उन स्थलों पर गाई जाती थीं जहाँ ध्रुवा नहीं गाई जाती थी। यह ध्यान देने की बात है कि शार्ङ्गदेव ने ग्रामरागों के लक्षणों में नाट्य के विभिन्न प्रसंगों, रसभावों और नाट्यसन्धियों में ग्रामरागों का विनियोग अवश्य बताया है। इसलिए यह बहुत संभव है कि सं०र० की आक्षिप्तिकाएँ नाट्य में गाई जाती रही हों। 'ध्रुवाक्षिप्तिका' शब्द भी इसका संकेत देता है। ना०शा० के ध्रुवाध्याय में दो जगह आक्षिसिका शब्द आया है। अभि० के अनुसार आक्षिसिका का अर्थ ध्रुवा ही है (ना०शा०, ३२/१८०, १८२ और अभि०, पृ० ३२९, अन्तिम पंक्ति)।

आक्षिप्तिका के लक्षण में ग्रन्थकार चच्चत्पुटादि तालों का प्रयोग कह चुके हैं जो मार्गताल हैं। चच्चत्पुट ४ कला वाला और चाचपुट ३ कला वाला ताल है जो क्रम से चतुरश्र और त्र्यश्र वर्ग के ताल हैं। भरत ने इनके अलावा संकीर्ण ताल भी कहे हैं जिनमें ५, ७, ९, १० या ११ कलाएँ होती हैं (ना० शा०, ३१/२४-२५)। चतुरश्र और त्र्यश्र के मिश्रण से एक मिश्र

भेद भी कहा है। अभि० के अनुसार इन तीनों के भंग से बने खण्डतालों और मिश्र तथा संकीर्ण तालों के भेदों से बने लयतालों का प्रयोग नाट्य की ध्रुवाओं में किया जाता था। इससे ऐसा लगता है कि यहाँ दी गई १४ कलाओं वाली ध्रुवाक्षिप्तिका भी किसी ७ या १४ कला वाले लयताल में गेय हो।

इस राग में वीर, रौद्र, अद्‌भुत रसों के अलावा करुण भी कहा गया है जो परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। लेकिन भरत ने रौद्र से करुण रस की उत्पत्ति कही है इसलिए इनमें संबन्ध है, विरोध नहीं (ना०शा०, ६/३९)।

(वेसरषाडवः)

वेसरः षाडवः षड्‌जमध्यमाजातिसंभवः।
मध्यमांशग्रहन्यासः काकल्यन्तरराजितः॥ ४८॥

सारोही सप्रसन्नादिर्मध्यमादिकमूर्छनः।
संपूर्णः शान्तशृङ्गारहास्येषूशनसः प्रियः॥ ४९॥

दिनस्य पश्चिमे यामे गेयः श्रीशार्ङ्गिणोदितः।

मांमारीगांसांरीं गांमां मागा मासां। मामारीमांपाधानी पनी धामां नीधासासा। सांधा सारीगाधा सनी धानीध(पञ्चम) पापा सधा सगा मरीगांरीमामामरीगारीधामा मरी मगागमासासासरि गमा मग सनि धनि धस धस निधनिधा (पञ्चम) पस धग सम गरी मगां मां मांमांमांमां मधा नीसा रीगा मम गसा नीधनि धसनिधा नीध(पञ्चम) पापा। पपनि धधनि पापा पपनि धधनि मांमां। मम निधा धध गसा। ससमरी री गामामा। मरिरिग सांसां। सरिरिग मां मां मरि रिग रिरिधामा मरिरि गरि रिधस रिरि सांरिग सगा सधनि धसस धनि धगगधनि धधस धनि धमंमं मस समध मंरिरि मरिग सगसा धनिधसनि धानिधा(पञ्चम) पापा पप पपनि धनि धधनि धनि ममनि धधस ससग धधस धधमा रिग सगस धसरिगम रिगमांमां। मरि गसां रिगमां मां मरी गरिगमा। मरिगरि धरि रिरि धरि रिरि मांमां। गममगधधम धम रिरिम रिग सगस धनिध सनि धनिधा। (पञ्चम) पापा। पंपं पंपं पंपं पंपं। निध निध धनि धनि ममनि निध निध धमां गंस गस धनिध सनि धनी धसरि गगरि सनिधासां पधासरी मं गा मं मां—इत्यालापः।

मंधामम गंमांमां मम गम मां। संसंमरिमांमं ममरि मं मां धधांनि धनिधा धस धनिधा धाधा म रिग मग मांमां (ऋषभ) रि धरीरीरीरीधरीरीरीरीग रिग मांमांनी पधा मा रिग रिग रिग सा। संमं (धैवत) निध धस धनि धापापा। पप (धैवत) धनींनींमांमां। मांरि मरिग मनि धा धा धा (धैवत) धनिधग (षड्ज) सा नीधा सारीं गां मां मं मधारि रिरि गग मंमं रिग रिनि पध मंमं रिग रिम रिगा ससा धनि धस धनि धध(पञ्चम) पा। (धैवत) धग सस मग रिग मांमांगामांमां—इति करणम्।

१.	म	ग	रि	स	रि	ग	रि	स
	इं		द	गो		व	म	णि
२.	रि	स	रि	ग	मं	मं	मं	मं
	दा		म	सं		चि	अं	

३.	म	रि	ग	स	नि	ध	स	स
	फु	ळ्ळ	कं		द	ळ	सि	
४.	प	ध	स	रि	ग	म	म	म
	ळिं		ध	सो		हि	अं	
५.	रि	रि	प	प	म	प	ध	नि
	म		त्त	द		हु	र	णि
६.	प	ध	म	ग	रि	ग	रि	स
	णा		अ	सो		हि	अं	
७.	म	रि	ग	स	नि	ध	स	स
	का		ण	णं		सु	र	हि
८.	प	ध	स	रि	ग	म	म	म
		गं	ध	सी		अ	ळं	

—इत्याक्षिप्तिका।

(ग्रामराग-१०) वेसरषाडव

४८-५० ख. (अ०) वेसरः षाडवः वेसरषाडव (ग्रामराग) **श्रीशार्ङ्गिणा** श्रीशार्ङ्गदेव के द्वारा **षड्जमध्यमाजातिसंभवः** षड्जमध्यमा जाति से उत्पन्न, **मध्यम-अंश-ग्रह-न्यासः** मध्यम अंश, ग्रह, न्यास (वाला), **काकलि-अन्तरराजितः** काकली और अन्तर से शोभित, **स-आरोही सप्रसन्नादिः** आरोही (वर्ण) सहित प्रसन्नादि (अलंकार) युक्त, **मध्यमादिकमूर्छनः** मध्यमादि मूर्छना (वाला), **संपूर्णः** संपूर्ण, **शान्त-शृङ्गार-हास्येषु** शान्त, शृंगार और हास्य (रसों) में (प्रयोज्य), **उषनसः प्रियः** शुक्र का प्रिय, **दिनस्य** दिन के **पश्चिमे यामे** अन्तिम प्रहर में **गेयः** गाया जाने वाला **उदितः** कहा गया है।

(सर०) इस राग की आक्षिप्तिका प्राकृत भाषा में रचित है।

(बोट्टः)

बोट्टः स्यात्पञ्चमीषड्जमध्यमाभ्यां ग्रहांशपः॥ ५०॥

मान्तोऽल्पगः काकलिमान् पञ्चमादिकमूर्छनः।
आरोहिणि प्रसन्नान्तालङ्कृतः सकलस्वरः॥ ५१॥

अन्त्येऽह्नः प्रहरे गेयो हास्यशृङ्गारयोः स्मृतः।
उत्सवे विनियोक्तव्यो भवानीपतिवल्लभः॥ ५२॥

पंनिसासा धगारि पानी धा पामा गरी ममा मामा। मं पांपां पंनिनिमांमंधांसासनि धा धमगा मगारिरिसा री पंमापांपांपंसा सपपमपपं मंपंमंपंपंमां। पधनि पध मधस गरि रिरिपं रिरिप रिपपप (षड्ज) सा। सस गरि पां (पञ्चम) पपपपमगरि मगां मां मां मधा धा धध निध निसा मम धध सस रिरि गग रिगा ग (पञ्चम) पप सप धस निध धधधमसमां मगा री रिध रिरिध रिरि (ऋषभ) रिरिप रिरिप पां पनिधा पामा गरि मगामा मा। गाम। मगममगा ममगप ममगागरी रिरिरि ध धस गागारी। रिस मम गग पमपपमपपापा पमप ध नि धनि मामामधाधमामधासारीगागापा परि पापमपधनिपधमधमां गारी।

रिगमपाधापामागारिपगामाम (मध्यम) मगाममगममगमपमगागपमागामापापा पनिधधनिधनिनिपानिधधससधधगरीगरिरि गपापपधपधापधससधधगसग। सासससमरिंरिंपंमपममपापापममपपधधस सपा। सससमसमरिरिगागससपपपपधधनिपधमधमगरिमगाग। सगसधस पपधधससरिरिपपपपपमगरीमगागगा। मामांगमम (मध्यम) मा पनिधनिरिधा धनिपपपधममरिगरिमरिग। ससासससगससगधधधगससससमरिरिरिपरिपाप। पापसधसासपाप (षड्ज) रिसरिरिपाप। पममपपधधधधनिपधमाममरिरि ममरिरिगरिपरिपपपपप (षड्ज) ससासधधगधमगरिपा। पापाधाधापापासासापापाधध पपममगगागारिधारिरिधरिरि (ऋषभ) रिरिपा (पञ्चम) पधापामागारीगारीसगामामा—इत्यालापः।

धाममगममाममगममा (पञ्चम) पगममाममगमसाधधधनिप धमाधनिपधसारिगरिमरिमसाममगरिसा। रिगरिग (पञ्चम) पपपपनिनिधामामा। मामधधाधममधधासरिधगाधगगधरिग (पञ्चम) पापपपनिनिध ससधगसमागारीमारिमा (मध्यम) निधाधाधधधनि। पांमागारीरिपारीनिधा (षड्ज) सससममारिरिरिरिपमममनिधापामागारीरिमांगामांमांधरिरि धरीरिधरिरिरिपपरिपपरिपपरिपपमनिनिधनिधानिनिधाधधध निधधमधमामाममधध (षड्ज) स (ऋषभ) रि (पञ्चम) पपनिनिनिनिधधनिनि निपधधधरिपपमधममरिरिगरि(पञ्चम)पनिनिधधपंपंमंमगगरिरिमग मामानिधनिधाधधधनिपपपधगमरीगरिरिपरिपामगागामामा—इतिकरणम्।

१.	स	ध	स	स	स	स	स	स
	प	व	न	वि	लु	लि	त	
२.	ध	प	म	प	ध	प	म	म
	भ्र	मि	त	म	धु	क	र	
३.	ध	प	म	ग	रि	ग	स	निध
	ज	ल	ज	रे		णु	प	रि
४.	स	रि	म	प	प	प	प	पं
	पिं		ज	रि	ते			
५.	स	रि	म	प	प	प	प	ध
	म		द	मं		द	ग	ति
६.	स	स	प	प	ध	प	म	ग
	हं		स	व	धू			
७.	ध	प	म	ग	रि	ग	स	निध
	विं	च	र	ति	वि	क	सि	त
८.	प	प	पम	गम	म	म	म	म
	कु	मु	द	व	ने			

—इत्याक्षिप्तिका।

(ग्रामराग-११) बोट्ट

५० ग-५२. (अ०) **बोट्टः** बोट्ट (ग्रामराग) **पञ्चमी-षड्जमध्यमाभ्यां स्यात्** पंचमी और षड्जमध्यमा से (उत्पन्न) होता है। **ग्रह-अंश-पः** ग्रह (और) अंश प, **म-अन्तः** म न्यास, **अल्प-गः** ग अल्प, **काकलिमान्** काकली वाला, **पञ्चमादिकमूर्छनः** पंचमादि मूर्छना वाला, **सकलस्वरः** संपूर्ण (तथा) **आरोहिणि प्रसन्नान्त-अलङ्कृतः** आरोही (वर्ण) में प्रसन्नान्त (अलंकार) से अलंकृत, **अह्नः** दिन के **अन्त्ये प्रहरे** अन्तिम प्रहर में **गेयः** गाया जाता है, **हास्य-शृङ्गारयोः** हास्य और शृंगार (रसों) में **स्मृतः** जाना जाता है। **उत्सवे विनियोक्तव्यः** उत्सव में विनियोग होना चाहिए (और) **भवानीपतिवल्लभः** शिव को प्रिय (है)।

(सर०) गौडकैशिकमध्यम से मालवपंचम तक दिए गये रागों के आलाप काफ़ी लम्बे हैं, विशेष रूप से बोट्ट का आलाप।

बोट्ट राग मध्यमग्रामिक पंचमी जाति और षड्जग्रामिक षड्जमध्यमा जाति से उत्पन्न होने के कारण द्वैग्रामिक होना चाहिए लेकिन ग्रामरागों के उद्देश में इसे मध्यमग्राम में कहा गया है। इस तरह उद्देश और लक्षण में विरोध दिखाई देता है जिसका परिहार मतंग के आधार पर कल्लि० ने शुद्धकैशिक की व्याख्या में किया है। मतंग के उद्धरण के अनुसार यद्यपि बोट्टराग दोनों ग्रामों से संबद्ध जातियों से उत्पन्न है लेकिन इसमें त्रिश्रुतिक पंचम है इसलिए यह मध्यमग्रामिक राग ही है। लेकिन बृह० के त्रिवेन्द्रम् और इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्र—दोनों ही संस्करणों के पाठ के अनुसार इसमें चतुश्रुतिक पंचम के कारण इसे षड्जग्राम से संबद्ध ही कहा गया है। बृह० के मुद्रित पाठों के अनुसार बोट्ट षड्जग्राम का है और सं०र० के आधार पर मध्यमग्राम का।

पंचमादि मूर्छना पर कल्लि० ने कहा कि षड्जग्राम की पंचमादि शुद्धषड्जा हैं और मध्यमग्राम की हृष्यका। मतंग ने बोट्ट को षड्जमध्यमा और पंचमी जातियों से उत्पन्न कहा है इससे शुद्धषड्जा ही विवक्षित है क्योंकि इसमें प्रयुक्त मन्द्रस्थान में व्याप्ति वाले षड्जग्राम से संबन्ध अनुमित होती है। तात्पर्य यह है कि बोट्ट की पंचमादि मूर्छना षड्जग्रामिक सप्तस्वर शुद्धषड्जा है, यह कल्लि० ने मतंग के अनुसार माना।

कल्लि० के विरोध परिहार में यह विरोध उत्पन्न हो रहा है कि उन्होंने ग्राम के संदर्भ में तो मतंग के अनुसार बोट्ट को मध्यमग्रामिक कहा लेकिन मूर्छना षड्जग्रामिक कही। वास्तव में मतंग बोट्ट को षड्जग्रामिक मानते हैं इसलिए मूर्छना भी उसी ग्राम की शुद्धषड्जा होगी। लेकिन शार्ङ्गदेव के अनुसार यह राग मध्यमग्रामिक है इसलिए मूर्छना हृष्यका होगी।

(मालवपञ्चमः)

मध्यमापञ्चमीजातिजातो मालवपञ्चमः।
पञ्चमांशग्रहन्यासो हृष्यकामूर्छनान्वितः॥ ५३॥

सारोहिसप्रसन्नान्तो गान्धाराल्पः सकाकलिः।
विप्रलम्भे कञ्चुकिनः प्रवेशे केतुदैवतः॥ ५४॥

गेयोऽह्नः पश्चिमे यामे हास्यशृङ्गारवर्धनः।

पामारिगासाधानिधपाधधानिसरीमागागपा धामारिगासानिधनिमामाधनिसारिगाममगससाधानीधपापधानीसारी। मांमांगगपांधामारीगासानिधनिमामाधनिसारिगामगगसनिधनिपां। पां पां सधाधासगसासंमगारिरिरिमांमांपमासारीमापाधनीधापाधमासाधानीधापां रिरिरिगामापारीरीगामापारीरीरिगामापानिधा मापानिधामारीरिगमाममासरिगमामगसनिधानिपा। पापा पपस धधग ससग गरिप ममप मपपांपां। धाम मप धमामा पांधानीनिमामापाधासासमामा पांधागासांधानि धापां धमासधनि धापा मामा (मध्यम) गागं मगंम री रिरीरि रिमसाससससमरीरिरिरिप मापमामपापापपपधामाममनिनिधधपपपधमाममससधधनिनिधधपपममगग-

रिरीनिनीधधपारीरीधरिरिगामापारीरीधरिरिगमापा। रीरीधरीधरिरिगामापारिगमरिगमपधनिधमा मरिरिरिगगस-सससधसरिगगरिसनिधमपपरिममसंधनिधापाधामांगासांधानीधापा धमसधनिधपा—इत्यालापः।

मापाधामा मरिगसा धनिमा धनिसा रिगमा धनि धधसधनिधापापा। धध धनिधनिरि मापधनिधगसधानी-धासाधानी (पञ्चम) पापधसधाधधगसाससमगारीरीपमांमांपनिधनिधसनिधपांपां रिगमापा धनिधस धनिपंपपधममपमधसधनिममनिनिधधपापधमनिधपापा—इति करणम्।

१.	ग	रि	सनि	स	मग	रिग	स	पम
	ध्या		न	म	यं	न	वि	
२.	प	प	स	म	गम	ग	निध	नि
	मुं		च	ति	दी	नं		
३.	रि	मग	प	पम	प	प	धप	म
	व्या	ह	र		ति	वि	श	ति
४.	रिम	गस	धम	धनि	प	प	प	प
	स	रः	स	लि	ले			
५.	पम	धम	स	स	स	ग	स	निध
	वि	धु	नो		ति	प		क्ष
६.	निध	स	स	स	स	रि	ग	म
	यु	ग	लं		न	रें		द्र
७.	ध	म	रिग	स	निध	स	प	म
	हं		सो		नि		ज	
८.	मरि	गम	धस	निध	प	प	प	प
	प्रि	या	वि	र	हे			

—इत्याक्षिप्तिका।

(ग्रामराग-१२) मालवपंचम

५३-५५ ख. (अ०) मालवपञ्चमः मालवपंचम (ग्रामराग) मध्यमा-पञ्चमी-जातिजातः मध्यमा (और) पंचमी जाति से उत्पन्न, पञ्चम-अंश-ग्रह-न्यासः पंचम अंश, ग्रह, न्यास (वाला), हृष्यकामूर्छना-अन्वितः हृष्यका मूर्छना से अन्वित, स-आरोहि-स-प्रसन्नान्तः आरोही (वर्ण) सहित प्रसन्नान्त (अलंकार) के साथ, गान्धार-अल्पः गांधार अल्प, सकाकलिः काकलीसहित, विप्रलम्भे विप्रलंभ (शृंगार रस) में, कञ्चुकिनः प्रवेशे कंचुकी (सेवक) के (रंगमंच पर) प्रवेश में, केतुदैवतः केतुदेवता, हास्यशृङ्गारवर्धनः हास्य (और) शृंगार को बढ़ाने वाला (और) अह्नः पश्चिमे यामे दिन के अन्तिम प्रहर में गेयः गाया जाने वाला (है)।

(सर०) मालवपंचम मध्यमा और पंचमी जातियों से उत्पन्न है। ये दोनों मध्यमग्रामिक जातियाँ हैं, इसीलिए उद्देश में इस राग को मध्यमग्राम में रखा है। पंचम न्यास होने से मूर्छना हृष्यका कही है जो मध्यमग्राम की है।

केतु सौरमण्डल में नवाँ ग्रह है। पुराणों के अनुसार अमृतमन्थन से प्राप्त अमृत को सैंहिकेय दानव द्वारा छल से पी लेने पर विष्णु के द्वारा उसका सिर और धड़ काटकर अलग कर देने से सिर राहु बन गया और धड़ केतु।

(रूपसाधारः)

जातो नैषादिनीषड्जमध्यमाभ्यां ग्रहांशसः॥ ५५॥

मन्यासो रूपसाधारोऽल्परिपः काकलीयुतः।
प्रसन्नमध्यालङ्कारः पूर्णः षड्जादिमूर्छनः॥ ५६॥

अवरोहिणि वर्णे स्याद्वीरे रौद्रेऽद्भुते रसे।
प्रयोज्यो वीरकरुणे सवितुः प्रीतये सदा॥ ५७॥

सानिधा सनि सा सामा पामापापामपा मगामनी निधाधधा सधनि धासनी संसंपा धा सा री गाधा सापा धमा माधा निधानीनी मागा मागा मसा [मा]—इत्यालापः।

साधा सनिधनी सा सा पामा पममा गसं नीधाधाध सधनिधध (षड्ज) सा साधाधासारी गमगरिसधाधपसाधधनिसा (मध्यम) मगमसा। सगमधमनिधा सगस सधनिध धमा मगामा मामा (मध्यम) (पञ्चम) पगगम माग ममनि निधपपमपा। गममम (षड्ज) सध सससा निधम पप धध स रिरि मरि ग सा धधधधगसा (धैवत) निधमा (मध्यम) म सा सगगध मम पस सग सस धनि धध मा गम मामा—इति करणम्।

अथ वा—सा धा सा धा पा पधा सा सा सगामगासगांधा पां धा सां सां सां गा मं निधा सां ससनि सा सं मां सं गां ग सा धा पाप धप ध सां सां सा गा मा नी सासा (षड्ज) स सगा सगा ग सासा धापा धाप मामा—इत्यालापः।

१.	म	म	नि	नि	ध	ध	स	स
	स	द्यो			जा		तं	
२.	नि	नि	ध	स	स	स	स	स
	वा		म	म	घो		रं	
३.	स	स	नि	ध	प	म	म	म
	त		त्यु	रु	ष	मी		
४.	सं	रिं	सं	निं	नि	ध	स	स
	शा				नं			
५.	म	म	म	म	नि	नि	ध	ध
	वि		श्वं		वि		ष्णुं	
६.	स	स	प	प	म	म	म	म
	वे		द	प	दं			
७.	म	म	नि	नि	नि	ध	स	स
	सू	क्ष्म	म	चिं		त्य	म	
८.	नि	नि	ध	स	स	स	स	स
	ज	न	क	म	जा		तं	

९.	म	म	म	म	स	स	स	स
	प्र	ण	मा		मि	ह	रं	
१०.	स	स	नि	ध	स	स	स	स
	स	द्गु		रुं				
११.	म	म	नि	नि	नि	ध	स	स
	श	र	ण		म	भ	व	म
१२.	स	स	प	ध	म	म	म	म
	हं		प	र	मं			

—इत्याक्षिप्तिका।

(ग्रामराग-१३) रूपसाधार

५५ ग-५७. (अ०) **नैषादिनी-षड्जमध्यमाभ्यां जातः** नैषादी और षड्जमध्यमा (जातियों) से उत्पन्न, **ग्रह-अंश-सः** स ग्रह, अंश, **म-न्यासः** म न्यास (वाला) **अल्प-रि-पः** रि-प अल्प (और) **काकलीयुतः** काकलीयुक्त, **अवरोहिणि वर्णे** अवरोही वर्ण में **प्रसन्नमध्य-अलङ्कारः** प्रसन्नमध्य अलंकार, **पूर्णः** संपूर्ण, **षड्जादिमूर्छनः** षड्जादि मूर्छना वाला **रूपसाधारः** रूपसाधार (ग्रामराग) **वीरे रौद्रे अद्भुते वीरकरुणे रसे** वीर, रौद्र, अद्भुत (और) वीर (से उत्पन्न) करुण रस में, **सवितुः प्रीतये** सूर्य (देवता) की प्रसन्नता के लिए **सदा प्रयोज्यः** सदा प्रयुक्त होता है।

(सर०) इस राग का न्यास म है इसलिए आलाप के अन्त के सा को मा बनाया है।

(शकः)

षाड्जीधैवतिकोत्पन्नो ग्रहांशन्यासषड्जकः।
काकल्यन्तरसंयुक्तः पूर्णः षड्जादिमूर्छनः॥ ५८॥

प्रसन्नमध्येनारोहिवर्णे वीरादिके रसे।
वीरहास्ये निर्वहणे गेयो रुद्रप्रियः शकः॥ ५९॥

सा निधनी पापाधनी सारीगासासारी गाधा धानी सासा निधसासा निधसानी धापानिसा गमा धध निनिरि गा सासा—इत्यालापः।

(षड्ज) ससनि मम मम पप धध गगा सरिरीरी गमगम माधधधस गगससगासनि साससनि रिरिरिरिनिरिरिधानिमपधामा (गान्धार) ग (षड्ज) सनिनि पनिसासा सससनि रिरि गरिरि धापापनिनिधासासा सरिरिरिधधधमधममा। धसरिममरिमधधपप मम गग (षड्ज) सस निसासा—इति करणम्।

अथ वा—सा सनिमा मप धम संगंगां मम मग माध साम पगसमासनि सससम निरिनिरि रिरि धनि मामपाधा मागासासनि सां सं नी सास। रिरिरिरि गा रिधाधा पानिनिनि निध सासा सरि रिरि धंधंधं मं धं मा धस रिमं मरि। मां धापामा मागासास री सासा—इत्यालापः।

(षड्ज) सनि धनि सांसांसां स ससा। सरिरिरि रिम (षड्ज) (धैवत) धध (षड्ज) सस मां गा गगगमा गगनिस (षड्ज) सनिनिनि स रिरि गगमा [सा]—इति करणम्।

(ग्रामराग-१४) शक

५८-५९. (अ०) **षाड्जी-धैवतिका-उत्पन्नः** षाड्जी (और) धैवती जातियों से उत्पन्न, **ग्रह-अंश-न्यास-षड्जकः** ग्रह, अंश (और) न्यास षड्ज (वाला), **काकलि-अन्तरसंयुक्तः** काकली (और) अन्तर से संयुक्त, **पूर्णः** संपूर्ण, **षड्जादिमूर्छनः** षड्जादि मूर्छना वाला, **आरोहिवर्णे** आरोही वर्ण में **प्रसन्नमध्येन** प्रसन्नमध्य (अलंकार) के द्वारा, **रुद्रप्रियः शकः** रुद्र (शिव) को प्रिय शक (ग्रामराग) **निर्वहणे** निर्वहण (सन्धि) में, **वीरहास्ये** वीर (से उत्पन्न) हास्य में (और) **वीर-आदिके रसे** वीर आदि रस में **गेयः** गाया जाता है।

(सर०) शक में आक्षिप्तिका नहीं है। इस राग का न्यास स है इसलिए दूसरे करण के अन्तिम मा को सा बनाया है।

(भम्माणपञ्चमः)

शुद्धमध्यमया सृष्टो रागो भम्माणपञ्चमः।
ग्रहांशन्यासषड्जश्च मन्यासः काकलीयुतः॥ ६०॥

गाल्पः पूर्णः सषड्जादिमूर्छनारोहिवर्णकः।
प्रसन्नमध्यालङ्कारो वीरे रौद्रेऽद्भुते रसे॥ ६१॥

पथि भ्रष्टे वनभ्रान्ते विनियुक्तः शिवप्रियः।

सा रिरिस रिरि सारी रिपा धाधधध धपाधपाप धपधप म मा मम मा। गारी रिधा धप धासा धासा धासा सरी रीसा सस मग रिसा सनिनि (धैवत) (पञ्चम) पप धप धप पपप ममप मप मा मगमामा—इत्यालापः।

सस रिरिरि सरीरीरी। पापा धप धधा धध पधधा। पापाप मपमपपा पापा धधध मामा माम ध रीरीरीरीरी धरिरि धा। धापा पापा पाप पपप धाधधा सध धसा सां सां। स रिरिरि ससससमसमरिग स पधध धापमपनि पपाप पाप पध मधपध पाध पध पाधपपापपमगसा [मा]—इति करणम्।

अथवा—सासा सधा सरी मा पां पं (पञ्चम) पां पां सां सां सरीं पापां मंपं धंसं निध पांमां पंमां पांपां मांधां सांनी धापां मांपं मां मम पम प (मध्यम) मा—इत्यालापः।

सस रिरि सासा धध रिरि सासा धंधंधं सरिम मग सासरि गरिस रिरि मपधससनि धास रिगामा (पञ्चम) पम धम मम पग पां पां मां मां—इति करणम्।

१.	रि	ग	म	स	रिग	स	ध	म
	गु	रु	ज	घ	न	ल	लि	तं
२.	प	ध	पध	पम	प	प	ध	पम
	मृ	दु	च	र	ण	प	त	नं
३.	स	रि	म	प	प	ध	पम	मप
	ग	ति	सु	भ	ग	ग	म	नं
४.	प	धनि	पम	धस	स	स	स	स
	म	द	य	ति				

५.	रि	रि	म	पम	रिग	स	ध	म
	प्रि	य	मु	दि	ता	म	धु	र
६.	प	प	पध	पध	प	प	प	प
	म	धु	म	द	प	र	व	श
७.	म	म	प	धस	रिग	स	धनि	पम
	हृ	द	या		भृ		शं	
८.	प	ध	प	धप	म	म	म	म
	त				न्वी			

—इत्याक्षिप्तिका।

(ग्रामराग-१५) भम्माणपंचम

६०-६२ ख. (अ०) **शुद्धमध्यमया सृष्टः** शुद्धमध्यमा (जाति) से उत्पन्न **ग्रह-अंश-न्यास-षड्जः** षड्ज ग्रह, अंश, न्यास, **म-न्यासः च** म भी न्यास (वाला), **काकलीयुतः** काकली से युक्त, **ग-अल्पः** ग अल्प, **पूर्णः** संपूर्ण, **स-षड्जादिमूर्छना** षड्जादि मूर्छना सहित, **आरोहिवर्णकः** आरोही वर्ण वाला, **प्रसन्नमध्य-अलङ्कारः** प्रसन्नमध्य अलंकार, **शिवप्रियः** शिव को प्रिय, **भम्माणपञ्चमः रागः** भम्माणपंचम (ग्राम)राग **वीरे रौद्रे अद्भुते रसे** वीर, रौद्र (और) अद्भुत रस में **वनभ्रान्ते पथिभ्रष्टे** वन में भूल कर रास्ते से भटके हुए (पथिक) में **विनियुक्तः** विनियुक्त होता है।

(नर्तः)

मध्यमापञ्चमीजातो नर्तोऽशग्रहपञ्चमः ॥ ६२ ॥

मन्यासः काकलीयुक्तः पञ्चमादिकमूर्छनः।
गाल्पः प्रसन्नमध्येन भूष्यः संचारिवर्णभाक् ॥ ६३ ॥

धीरैरुद्भटचारीकमण्डलाजौ प्रयुज्यते।
हास्यशृङ्गारयोरेष रसयोः कश्यपोदितः ॥ ६४ ॥

धैवतीमपि तद्धेतुं दुर्गाशक्तिरभाषत।

पापसा मगामापापगामा नीधापापमानीनी सांसां सागा सानि धनी नीनी। नि निध धमपध ममगा गसा समं मगा गनी निनि धधप पधममगामा—इत्यालापः।

पापमगापा (पञ्चम) ससगगं निनिधापा (पञ्चम) नीनीधा (षड्ज) सनिनिध सनी धापा मापा पमगा गनिनि पधनि गम गम पामधाममामा—इति करणम्।

अथवा—पामागम मापापग पापा। पगापानीनिधाधा। नीनी सांगांसां संधा नीनि नींनीं निनि मसा संसंसं धानीनीनी निनिनि धधनि पपध मामगागसा समा गगागरी निंनी निध धधनि प (पञ्चम) मागामामा—इत्यालापः।

पपप मपपप मपप मग समग मामग सा। मगा मपापनी निधनि (षड्ज) सनि सनि निधनिधा निनि

धधधनि पधपा पपधपाप धामम गमसा ससमगसा (पञ्चम) धमा नीधापा। मामानी धधसा धधधध निपाधा पामागा गमसा सासा गपमा धनिधा धनि (पञ्चम) पधप मममनि धनि पधमम (षड्ज) सगामामा—इति करणम्।

पापा (षड्ज) सगामा (पञ्चम) पापापा पधमा मगमा (मध्यम) मामा। ममम निधा धध निधमा पपधमा गमगमा मा (षड्ज) स मापपाधप माम मनि धरिधगं (षड्ज) सं धानी निनि नीधधधनि। पापपध पामा सामा। गां (पञ्चम) धधम मनिधनि पध पमामा गामामामा—इति द्वितीयकरणम्।

१.	प	प	म	ग	प	प	ग	स
	अ	न	व	र	त	ग	लि	त
२.	स	स	सं	सं	स	म	ग	स
	म	द	ज	ल	दु		र्दि	न
३.	ग	म	प	म	ग	म	म	म
	धा		रौ		घ	सि		क्त
४.	म	ग	म	प	म	प	प	प
	भु	व	न	त	ल			
५.	नि	स	नि	स	स	स	स	स
	म	धु	क	र	कु	लां		ध
६.	स	ग	नि	ध	प	प	प	प
	का		रि	त	दि	न		दि
७.	नि	स	नि	स	म	ध	प	प
	इ्मु	ख	ग	ज	मु		ख	
८.	म	प	ग	ग	म	म	म	म
	न		म		स्ते			

—इत्याक्षिप्तिका

(ग्रामराग-१६) नर्त

६२ ग-६५ ख. (अ०) **नर्तः** नर्त (ग्रामराग) **मध्यमा-पञ्चमीजातः** मध्यमा (और) पंचमी (जातियों) से उत्पन्न हुआ, **अंश-ग्रह-पञ्चमः** पंचम ग्रह, अंश, **म-न्यासः** म न्यास (वाला), **काकलीयुक्तः** काकली से युक्त, **पञ्चमादिकमूर्छनः** पंचमादि मूर्छना (वाला), **ग-अल्पः** अल्प ग, **संचारिवर्णभाक्** संचारी वर्ण वाला **प्रसन्नमध्येन भूष्यः** प्रसन्नमध्य (अलंकार) से भूषित होता है। **धीरैः** धीरों के द्वारा **उद्भट-चारीक-मण्डल-आजौ** युद्ध में (अर्थात् युद्ध से संबद्ध नृत्य में) उद्भट चारी और मण्डल में **प्रयुज्यते** प्रयुक्त किया जाता है। **एष** यह **हास्य-शृङ्गारयोः रसयोः** हास्य और शृंगार रसों में **कश्यप-उदितः** कश्यप के द्वारा कहा गया। **दुर्गाशक्तिः** दुर्गाशक्ति ने **धैवतीम् अपि** धैवती (जाति) को भी **तत् हेतुं** उस (नर्त राग) का कारण **अभाषत** कहा।

(सर०) नर्त राग मध्यमा और पंचमी जातियों से उत्पन्न है जो मध्यमग्रामिक हैं इसलिये मध्यमग्राम का राग है। लेकिन

दुर्गाशक्ति ने उसकी जाति धैवती भी कही है जो षड्जग्राम की है। तदनुसार चतुःश्रुति पंचम का प्रयोग होने से दुर्गाशक्ति के मत में नर्त षड्जग्राम का राग है। मतंग ने यह स्पष्टीकरण दिया है जिसका उल्लेख कल्लि० ने विरोध परिहार में किया है।

(षड्जकैशिकः)

षड्जर्षभांशग्रहः स्यात्कैशिकीजातिसंभवः ॥ ६५ ॥

ऋषभोऽल्पो निगन्यासो मन्द्रगान्धारषड्जकः।
प्रसन्नाद्यवरोहिभ्यां युक्तः षड्जादिमूर्छनः ॥ ६६ ॥

वीररौद्राद्भुतरसः शाम्भवः षड्जकैशिकः।

सांसनि रिसामा पामं पाप ममगा। मं निनि धाधामा मधाध ममधा सा समा मधा गसास। धमा मसासमामधा साऽसधा धमध नीनी—इत्यालापः।

(षड्ज) सनिध समा ससनि सांसां निनिस निरिसाममपमम पपापपमपपा (मध्यम)। मम गगाममगम गा (गान्धार) गगगनिधम निधम मामामा धाम धमामाधा गंगं सगं सगंसा। (षड्ज) ससधधधनि समम निधानीनि। (निषाद) निधनि नीनिनि (षड्ज) सधनि नी निनिधनिगा। म मपम पापप (मध्यम) मगम ग (षड्ज) ससंसंसंसं गधरिग गनिध निनिनिधमा। मम धध गग रिग (षड्ज) स सधनिधधमा पधानीनीनी (निषाद) निनि—इति करणम्।

अथवा—सासास नीनी सनिनी मपानीनीपापा रीरिग रीरी गगरिरि पापा मप पमगम गरीगागरीसा। सनीमपनीनी धधमप निरिरिग। सा (षड्ज) स निरी सानीसा (षड्ज) स निरीसानी—इत्यालापः।

सा (षड्ज) सनि री सानिसा (षड्ज) समापा नीपा नीधा (पञ्चम) पापारीधरीरी पमा मारी रिगरिग (षड्ज) सरिस निधप निसनि सनीनी—इति करणम्।

१.	स	रि	स	रि	स	स	स	स
	दी		ह	र	फ	णिं		द
२.	स	नि	नि	नि	नि	स	नि	रि
	ना		ले		म	हि	ह	र
३.	रि	रि	रि	रि	रि	ग	स	स
	के		स	र	दि	सा		मु
४.	नि	स	नि	रि	रि	रि	रि	रि
	ह	द	लि		ल्ले			
५.	म	म	प	प	म	म	सग	रि
			पि	अ	इ	का		ल
६.	रिस	स	नि	नि	प	प	नि	नि
	भ	म	रो		ज	ण	म	अ
७.	स	स	स	स	स	नि	नि	नि
	रं		दं	पु	ह	वि		

८.	रि	रि	रिस	नि	नि	नि	नि	नि
	प	उ		मे				

—इत्याक्षिप्तिका

(ग्रामराग-१७) षड्जकैशिक

६५ ग-६७ ख. (अ०) **कैशिकीजातिसंभवः** कैशिकी जाति से उत्पन्न होने वाला **षड्जकैशिकः** षड्जकैशिक (ग्रामराग) **षड्ज-ऋषभ-अंश-ग्रहः** षड्ज अंश, ऋषभ ग्रह, **नि-ग-न्यासः** नि-ग न्यास, **ऋषभः अल्पः** अल्प ऋषभ, **मन्द्रगान्धारषड्जकः** मन्द्र (स्थान के) गांधार (और) षड्ज (से युक्त), **प्रसन्नादि-अवरोहिभ्यां युक्तः** अवरोही (वर्ण) और प्रसन्नादि (अलंकार) से युक्त, **षड्जादिमूर्छनः** षड्जादि मूर्छना वाला, **शाम्भवः** शंभु के लिए, **वीर-रौद्र-अद्भुतरसः स्यात्** वीर, रौद्र, अद्भुत रस वाला होता है।

(सर०) **षड्जर्षभांशग्रहः** का सिंह० ने क्रम से षड्ज अंश, ऋषभ ग्रह अर्थ दिया है। लेकिन इसके आलाप, करण, आक्षिप्तिका सभी में ग्रह स ही है। संभवतः ग्रन्थकार को षड्ज और ऋषभ दोनों ही स्वर ग्रह और अंश के रूप में अभिप्रेत हैं। बृह० में इस राग का लक्षण लुप्त है।

(सहेतुकानि अधुनाप्रसिद्धदेशीरागलक्षणानि)

(रागाङ्गाणि)

(मध्यमग्रामः)

लक्ष्माधुनाप्रसिद्धानां सहेतूनां ब्रुवेऽधुना॥ ६७॥

गान्धारीमध्यमापञ्चम्युद्भवः काकलीयुतः।
मन्यासो मन्द्रषड्जांशग्रहः सौवीरमूर्छनः॥ ६८॥

प्रसन्नाद्यवरोहिभ्यां मुखसन्धौ नियुज्यते।
मध्यमग्रामरागोऽयं हास्यशृङ्गारकारकः॥ ६९॥

ग्रीष्मेऽह्नः प्रथमे यामे ध्रुवप्रीत्यै,

सां नीधापांधां धांधरि। गांसां। रिगानीसां। सगपांपपप निनिपनि सां सां गपसानिधनिनि निरिगासा। पां मं पं निधामा—इत्यालापः।

निनिपपगंगंसंसंरिगं। निं सं सासा। संसंगंगंपंपंधंधं मधनिसनिध पापापापा पनी पनी सांसांसांगागासागासनी धनीनीनिनिरिगांसांसांपापामापानिधपामामा—इति करणम्।

१.	सं	सं	गं	गं	पं	पं	म	म
	अ	म	र	गु	रु	म	म	र
२.	गं	म	मं	म	ध	नि	सं	स
	प	ति	म	ज	यं			
३.	सं	सं	मं	मं	पं	पं	सं	सं
	जि	त	म	द	नं	स	क	ल
४.	रि	ग	नि	स	सं	सं	सं	सं
	श	शि	ति	ल	कं			

५.	निं	निं	निं	निं	ध	प	म	म
	ग	ण	श	त	प	रि	वृ	त
६.	गं	मं	गं	मं	ध	नि	स	स
	म	शु	भ	ह	रं			
७.	निं	रिं	गं	निं	सं	सं	पं	पं
	प्र	ण	म	त	सि	त	वृ	ष
८.	स	स	निध	प	म	म	म	म
	र	थ	ग	म	नं			

—इत्याक्षिप्तिका।

अधुनाप्रसिद्ध देशीरागों के लक्षण, उनके जनकरागों सहित

रागांग

(ग्रामराग-१८) मध्यमग्राम

६७ ग-७० ख. (अ०) **अधुना** अब **अधुनाप्रसिद्धानां लक्ष्म** अधुनाप्रसिद्ध (रागों) के लक्षण **सहेतूनां** (उनके) कारणभूत (ग्रामरागों) सहित **ब्रुवे** कहता हूँ।

गान्धारी-मध्यमा-पञ्चमी-उद्भवः गांधारी, मध्यमा (और) पंचमी (जातियों) से उत्पन्न, **काकलीयुतः** काकलीयुक्त, **मन्द्रषड्ज-अंश-ग्रहः** मन्द्र षड्ज अंश (और) ग्रह, **म-न्यासः** म न्यास, **सौवीरमूर्छनः** सौवीरी मूर्छना वाला, **प्रसन्नादि-अवरोहिभ्यां** प्रसन्नादि (अलंकार) और अवरोही (वर्ण) के द्वारा, **हास्य-शृङ्गारकारकः** हास्य (और) शृंगार (रसों) को (उत्पन्न) करने वाला **अयं मध्यमग्रामरागः** यह मध्यमग्राम (नामक ग्राम)राग **ध्रुवप्रीत्यै** ध्रुव की प्रसन्नता के लिए, **मुखसन्धौ** मुख सन्धि में, **ग्रीष्मे** ग्रीष्म में, **अह्नः प्रथमे यामे** दिन के प्रथम प्रहर में **नियुज्यते** विनियुक्त होता है।

(सर०) ग्रन्थकार पहले कह चुके हैं कि देशीरागों के कारणभूत रागों के लक्षण देशीरागों के साथ कहेंगे। यहाँ से अधुनाप्रसिद्ध देशीरागों के लक्षण शुरू होंगे इसलिए उनके हेतु ग्रामरागों के लक्षण उनके साथ अब दिए जा रहे हैं। देशीरागों में सबसे पहले रागांग और उनके बाद क्रम से भाषांग, क्रियांग और उपांग रागों का निरूपण किया गया है।

(मध्यमादिः)

तदुद्भवा।

मध्यमादिर्मग्रहांशा हि,

(रागांग-१) मध्यमादि

७० ख- ग. (अ०) **तत्-उद्भवा हि** उस (मध्यमग्राम राग) से ही उत्पन्न **म-ग्रह-अंशा** म ग्रह, अंश (वाली) **मध्यमादिः** मध्यमादि (रागांग है)।

(सर०) मध्यमादि रागांग का बहुत संक्षिप्त लक्षण दिया गया है। कल्लि० ने कहा कि इतना सा लक्षण अपर्याप्त है इसलिए 'जो अनुक्त हो उसे अन्यत्र से ग्रहण कर लेना चाहिए'—इस प्रकृति-विकृति सिद्धान्त के आधार पर मध्यमादि के हेतु मध्यमग्राम राग के लक्षणों से काकलीयुक्त, म न्यास, सौवीरी मूर्छना, अवरोही वर्ण के प्रसन्नादि अलंकार के द्वारा, मुख सन्धि में विनियोग, हास्यशृंगारजनक, ग्रीष्म ऋतु में, दिन के प्रथम प्रहर में, ध्रुव की प्रसन्नता के लिए—इन सभी लक्षणों का ग्रहण मध्यमादि में कर लेना चाहिए। विशेष लक्षण के द्वारा ही जन्य राग का जनक राग से भेद समझा जाता है इसलिए मध्यमादि का मध्यमग्राम से विशेष लक्षण मात्र दिया गया है। इसी तरह अन्य रागों में भी समझ लेना चाहिए।

प्रकृति-विकृति में प्रकृति मूल रूप को और विकृति उसके रूपभेद को व्यक्त करती है।

कल्लि० की व्याख्या के अनुसार रागांगादि का भी नाट्य में प्रयोग सूचित होता है। लेकिन देशीरागों का प्रायः नाट्य से स्वतन्त्र संगीत में प्रयोग माना जाता है। ग्रन्थकार ने कुछ रागांगादि में रस-भाव आदि का उल्लेख किया है लेकिन नाट्य के अन्तर्गत उनके प्रयोग का कोई निर्देश नहीं हुआ है। इसलिए कल्लि० की व्याख्या के अनुसार हेतुराग के सभी लक्षणों का जन्य देशी राग में भी ग्रहण कर लिया जाय—यह ग्रन्थकार का भी आशय हो यह शंकास्पद है। ग्रन्थकार द्वारा रागांगों में रस-भाव कहने का इतना ही प्रयोजन लगता है कि उन-उन रागों के द्वारा उन-उन भावादि की अभिव्यक्ति संभव है और वह नाट्य से स्वतन्त्र और चित्त का रंजन प्रयोजन वाले संगीत में भी की जा सकती है।

(मालवकैशिकः)

अथ मालवकैशिकः॥ ७०॥

कैशिकीजातिजः षड्जग्रहांशान्तोऽल्पधैवतः।
सकाकलीकः षड्जादिमूर्छनारोहिवर्णवान्॥ ७१॥

प्रसन्नमध्यालङ्कारो वीरे रौद्रेऽद्भुते रसे।
विप्रलम्भे प्रयोक्तव्यः शिशिरे प्रहरेऽन्तिमे॥ ७२॥

दिनस्य केशवप्रीत्यै,

सासपामामामारिसनीसासरी मापासां नीनीरीरिसारिपामासनिसां। सनिरीरिपासनीसामगामापासनीसासनिपापनी सधनीपापनीनीनीरींपापनी मां मां गंगरीरीसासनिंनिपापगामापाधनिससनिपममामगमपपमगागरिरिरि मससससम रीरिरिपममममनिपापप सनीनीरीरिसरिमपनिपपसनी सांपापानीसपनिपपसनि सानीससनिसनिसनि सपपनीपनिगगनीपपनिगंगंगंमरिरिमससंमगगरिरिपरिपपनीपपसनी सांसांनीनीससनीसनिससनिसंसपापानीससनिसनिसंसंनिरीरीपा पानीससनिमम गरिरिससनिनि पनिपमगमगपमगमगरिससरिमपनिपापसनिसां सां गाममागाममगमगमगममगमा गपपगपगनिनिगमगपपगमगसां। ससससधनिपमा सस निसनिरिरिससमगमा गपमगगरिमासससधनीपानि पगमगपगममगरिमा। समगरिपपनि पपसनि पमगमगपमगमगरि मासरिमपनीपपसनी रीरीरीपप सनिसा—इत्यालापः।

गागपमगपापनि मापापमनी गपापमनी गपापमनि सं सनीसा (षड्ज) ससा। नीरिरि (ऋषभ) रिममपपनीनिनिरीसनीसा (षड्ज) ससानिनिरिरिरिनिपानि (पञ्चम) गगगससधनि पपगमगपगमगारीरिगमांममरीरि (षड्ज) ससससमगारिरि सापापपनीनि (पञ्चम) निरिरि (पञ्चम) नि मां मां मरिगस सधनिपपगम गरीसरी मपानि रिसनी सा सं नीरिसनिसा—इति करणम्।

१.	**स**	**स**	**प**	**प**	**ग**	**म**	**ग**	**प**
	चं		**द्रा**		**भ**	**र**	**णं**	
२.	**ध**	**नि**	**प**	**प**	**ध**	**नि**	**ग**	**ग**
	ह	**र**	**नी**	**ल**	**कं**		**ठ**	
३.	**स**	**पं**	**सं**	**सं**	**स**	**नि**	**प**	**नि**
	म	**हि**	**व**	**ल**	**यं**			
४.	**रि**	**ध**	**सनि**	**स**	**स**	**स**	**स**	**स**
	त्रि	**पु**	**र**	**ह**	**रं**			

५.	प	नि	रि	प	नि	रि	रि	सनि
	मृ	गां		क	न	य	नं	
६.	प	नि	रि	गम	रि	ग	रि	सनि
	गि	रि	नि	ल	यं			
७.	स	स	प	प	नि	नि	पम	नि
	न	म	त	स	दा		म	द
८.	सं	सं	सं	सं	सं	स	स	स
	नां		ग	ह	रं			

—इत्याक्षिप्तिका।

(ग्रामराग-१९) मालवकैशिक

७० घ- ७३ क. (अ०) **अथ** अब **मालवकैशिकः** मालवकैशिक (का लक्षण कहते हैं)। **कैशिकीजातिजः** कैशिकी जाति से उत्पन्न, **षड्ज-ग्रह-अंश-अन्तः** षड्ज ग्रह, अंश, न्यास, **अल्पधैवतः** अल्पधैवत, **सकाकलीकः** काकली सहित, **षड्जादिमूर्छन-आरोहिवर्णवान्** षड्जादि मूर्छना (और) आरोही वर्ण वाला **प्रसन्नमध्य-अलङ्कारः** प्रसन्नमध्य अलंकार, **शिशिरे** शिशिर में, **दिनस्य अन्तिमे प्रहरे** दिन के अन्तिम प्रहर में, **वीरे रौद्रे अद्भुते विप्रलम्भे रसे** वीर, रौद्र, अद्भुत (और) विप्रलम्भ (शृंगार) रस में **केशवप्रीत्यै** विष्णु की प्रसन्नता के लिए **प्रयोक्तव्यः** प्रयुक्त किया जाना चाहिए।

(मालवश्रीः)

मालवश्रीस्तदुद्भवा।
समस्वरा तारमन्द्रषड्जांशन्यासषड्जभाक्॥ ७३॥

(रागांग-२) मालवश्री

७३ ख-घ. (अ०) **मालवश्रीः** मालवश्री **तत्-उद्भवा** उससे उत्पन्न (रागांग है, जो) **समस्वरा** (सभी) स्वरों की समानता (अर्थात् समान महत्त्व) वाली, **तार-मन्द्रषड्जा** तार-मन्द्र षड्ज वाली (और) **अंश-न्यास-षड्जभाक्** षड्ज अंश, न्यास (युक्त) कही जाती (है)।

(सर०) कल्लि० के अनुसार **समस्वरा** का अर्थ है अल्पत्व-बहुत्व से उत्पन्न होने वाली विषमता से रहित। इसलिये इस राग में स के अंश होते हुए भी अन्य स्वर उसी के समान बलवान् होने से रक्तिलाभ ही होता है, रंजकता की हानि नहीं होती। समस्वरता आगे भी सर्वत्र इसी अर्थ में समझनी चाहिए। सिंह० ने समस्वरा की व्याख्या यह की है कि सभी स्वरों का उद्भव एक ही स्थान में हो अथवा अल्पत्व-बहुत्व से रहित हो।

कल्लि० के अनुसार **तारमन्द्रषड्जा** लक्षण से षड्ज तक इस राग की मन्द्र-तार अवधि सूचित होती है जबकि सिंह० की दृष्टि में इस लक्षण से मध्य स्थान में षड्ज का प्रयोग न होना सूचित होता है।

मालवकैशिक से ये इस राग के विशेष लक्षण हैं, शेष का जनक राग से ग्रहण कर लेना चाहिए।

(षाडवः)

विकारिमध्यमोद्भूतः षाडवो गपदुर्बलः।
न्यासांशमध्यमस्तारमध्यमग्रहसंयुतः॥ ७४॥

काकल्यन्तरयुक्तश्च मध्यमादिकमूर्छनः।
अवरोह्यादिवर्णेन प्रसन्नान्तेन भूषितः॥ ७५॥

पूर्वरङ्गे प्रयोक्तव्यो हास्यशृङ्गारदीपकः।
शुक्रप्रियः पूर्वयामे,

मां [र्मा] सारी नीधा साधानी माधा सारीगां धां सां धांमांरिगामां माधामारी गारीनीधा सांधानीमांमां —इत्यालापः।

ममरिग मम सस धनि सस धनि मां पां पपपपनि धममध धससरि गांगामांरिगामांमां—इति करणम्।

साधनि पध मारि मानि धधाधधससरि मासासाधनी धपमां मां गारी गारी गासामाधामां गांरीगा गमारिगा सांसाधनी मां धनि धगसाधनि मां मांमां—इति वर्तनिका।

१.	मं	मं	धं	धं	स	ध	नि	प
	पृ	थु	गं		ड	ग	लि	त
२.	ध	निं	मं	मं	मं	रि	मं	रि
	म	द	ज	ल	म	ति	सौ	
३.	धं	निं	सं	सं	ग	रिग	ध	ध
	र	भ	ल		ग्न		षट्	प
४.	स	ध	स	मग	मं	मं	मं	मं
	द	स	मू		हं			
५.	मग	रि	ग	म	म	म	पम	ग
	मु	ख	मिं		द्र	नी		ल
६.	रि	ग	सं	सं	मं	मं	मं	मं
	श	क	लै		र्भू	षि		त
७.	नि	धं	नि	धं	सं	सं	सं	स
	मि	व	ग	ण	प	ते		
८.	ग	रि	रि	ग	मं	मं	मं	मं
			र्ज	य	तु			

—इत्याक्षिप्तिका।

(ग्रामराग-२०) षाडव

७४-७६ ग. (अ०) विकारिमध्यमा-उद्भूतः विकृता मध्यमा (जाति) से उत्पन्न, **न्यास-अंश-मध्यमः** मध्यम अंश (और) न्यास, **तारमध्यम-ग्रह-संयुतः** ग्रह तार (स्थान के) मध्यम से युक्त, **ग-प-दुर्बलः** दुर्बल ग-प, **काकलि-अन्तरयुक्तः च** और अन्तर, काकली से युक्त, **मध्यमादिकमूर्छनः** मध्यमादि मूर्छना वाला, **अवरोही-आदिवर्णेन** अवरोही आदि वर्ण के द्वारा, **प्रसन्नान्तेन भूषितः** प्रसन्नान्त (अलंकार) के द्वारा भूषित, **शुक्रप्रियः** शुक्र को प्रिय, **हास्य-शृङ्गारदीपकः** हास्य (और) शृंगार (रस) को बढ़ाने वाला, **पूर्वयामे** (दिन के) प्रथम प्रहर में **पूर्वरङ्गे प्रयोक्तव्यः** पूर्वरंग में प्रयुक्त किया जाना चाहिए।

(सर०) षाड्जी जाति को छोड़कर शेष ६ शुद्धा जातियों के २३-२३ विकृत भेद होते हैं, यह पहले अध्याय में कहा गया है (१/७/६-७)। मध्यमा के उन विकृत भेदों में से किसी भेद से षाडव उत्पन्न है, यह **विकारिमध्यमोद्भूतः** का आशय है, इस ओर कल्लि० ने ध्यान दिलाया है।

गपदुर्बलः का अर्थ सिंह० ने ग-प से रहित दिया है जो संगत नहीं लगता क्योंकि मतंग ने षाडव को सप्तस्वर यानी संपूर्ण कहा है। दुर्बल से यहाँ अल्पत्व समझना चाहिए।

'अवरोही आदि वर्ण' में 'आदि' से स्थायी और आरोही वर्णों को छोड़कर अवरोही और संचारी का ग्रहण करना चाहिए, यह सूचित किया है।

मतंग के अनुसार ६ रागों में से इसकी पूर्वरंग में मुख्यता के कारण इसे षाडव कहते हैं। षाडव का अर्थ षट्स्वर नहीं है क्योंकि यह राग सप्तस्वर है, षट्स्वर नहीं। सिंह० ने उद्धरणसहित मतंग का यह मत दिया है।

(तोडी)

तोडिका स्यात्तदुद्भवा॥ ७६॥

मध्यमांशग्रहन्यासा सतारा कम्प्रपञ्चमा।
समेतरस्वरा मन्द्रगान्धारा हर्षकारिणी॥ ७७॥

(रागांग-३) तोड़ी

७६ घ-७७. (अ०) **तत्-उद्भवा** उस (षाडव) से उत्पन्न होने वाली **तोडिका** तोडी **मध्यम-अंश-ग्रह-न्यासा** मध्यम ग्रह, अंश, न्यास वाली, **स-तारा** तारषड्ज वाली, **कम्प्रपञ्चमा** कम्पयुक्त पंचम वाली, **सम-इतरस्वरा** शेष समस्वरों वाली, **मन्द्रगान्धारा** मन्द्र गांधार वाली (और) **हर्षकारिणी स्यात्** हर्ष (उत्पन्न) करने वाली होती है।

(बङ्गालः)

षाडवादेव बङ्गालो ग्रहांशन्यासमध्यमः।
प्रहर्षे विनियोक्तव्यः प्रोक्तः सोढलसूनुना॥ ७८॥

(रागांग-४) बंगाल

७८. (अ०) **षाडवात् एव** षाडव से ही (उत्पन्न) **ग्रह-अंश-न्यास-मध्यमः** मध्यम ग्रह, अंश, न्यास वाला **बङ्गालः** बंगाल **प्रहर्षे** प्रहर्ष में **विनियोक्तव्यः** नियोजित करना चाहिए (ऐसा) **सोढलसूनुना** सोढल के पुत्र (शार्ङ्गदेव) के द्वारा **प्रोक्तः** कहा गया।

(भिन्नषड्जः)

षड्जोदीच्यवतीजातो भिन्नषड्जो रिपोज्झितः।
धांशग्रहो मध्यमान्त उत्तरायतया युतः॥ ७९॥

संचारिवर्णरुचिरः प्रसन्नान्तविभूषितः।
काकल्यन्तरसंयुक्तश्चतुराननदैवतः॥ ८०॥

हेमन्ते प्रथमे यामे बीभत्से सभयानके।
सार्वभौमोत्सवे गेयो,

धां धां माम गा सां सां सगम धधा धा निधमगगमा मम मध मग सां सां ससं ग सं। ग मधा धा धा सनिस सां सानि गनि सनिधाधा। सनिसां सां सं सं सं ग सग सं ग मधा धानि धम गमा माधा। धं निं नीं नीं गाम गा मामा—इत्यालापः।

धा धगा मामध मम सां सां। सगम धधा धा धनिध पामामा मा मा मम धम गसां सां सा मप मध गसां सां गसगध धा धा धनि पध मागा मा मा। मग सां सां सग धम धधा धाध निध पम गा मामा—इति वर्तनी।

१.	ध	ध	ध	नि	ध	प	म	ग
	च	ल		त्त	रं			ग
२.	स	गं	म	नि	धं	धं	धं	निं
	भं			गु	रं			अ
३.	ध	प	म	ग	स	ग	स	ध
	ने			क	रे			णु
४.	ध	ध	नि	ग	मं	मं	मं	मं
	पिं			ज	रं			सु
५.	म	नि	ध	नि	सं	सं	सं	सं
	रा			सु	रैः			सु
६.	निं	गं	स	नि	धं	धं	ध	नि
	से			वि	तं			पु
७.	ध	प	म	ग	स	ग	म	ध
	ना			तु	जा		ह्न	
८.	ध	ध	नि	ग	म	म	म	म
	वी			ज	लं			

—इत्याक्षिप्तिका।

(ग्रामराग-२१) भिन्नषड्ज

७९-८१ ग. (अ०) **षड्जोदीच्यवतीजातः भिन्नषड्जः** षड्जोदीच्यवा (जाति) से उत्पन्न भिन्नषड्ज (ग्रामराग) **रि-प-उज्झितः** रि-प से रहित, **ध-अंश-ग्रहः** ध अंश, ग्रह **मध्यम-अन्तः** (और) मध्यम न्यास (वाला) **उत्तरायतया युतः** उत्तरायता (मूर्छना) से युक्त, **संचारिवर्णरुचिरः** संचारी वर्ण से रुचिर (बने) **प्रसन्नान्तविभूषितः** प्रसन्नान्त (अलंकार) से विभूषित, **काकलि-अन्तरसंयुक्तः** अन्तर और काकली से संयुक्त, **चतुराननदैवतः** देवता ब्रह्मा, **हेमन्ते** हेमन्त (ऋतु) में, **प्रथमे यामे** (दिन के) प्रथम प्रहर में, **सभयानके बीभत्से** भयानक सहित बीभत्स में, **सार्वभौम-उत्सवे गेयः** सार्वभौम (सभी स्थानों में होने वाले) उत्सव में गाया जाता है।

(भैरवः)

भैरवस्तत्समुद्भवः ॥ ८१ ॥
धांशो मान्तो रिपत्यक्तः प्रार्थनायां समस्वरः।

(रागांग-५) भैरव

८१ घ-८२ ख. (अ०) **तत् समुद्भवः** उस (भिन्नषड्ज) से उत्पन्न **भैरवः** भैरव **ध-अंशः** ध अंश, **म-अन्तः** म न्यास, **रि-प-त्यक्तः** रि-प रहित **समस्वरः** समान (रूप से प्रयुक्त) स्वर वाला **प्रार्थनायां** प्रार्थना में (गाया जाता है)।

(भिन्नपञ्चमः)

मध्यमापञ्चमीजात्योः संजातो भिन्नपञ्चमः॥ ८२॥

धग्रहांशः पञ्चमान्तः पौरवीमूर्छनायुतः।
काकल्या कलितः क्वापि निषादेनाप्यलङ्कृतः॥ ८३॥

प्रसन्नाद्येन संचारिवर्णः शौरिप्रियो रसे।
भयानके सबीभत्से सूत्रधारप्रवेशने॥ ८४॥
ग्रीष्मे प्राक्प्रहरे गेयो,

धा पा धामा नीधा पानी धामा गा मा पा पा पम मग पम मगस मगा गा रीं रीं री माधा पाधा मानीधा धप धनी (धैवत) धा धा मा धा सां (षड्ज) सामारिगसांसां गां गसां मनीं नि (धैवत) धा निध पधा धाम धा मा गा मा पा पा — इत्यालापः।

(धैवतषड्ज) सा गा रि (ऋषभ) मनिध पप धपनि (धैवत) धा धप धनी पधम परि गरि निधाधा पा मागा मा पा (पञ्चम) (ऋषभ) रि मध मम मधा पा(धैवत)धप पनी धनी(षड्ज)समा रीरी निधा(धैवत)धध मध मधा ममा गामा मा मगनी धा(पञ्चम)नी धा पां मागा मां पा पा—इति वर्तनी।

१.	ध	म	धप	ध	ध	धनि	धप	म
	वि	म	ल	श	शि	खं		ड
२.	ध	स	नि	ध	प	निध	मं	म
	धा			रि	ण			
३.	म	रि	म	ध	धप	ध	धप	म
	म	म	र	ग	ण	न	मि	त
४.	नि	ध	पध	धनि	ध	ध	ध	ध
	म	भ	व	भ	यं			
५.	रि	म	ध	म	नि	गं	मं	निं
	वं		दे		त्रि	लो		क
६.	ध	पनि	ध	ध	ध	म	रि	म
	ना		थं		गं	गा		
७.	ध	पम	गरि	मं	धप	ध	धप	म
	स	रि		त्स	लि	ल		
८.	नि	ध	धप	धनि	ध	म	प	प
	धौ		त	ज	टं			

—इत्याक्षिप्तिका।

(ग्रामराग-२२) भिन्नपंचम

८२ ग-८५ क. (अ०) **मध्यमा-पञ्चमीजात्योः संजातः** मध्यमा और पंचमी जातियों से उत्पन्न **भिन्नपञ्चमः** भिन्नपंचम (ग्रामराग) **ध-ग्रह-अंशः** ध ग्रह (और) अंश, **पञ्चम-अन्तः** पंचम न्यास, **पौरवीमूर्छनायुतः** पौरवी मूर्छना से युक्त, **काकल्या कलितः** काकली से कलित (युक्त), **क्वापि** कभी **निषादेन अपि** (शुद्ध) निषाद से भी **अलङ्कृतः** अलंकृत, **प्रसन्नाद्येन संचारिवर्णः** प्रसन्नादि (अलंकार) से संचारी वर्ण (वाला), **शौरिप्रियः** विष्णु को प्रिय, **सबीभत्से भयानके रसे** बीभत्स सहित भयानक रस में, **सूत्रधारप्रवेशने** (नाटक के) सूत्रधार के प्रवेश में गाया जाता है।

(सर०) इस राग में काकली और (शुद्ध) निषाद दोनों का प्रयोग कहा गया है। इस पर कल्लि० ने व्याख्या दी कि यह अनुचित है क्योंकि एक ही स्वर के शुद्ध और विकृत रूपों का प्रयोग होने से राग का स्वरूप अवश्य ही भिन्न हो जायगा। इसलिये 'काकलीसहित' के द्वारा काकली निषाद का प्रयोग मन्द्र और मध्य स्थान में ही कहा है और 'कभी निषाद से अलंकृत' से शुद्ध निषाद का प्रयोग तारस्थान में ही समझना चाहिये क्योंकि मध्यमग्रामिक होने से भिन्नपंचम की तारव्याप्ति शुद्ध निषाद तक ही है, उससे आगे षड्ज का अभाव होता है इससे तार स्थान में काकली का प्रयोग संभव नहीं है। यह पहले कहा जा चुका है कि सनिस या सनिध संचार में ही काकली प्रयुक्त होता है इसलिए स न होने पर वह प्रयुक्त नहीं हो सकता।

(वराटी)

वराटी स्यात् तदुद्भवा।
धांशा षड्जग्रहन्यासा ममन्द्रा तारधैवता॥ ८५॥
समेतरस्वरा गेया शृङ्गारे शार्ङ्गिसंमता।

(रागांग-६) वराटी

८५ ख-८६ ख. (अ०) **शार्ङ्गिसंमता** शार्ङ्गदेव द्वारा संमत **वराटी** वराटी **तत्-उद्भवा स्यात्** उस (भिन्नपंचम) से उत्पन्न होती है (और यह) **ध-अंशा** ध अंशवाली, **षड्जग्रहन्यासा** षड्ज ग्रह, न्यास वाली, **सम-इतरस्वरा** अन्य स्वर समान (रूप से प्रयुक्त होने) वाली **शृङ्गारे गेया** शृंगार रस में गाई जाती है।

(पञ्चमषाडवः)

मध्यमग्रामसंबन्धो धैवत्यार्षभिकोद्भवः॥ ८६॥

रिन्यासांशग्रहः क्वापि मान्तः पञ्चमषाडवः।
विलसत्काकलीकोऽपि कलोपनतयान्वितः॥ ८७॥

प्रसन्नाद्यन्तकलितारोहिवर्णः शिवप्रियः।
वीररौद्राद्भुतरसो नारीहास्ये नियुज्यते॥ ८८॥

रीरीरिगारि सानी रीरीरीरि निरिरिरि मगामाम धामाम मामामामम मरि मग पप गम मगामम गममप पग मम गा गरिरि गरि मम रि गमम सधं निध सनि धसनिधाध(पञ्चम)निपां पनि सनी रीरीं रिनीरीम गामाम धामम माम गा गम गम गप पग मम नींनि धाधपापमाम गागरीरीरिम सरिग सगसंध निनिध सनिध धनिधाध(पञ्चम)निपापरीरी रिग मां पां धनीरी रीरिनीरि ममामाम गरि सगा मागरीरि मगा मामा—इत्यालापः।

रीमामाम मगारि(ऋषभ)रिमापानीनी निमम धामपा गामागा मरीरी गारी मगारिगा(षड्ज)सनिधा-(पञ्चम) पंनी(पञ्चम)मधा ममा(ऋषभ)री मापानी पासानी मारि (ऋषभ)रि(षड्ज)सनी सरि रिगाग सामगागरीरी—इति करणम्।

१.	**रि**	**ग**	**म**	**म**	**ग**	**रि**	**रि**	**रि**
	स	**क**	**ल**	**सु**	**र**	**न**	**मि**	**त**
२.	**म**	**ग**	**रि**	**म**	**ग**	**रि**	**रि**	**रि**
	वि	**म**	**ल**	**मृ**	**दु**	**च**	**र**	**ण**
३.	**रि**	**ग**	**रि**	**ध**	**नि**	**म**	**नि**	**नि**
	द्व	**य**		**स**	**रो**		**ज**	**यु**
४.	**ध**	**म**	**ध**	**नि**	**ग**	**रिं**	**रिं**	**रिं**
	ग	**ल**	**म**	**म**	**र**	**गु**	**रुं**	**श**
५.	**रि**	**रि**	**रि**	**ग**	**रि**	**रि**	**रि**	**रि**
	र	**ण**	**म**	**म**	**ल**	**मु**	**प**	
६.	**रि**	**रि**	**रि**	**ग**	**नि**	**नि**	**नि**	**नि**
	या		**मि**	**द**		**या**		**लु**
७.	**म**	**नि**	**म**	**म**	**नि**	**म**	**म**	**रि**
	म	**सु**	**र**		**सु**	**र**	**ज**	**यि**
८.	**म**	**ग**	**म**	**म**	**रि**	**रि**	**रि**	**रिं**
	न	**म**	**जे**		**यं**			

—इत्याक्षिप्तिका।

(उपराग-१) पंचमषाडव

८६ ग-८८. (अ०) **मध्यमग्रामसंबन्धः** मध्यमग्राम से संबन्ध (वाला), **धैवती-आर्षभिका-उद्भवः** धैवती (और) आर्षभी (जातियों) से उत्पन्न होने वाला, **रि-न्यास-अंश-ग्रहः** रि ग्रह, अंश, न्यास (और) **क्वापि** कभी-कभी **म-अन्तः** म न्यास (वाला) **पञ्चमषाडवः** पंचमषाडव (उपराग) **कलोपनतया अन्वितः** कलोपनता (मूर्छना) से अन्वित **विलसत्-काकलीकः अपि** काकली से भी युक्त (होकर) शोभित (होने वाला) **प्रसन्नाद्यन्त-कलित-आरोहिवर्णः** प्रसन्नाद्यन्त (अलंकार) युक्त आरोही वर्ण (वाला), **शिवप्रियः** शिव को प्रिय, **वीर-रौद्र-अद्भुतरसः** वीर, रौद्र, अद्भुत रस वाला (और) **नारीहास्ये** नारी के हास्य में **नियुज्यते** प्रयोग किया जाता है।

(सर०) इसमें रि को ग्रह, अंश, न्यास और कभी-कभी म न्यास कहा है। कल्लि० ने स्पष्ट किया कि इसका अर्थ यह है कि जब रि ग्रह, अंश होगा तो वही न्यास होगा। लेकिन कभी प्रयोग के वश मध्यम अंश होता है तो न्यास भी वहीं करना चाहिए, जैसा मतंग ने कहा है कि प्रयोक्ता के अनुसार कभी मध्यम अंश भी होता है और न्यास भी।

विरोध परिहार में कल्लि० ने इस ओर ध्यान दिलाया कि पंचमषाडव आर्षभी और धैवती जातियों से उत्पन्न है जो षड्जग्राम की जातियाँ हैं, फिर भी इस राग को मध्यमग्राम से संबद्ध कहा है और मूर्छना भी मध्यमग्रामिक कलोपनता कही है। यों लक्षणों में परस्पर विरोध दिखाई देता है। लेकिन कल्लि० के अनुसार इसमें त्रिश्रुति पंचम का प्रयोग होने से मध्यमग्राम से साक्षात् संबन्ध है और षड्जग्राम से संबन्ध तो मन्द्रव्याप्ति के कारण अनुमान से समझा जाता है इसलिए वास्तव में कोई विरोध नहीं मानना चाहिये।

पंचमपाडव तीनों स्थानों में व्याप्ति वाला राग है। लेकिन मध्यमग्राम की तारसीमा शुद्ध निषाद तक ही होने से तार स्थान में काकली का प्रयोग संभव नहीं है इसलिए मन्द्र और मध्य स्थानों में ही उसका प्रयोग किया जाना चाहिए और शुद्ध निषाद का तारस्थान में—**अपि** से यही सूचित होता है—**विलसत्काकलीकोऽपि** की कल्लि० ने ऐसी व्याख्या की है।

(गुर्जरी)

तज्जा गुर्जरिका मान्ता रिग्रहांशा ममध्यभाक्।
रितारा रिधभूयिष्ठा शृङ्गारे ताडितामता॥ ८९॥

(रागांग-७) गुर्जरी

८९. (अ०) तत्-जा गुर्जरिका उस (पंचमषाडव) से उत्पन्न गुर्जरी म-अन्ता म न्यास वाली, रि-ग्रह-अंशा रि ग्रह, अंश वाली, रि-तारा तार (स्थान के) रि वाली, रि-ध-भूयिष्ठा रि-ध (के) बहुल (प्रयोग) वाली, शृङ्गारे शृंगार (रस) में ताडिता मता कम्पनयुक्त मानी गई है।

(सर०) ताडित का अर्थ है आघात किया हुआ। गमकों में एक आहत गमक कही गई है जो प्रयोज्य स्वर पर अगले स्वर का आघात करके वापस लौटने से होती है। संभवतः ताडिता के द्वारा आहत गमक का प्रयोग कहा गया है। सिंह० ने ताडित यानी कम्पन कहा है जिसका उल्लेख वाद्याध्याय में किया जायगा।

टक्कः

षड्जमध्यमया सृष्टो धैवत्या चाल्पपञ्चमः।
टक्कः सांशग्रहन्यासः काकल्यन्तरराजितः॥ ९०॥

प्रसन्नान्तान्वितश्चारुसंचारी चाद्यमूर्छनः।
मुदे रुद्रस्य वर्षासु प्रहरेऽह्नश्च पश्चिमे॥ ९१॥

वीररौद्राद्भुतरसे युद्धवीरे नियुज्यते।

साधा मारी मागा गस गध निसारी गसारी गम मास निध मध मरीरी रिमागागसा सासग मधनिधासाधामरि गसा गधनि सा। सा सा ससंगसाससममरिगसाससगधाधध गसा सस धध निधाधम धमंनिमरिगरिरिरि निधममधमरी गरीमरिगसा ससग सासरिगधाधनि निसासा संसंसंगससममगधममनिधधसासधाधमामधा मरिगसा गधनि स। मामामधामामधानिधानिमामधा धनिधमगामरिग साधधनिसासासासासधा गममनि गगमध मरीरिमगागसा। सासासगससमगमसगमगनि धासा। सासा(षड्ज)सससरि धमगगसनिधाधमा मामा धमधमंमं मममधमधमाधनि सरिगमगमगरिमगागसागगंनिसाममगमगमम गगममगग निनिमम गगमम ससममगगगमस सममरिरि गससगगससधधनिनि मममधधधधधधधध निधनिधमधधधधधध मधधसध निधामधधमधधधधधधमसगसधनिधा। मममममममध सगारि मागागमग धनी सासा—इत्यालापः।

. (षड्ज) सधा मारिगरिनिधाम मधमारिगसासगधाध(षड्ज)सधाधासांध गरि गरीरीरीनिरिमा। माममधनिधा ममध धससधधगरिमासगसनि मनिमाधासाधानी सासामासनिधनिधानी सागाधनी सामा साधा मागांरीरी(ऋषभ)रिगामा निधानी सां सां सं गं मधधनिगा धासासासमरिगसगसनिधा नीधाधाध सा सासा सासा मगामगागनिगपमागा। सामामामा धामरि गसांसगसागनी गासा मामा गानी(षड्ज)सं सां सा सा गा गा गामा सां सां। सगासासा गामगा ममगममामा। गासागारि मारि मारि मारि गसागनि(षड्ज)ससा —इति करणम्।

१.	**स**	**स**	**ध**	**ध**	**म**	**म**	**म**	**म**
	सु	**र**	**मु**	**कु**	**ट**	**म**	**णि**	**ग**
२.	**स**	**सनि**	**ध**	**स**	**स**	**स**	**स**	**स**
	णा	**र्चि**	**त**		**च**	**र**	**णं**	
३.	**स**	**स**	**ग**	**ग**	**स**	**म**	**ग**	**म**
	सु	**र**	**वृ**	**क्ष**		**कु**	**सु**	**म**
४.	**ध**	**स**	**निध**	**स**	**स**	**स**	**स**	**स**
	वा		**सि**	**त**	**मु**	**कु**	**टं**	
५.	**ध**	**नि**	**स**	**ग**	**म**	**ध**	**म**	**ग**
	श	**शि**	**श**	**क**	**ल**	**कि**	**र**	**ण**
६.	**स**	**स**	**ध**	**नि**	**सनि**	**ध**	**ध**	**ध**
	वि	**च्छु**	**रि**		**त**	**ज**	**टं**	
७.	**स**	**स**	**प**	**नि**	**म**	**ग**	**म**	**ग**
	प्र	**ण**	**म**	**त**	**प**	**शु**	**प**	**ति**
८.	**ग**	**ग**	**ध**	**नि**	**स**	**स**	**स**	**स**
	म	**ज**	**म**	**म**	**रं**			

—इत्याक्षिप्तिका।

(ग्रामराग-२३) टक्क

९०-९२ ख. (अ०) **षड्जमध्यमया धैवत्या च सृष्टः** षड्जमध्यमा और धैवती (जातियों) से रचित, **अल्पपञ्चमः** अल्प पंचम (और) **स-अंशग्रहन्यासः** स ग्रह, अंश, न्यास (वाला), **काकलि-अन्तरराजितः** अन्तर और काकली से शोभित, **प्रसन्नान्त-अन्वितः चारुसंचारी** प्रसन्नान्त (अलंकार) से अन्वित मनोरम संचारी (वर्ण वाला) **आद्य-मूर्छनः च** और पहली (उत्तरमन्द्रा) मूर्छना (वाला) **टक्कः** टक्क (ग्रामराग) **रुद्रस्य मुदे** शिव की प्रसन्नता के लिये, **वर्षासु** वर्षा में **अह्नः पश्चिमे प्रहरे च** और दिन के अन्तिम प्रहर में, **वीररौद्र-अद्भुते रसे** वीर, रौद्र, अद्भुत रस में (और) **युद्धवीरे** युद्धवीर में **नियुज्यते** नियुक्त (प्रयुक्त) किया जाता है।

(सर०) **युद्धवीरे** की टीका में कल्लि० ने दानवीर, दयावीर और युद्धवीर—वीर के इन तीन प्रकारों का उल्लेख किया है लेकिन चौथे प्रकार धर्मवीर को छोड़ दिया है।

(गौडः)

गौडस्तदङ्गं निन्यासग्रहांशः पञ्चमोज्झितः॥ ९२॥

(रागांग-८) गौड

९२ ग-घ. (अ०) **तत्-अङ्गं** उस (टक्क) का अंग (रागांग) **गौडः** गौड **नि-न्यास-ग्रह-अंशः** नि ग्रह, अंश, न्यास (वाला और) **पञ्चम-उज्झितः** पंचम से रहित (है)।

(कोलाहलः)

टक्काङ्गं टक्कवत्तारैः स्वरैः कोलाहलोऽखिलैः।

(रागांग-९) कोलाहल

९३ क-ख. (अ०) टक्क-अङ्गं टक्क का अंग (रागांग) टक्कवत् टक्क के समान (लक्षण वाला, किन्तु) अखिलैः तारैः स्वरैः सारे तार (स्थान के) स्वरों के द्वारा (होता है)।

(सर०) कोलाहल को तार स्वरों वाला कहा है, यह ध्यान देने योग्य है। उक्त कथन का अर्थ यह है कि यह राग तारस्थान में ही गाया जाता था।

(हिन्दोलः)

धैवत्यार्षभिकावर्जस्वरनामकजातिजः॥ ९३॥

हिन्दोलको रिधत्यक्तः षड्जन्यासग्रहांशकः।
आरोहिणि प्रसन्नाद्ये शुद्धमध्याख्यमूर्छनः॥ ९४॥

काकलीकलितो गेयो वीरे रौद्रेऽद्भुते रसे।
वसन्ते प्रहरे तुर्ये मकरध्वजवल्लभः॥ ९५॥
संभोगे विनियोक्तव्यः,

सानीपापमागागपापसागनी सासासासा गामापापनीनीनी गागपपापनीसा। सनीमागागपापनीसनीसनीगसा। पन्नींसामपनी सगासासामां मगगससनि गसासनीसनी पपसममामगसनिसासंगाममा पापनीसा मनीमगामपापनीसनी सनि गसा पनि सागानी सा गासासमं गमा गसा सनिसनि निपापमगामा। ससगगममपपनिनि सनिमगा गपापनिसा। गासगसनीसनी सागा मम गम मग मगमप मगापाप सगासामा मगम मनीपा पापममगागसगपापनी निसनि सस। नीपा मागागमा पापनी सा। सनि मगा गपापनी सागासमसनीसनी स। नि ससनी सा। सा सासागसासनी साससगमसगपमा गपापस गगमगनी पापमम गा। गससमगगपा। ममनीप पसनिनिमगापापनी सागासगसनी सनी सा(षड्ज)ससा। पापानी सासापपनी पनीपापनी सासापपनि पनी पनि सगासम मगसगसनीसनी पनी मगमगासासनी। पनी पमगम गमा गस गसानिसनीपनी पमगमगामा। मगमग सागासस निनि पपमम गमपनीनिपम। गाममपनीनि पमगाममपनी ससनिमगासस–गासगामपनीपापनी मगागपनी सनीसनीगसानी सापनीमपागममगागससससनि सा(षड्ज)ससससगसस। मगामगम मगनी पापपस निनिगसा। ससमा(गान्धार)पा(पञ्चम)पपनिनि गागस गसनी सनीसा(षड्ज)ससगससमगमा सस गा। निनि सपानी ममापगमा ससससगगससगसगम पापासनि मगागपापनी सागासगासनिसनीसा(पञ्चम)पपनि पनि पापनि ससनि ससपापनीपगनीगगपापनी मंमंमं। गगगनिनिनि पपपनिनिनि सस। पागगम ससगसगसगमपनिपस निमगागापापन्निं सासाससमगसगसनीनी सा—इत्यालापः।

सगापमगापा (पञ्चम)(षड्ज) समागसागनीनिपानि पपगगपमगगांगांगां(षड्ज) ससगागम पाधमम(पञ्चम)पानिनि सनिसां सं। निनिनि सासासनिसासानिगपानी। सांसांसांससनि ससं निमगगगस

ससनिसगमनिसनि निपनीनिपानीपपगगपगमंमां गांग(षड्ज)ससंसंसंमपम। पानिसनिमा। मामा(पञ्चम)-निसनिनि सनि ससा। सस निससनी सासापनी। पनि पापपनि सनि सससस पपपपनी। नीमम निपनिप पगसग गमगामास सनिमम गमगापप गमगानीगांगां(षड्ज)ससमग मगागमगागमगागमससग सनिसनीपाग-पागमांमाससगगपापस(षड्ज)ससगंगं ममपपनिनि सनीससगगसगसनिसासा—इति करणम्।

१.	**स**	**स**	**म**	**ग**	**स**	**ग**	**म**	**प**
	स	**मु**	**प**	**न**	**त**	**स**	**क**	**ल**
२.	**पम**	**ग**	**स**	**स**	**स**	**ग**	**म**	**म**
	म	**भि**	**ग**	**त**	**ज**	**नौ**		**घ**
३.	**नि**	**स**	**प**	**नि**	**प**	**नि**	**ग**	**प**
	प	**रि**	**तु**		**ष्ट**	**मा**		**न**
४.	**नि**	**सं**	**सं**	**स**	**सनि**	**ग**	**सप**	**नी**
	स		**हं**		**स**			
५.	**नि**	**नि**	**स**	**ग**	**स**	**नि**	**प**	**प**
	प्रि	**य**	**त**	**म**	**स**	**ह**	**च**	**र**
६.	**पम**	**ग**	**स**	**स**	**गम**	**ग**	**म**	**प**
	स	**हि**	**तं**		**म**	**द**	**नां**	
७.	**नि**	**स**	**प**	**नि**	**प**	**नि**	**ग**	**प**
	ग		**वि**		**ना**	**श**	**नं**	
८.	**निस**	**निस**	**स**	**ग**	**स**	**स**	**स**	**स**
	नौ			**मि**				

—इत्याक्षिप्तिका।

(ग्रामराग-२४) हिन्दोल

९३ ग-९६ क. (अ०) **धैवती-आर्षभिकावर्ज-स्वरनामकजातिजः** धैवती और आर्षभी (जातियों) को छोड़कर (शेष) स्वरनाम वाली जातियों से उत्पन्न **हिन्दोलकः** हिन्दोल (ग्रामराग) **रि-ध-त्यक्तः** रि-ध छोड़ा हुआ, **षड्जन्यासग्रह-अंशकः** षड्ज ग्रह, अंश, न्यास वाला, **आरोहिणि प्रसन्नाद्ये** आरोही (वर्ण) में प्रसन्नादि (अलंकार) में **शुद्धमध्या-आख्यमूर्छनः** शुद्धमध्या नामक मूर्छना वाला, **काकलीकलितः** काकली से शोभित **वीरे रौद्रे अद्भुते रसे** वीर, रौद्र, अद्भुत रस में, **वसन्ते** वसन्त (ऋतु) में **तुर्ये प्रहरे** (दिन के) चौथे प्रहर में **गेयः** गाया जाता है। **मकरध्वजवल्लभः** जिसकी ध्वजा में मछली है ऐसे (कामदेव) को प्रिय (इस राग का) **संभोगे विनियोक्तव्यः** संभोग (शृंगार) में विनियोग करना चाहिये।

(सर०) स्वरनामों वाली दो जातियों आर्षभी और धैवती को छोड़कर शेष पाँच अर्थात् षाड्जी, गान्धारी, मध्यमा, पंचमी और नैषादी जातियों से हिन्दोल उत्पन्न हुआ है। विरोध परिहार में कल्लि० ने इस लक्षण के आधार पर कहा कि दो ग्रामों की जातियों से उत्पन्न होने और रि-ध वर्जित तान पर आधारित होने से इसका मध्यमग्राम से साक्षात् संबन्ध दिखाई देता है। लेकिन प्रयोग में चतुःश्रुति पंचम होने से षड्जग्राम से भी साक्षात् संबन्ध है इसलिए उद्देश में इसे जो द्विग्राम राग कहा वह सर्वथा उचित है। जिनके मत से इस राग में धैवत के बजाय पंचम का लोप इष्ट माना गया है उनके मत से यह षड्जग्राम का राग ही है। मतंग का कथन है कि भरत, कोहल आदि आचार्यों के द्वारा धैवत का लोप अनिष्टकारी कहने से कुछ लोग

इस राग को षड्जग्राम के आश्रित ही मानते हैं। इसमें चतुःश्रुतिक पंचम का प्रयोग होने के कारण धैवत का रहना या न रहना सर्वत्र विशिष्टता का सूचक नहीं होता। ऐसा होने पर धैवत के आधार पर ग्राम अथवा मूर्छना का भेद नहीं किया जाता, उक्त कथन का यह भाव है।

तात्पर्य यह है कि ग्रामविशेष या मूर्छनाविशेष से संबन्ध पंचम पर आधारित होता है, धैवत पर नहीं। इसलिये चतुःश्रुति पंचम का प्रयोग हो तो षड्जग्राम से और त्रिश्रुति पंचम हो तो मध्यमग्राम से संबन्ध समझना चाहिये।

ग्रन्थकार ने हिन्दोल में रि–ध त्यक्त स्वर बताये हैं। अन्य मत में प त्यक्त मानकर हिन्दोल को षड्जग्रामिक माना गया है।

(वसन्तः)

वसन्तस्तत्समुद्भवः।
पूर्णस्तल्लक्षणो देशीहिन्दोलोऽप्येष कथ्यते॥ ९६॥

(रागांग-१०) वसन्त

९६ ख-घ. (अ०) तत्-समुद्भवः उस (हिन्दोल) से उत्पन्न तत्-लक्षणः उसी के लक्षण वाला (किन्तु) पूर्णः सप्तस्वर वाला एषः वसन्तः यह वसन्त देशीहिन्दोलः अपि कथ्यते देशी हिन्दोल भी कहा जाता है।

(सर०) हिन्दोल ग्रामराग रि–ध रहित होता है लेकिन उससे उत्पन्न वसन्त में सातों स्वर होने से यह पूर्ण है। वसन्त हिन्दोल जैसा ही है लेकिन कामचार के कारण ग्रामराग में देशीत्व आ गया इसलिये इसे देशी हिन्दोल भी कहा गया।

(शुद्धकैशिकमध्यमः)

षड्जमध्यमया सृष्टः कैशिक्या च रिपोज्झितः।
तारसांशग्रहो मान्तः शुद्धकैशिकमध्यमः॥ ९७॥

प्रसन्नान्तावरोहिभ्यामाद्यमूर्छनया युतः।
गान्धाराल्पः काकलीयुग्वीरे रौद्रेऽद्भुते रसे॥ ९८॥

चन्द्रप्रियः पूर्वयामे सन्धौ निर्वहणे भवेत्।

सां [सा॑] धांमां धां सनि धसनी सां सां। सा धानी मां मां सां गां सां गां माधा माधा सां निध सनि सां सां धांमां मधमगागमा सासाधामासगासागामाधास निधसांनी सां सासाधानी मा मां—इत्यालापः।

ससममधधममधसनिधसासांसांसां। संसंगंम गमं मधमसानिधसां सां सां सां धंधं मंमं धम सगसगमस गग धध सस गंसं मम धमध सधनि मामा मामा—इति करणम्।

१.	सं[स॑]	सं[स॑]	ध	प[म]	म	धं	पं[मं]	मं
	ओं		का		र	मू		र्ति
२.	ध	प[म]	म	प[म]	रि[नि]	रि[नि]	म	म
	सं		स्थं		मा		त्रा	
३.	नि	ध	म	नि	ध	नि	सं	सं
	त्र	य	भू		षि	तं		क
४.	नि	ध	नि	सं	सं	सं	सं	सं
	ला		ती		तं			

५.	**ध**	**ध**	**मं**	**मं**	**रि[नि]**	**रि[नि]**	**स**	**स**
	व	**र**	**दं**		**व**	**रं**		**व**
६.	**ध**	**ध**	**म**	**म**	**गं**	**गं**	**मं**	**गं**
	रे		**ण्यं**		**गो**		**विं**	
७.	**नि**	**ध**	**म**	**नि**	**ध**	**नि**	**स**	**स**
	द	**क**	**सं**		**स्तु**		**तं**	
८.	**धं**	**स**	**धं**	**नि**	**मं**	**मं**	**मं**	**मं**
	वं				**दे**			

—इत्याक्षिप्तिका।

(ग्रामराग-२५) शुद्धकैशिकमध्यम

९७-९९ ख. (अ०) **षड्जमध्यमया कैशिक्या च सृष्टः** षड्जमध्यमा और कैशिकी (जातियों) से उत्पन्न, **रि-प-उज्झितः** रि-प से रहित, **तार-स-अंशग्रहः** तार स ग्रह, अंश, **म-अन्तः** म न्यास, **गान्धार-अल्पः** गान्धार अल्प, **प्रसन्नान्त-अवरोहिभ्यां** प्रसन्नान्त (अलंकार) और अवरोही (वर्ण) से, **आद्यमूर्छनया युतः** पहली (उत्तरमन्द्रा) मूर्छना से युक्त, **काकलीयुक्** काकली से युक्त, **चन्द्रप्रियः** चन्द्रमा को प्रिय **शुद्धकैशिकमध्यमः** शुद्धकैशिकमध्यम (ग्रामराग) **निर्वहणे सन्धौ** (नाटक की) निर्वहण सन्धि में **वीरे रौद्रे अद्भुते रसे** वीर, रौद्र, अद्भुत रस में **पूर्वयामे** (दिन के) प्रथम प्रहर में **भवेत्** (प्रयुक्त) होता है।

(सर०) षड्जग्राम की षड्जमध्यमा और मध्यमग्राम की कैशिकी जाति से उत्पन्न होने के आधार पर शुद्धकैशिकमध्यम को द्विग्राम राग कहना चाहिये लेकिन उद्देश में षड्जग्राम से ही उत्पन्न कहा गया, यह विरोध है। लेकिन मतंग ने ऋषभपंचम रहित होने से इसे षड्जग्राम से संबद्ध ही कहा है क्योंकि मध्यमग्राम में रि-प का लोप नहीं होता। कल्लि० ने यह स्पष्ट किया कि औडव शुद्धतानों में रि-प वर्जित तानें ग्रामभेदक पंचम का अभाव होते हुए भी षड्जग्राम में ही होती हैं इसलिए यह ग्रामराग षड्जग्राम से ही संबद्ध है। लेकिन कल्लि० ने यह प्रश्न भी उठाया कि षड्जग्राम से संबद्ध मान लेने पर इसका कैशिकी जाति से उत्पन्न होना कैसे समझा जाय? उत्तर यह दिया कि लक्षणों में आद्यमूर्छना से युक्त कहा तदनुसार मध्यमादि पहली मूर्छना सौवीरी का ग्रहण करना चाहिए (षड्जग्राम की मध्यमादि) मत्सरीकृता नहीं अन्यथा इस राग में जो तारषड्ज को ग्रह, अंश कहा वह उपपन्न नहीं होगा क्योंकि ग्रह, अंश स्वर मूर्छना में अन्तर्भूत होना चाहिये ऐसा नियम है (षड्जग्राम की मध्यमादि मूर्छना मन्द्रस्थानीय म से शुरू होकर मध्य ग पर समाप्त हो जाती है और उसमें तार स नहीं होता)। इसलिये पंचम का लोप होने पर भी मध्यमग्राम के तारव्यापकत्व धर्म के आधार पर इस राग के मध्यमग्राम से संबन्ध का अनुमान किया जाता है—इस तर्क और भरत के वचनों से कैशिकी से उत्पन्न होना समझा जाता है। ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला ग्रामसंबन्ध ही माना जाता है, आचार्यों का यह अभिप्राय समझना चाहिये।

इस विरोध परिहार में कल्लि० ने भरत व मतंग के वचनों के आधार पर इसका षड्जग्राम से संबन्ध कहकर और मध्यमादि सौवीरी मूर्छनायुक्त कहकर मध्यमग्रामीय कैशिकी जाति से उत्पन्न होना तर्कसंगत ठहराया है। लेकिन यह उल्लेखनीय है कि मतंग ने स्पष्टतः षड्जादि मूर्छना कही है जो षड्जग्राम की पहली मूर्छना उत्तरमन्द्रा है क्योंकि मतंग के लिये शुद्धकैशिकमध्यम षड्जग्रामीय राग है। इसी आशय से शार्ङ्गदेव ने आद्यमूर्छना कहा। कल्लि० की मूर्छना संबन्धी उक्त व्याख्या इस दृष्टि से तर्कसंगत नहीं है।

इस राग में तार स ग्रह है इसलिये आलाप के प्रथम **स** पर तार चिन्ह लगाकर उसे शुद्ध किया है। इस राग को रि-प रहित कहा है लेकिन आक्षिप्तिका में कई बार रि, प दिखाई देते हैं। संभवतः रि के स्थान पर नि और प के स्थान पर म मूलपाठ हो इसलिये कोष्ठकों में नि और म उन-उन स्थानों पर रखे हैं।

(धन्नासी)

तज्जा धन्नासिका षड्जग्रहांशन्यासमध्यमा॥ ९९॥
रिवर्जिता गपाल्पा च वीरे धीरैः प्रयुज्यते।

(रागांग-११) धन्नासी

९९ ग-१०० ख. (अ०) तत्-जा उस (शुद्धकैशिकमध्यम) से उत्पन्न होने वाली षड्ज-ग्रह-अंश-न्यासमध्यमा षड्ज ग्रह, अंश (और) मध्यम न्यास वाली, रि-वर्जिता रि से रहित ग-प-अल्पा च और अल्प ग-प वाली धन्नासिका धन्नासी धीरैः विद्वानों के द्वारा वीरे प्रयुज्यते वीर रस में प्रयुक्त होती है।

(रेवगुप्तः)

षड्जग्रामे रेवगुप्तो मध्यमार्षभिकोद्भवः॥ १००॥

रिग्रहांशो मध्यमान्तः प्रसन्नाद्यन्तभूषितः।
बुधैरुद्धटचारीकमण्डलाजौ नियुज्यते॥ १०१॥
वीररौद्राद्भुतरसः पार्वतीपतिवल्लभः।

रीसंनीरिसं मगा मामा गा मा माम ग मम ग पप ग ममगा गरी। रिगा ममगाधरी रि निनिधाध(पञ्चम)पपनि पनि म ममनि पापपसनि निनिरीरी रि सनी निरिम(गान्धार)रिरिनि। निनिरिनिरिरिमगामधा मामा (मध्यम) गमधम मगागरिरि गाममगा गरि रि गाममगागरि रि निनि धनी सारी मगामा—इत्यालापः।

रि (ऋषभ) रि निधा (पञ्चम) निध धा (मध्यम) मपरी (ऋषभ) री धापा (पञ्चम) नी नी सा नी री सानि रि (ऋषभ) री री गसनिधनि (पञ्चम) धनि मा (मध्यम) म (पञ्चम) पपप सनी नि निगरि रिग रिग सारिरि सानी नी (गान्धार) रि गा गारी सानी नि रि पगमामा रि रि मगरी समगरि सनि (ऋषभ) रि री रिमा (मध्यम) गं मन्नीं पा (पञ्चम) नी नी री री गामा मम मध मगग म री री नी नी गप (षड्ज) स (पञ्चम) माप मध धस मासमरि पाप मग नीरी रि गसनी निनि मरिरि गम गरी रि मसानी पमम मग मरी री। रिरि नि निगम मरिमग गरिरि मा माध निधा। धम धनि पा पाम पा। पसनी नि सनी नि ग रि रि गरि नी रिरि स नि नि रि गा रि गरी रि रि गारि सनी निरी मारि सनी नि रि नि निध पम मप गरी मम गमा निरि गमगारी मानी निम गामामा—इति करणम्।

(ऋषभ) रि गमा (मध्यम) गा रीं नि पापनि पापनि पापमा सा नि पाप नि री रि गा पां। पनि स नि रि ग नि रि री री रि रि नि मागां रीं रीं रीं रि रि मापां धामा गांरीं री री ममा मारिग निधधनि पाप निगा रि। ग निधसधनि पधमप म मरीरी गमपनि पधसनि रि धधा म पगरि मग पा मा सां मां गां मं मं पां सां मां गां पं मां। मम पम। ध पाध धपमरी री नीरीगामरिगम रिगमां मां (मध्यम) गा धा री री स स रि रि मानी नि नि स सरि रि नि नि नि स सग गनी नि नि स स रि सनी नि ससस रि धरि नि पगम़ मरि ग सरि नि सनि धप धनि सनि मधा गरि म गरि मा मारी स नी रि मधामामा—इति द्वितीयकरणम्।

रीरी (षड्ज) स री री मम मागामप। ग ममाम मग मनी गम गप गम मग री ग री रि ग (मध्यम) म (गान्धार) ग (ऋषभ) री निध धनि (पञ्चम) मपमधनि (मध्यम) ममनि धनि पा पसनि नि स नी नि रि रि सनी। नि रि सा सनी नि नि नि रि रि नि नि रि रि रि रि रि रि मम (मध्यम) (गान्धार) गमगाग (मध्यम) ग गग मम रि धम मध मग गरीरी। रि रि गगग म गरि मगग रि रि नि नि धधनि नि ससरि रि ग ग मगमगगमां मां मां—इति तृतीयकरणम्।

१.	नि	ध	प	प	नि	नि	नि	नि
	ग	रु	अ	णि	अं		ब	म
२.	स	नि	स	रि	रि	रि	रि	रि
	णो		ह	रि	आ		त	णु
३.	स	ग	रि	रि	म	ग	रि	रि
	अं		गी		पी		ण	प
४.	ग	रि	स	स	नि	स	नि	नि
	ओ		ह	रि	आ			
५.	मं	मं	गं	गं	प	प	नि	ध
	म	अ	ण	वि	ळा		सि	णी
६.	प	म	ग	रि	ग	रि	स	नि
	र		क्ख	उ	अ		म्ह	उ
७.	स	स	रि	नि	स	नि	स	रि
	गो		री		म	हि	स	वि
८.	ग	रि	ग	मग	म	म	म	म
	आ		र	णि	आ			

—इत्याक्षिप्तिका।

(उपराग-२) रेवगुप्त

१०० ग-१०२ ख. (अ०) षड्जग्रामे षड्जग्राम में मध्यमा-आर्षभिका-उद्भवः मध्यमा (और) आर्षभी (जातियों) से उत्पन्न रि-ग्रह-अंशः रि ग्रह, अंश, मध्यम-अन्तः मध्यम न्यास (वाला) प्रसन्नाद्यन्तभूषितः प्रसन्नाद्यन्त (अलंकार) से भूषित, पार्वतीपतिवल्लभः पार्वती के पति (शिव) को प्रिय, वीर-रौद्र-अद्भुतरसः वीर, रौद्र, अद्भुत रस वाला रेवगुप्तः रेवगुप्त (उपराग) बुधैः बुद्धिमानों के द्वारा उद्भटचारीकमण्डल-आजौ युद्ध में (अर्थात् युद्ध से संबद्ध) उद्भट चारी (और) मण्डल में नियुज्यते प्रयुक्त होता है।

(सर०) रेवगुप्त संबन्धी विरोध परिहार में कल्लि० ने मतंग के आधार पर यह स्पष्ट किया है कि मध्यमग्रामिक मध्यमा और षड्जग्रामिक आर्षभी जाति से उत्पन्न होते हुए भी रेवगुप्त षड्जग्राम में कहा गया है क्योंकि इस राग में चतुःश्रुतिक पंचम के प्रयोग के कारण षड्जग्राम से संबन्ध स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। मध्यमग्राम से संबन्ध तो इस राग के तारव्यापकत्व के कारण अनुमान किया जाता है।

(देशी)

तज्जा देशी रिग्रहांशन्यासा पञ्चमवर्जिता॥ १०२॥
गान्धारमन्द्रा करुणे गेया मनिसभूयसी।

(रागांग-१२) देशी

१०२ ग-१०३ ख. (अ०) तत्-जा देशी उस (रेवगुप्त) से उत्पन्न देशी रि-ग्रह-अंश-न्यासा रि ग्रह, अंश, न्यास वाली, पञ्चमवर्जिता पंचमरहित गान्धारमन्द्रा मन्द्र गान्धार वाली, म-नि-स-भूयसी म-नि (और) स के बहुत्व वाली करुणे गेया करुण (रस) में गाई जाती है।

(गान्धारपञ्चमः)

गान्धारीरक्तगान्धारीजन्यो गान्धारपञ्चमः॥ १०३॥

गान्धारांशग्रहन्यासो हारिणाश्वाख्यमूर्छनः।
प्रसन्नमध्यालङ्कारः संचारिणि सकाकली॥ १०४॥
राहुप्रियोऽद्भुते हास्ये विस्मये करुणे भवेत्।

गा सा सा नि सनि स गम गा गा। पामा गा सा सा नि सनि स समम गा गानी धानी सा नीधा पानी मा पा मा। गा स नि स नि सग मगा—इत्यालापः।

गममग निगमापपपनिममपामप पा पानी नि मधा मम धम ममा गा गा गम मम गामा (षड्ज) सनि स स ग ग मग मम मगागा री गा नी स सनी पानी नी मप मा गम पा पग मम गं निधनि सम पपप मम। गा स गनि मसा सा सा गम धप धम ममा धा नी पनी नि म मप नि मगा (षड्ज) स नि सा सां सम गपगम [ग]—इति करणम्।

अथवा—गागारीरी सनी सपनीसगागा (पञ्चम) सगा मामग पाधानि धानि पमनि धनि स पनि निध निधपापमगागा मसास साम गमधगम गा गागरी सनिपनि सगापमपसगागा—इत्यालापः।

मगरिरि ससनि निससगागाग ममगगममस गसगा गममगमनि धधधनि मध ममापपधनि नीधा (पञ्चम) पा ममपा मम निधसाम ममपा मपपममा मा सां सस ससगागा—इति करणम्।

१.	स	नि	स	ग	स	ग	ग	ग
	पिं		ग	ल	ज	टा		क
२.	म	प	म	प	ग	ग	ग	ग
	ला		पे		नि	प	तं	
३.	ग	प	स	ग	ग	ग	ग	गनि
	ती		ज	य	ति	जा		ह्ल
४.	नि	प	म	पम	ग	ग	ग	ग
	वी		स	त	तं			

५.	ग	ग	ग	गनि	नि	नि	नि	निस
	पू	र्णा			हु	ति	रि	व
६.	नि	प	म	पम	ग	ग	ग	ग
	हु	त	भु	जि	सु	स	मि	धि
७.	म	प	स	ग	ग	ग	म	गनि
	प	य	सः		क	प	र्दि	
८.	नि	प	म	पम	ग	ग	ग	ग
	नो		प(घ)	नु	दे			

—इत्याक्षिप्तिका।

(ग्रामराग-२६) गान्धारपंचम

१०३ ग-१०५ ख. (अ०) **गान्धारी-रक्तगान्धारीजन्यः** गांधारी और रक्तगांधारी (जातियों) से उत्पन्न, **गान्धार-अंश-ग्रहन्यासः** गांधार ग्रह, अंश, न्यास (वाला) **हारिणाश्वा-आख्यमूर्छनः** हारिणाश्वा नामक मूर्छना वाला, **संचारिणि** संचारी (वर्ण) में **प्रसन्नमध्य-अलङ्कारः** प्रसन्नमध्य अलंकार (वाला), **सकाकलिः** काकली सहित, **राहुप्रियः** राहु को प्रिय **गान्धारपञ्चमः** गांधारपंचम (ग्रामराग) **अद्भुते हास्ये विस्मये करुणे** अद्भुत, हास्य (तथा) करुण (रस) में (और) विस्मय (स्थायी भाव) में (प्रयुक्त) होता है।

(सर०) गांधारपंचम में गान्धार न्यास है इसलिए पहले करण के अन्तिम स्वर म के स्थान पर ग रखा है।

(देशाख्या)

तज्जा स्फुरितगान्धारा देशाख्या वर्जितर्षभा॥ १०५॥
ग्रहांशन्यासगान्धारा निमन्द्रा च समस्वरा।

(रागांग-१३) देशाख्या

१०५ ग-१०६ ख. (अ०) **तत्-जा देशाख्या** उस (गांधारपंचम) से उत्पन्न देशाख्या **स्फुरितगान्धारा** स्फुरित (गमक से युक्त) गांधार वाली, **वर्जित-ऋषभा** ऋषभ वर्जित, **ग्रह-अंशन्यासगान्धारा** गांधार ग्रह, अंश, न्यास वाली, **नि-मन्द्रा** मन्द्र नि (वाली) **समस्वरा च** और सारे स्वर समान (रूप से प्रयुक्त करने) वाली (है)।

(भाषाङ्गाणि)

(त्रवणा)

त्रवणा भिन्नषड्जस्य भाषा धनिसभूयसी॥ १०६॥

धनिसैर्वलिता धांशग्रहन्यासा रिपोज्झिता।
गमद्विगुणिता मन्द्रधैवता विजये मता॥ १०७॥

धाधाधामानी सा नी सासनी सा सासनी धाध साससनि सासनि धानी नि धानी सासा सनि सनी निधाधा मां गा गं सां स। सनिधाध मां गां मां मां नी धामां मगाग सा स सनि धानी धानी निध निध गागमां ससनी नीनिधानीनिधानि धानि सनि। धाधधमाधाधा—इत्यालापः।

धनिधगगांग सानीनी निनिसनिसनिधनी निधा धा। समनी निध निधा धा धसगमा मगमगा सासा। निनिनि गसनि धनि निधा धा। गाधनि सनि धनिधग सगसनि धनि मम धनिधा—इति रूपकम्।

भाषांग

(भाषा-१) त्रवणा

१०६ ग-१०७. (अ०) **भिन्नषड्जस्य भाषा त्रवणा** भिन्नषड्ज (ग्रामराग) की भाषा त्रवणा **ध-नि-स-भूयसी** ध-नि-स की बहुलता वाली, **ध-नि-सैः वलिता** ध, नि, स के द्वारा वलित (अर्थात् वलि नामक गमक युक्त ध, नि, स वाली), **ध-अंशग्रहन्यासा** ध ग्रह, अंश न्यास वाली, **रि-प-उज्झिता** रि, प से रहित, **ग-म-द्विगुणिता** ग, म दुगने किए हुए (अर्थात् तारस्थान में प्रयुक्त), **मन्द्रधैवता** मन्द्र धैवत वाली **विजये मता** विजय (के प्रसंग) में (प्रयुक्त होने वाली) मानी गई हैं।

(सर०) वलि गमक का एक भेद है जिसमें स्वरों का वेग के साथ विभिन्न प्रकार की वक्रता से युक्त प्रयोग किया जाता है (जिसका निरूपण तीसरे अध्याय में किया गया है)। त्रवणा में धनिस का वलि गमक के साथ बहुल प्रयोग इसका सूचक है कि यह द्रुतगति और गमकों के अधिक प्रयोग वाली भाषा है।

गमद्विगुणिता में द्विगुणित का अर्थ है स्थान की दृष्टि से दुगने यानी मध्यस्थान के ग, म का तारस्थान में प्रयोग। इसके द्वारा तारप्रयोग की सीमा भी सूचित की गई है। लेकिन तार अवधि तो सिर्फ़ म से ही सूचित हो जाती है फिर इसके साथ ग कहने की क्या ज़रूरत है, यह शंका उठाकर कल्लि० ने उत्तर दिया कि तार स्थान में अन्य स्वरों की अपेक्षा ग का बहुत्व सूचित करने के लिए 'गम' कहा गया। इसके द्वारा मध्यम का भी बाहुल्य समझना चाहिये। उक्त व्याख्या के अनुसार ग और म दोनों का एक साथ ग्रहण अन्य स्वरों की तुलना में उनका बाहुल्य दिखाने के लिये और द्विगुणिता के द्वारा मध्यस्थान की अपेक्षा तार में उनकी अधिकता व मध्यम को तार प्रयोग की सीमा दिखाने के लिए किया गया है।

यहाँ से भाषांगों का निरूपण शुरू होता है इसलिये उनकी जननी भाषाओं के और उन भाषाओं के जनक ग्रामरागों के लक्षण भी ग्रन्थकार ने दिए हैं।

(डोम्बकृतिः)

तज्जा डोम्बकृतिः सांशा धान्ता दैन्ये रिपोज्झिता।

(भाषांग-१) डोम्बकृति

१०८ क-ख. (अ०) **तत्-जा** उस (त्रवणा) से उत्पन्न **स-अंशा** स अंश (और) **ध-अन्ता** ध न्यास वाली **रि-प-उज्झिता** रि-प रहित **डोम्बकृतिः** डोम्बकृति **दैन्ये** दैन्य में (प्रयुक्त होती है)।

ककुभः

मध्यमापञ्चमीधैवत्युद्भवः ककुभो भवेत्॥ १०८॥

धांशग्रहः पञ्चमान्तो धैवतादिकमूर्छनः।
प्रसन्नमध्यारोहिभ्यां करुणे यमदैवतः॥ १०९॥
गेयः शरदि,

धमां मं मगारी रिरि ससनि निधा गामापापगामा धा धगामाममनी सनि निधानिधनि निगा धागधागा रिसासनि मगाग रिरिसासनिनि। धधधपाधपा—इत्यालापः।

धा(धैवत)नीधा(पञ्चम)गामा(ऋषभ)रिरि रि गारि(षड्ज)सधनी नी (धैवत)धाधाधानीरी रिसानि रिसनि सनि सधा नीनी(धैवत)धा। धा धनी रिरिसा निरिसानिधानी ममगमगारी रिसानी रिसानी धानिपपमगपमधाधा। नी निसनि निधध(षड्ज)सगधरिग(मध्यम)मनीनि मानि निधध(पञ्चम)मपनि मगागरी ममपमगमधाधा। गाधाम गमरिमागा(ऋषभ)रिमाग(षड्ज)सा। धानी नि(धैवत)धा। धामाध सरिगमगपगमनिधानी पधापनि पधमगरि ममपगरि गां मां रि(ऋषभ)रिमाग(षड्ज)स। धानी म(धैवत)धा माधसरि गमगपगमनि निधानिप धापनीप धमगरिममपगरिगामांमां(ऋषभ)सधनिम(धैवत)गा पमपमा(षड्ज)सधनि धनि सनिधाधपा—इति करणम्।

अथ वा—धाधाधसं ससससधाध साध साधससधारीरी ममरिग सासंधाधाध पधसधपधधममामा। मरि मारि मां माधा धाधाधाधपधनिध पधामां मधापाधा सारी मरी सं गं सां गं गांध पधपमपापा—इत्यालापः।

धधसासमधधधसरीगा सांधा पाधापापा मामापा मापाधा पामां मां। सरि मरि ममाधप धापप मां मां पध सरि मरि गासां धामा पारीमा पां पां—इति करणम्।

१.	ध	ध	स	स	ध	ध	रि	रि
	यो		ना		म	य		त्र
२.	ध	ध	ध	ध	प	ध	प	म
	नि	व	स	ति	क	रो		ति
३.	रि	रि	म	म	प	ध	प	म
	प	रि	र		क्ष	णं		स
४.	प	ध	प	म	म	म	म	म
	ख	लु	त		स्य			
५.	रि	रि	म	म	ध	ध	प	म
	मु		ग्धे		व	स	सि	च
६.	प	म	प	प	ध	ध	प	म
	हृ	द	ये		द	ह	सि	च
७.	प	ध	प	म	स	रि	स	रि
	स	त	तं		नृ	शं		
८.	ग	स	प	प	प	प	प	प
	सा				सि			

—इत्याक्षिप्तिका।

(ग्रामराग-२७) ककुभ

१०८ ग-११० क. (अ०) मध्यमापञ्चमीधैवती-उद्भवः मध्यमा, पंचमी (और) धैवती (जातियों) से उत्पन्न, ध-अंशग्रहः ध ग्रह, अंश, पञ्चम-अन्तः पंचम न्यास, धैवतादिकमूर्छनः धैवतादिमूर्छना वाला, प्रसन्नमध्य-आरोहिभ्यां आरोही

(वर्ण) और प्रसन्नमध्य (अलंकार) के द्वारा, **यमदैवतः** यम (जिसका) देवता (है ऐसा) **ककुभः** ककुभ (ग्रामराग) **करुणे भवेत्** करुण (रस) में (प्रयुक्त) होता है (और) **शरदि गेयः** शरद (ऋतु) में गाया जाता है।

(सर०) ककुभ मध्यमा, पंचमी और धैवती जातियों से उत्पन्न होने के कारण उद्देश में द्विग्राम कहा गया है। लेकिन इस राग में चतुःश्रुति पंचम का प्रयोग होने से इसका षड्जग्राम से सीधा संबन्ध दिखाई देता है। कल्लि० ने यह कहते हुए एक महत्त्वपूर्ण उल्लेख किया है कि लक्षणों में नि-ग का लोप न कहकर भी मतंग ने प्रस्तार देते समय कुछ आचार्यों के मत से 'ककुभकैशिक की वर्तनिका' कहकर नि-ग लोप करके औडुवित प्रस्तार दिया है। वहाँ मध्यमग्राम से संबन्ध भी साक्षात् प्रतीत होता है। इसमें हुए उल्लेख से यह प्रकट होता है कि बृह० के मूल रूप में ग्रामरागों के प्रस्तार भी रहे होंगे जो आज उपलब्ध पाठ में नहीं हैं। यह उल्लेखनीय है कि बृह० में शुद्धषाडव के लक्षण के अन्त में स्वर और पद से युक्त चच्चत्पुट आदि ताल में गेय कहने के बाद 'आक्षिप्तिका' शब्द के बाद लक्षण खण्डित है। सभी ग्रामरागों के अन्त में कला, मार्ग, स्वर, पद और ताल का उल्लेख भी है। यह भी इसका संकेत देता है कि ग्रामरागों में प्रस्तार दिए गये होंगे। कल्लि० द्वारा प्रस्तार शब्द आलाप, करण, वर्तनी, आक्षिप्तिका किसी के लिए भी प्रयुक्त हुआ समझ सकते हैं क्योंकि ये सभी प्रस्तार ही हैं। जातियों में अवश्य स्वर, पद, तालयुक्त उदाहरणगीत ही प्रस्तार कहे जाते हैं जबकि ग्रामरागों के उसी तरह के गीतों को आक्षिप्तिका कहा गया है।

(रगन्ती)

तज्जाता भवेद्भाषा रगन्तिका।
धन्यासांशग्रहा भूरिधैवतैः स्फुरितैर्युता॥ ११०॥

अतारमध्यमा पापन्यासा श्रीशार्ङ्गिणोदिता।

(भाषा-२) रगन्ती

११० क.-१११ ख. (अ०) **रगन्तिका** रगन्ती **तत्-जाता** उस (ककुभ) से उत्पन्न **भाषा भवेत्** भाषा होती है (और वह) **श्रीशार्ङ्गिणा** शार्ङ्गदेव के द्वारा **ध-न्यास-अंशग्रहा** ध ग्रह, अंश, न्यास वाली, **स्फुरितैः युता** स्फुरित (नामक गमकों) से युक्त **भूरिधैवतैः** बहुल धैवतों के द्वारा **अतारमध्यमा** तार (स्थान के) मध्यम से रहित (और) **प-अपन्यासा** प अपन्यास वाली **उदिता** कही गई (है)।

(सर०) स्फुरित एक प्रकार की गमक है। इस गमक से युक्त धैवत का रगन्ती में बहुत्व होता है। 'अतारमध्यमा' के द्वारा यह सूचित होता है कि मध्यम का प्रयोग मन्द्र और मध्य स्थानों में ही होता है, तारस्थान में नहीं।

(सावरी)

तद्भवा सावरी धान्ता गतारा मन्द्रमध्यमा॥ १११॥
मग्रहांशा स्वल्पषड्जा करुणे पञ्चमोज्झिता।

(भाषांग-२) सावरी

१११ ग-११२ ख. (अ०) **तत्-भवा सावरी** उस (रगन्ती) से (उत्पन्न) होने वाली सावरी **म-ग्रह-अंशा** म ग्रह, अंश (और) **ध-अन्ता** ध न्यास (वाली), **ग-तारा** तार (स्थान) के ग, **मन्द्रमध्यमा** मन्द्र (स्थान) के मध्यम, **स्वल्पषड्जा** अल्प षड्ज, **पञ्चम-उज्झिता** पंचम रहित **करुणे** करुण (रस) में (प्रयुक्त होती है)।

(सर०) यहाँ ग का तार सप्तक में प्रयोग उसके मन्द्र मध्य निषेध का सूचक प्रतीत नहीं होता बल्कि संभवतः तार में ग की बहुलता को सूच्चित करता है। ऐसे राग पहले भी आ चुके हैं और आगे भी हैं जिनमें एक या दो स्वरों का स्थान विशेष

में प्रयोग कहा गया है। वर्तमान उत्तर भारतीय संगीत के लक्ष्य में ऐसे राग क्वचित् ही हैं। एक उदाहरण तिलंग का दिया जा सकता है जिसमें रि का प्रयोग सिर्फ़ तारसप्तक में ही होता है, अन्यथा रि इसमें वर्जित है।

(भोगवर्धनी)

विभाषा ककुभे भोगवर्धनी तारमन्द्रगा॥ ११२॥

धैवतांशग्रहन्यासा गापन्यासा रिवर्जिता।
धनिभ्यां गमपैर्भूरिर्वैराग्ये विनियुज्यते॥ ११३॥

धाधाधाध गामापा पप मम पापापम मा गा मानी धासनी गासनी। धा पामागामानीधा पामा धाधप मध पममधा धाधगापामागा मापापापपगा मपगमनी धासनी गासनी धापमा गामानीधाधा। धपमधपमधाधा—इत्यालापः।

गामधापामगा मगममध धनि निनि(षड्ज)सधध धनि पपपगगा मधा पा मधापा मधनि धाधानी साधधनि धमपप ममधगागा। मगममममधनि निनि(षड्ज)सधधनी निनि धमपपपगगामधा पामधापम धनिधा—इति रूपकम्।

(विभाषा-१) भोगवर्धनी

११२ ग-११३. (अ०) **ककुभे** ककुभ में **विभाषा भोगवर्धनी** विभाषा भोगवर्धनी **तारमन्द्र-गा** तार (और) मन्द्र (स्थानों में) ग वाली, **धैवत-अंशग्रहन्यासा** धैवत ग्रह, अंश, न्यास वाली, **ग-अपन्यासा** ग अपन्यास वाली, **रि-वर्जिता** रि रहित, **भूरिः ध-निभ्यां ग-म-पैः** ग, म, प, ध नि की बहुलता से **वैराग्ये विनियुज्यते** वैराग्य में विनियुक्त की जाती है।

(सर०) तारमन्द्रगा से ग का मन्द्र और तार में प्रयोग तथा मध्य ग का अप्रयोग सूचित किया गया है। सिंह० ने यही अर्थ दिया है।

(वेलावली)

तज्जा वेलावली तारधा गमन्द्रा समस्वरा।
धाद्यन्तांशा कम्प्रषड्जा विप्रलम्भे हरिप्रिया॥ ११४॥

(भाषांग-३) वेलावली

११४. (अ०) **तत्-जा** उस (भोगवर्धनी) से उत्पन्न, **तार-धा** तार ध, **ग-मन्द्रा** मन्द्र ग, **समस्वरा** सब स्वर समान (प्रयुक्त), **ध-आदि-अंश-अन्ता** ध ग्रह, अंश, न्यास, **कम्प्रषड्जा** कम्पित षड्जवाली, **हरिप्रिया** विष्णु को प्रिय **वेलावली** वेलावली **विप्रलम्भे** विप्रलम्भ (श्रृंगार) में (विनियुक्त होती है)।

(प्रथममञ्जरी)

पञ्चमांशग्रहन्यासा धरितारा गमोत्कटा।
गमन्द्रा चोत्सवे गेया तज्ज्ञैः प्रथममञ्जरी॥ ११५॥

(भाषांग-४) प्रथममंजरी

११५. (अ०) **पञ्चम-अंशग्रहन्यासा** पंचम ग्रह, अंश, न्यास, **ध-रि-तारा** तार (स्थान के) रि-ध, **ग-म-उत्कटा** ग, म बहुल **ग-मन्द्रा च** और मन्द्र ग वाली **प्रथममञ्जरी** प्रथममंजरी **तज्ज्ञैः** उसके ज्ञाताओं के द्वारा **उत्सवे गेया** उत्सव में गाई जाती है।

(सर०) धरितारा का तार में ध-रि वाली अर्थ देते हुए कल्लि० ने यह भी कहा कि ग्रह के रूप में पंचम से आरम्भ होने के वश से तार में ध का बहुत्व ही सूचित होता है और ऋषभ का बहुत्व तथा तार अवधि भी सूचित है। अन्यत्र भी ऐसा ही समझना चाहिये। अन्यत्र से आशय यह है कि अन्य रागों में भी जहाँ इस तरह किसी स्वर का स्थानविशेष में प्रयोग कहा गया हो वहाँ भी बहुत्व अथवा तार-मन्द्र अवधि समझनी चाहिए।

कई रागों के लक्षणों में स्वर का स्थानविशेष में प्रयोग कहा गया है लेकिन उन रागों के आलापादि में स्वरों पर स्थान के चिन्ह नहीं हैं।

(बाङ्गाली)

धन्यासांशग्रहा भाषा बाङ्गाली भिन्नषड्जजा।
गापन्यासा दीर्घरिमा धमन्द्रोद्दीपने भवेत्॥ ११६॥

धा गा गा धध निगां ध गांगागमसा मा मा माम मा धामागा मागा स स री गा मा पम गरि सनी री मरी गासनी सा सा। ध ध धा नी नी धा ध मा धा धा धधनी मा धा नी गा। गा गागममा सस मा सा सा सा पमा धा माम गा गा स स री गा माप म गरी सनी रि गारी सनी सा सा । स धानी नीधा धा धमा धा धा—इत्यालापः।

धम गमम ध धधा मा मा गामा(षड्ज)सस धा धा धानि सनी साममध मधा। धा धा धनी नी गा धमास स री री गगम मपप ममपपरी री स स री री गग री री (षड्ज)ससनी नी सनि सासाधमगम धगम स नी धा धा धा नी सानी साम मध मधा धा—इति रूपकम्।

(भाषा-३) बांगाली

११६. (अ०) भिन्नषड्जजा भिन्नषड्ज से उत्पन्न भाषा बाङ्गाली भाषा बांगाली ध-न्यास-अंशग्रहा ध ग्रह, अंश, न्यास, ग-अपन्यासा ग अपन्यास, दीर्घ-रि-मा रि-म (के) दीर्घ (उच्चारण) वाली (और) ध-मन्द्रा ध मन्द्र वाली उद्दीपने भवेत् उद्दीपन (विभाव) में (प्रयुक्त) होती है।

(सर०) रस में विभाव नामक घटक के दो भेद होते हैं—आलम्बन और उद्दीपन। जिसके आश्रय से भाव उत्पन्न होता है वह आलम्बन विभाव कहलाता है और वातावरण आदि, जो उत्पन्न हुए भाव को ज़्यादा तीव्र करते हैं या उद्दीप्त करते हैं वे, उद्दीपन विभाव कहे जाते हैं।

(आडिकामोदिका)

आडिकामोदिका तज्जा ग्रहांशन्यासधैवता।
ममन्द्रा तारगान्धारा गुर्वाज्ञायां समस्वरा॥ ११७॥

(भाषांग-५) आडिकामोदिका

११७. (अ०) तत्-जा उस (बांगाली) से उत्पन्न, ग्रह-अंशन्यासधैवता धैवत ग्रह, अंश, न्यास, म-मन्द्रा मन्द्र म, तारगान्धारा तार गांधार, समस्वरा समान स्वर वाली आडिकामोदिका आडिकामोदिका गुरु-आज्ञायां गुरु की आज्ञा में (प्रयुक्त होती है)।

(वेगरञ्जी)

टक्कभाषा वेगरञ्जी निमन्द्रा धपवर्जिता।
सांशग्रहान्ता माने स्यान्निषड्जरिगमैर्बहुः॥ ११८॥

सा सा स्रनी सा रिगा नीगगम स नी गा संगसा सनी सारी नी सारी नी सारी सनी सासा मामागागा गा री सनि सानी सारी सारी सारी सारी सनी सनी समागारी सनी नी सरि गानी गागमासनी सासा— इत्यालापः।

ममममगगरी री स सनी नी सनी(षड्ज)सनी सरी गरि गगगनी सगरि मासामागा गा री री सा रि ग री सनी नी नी नी नी(षड्ज)सस(ऋषभ)रि गमरि स रिगम म री गसमरी गरी नी सा ममरी गा सा सा— इति रूपकम्।

(भाषा-४) वेगरंजी

११८. (अ०) नि-मन्द्रा मन्द्र नि, ध-प-वर्जिता ध, प रहित, स-अंशग्रह-अन्ता स ग्रह, अंश, न्यास वाली बहुः नि-षड्ज-रि-ग-मैः बहुल नि, स, रि, ग और म के द्वारा टक्कभाषा वेगरञ्जी टक्क की भाषा वेगरंजी माने स्यात् मान में होती है।

(नागध्वनिः)

नागध्वनिं तदुद्भूतं षड्जन्यासग्रहांशकम्।
धपत्यक्तं रसे वीरे शार्ङ्गिदेवः समादिशत्॥ ११९॥

(भाषांग-६) नागध्वनि

११९. (अ०) तत्-उद्भूतं उस (वेगरंजी) से उत्पन्न, षड्जन्यासग्रह-अंशकं षड्ज ग्रह, अंश न्यास वाली, ध-प-त्यक्तं ध-प रहित नागध्वनिं नागध्वनि को (गा) शार्ङ्गिदेवः शार्ङ्गदेव ने वीरे रसे वीर रस में सम-आदिशत् समादेश किया।

(सौवीरः)

षड्जमध्यमया सृष्टः सौवीरः काकलीयुतः।
गाल्यः षड्जग्रहन्यासांशकः षड्जादिमूर्छनः॥ १२०॥

प्रसन्नाद्यवरोहिभ्यां संयतानां तपस्विनाम्।
गृहिणां च प्रवेशादौ रसे शान्ते शिवप्रियः॥ १२१॥

प्रयोज्यः पश्चिमे यामे वीरे रौद्रेऽद्भुते रसे।

सां सपा पधानी धापा पधा सा सपाप धा सा सपापधा ध गारि मा गा रि सनि स पा धा सनि सां। मां मां मगारी रि मा म पा प ध निधा पापधा सां स पापधा धगा रि मा गा री सनिधा धपा सा सनी सां सां। मम समम(षड्ज)ससं सां ग सं ग ग री ग सा सं सं स ध ध नि निध सनि धनि धा ध प। पपपधध ध स नि सां सां सं सं सं सम(षड्ज)ससं ससं ग सस मरि रिग सस गध धनि ध ध ग सं सं सं धनि ध सनि धनि धध (पञ्चम)पापप रि पपनि ध ध स गा सस धम रि रि धम रि रि धस मप। धध नि ग धध सस धध नि ध स नि

धनि धधपा। पापपप(गान्धार)गा गग मरि स ग सनिध सस। पपधध सनिसा। स सं स प पप नि नि नि (षड्ज) स स स रि रि रि रि परि पा धध स निसा। सध म रि रि धम मा रि रि ग सस ग धध नि धध गस सस धध निध सनि धनि ध धप धध रि नि धधध ग रि म ग रि स निध स निध निध पपंध रि निध सध गरि मगरि मगरि सनि ध समापपधध सनिसा—इत्यालापः।

(षड्ज)स(पञ्चम)नीधा धा धा नी(पञ्चम)नीधा धा धनी(षड्ज)ससारी रिरि पपनि धाधा धधस स धनि ध पा। पप नि ध पं पं निं रिं रिं ग रि मरि सासा मम रि ग सा स सस स रि ग सा ससनि ध(पञ्चम)धा नि(षड्ज)स स। मम स सस स मस सां ससरि ग गसं ग सां ग सं गां सस गसनिधनिधाधध निपा। पगां धगां धगां गगगसमारी(षड्ज)सनिधापा पापाधापा धनिनि(षड्ज)समां मां गगारी(ऋषभ)रिरि मममधमम। मासांस (पञ्चम)धासाधनिनिपानीधपारीपपपपध धध सं सं सं धं धं धध ममम रि रि रि रि गरि गरि गस सधनि धसा धनिधधरि पपपप। पधधधध निनि(पञ्चम)पम धध धनि(षड्ज)ससां—इति करणम्।

१.	सं	सं	सं	सं	सं	सं	सं	सं
	त	रु	ण	त	रु	शि	ख	र
२.	नि	नि	ध	ध	प	प	प	म
	कु	सु	म	भ	र	न	मि	त
३.	नि	ध	स	ध	नि	ध	प	प
	मृ	दु	सु	र	भि	प	व	न
४.	ध	ग	ध	स	स	सं	सं	सं
	धु	त	वि	ट	पे			
५.	सं	सं	सं	नि	स	स	रि	ग
	का			न	ने			
६.	स	ग	ध	ध	नि	ध	प	प
	कुं			ज	रो			
७.	नि	ध	स	ध	नि	ध	प	प
	भ्र	म	ति	म	द	ल	लि	त
८.	गं	गं	ध	सं	सं	सं	सं	सं
	ली		ला	ग	तिः			

—इत्याक्षिप्तिका।

(ग्रामराग-२८) सौवीर

१२०-१२२ ख. (अ०) **षड्जमध्यमया सृष्टः** षड्जमध्यमा (जाति) से उत्पन्न, **ग-अल्पः** अल्प ग, **काकलीयुतः** काकली से युक्त, **षड्जग्रहन्यास-अंशकः** षड्ज ग्रह, अंश, न्यास वाला, **षड्जादिमूर्छनः** षड्जादि मूर्छना वाला **प्रसन्नादि-अवरोहिभ्यां** प्रसन्नादि (अलंकार) और अवरोही (वर्ण) द्वारा, **शिवप्रियः सौवीरः** शिव को प्रिय सौवीर (ग्रामराग) **संयतानां**

तपस्विनां संयतों और तपस्वियों के **गृहिणां च प्रवेश-आदौ** तथा गृहस्थों के प्रवेश आदि में, **पश्चिमे यामे** दिन के अन्तिम प्रहर में, **शान्ते रसे** शान्त रस में (तथा) **वीरे रौद्रे अद्भुते रसे** वीर, रौद्र, अद्भुत रस में **प्रयोज्यः** प्रयोग करना चाहिये।

(सौवीरी)

सौवीरी तद्भवा मूलभाषा बहुलमध्यमा॥ १२२॥
षड्जाद्यन्तात्र संवादः सधयो रिधयोरपि।

सा गा सा सा नी धा सा सा मा धानी था पा पाधा मा धा समधानि धानिरिगा रिमामा गारीसा सा माधानीधासासा।

(भाषा-५) सौवीरी

१२२ ग-१२३ ख. (अ०) **तत्-भवा** उस (सौवीर) से उत्पन्न होने वाली **मूलभाषा सौवीरी** मूलभाषा सौवीरी **बहुलमध्यमा** बहुल मध्यम वाली, **षड्ज-आदि-अन्ता** षड्ज ग्रह, न्यास वाली (है और) **अत्र** इसमें **स-धयोः रि-धयोः अपि संवादः** स-ध का (और) रि-ध का भी संचार (अथवा संगति है)।

(सर०) भाषाओं में प्रायः आलाप और रूपक दिये गये हैं लेकिन सौवीरी और पिंजरी में केवल एक-एक प्रस्तार है और यह भी अंकित नहीं है कि वह आलाप है या रूपक।

लक्षण के अनुसार इसमें स-ध में संवाद कहा है। ग्रामिक स्वरों में स-ध १६ श्रुति वाला अन्तराल है इस कारण उसमें संवाद नहीं है। अगर यह समझा जाय कि यहाँ संवाद शब्द का प्रयोग संगति के अर्थ में किया गया है, जैसा बृह० में दिये गये भाषा-लक्षणों में कई जगह मिलता है (४/४३, ५१, ९२, ९४), तो इस राग का जो स्वरप्रस्तार दिया है उसमें एक बार भी स-ध अथवा रि-ध की संगति दिखाई नहीं देती। इसलिए प्रयोग की दृष्टि से संवाद का वास्तव में क्या आशय है यह स्पष्ट नहीं है।

(वराटी)

तज्जा वराटिका सैव बटुकी धनिपाधिका॥ १२३॥
सन्यासांशग्रहा तारसधा शान्ते नियुज्यते।

(भाषांग-७) वराटी

१२३ ग-१२४ ख. (अ०) **तत्-जा वराटिका** उस (सौवीरी) से उत्पन्न वराटी **ध-नि-प-अधिका** ध, नि, प की बहुलता वाली, **स-न्यास-अंशग्रहा** स ग्रह, अंश न्यास वाली **तार-स-धा** तार स, ध वाली **शान्ते नियुज्यते** शान्त (रस) में विनियुक्त की जाती है। **सा-एव बटुकी** वही बटुकी (भी कही जाती है)।

(पिञ्जरी)

हिन्दोले पिञ्जरी भाषा गांशा सान्ता निवर्जिता॥ १२४॥

गागारि सा धारि सा सारी गां मां मामा रीरि साधासापामागापाधासारी गापामागारी सा सानि साधारी- सासारीगासारी गागामामागारीसारी रि गरि रीस रि मां। पां धापासारि गामारि रीसा।

(भाषा-६) पिंजरी

१२४ ग-घ. (अ०) **हिन्दोले भाषा पिञ्जरी** हिन्दोल (ग्रामराग) में (की) भाषा पिंजरी **ग-अंशा** ग अंश **स-अन्ता** स न्यास वाली (और) **नि-वर्जिता** नि रहित (है)।

(नट्टा)

तज्जा समस्वरा नट्टा तारगान्धारपञ्चमा।
सन्यासांशग्रहा मन्द्रनिषादा तारधैवता॥ १२५॥

(भाषांग-८) नट्टा

१२५. (अ०) तत्-जा नट्टा उस (पिंजरी) से उत्पन्न नट्टा समस्वरा सम स्वर वाली, तारगान्धारपञ्चमा तार गांधार (और) पंचम वाली, स-न्यास-अंशग्रहा स ग्रह, अंश, न्यास वाली, मन्द्रनिषादा मन्द्र निषाद (और) तारधैवता तार धैवत वाली (है)।

(कर्णाटबङ्गालः)

अङ्गं कर्णाटबङ्गालं वेगरञ्ज्याः पवर्जितम्।
गांशं सान्तं च शृङ्गारे वक्ति श्रीकरणेश्वरः॥ १२६॥

(भाषांग-९) कर्णाटबंगाल

१२६. (अ०) वेगरञ्ज्याः अङ्गं वेगरंजी (टक्क की भाषा) के अंग (अर्थात् भाषांग) कर्णाटबङ्गालं कर्णाटबंगाल को श्रीकरणेश्वरः महालेखाकार (शार्ङ्गदेव) प-वर्जितं प रहित, ग-अंशं ग अंश स-अन्तं च और स न्यास वाला (तथा) शृङ्गारे वक्ति शृंगार (रस) में (प्रयुक्त होने वाला) कहता है।

(क्रियाङ्गाणि)

(रामकृतिः)

आपञ्चमं तारमन्द्रा षड्जन्यासांशकग्रहा।
रिषड्जाभ्यधिका धीरैरेषा रामकृतिर्मता॥ १२७॥

क्रियांग

(क्रियांग-१) रामकृति

१२७. (अ०) आपञ्चमं तारमन्द्रा पंचम तक तार (और) मन्द्र (स्वरों के प्रयोग) वाली, षड्जन्यास-अंशकग्रहा षड्ज ग्रह, अंश, न्यास वाली, रि-षड्ज-अभि-अधिका अति बहुल स, रि वाली धीरैः धीरों के द्वारा एषा यह रामकृतिः मता रामकृति मानी गई है।

(सर०) रामकृति में 'पंचम तक तार-मन्द्र' पर सिंह० ने कहा कि षड्ज से लेकर पंचम तक पाँच स्वर तार और मन्द्र में होते हैं, मध्य में नहीं। इस व्याख्या का आशय स्पष्ट नहीं है और मध्यस्थान में स से प तक पाँच स्वरों का प्रयोग न होना असंगत लगता है। ग्रन्थकार को इस लक्षण के द्वारा मन्द्र और तार स्थानों में पंचम तक सीमा कहना अभिप्रेत लगता है।

(गौडकृतिः)

षड्जांशग्रहणन्यासां मतारां मपभूयसीम्।
रिधत्यक्तां पमन्द्रां च तज्ज्ञा गौडकृतिं जगुः॥ १२८॥

(क्रियांग-२) गौडकृति

१२८. (अ०) षड्ज-अंशग्रहणन्यासां षड्ज ग्रह, अंश, न्यास वाली, म-तारां तार म वाली, म-प-भूयसी म, प

बहुला, **रि-ध-त्यक्तां** वर्जित रि-ध वाली **प-मन्द्रां च** और मन्द्र प वाली को **तज्ज्ञाः** उसके ज्ञाता **गौडकृतिं जगुः** गौडकृति कहते हैं।

(देवकृतिः)

निमन्द्रा मध्यमव्याप्ता रिपत्यक्ता समस्वरा।
सन्न्यासांशा धग्रहा च वीरे देवकृतिर्भवेत्॥ १२९॥

(क्रियांग-३) देवकृति

१२९. (अ०) **नि-मन्द्रा** मन्द्र नि वाली, **मध्यमव्याप्ता** व्याप्त (बहुल) मध्यम वाली, **रि-प-त्यक्ता** रि, प रहित, **समस्वरा** (शेष) स्वर समान (प्रयुक्त), **स-न्यास-अंशा** स अंश (और) न्यास, **ध-ग्रहा** ध ग्रह वाली **देवकृतिः** देवकृति **वीरे भवेत्** वीर (रस) में होती है।

(सर०) मध्यमव्याप्ता में 'व्याप्ता' का अर्थ सिंह० ने बहुलता वाली किया है।

(उपाङ्गानि)

स्युर्वराट्या उपाङ्गानि सन्यासांशग्रहाणि षट्।

उपांग

१३० क-ख. (अ०) **वराट्या** वराटी से **स-न्यास-अंशग्रहाणि** स ग्रह, अंश, न्यास (वाले) **षट् उपाङ्गानि स्युः** ६ उपांग होते हैं।

(सर०) वराटी के ६ उपागों में स ग्रह, अंश, न्यास लक्षण सभी में सामान्य है, शेष लक्षण सबके भिन्न-भिन्न हैं।

(कौन्तली वराटी)

समन्द्रा कौन्तली तत्र निभूरिः कम्प्रधा रतौ॥ १३०॥

(उपांग-१) कौन्तली वराटी

१३० ग-घ. (अ०) **तत्र** उनमें से **स-मन्द्रा** मन्द्र स, **नि-भूरिः** बहुल नि, **कम्प्र-धा** कम्पित ध वाली **कौन्तली** कौन्तली **रतौ** रति में (प्रयुक्त होती है)।

(द्राविडी वराटी)

वराटी द्राविडी भूरिनिमन्द्रा स्फुरितर्षभा।

(उपांग-२) द्राविडी वराटी

१३१ क-ख. (अ०) **द्राविडी वराटी** द्राविडी वराटी **भूरि-नि-मन्द्रा** बहुल मन्द्र नि (और) **स्फुरित-ऋषभा** स्फुरित (गमक) युक्त ऋषभ वाली (है)।

(सर०) स्फुरित गमक का एक प्रकार है। द्राविडी वराटी में ऋषभ का स्फुरित के साथ प्रयोग होता है।

(सैन्धवी वराटी)

वराटी सैन्धवी भूरिगान्धारा सधकम्पिता॥ १३१॥
शार्ङ्गदेवेन गदिता शृङ्गारे मन्द्रमध्यमा।

(उपांग-३) सैन्धवी वराटी

१३१ ग-१३२ ख. (अ०) **शार्ङ्गदेवेन** शार्ङ्गदेव के द्वारा **सैन्धवी वराटी** सैन्धवी वराटी **भूरिगान्धारा** बहुल गांधार, **स-ध-कम्पिता** कम्पयुक्त स, ध, **मन्द्रमध्यमा** मन्द्र मध्यम वाली **शृङ्गारे गदिता** शृंगार (रस) में कही गई (है)।

(अपस्थान वराटी)

मण्डिता मनिधैर्मन्द्रैरपस्थानवराटिका॥ १३२॥

(उपांग-४) अपस्थान वराटी

१३२ ग-घ. (अ०) **अपस्थानवराटिका** अपस्थान वराटी **मन्द्रैः म-नि-धैः मण्डिता** मन्द्र म, नि, ध से शोभित (है)।

(हतस्वर वराटी)

हतस्वरा धमन्द्रा कम्प्रपसा हतपञ्चमा।

(उपांग-५) हतस्वर वराटी

१३३ क-ख. (अ०) **हतस्वरा** हतस्वर (वराटी) **ध-मन्द्रा** मन्द्र ध, **कम्प्र-प-सा** कम्पित प, स (और) **हतपञ्चमा** आहत (गमक युक्त) पंचम वाली (होती है)।

(सर०) गमक का एक भेद आहत है, उसी के लिये यहाँ 'हत' शब्द का प्रयोग हुआ है। लक्षण के अनुसार हतस्वर वराटी में पंचम पर कम्पित और आहत दोनों गमकों का प्रयोग होता है।

(प्रतापवराटी)

स्यात् प्रतापवराटी तु धमन्द्रा कम्प्रसोरुपा॥ १३३॥

(उपांग-६) प्रताप वराटी

१३३ ग-घ. (अ०) **प्रतापवराटी तु** प्रतापवराटी तो **ध-मन्द्रा** मन्द्र ध, **कम्प्र-सा** कम्पित स (और) **उरु-पा** बहुल पंचम वाली **स्यात्** होती है।

(सर०) 'उरु' का अर्थ है विस्तृत, अधिक, प्रचुर। तदनुसार सिंह० ने बहुल कहा है।

(छायातोडी)

रिपत्यक्ता तु तोड्येव छायातोडीति कीर्तिता।

(उपांग-७) छायातोडी

१३४ क-ख. (अ०) **रि-प-त्यक्ता तु** रि-प रहित तो **तोडी-एव** तोडी ही **छायातोडी** छायातोडी **इति कीर्तिता** इस प्रकार प्रसिद्ध है।

(सर०) तोडी रागांग में रि-प वर्जित होने पर वही छायातोडी होती है।

(तुरुष्कतोडी)

तोड्येव ताडिता गाल्या तौरुष्की निधभूयसी॥ १३४॥

(उपांग-८) तुरुष्क तोडी

१३४ ग-घ. (अ०) **तोडी एव** तोडी ही **ताडिता** ताडित (आहत स्वरों वाली), **ग-अल्पा** अल्प ग (और) **नि-ध-भूयसी** बहुल नि-ध वाली **तौरुष्की** तुरुष्क (तोडी होती है)।

(सर०) ताडित से आहत गमक का आशय प्रतीत होता है।,

(महाराष्ट्री गुर्जरी)

पञ्चमेनोज्झिता मन्द्रनिषादा ताडितोत्सवे।
गीयतामृषभान्तांशा महाराष्ट्री तु गुर्जरी॥ १३५॥

(उपांग-९) महाराष्ट्री गुर्जरी

१३५. (अ०) **पञ्चमेन उज्झिता** पंचम से रहित, **मन्द्रनिषादा** मन्द्र नि वाली, **ताडिता** आहत (गमक), **ऋषभ-अन्त-अंशा** ऋषभ अंश, न्यास वाली **महाराष्ट्री गुर्जरी तु** महाराष्ट्री गुर्जरी तो **उत्सवे गीयताम्** उत्सव में गाएँ।

(सर०) गुर्जरी के उपांग भी गुर्जरी में ही कुछ लक्षणों के भेद से बने प्रकार हैं जैसा उनके लक्षणों से प्रकट है।

(सौराष्ट्री गुर्जरी)

गुर्जर्येव रिकम्प्रा स्यात् सौराष्ट्री गुर्जरी भवेत्।

(उपांग-१०) सौराष्ट्री गुर्जरी

१३६ क-ख. (अ०) **गुर्जरी एव** गुर्जरी ही **रि-कम्प्रा स्यात्** कम्पित रि वाली होती है (तो, अर्थात् होने पर) **सौराष्ट्री गुर्जरी भवेत्** सौराष्ट्री गुर्जरी होती है।

(दक्षिणा गुर्जरी)

दक्षिणा गुर्जरी कम्प्रमध्यमा ताडितेतरा॥ १३६॥

(उपांग-११) दक्षिणा गुर्जरी

१३६ ग-घ. (अ०) **दक्षिणा गुर्जरी** दक्षिणा गुर्जरी **कम्प्रमध्यमा** कम्पित मध्यम (और) **ताडित-इतरा** शेष आहत (गमकयुक्त स्वर) वाली (होती है)।

(सर०) मध्यम पर कम्पित गमक और शेष सभी स्वर आहत गमक युक्त हैं।

(द्राविडी गुर्जरी)

रिमन्द्रतारा स्फुरिता हर्षे द्राविडगुर्जरी।

(उपांग-१२) द्राविडी गुर्जरी

१३७ क-ख. (अ०) **रि-मन्द्रतारा** मन्द्र (और) तार रि वाली, **स्फुरिता** स्फुरित (गमक) वाली **द्राविडगुर्जरी** द्राविडी गुर्जरी **हर्षे** हर्ष में (प्रयुक्त होती है)।

(भुच्छी)

मत्यक्तान्दोलितसपा धन्यासांशग्रहान्विता॥ १३७॥
विप्रलम्भे भवेद्भुच्छीत्यवोचत् सोढलात्मजः।

(उपांग-१३) भुच्छी

१३७ ग-१३८ ख. (अ०) **भुच्छी** भुच्छी **म-त्यक्ता** म रहित, **आन्दोलित-स-पा** आन्दोलित स, प वाली, **ध-न्यास-अंशग्रह-अन्विता** ध ग्रह, अंश, न्यास से अन्वित, **विप्रलम्भे भवेत्** विप्रलम्भ (शृंगार) में (प्रयुक्त) होती है **इति** ऐसा **सोढल-आत्मजः** सोढल के पुत्र (शार्ङ्गदेव) ने **अवोचत्** कहा।

(सर०) उद्देश में इस उपांग का नाम भुञ्जी है। 'आन्दोलित' गमक का एक प्रकार है। इस उपांग में म वर्जित होना ध्यान देने योग्य है क्योंकि मध्यम अनाशी स्वर माना गया था। म का त्याग देशी रागों में कामचार का सूचक है।

(खम्भाइतिः)

मध्यमेन निषादेनान्दोलिता त्यक्तपञ्चमा॥ १३८॥
खम्भाइतिस्तदंशान्ता शृङ्गारे विनियुज्यते।

(उपांग-१४) खम्भाइति

१३८ ग-१३९ ख. (अ०) **मध्यमेन निषादेन आन्दोलिता** मध्यम (और) निषाद से आन्दोलित (अर्थात् आन्दोलित गमकयुक्त म, नि) वाली, **तत्-अंश-अन्ता** उस (निषाद) अंश, न्यास वाली, **त्यक्तपञ्चमा** पंचम रहित **खम्भाइतिः** खम्भाइति **शृङ्गारे विनियुज्यते** शृंगार में विनियुक्त होती है।

(सर०) तत्-अंशान्ता में 'तत्' निषाद के लिये प्रयुक्त है जो अंश और न्यास है। उद्देश क्रम में खम्भाइति के स्थान पर स्तम्बतीर्थिका संज्ञा है।

(छायावेलावली)

छायावेलावली वेलावतीवत् कम्प्रमन्द्रमा॥ १३९॥

(उपांग-१५) छायावेलावली

१३९ ग-घ. (अ०) **छायावेलावली** छायावेलावली **वेलावलीवत्** वेलावली के समान (किन्तु) **कम्प्रमन्द्र-मा** कम्पित मन्द्र म वाली (होती है)।

(सर०) वेलावली के लक्षणों में ही कुछ लक्षणों के भेद से छायावेलावली और प्रतापवेलावली बन जाती हैं।

(प्रतापवेलावली)

सैव प्रतापपूर्वा स्यादाहता रिपवर्जिता।

(उपांग-१६) प्रताप वेलावली

१४० क-ख. (अ०) **सा-एव** वही (छायावेलावली ही) **आहता** आहत (गमक और) **रि-प-वर्जिता** रि, प रहित (होने पर) **प्रतापपूर्वा** प्रताप पूर्व(पद) वाली (अर्थात् प्रताप वेलावली) **स्यात्** होती है।

(भैरवी)

धांशन्यासग्रहा तारमन्द्रगान्धारशोभिता॥ १४०॥
भैरवी भैरवोपाङ्गं समशेषस्वरा भवेत्।

(उपांग-१७) भैरवी

१४० ग-१४१ ख. (अ०) **भैरव-उपाङ्गं** भैरव (राग) का उपांग **भैरवी** भैरवी **ध-अंश-न्यासग्रहा** ध ग्रह, अंश, न्यास वाली, **तारमन्द्रगान्धारशोभिता** मन्द्र (और) तार गान्धार से शोभित, **समशेषस्वरा** समान (रूप से प्रयुक्त) शेप स्वरों वाली **भवेत्** होती है।

(सिंहलीकामोदा)

कामोदोपाङ्गमाख्याता कामोदा सिंहली बुधैः॥ १४१॥
कामोदलक्षणोपेता ममन्द्रा कम्प्रधैवता।

(उपांग-१८) सिंहलीकामोदा

१४१ ग-१४२ ख. (अ०) **बुधैः** बुद्धिमानों के द्वारा **सिंहलीकामोदा** सिंहलीकामोदा **कामोद-उपाङ्गं** कामोद (राग) का उपांग **ख्याता** जानी गई है (जो) **कामोदलक्षण-उपेता** कामोद के लक्षणों से युक्त, **म-मन्द्रा** मन्द्र म (और) **कम्प्रधैवता** कम्पित धैवत वाली (होती है)।

(छायानट्टा)

छायानट्टा तु नट्टैव मन्द्रपञ्चमभूषिता॥ १४२॥
नट्टोपाङ्गं निषादेन गान्धारेण च कम्पिता।

(उपांग-१९) छायानट्टा

१४२ ग-१४३ ख. (अ०) **नट्ट-उपाङ्गं** नट्ट (राग) का उपांग **छायानट्टा तु** छायानट्टा तो **नट्ट-एव** नट्ट ही (है, किन्तु) **मन्द्रपञ्चमभूषिता** मन्द्र पंचम से भूषित (और) **निषादेन गान्धारेण च कम्पिता** निषाद तथा गान्धार से कम्पित (अर्थात् कम्पित निषाद, गान्धार वाली होती है)।

(कोलाहला)

कोलाहला टक्कभाषा सग्रहांशा पवर्जिता॥ १४३॥
सधमन्द्रा मभूयिष्ठा कलहे गमकान्विता।

सासा सासा मासा सास सरी गामा मामगरी सरीरीध मारीगरी धममगमामारीधा साधासागा रीमाधगा मरी गसा सासा सास निग सारी मागामामा रीगरीध मधममारीधा सागा साधा सामा रीमाधा गासा—इत्यालापः।

रीगसध सरीमम धमगम गामसरी सनी धासा रीगरीग माधध ससस सगरी ममधमगरिस नीधासरी गामाधमरी गमसाधमी धसरीगा माम गमधम गारी सनि धासरी गासरी गासा मागरी मा रीगा सासा—इति रूपकम्।

(भाषा-७) कोलाहला

१४३ ग-१४४ ख. (अ०) **टक्कभाषा** टक्क (उपराग) की भाषा **कोलाहला** कोलाहला **स-ग्रह-अंशा** स ग्रह, अंश, **प-वर्जिता** वर्जित प, **स-ध-मन्द्रा** मन्द्र स, ध, **म-भूयिष्ठा** बहुल मध्यमवाली, **गमक-अन्विता** गमक से अन्वित **कलहे** कलह में (प्रयुक्त होती है)।

(रामकृतिः)

तज्जा रामकृतिर्वीरे मांशा सान्ता पवर्जिता॥ १४४॥

भाषाङ्गत्वेऽप्युपाङ्गत्वमतिसामीप्यतोऽत्र च।
शार्ङ्गदेवेन निर्णीतमन्यत्राप्यूह्यतां बुधैः॥ १४५॥

(उपांग-२०) रामकृति

१४४ ग-१४५. (अ०) **तत्-जा** उस कोलाहला से उत्पन्न, **म-अंशा** म अंश **स-अन्ता** स न्यास वाली, **प-वर्जिता** प रहित **रामकृतिः** रामकृति **वीरे** वीर (रस) में (नियोजित होती है)। **भाषाङ्गत्वे अपि** (रामकृति में) भाषांगत्व होने पर भी **अत्र** यहाँ (इसमें) **अतिसामीप्यतः** अत्यन्त सादृश्य होने से **उपाङ्गत्व च** उपांगत्व भी (है, ऐसा) **शार्ङ्गदेवेन** शार्ङ्गदेव के द्वारा **निर्णीतं** निश्चित किया गया। **बुधैः** बुद्धिमानों के द्वारा **अन्यत्र अपि** अन्यत्र (अर्थात् अन्य दृष्टि से) भी **ऊह्यतां** विचार करना चाहिये।

(सर०) कल्लि० की व्याख्या में यह स्पष्ट किया गया है कि कोलाहला से उत्पन्न रामकृति अपनी जनक भाषा के बहुत समीप अर्थात् सदृश है इसलिये उसमें भाषांगत्व भी है। लेकिन अंगत्व के सादृश्य से उपांग होता है इस नियम के आधार पर जहाँ किंचित् (कुछ) सादृश्य हो वहाँ उपांग कहा जायगा। इसीलिये ग्रन्थकार ने रामकृति में उपांगत्व भी कहा है। शार्ङ्गदेव ने रामकृति को अन्यत्र (वाद्याध्याय में) बौलि का पर्याय कहा है। इस आधार पर सिंह० ने यह ध्यान दिलाया कि ग्रन्थकार ने स्वयं अन्यत्र रामकृति को भाषांग कहा है इसीलिये यहाँ यह कहा कि भाषांगत्व होते हुए उपांगत्व भी है, अतः इसमें उभयरूपता है। 'सामीप्य' का अर्थ सिंह० ने स्थायों की समानता कहा है। स्थाय यानी स्वरसंचार एक से हों तो रागों में सादृश्य दिखाई देता है, इस दृष्टि से उक्त अर्थ संगत है।

(छेवाटी)

हिन्दोलभाषा छेवाटी गापन्यासा धभूयसी।
रिहीनांशग्रहन्यासषड्जा सगममन्द्रभाक्॥ १४६॥

सगतारोत्सवे हास्ये गेया गमकसंयुता।

सासा सासगम पापा पापम गापमगापाधागा धानी पापगम नीधापापामगपगा गसासासा सगमपपापा पमगापमगा धानीपापमगपम गपमगागसा सपानीसा सासागासा मगामप पनि सासा—इत्यालापः।

सम गम गपा पाम पमपम गागा गागससासगमनि निसनिससगस मम निनि सनि सासगसगमपपसनिसागासा धानि पानी नीपा मगा गपमम गामसांसां गांगां पानी मासा गासनी सासा— इति रूपकम्।

(भाषा-८) छेवाटी

१४६-१४७ ख. (अ०) **ग-अपन्यासा** ग अपन्यास वाली, **ध-भूयसी** बहुल ध वाली, **रि-हीना** रि रहित, **अंशग्रहन्यास-षड्जा** षड्ज ग्रह, अंश, न्यास वाली, **स-ग-म-मन्द्रभाक्** मन्द्र (स्थान) के स, ग, म, **स-ग-तारा** तार स, ग वाली, **गमकसंयुता** गमक से संयुत **हिन्दोलभाषा छेवाटी** हिन्दोल की भाषा छेवाटी **उत्सवे** उत्सव में (और) **हास्ये** हास्य में **गेया** गाई जाती है।

(वल्लाता)

वल्लाता तदुपाङ्गं स्याद् रिहीना मन्द्रधैवता॥ १४७॥
सन्यासांशग्रहा गेया शृङ्गारे शार्ङ्गिणोदिता।

(उपांग-२१) वल्लाता

१४७ ग-१४८ ख. (अ०) तत्-उपाङ्गं उस (छेवाटी) की उपांग वल्लाता वल्लाता रि-ध-हीना रि, ध रहित, मन्द्रधैवता मन्द्र धैवत, स-न्यास-अंशग्रहा स ग्रह, अंश न्यास वाली स्यात् होती है (और) शार्ङ्गिणा शार्ङ्गदेव के द्वारा शृङ्गारे गेया शृंगार में गाई जाने वाली उदिता कही गई (है)।

(सर०) उद्देश में वल्लाता के स्थान पर भल्लातिका संज्ञा है।

(शुद्धपञ्चमः)

मध्यमापञ्चमीजातः काकल्यन्तरसंयुतः॥ १४८॥
पञ्चमांशग्रहन्यासो मध्यसप्तकपञ्चमः।
हृष्यकामूर्छनोपेतो गेयः कामादिदैवतः॥ १४९॥
चारुसंचारिवर्णश्च ग्रीष्मेऽह्नः प्रहरेऽग्रिमे।
शृङ्गारहास्ययोः सन्धाववमर्शे प्रयुज्यते॥ १५०॥

पाधा मांधा नीधापापा। पधनीरिमपधामा धनि ध पापारींगां सांसां। मांपमागां रीरीं। रींमांपधा मा पनिधपापा। सांगां नीधा पप निरी मां पाधामाध निध पापा—इत्यालापः।

पापधपधमधधनिध पापा। पापाधनि रिगपापा मधनिध पापा पपधनि रीरी गंगं संसं गग रींरीं रींरीं मम पप धम धध निध पा—इति करणम्।

१.	सं[प]	सं[प]	सं[प]	सं[प]	रिं	रिं	गं	गं
	ज	य	वि	ष	म	न	य	न
२.	म	ग	पम	ग	रिं	रिं	रिं	रिं
	म	द	न	त	नु	द	ह	न
३.	मं	सं	सं	सं	रिं	रिं	गं	सं
	व	र	वृ	ष	भ	ग	म	न
४.	म	गं	पम	ग	रिं	रिं	रिं	रिं
	पु	र	द	ह	न			
५.	रिं	रिं	मं	मं	प	म	ध	म
	न	त	स	क	ल	भु	व	न
६.	म	ध	सं	सं	नि	ध	प	म
	सि	त	क	म	ल	व	द	न

७.	धं	निं	रिं	मं	रिं	मं	प	प
	भ	व	म	म	भ	य	ह	र
८.	ध	मं	ध	निं	प	प	प	प
	भ	व	श	र	णं			

—इत्याक्षिप्तिका।

(ग्रामराग-२९) शुद्धपञ्चम

१४८ ग-१५०. (अ०) **मध्यमापञ्चमीजातः** मध्यमा (और) पंचमी (जातियों) से उत्पन्न, **काकलि-अन्तरसंयुतः** अन्तर (और) काकली से संयुत, **पञ्चम-अंशग्रहन्यासः** पंचम ग्रह, अंश, न्यास (और वह) **मध्यसप्तकपञ्चमः** पंचम मध्य सप्तक का, **हृष्यकामूर्छना-उपेतः** हृष्यका मूर्छना से युक्त, **चारुसंचारिवर्णः** च और मनोहर संचारी वर्ण वाला, **कामादिदैवतः** काम देवता वाला (शुद्धपंचम ग्रामराग) **ग्रीष्मे** ग्रीष्म में **अह्नः अग्रिमे प्रहरे** दिन के प्रथम प्रहर में **गेयः** गाया जाता है (और) **अवमर्षे सन्धौ** अवमर्श सन्धि में **शृङ्गारहास्ययोः प्रयुज्यते** शृंगार और हास्य (रसों) में प्रयुक्त होता है।

(सर०) ग्रह मध्य सप्तक का पंचम है इसलिये आक्षिप्तिका के शुरू में स के बजाय प रखा है।

(दाक्षिणात्या)

तद्भाषा दाक्षिणात्या स्याद् ग्रहांशन्यासधैवता।
ऋषभोऽस्यामपन्यासस्तारा निपमधैवताः॥ १५१॥
प्रियस्मृतौ नियोगः,

पापा [धाधा] धासा निरीरीरी गरिमरि गपगग नीसानीमा नीधा पापा पाधा सनी रीरीरीरी गरी सगारीसनी रीरीरी नीनी गपनीध नीनी सानी सनी मागरीरी रीरी मरी सनी नीध निधा पानी निधापापमधा पासा पाधासनी रीरी रीरीरीरी गरीगग पापानीधा पापापा [धाधाधा]—इत्यालापः।

पपधधसनी रीरी गरी सनी धनी नीप पध धस नीरी रीग नीस नीरी रीग नीस निधा नीनी पापा [धाधा]—इति रूपकम्।

(भाषा-९) दाक्षिणात्या

१५१-१५२ क. (अ०) **तत्-भाषा दाक्षिणात्या** उस (शुद्धपञ्चम) की भाषा दाक्षिणात्या **ग्रह-अंशन्यासधैवता** धैवत ग्रह, अंश, न्यास वाली **स्यात्** होती है। **अस्यां** इसमें **ऋषभः अपन्यासः** ऋषभ अपन्यास (और) **ताराः नि-प-म-धैवताः** तार नि, प, म, ध (होते हैं)। **प्रियस्मृतौ** प्रिय की स्मृति में **नियोगः** नियोग (होता है)।

(सर०) इसमें ध ग्रह, अंश, न्यास कहा है इसलिये आरम्भ और अन्त ध से होना चाहिये। तदनुसार आलाप के शुरू और अन्त के प को और रूपक के अन्तिम प को ध बनाया है।

(आन्धालिका)

अस्या विभाषान्धालिका मता।
पञ्चमांशग्रहन्यासा न्यल्पा भूरीतरास्वरा॥ १५२॥

तारधा मन्द्रषड्जा च धापन्यासा गवर्जिता।
वियुक्तबन्धने गेया शार्ङ्गदेवेन कीर्तिता॥ १५३॥

पापामामसरी मापा धापा धाप धध पध धपपसा मास सारी रीमा पाधा पध मास निधा पापधपधपपमा मासा सारी पाधा पाधा पप धध पध धध धम पापा मसा रीमा सारी मासारी मा सारी मासारीमाधाप धधपधा पधधप मममाम सारीमापा धाप धपा धासा नीधा पाप धप पपापा—इत्यालापः।

रीरीसारीरी सरीरीसरी रीस रीप रीस रीस धध पाधधप धधधध पममा ममा पमधा पधामामपपमाध-सधसधपमधा [पा]—इति रूपकम्।

(विभाषा-२) आन्धाली

१५२ क-१५३. (अ०) **आन्धालिका** आन्धालिका **अस्याः** इस (दाक्षिणात्या) की **विभाषा मता** विभाषा मानी गई (है)। **शार्ङ्गदेवेन** शार्ङ्गदेव के द्वारा **पञ्चम-अंशग्रहन्यासा** पंचम ग्रह, अंश, न्यास **नि-अल्पा** अल्प नि वाली, **भूरि-इतरस्वरा** शेष स्वर बहुल, **तार-धा** तार ध, **मन्द्रषड्जा** मन्द्र षड्ज, **ध-अपन्यासा** ध अपन्यास वाली **ग वर्जिता च** और ग रहित **वियुक्तबन्धने** वियोगियों के पुनर्मिलन में **गेया कीर्तिता** गाई जाने वाली कही गई (है)।

(सर०) पंचम ग्रह, न्यास होने के कारण रूपक के अन्त में धा के स्थान पर पा रखा है।

(मल्हारी)

मल्हारी तदुपाङ्गं स्याद्गहीना मन्द्रमध्यमा।
पञ्चमांशग्रहन्यासा शृङ्गारे ताडिता मता॥ १५४॥

(उपांग-२२) मल्हारी

१५४. (अ०) **मल्हारी** मल्हारी **तत्-उपाङ्गं स्यात्** उस (आन्धाली) का उपांग होती है (और) **ग-हीना** ग रहित, **मन्द्रमध्यमा** मन्द्र मध्यम, **पञ्चम-अंशग्रहन्यासा** पंचम ग्रह, अंश, न्यास (तथा) **ताडिता** आहत (गमक) वाली **शृङ्गारे मता** शृंगार (रस) में मानी गई (है)।

(मल्हारः)

आन्धाल्युपाङ्गं मल्हारः षड्जपञ्चमवर्जितः।
धन्यासांशग्रहो मन्द्रगान्धारस्तारसप्तमः॥ १५५॥

(उपांग-२३) मल्हार

१५५. (अ०) **मल्हारः** मल्हार **षड्जपञ्चमवर्जितः** षड्ज, पंचम रहित, **ध-न्यास-अंशग्रहः** ध ग्रह, अंश, न्यास, **मन्द्रगान्धारः** मन्द्र गान्धार (और) **तारसप्तमः** तार के सातवें (निषाद) वाला **मल्हारः** मल्हार **आन्धाली-उपाङ्गं** आन्धाली का उपांग (है)।

कर्णाटगौडः

गेयः कर्णाटगौडस्तु षड्जन्यासग्रहांशकः।

(उपांग-२४) कर्णाटगौड

१५६ क-ख. (अ०) **कर्णाटगौडः तु** कर्णाटगौड तो **षड्जग्रह-अंशन्यासकः** षड्ज ग्रह, अंश, न्यास (युक्त) **गेयः** गाया जाता है।

(सर०) गौड में ही स को ग्रह, अंश, न्यास बनाकर गाने से कर्णाटगौड हो जाता है, यह तु के द्वारा सूचित होता है। टक्क ग्रामराग के रागांग गौड का यह उपांग है।

(देशवालगौडः)

स एवान्दोलितः षड्जे देशवालो रिपोज्झितः॥ १५६॥

(उपांग-२५) देशवाल गौड

१५६ ग-घ. (अ०) सः एव वही (कर्णाटगौड) **आन्दोलितः षड्जे** आन्दोलित षड्ज होने पर (और) **रि-प-उज्झितः** रि, प रहित (होने पर) **देशवालः** देशवाल (गौड होता है)।

(तुरुष्कगौडः)

गान्धारबहुलो मन्द्रताडितो रिपवर्जितः।
निषादांशग्रहन्यासस्तुरुष्को गौड उच्यते॥ १५७॥

(उपांग-२६) तुरुष्कगौड

१५७. (अ०) तुरुष्कः गौडः तुरुष्क गौड **गान्धारबहुलः** बहुल गान्धार, **मन्द्रताडितः** ताडित (आहत गमकयुक्त) मन्द्र (स्वर), **रि-प-वर्जितः** रि, प रहित, **निषाद-अंशग्रहन्यासः** निषाद ग्रह, अंश, न्यास वाला **उच्यते** कहा जाता है।

(द्राविडगौडः)

गान्धारतिरिपोपेतः प्रस्फुरत्षड्जपञ्चमः।
गेयो द्राविडगौडोऽयं ग्रहांशन्याससप्तमः॥ १५८॥

(उपांग-२७) द्राविड गौड

१५८. (अ०) अयं द्राविडगौडः यह द्राविड गौड **गान्धारतिरिप-उपेतः** गान्धार तिरिप (गमक) से युक्त, **प्रस्फुरत्-षड्जपञ्चमः** स्फुरित होते हुए (अर्थात् स्फुरित गमकयुक्त) षड्ज, पंचम, **ग्रह-अंशन्याससप्तमः** सातवें (अर्थात् निषाद) ग्रह, अंश, न्यास वाला **गेयः** गाया जाता है।

(सर०) तिरिप गमक का प्रकार है।

(अधुनाप्रसिद्धनिरुपपदरागाः)

(श्रीरागः)

षड्जे षाड्जीसमुद्भूतं श्रीरागं स्वल्पपञ्चमम्।
सन्यासांशग्रहं मन्द्रगान्धारं तारमध्यमम्॥ १५९॥
समशेषस्वरं वीरे शास्ति श्रीकरणाग्रणीः।

अधुनाप्रसिद्ध 'निरुपपद' राग

(राग-१) श्रीराग

१५९-१६० ख. (अ०) **षड्जे** षड्ज (ग्राम) में **षाड्जीसमुद्भूतं** षाड्जी (जाति) से उत्पन्न, **स्वल्पपञ्चमम्** अल्प पंचम, **स-न्यास-अंशग्रहं** स ग्रह, अंश न्यास, **मन्द्रगान्धारं** मन्द्र गान्धार, **तारमध्यमं** तार मध्यम, **समशेषस्वरं** शेष स्वर समान (रूप से प्रयुक्त) वाले **श्रीरागं** श्रीराग को **श्रीकरणाग्रणीः** महालेखाधिकारी (शार्ङ्गदेव) **वीरे** वीर (रस) में **शास्ति** निर्देश करता है।

(सर०) यहाँ से 'राग' वर्ग के रागों के लक्षण दिये हैं जिन्हें कल्लि० पहले 'निरुपपद' राग कह चुके हैं। (१/१/१६ग-१८)। उपरागों की तरह ये भी सीधे जातियों से उत्पन्न हैं। श्रीराग षाड्जी जाति से उत्पन्न है इसलिए षड्जग्रामिक होगा यह निश्चित है फिर भी ग्रन्थकार ने विशेष रूप से इसे षड्जग्राम में कहा इस पर सिंह० ने स्पष्टीकरण दिया कि इससे यह सूचित किया गया है कि सामान्य रूप से इन रागों में जनक जाति के ग्राम का नियम नहीं होता। तात्पर्य यह है कि सभी रागों में यह नियम हो यह ज़रूरी नहीं है, श्रीराग में है इसलिये ग्रन्थकार ने उल्लेख किया है। लेकिन कुछ अन्य रागों में भी ग्रन्थकार ने जनक जाति के साथ-साथ ग्राम का भी उल्लेख किया है।

समशेषस्वरं पर कल्लि० ने कहा कि पंचम का अल्पत्व कहा है इसलिये उसके अलावा अन्य स्वरों का समत्व यानी बहुत्व का साम्य समझना चाहिये। जहाँ बहुत्व का विधान करके इतर स्वरों का समत्व कहा हो वहाँ बहुल स्वरों की अपेक्षा अन्य स्वरों में अल्पत्व की समानता समझनी चाहिये। देशीरागों में जहाँ तार-मन्द्र दोनों की या किसी एक की सीमा कही न गई हो वहाँ इच्छानुसार प्रयोग समझ लेना चाहिये क्योंकि देशी होने के कारण इनमें कामचार दिखाई देता है।

कल्लि० ने ग्रन्थकार द्वारा कहे गए कुछ अधुनाप्रसिद्ध रागांगादि के लक्ष्य में उसके समय में आए लक्षणों से विरोध का परिहार भी किया है। श्रीराग के लिये उसने कहा कि इसमें ग और नि के क्रम से म और स की एक-एक श्रुति लेकर त्रिश्रुति बन जाने पर ग-नि का त्रिश्रुतित्व तो शास्त्रविहित है लेकिन इसके फलस्वरूप म और स का त्रिश्रुतित्व शास्त्रसम्मत न होने से कष्टदायक अर्थात् अनुचित है। आशय यह है कि साधारण विधि के अनुसार जब ग-नि एक-एक श्रुति चढ़कर साधारण और कैशिक बनते हैं तो वे त्रिश्रुतिक हो जाते हैं। फलतः म-स को एक-एक श्रुति उतर कर द्विश्रुति हो जाना चाहिये। लेकिन तत्कालीन लक्ष्य में ऐसा नहीं होता और म-स त्रिश्रुति ही रह जाते हैं जो शास्त्रसम्मत नहीं है।

इसी तरह इस राग में रि और ध का ग और नि की पहली-पहली श्रुति का ग्रहण करके चतुःश्रुति बन जाना शास्त्रसम्मत नहीं है। वास्तव में इन दोनों क्रियाओं के फलस्वरूप रि-ध चतुःश्रुतिक हो जाते हैं और ग-नि अपने मूल स्थान से १-१ श्रुति आगे जाकर भी रि-ध से २-२ श्रुतियों के अन्तर पर ही रहते हैं। इसे नीचे दी गई स्वरों की श्रुतिव्यवस्था से समझा जा सकता है।

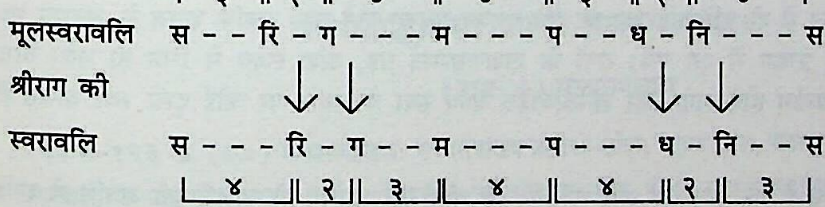
३ २ ४ ४ ३ २ ४
मूलस्वरावलि स - - रिं - ग - - - म - - - प - - ध - नि - - - स
श्रीराग की
स्वरावलि स - - - रि - ग - - म - - - प - - - ध - नि - - स
४ २ ३ ४ ४ २ ३

ये स्वर वर्तमान उत्तर भारतीय काफ़ी से एकरूप हैं क्योंकि काफ़ी में चतुःश्रुति रे-ध और उनसे २-२ श्रुत्यन्तर पर ग-नि हैं जो कोमल कहलाते हैं। इस प्रकार ग-नि कोमल और शेष (वर्तमान) शुद्ध स्वरों से काफ़ी होती है। लेकिन उत्तर की वर्तमान श्री में शुद्ध विकृत स्वर उलट दिये गये हैं यानी कोमल ग-नि को वर्तमान शुद्ध ग-नि और शुद्ध रे-म-ध को विकृत यानी म को तीव्र और रे-ध को कोमल कर दिया गया है।

इसी प्रकार कल्लि० ने यह भी कहा कि जातियों (और ग्रामरागों, भाषाओं) आदि से उत्पन्न होने के कारण राग परम्परया दो ग्रामों से भी संबद्ध हैं इसलिए उन-उन रागों की मूर्छनाओं को संबद्ध ग्राम के मध्यस्थानीय षड्ज या मध्यम से आरम्भ

करना लक्षणसम्मत है और संभव भी है। लेकिन मध्यमग्राम से उत्पन्न मध्यमादि और तोडी आदि का मध्यस्थान के म के बजाय मध्यषड्ज से ही आरंभ दिखाई देता है। कल्लि० के 'लक्षणविरुद्धतया' वाक्य का अर्थ यह प्रतीत होता है—रागों में ग्रह स्वर के आधार पर तारस्थान में स्वरप्रयोग की सीमा शास्त्र द्वारा निर्धारित है। मध्यमग्राम में यह सीमा निषाद है। मध्यमादि मध्यमग्राम नामक ग्रामराग से और तोडी षाडव ग्रामराग से उत्पन्न हैं। ये दोनों ही ग्रामराग मध्यमग्राम के हैं और दोनों में काकली निषाद का प्रयोग शास्त्रविहित है। मध्यमादि और तोडी दोनों में म ग्रह है इसलिये और जनक रागों के लक्षण के आधार पर इनमें काकली का प्रयोग लक्षणसम्मत है। लेकिन, जैसा ऊपर कहा गया, कल्लि० के समय के लक्ष्य में इन दोनों रागों का आरम्भ मध्यम से न होकर षड्ज से होता दिखाई देता है। इस प्रकार ग्रह के आधार पर तार में अन्य स्वरों के प्रयोग की सीमा संबन्धी लक्षण का लक्ष्य में अभाव हो गया।

शास्त्र के ग्रामभेदक त्रिश्रुति और चतुःश्रुति पंचम का तत्कालीन लक्ष्य में अलोपी के रूप में प्रयोग होने पर भी सभी रागों में पंचम की एकरूपता हो गई यानी केवल चतुःश्रुतिक पंचम ही रह गया।

मध्यम और ऋषभ तथा धैवत का अपने स्थान से आगे बढ़ना शास्त्रविहित नहीं है। लेकिन क्रियांग रामक्रिया में मध्यम का पंचम की दो श्रुतियाँ ले लेना और नट्ट, देवक्री आदि रागों में रि और ध का क्रमशः अन्तर और काकली की दो श्रुतियाँ लेकर दोनों का पंचश्रुति बन जाना शास्त्रविहित नहीं है। रामक्रिया में मध्यम षट्श्रुति बन जाता है और नट्ट, देवक्री में रि-ध पंचश्रुति। कल्लि० की टीका में 'शास्त्रविवक्षिता' पाठ है लेकिन यहाँ 'शास्त्राविवक्षिता' (शास्त्र-अविवक्षित) होना चाहिये क्योंकि शास्त्र में स्वर का सबसे बड़ा अन्तराल चार श्रुति का ही होता है, पाँच और ६ का 'अविवक्षित' है।

आन्धाली के लक्षण में पंचम को ग्रह, अंश कहा है और उसी के अनुसार प्रस्तार भी लिखा है, लेकिन प्रयोग में मध्यम ग्रह अंश है। कर्णाट का ग्रह, अंश षड्ज है लेकिन लक्ष्य में नि ग्रह, अंश है। हिन्दोल में रि-ध का त्याग कहा गया है जबकि रि-प का त्याग करके प्रयोग होता है। षाडव, औडव रागों में भी कभी-कभी लोप्य स्वर का प्रयोग होता है। कभी जन्य-जनक के मेलन में भेद और कहीं रस आदि के विनियोग का अनियम—इस तरह लक्ष्य और लक्षण में अनेक प्रकार का विरोध आ गया है।

कल्लि० द्वारा उल्लिखित विसंगतियाँ संक्षेप में ये हैं—कैशिक साधारण में ग-नि एक-एक श्रुति चढ़ते समय म-स एक-एक श्रुति उतर कर द्विश्रुति होने चाहियें लेकिन प्रयोग में म-स उतरते नहीं और त्रिश्रुति ही रह जाते हैं। इसी तरह रि-ध १-१ श्रुति चढ़कर चतुःश्रुति हो जाते हैं जो शास्त्रसम्मत नहीं है। ग्रामों के नियमानुसार षड्जग्राम के रागों की मूर्छना षड्ज से और मध्यमग्राम की मध्यम से शुरू होनी चाहिये। लेकिन लक्ष्य में सभी षड्ज से ही आरम्भ की जाने लगीं। ग्रह स्वर के आधार पर तार में स्वरप्रयोग की सीमा-संबन्धी नियम का अभाव हो गया। त्रिश्रुति पंचम का लोप हो गया, केवल चतुःश्रुति पंचम ही रह गया। मध्यम अपने स्थान से दो श्रुति चढ़ कर षट्श्रुति बनकर प्रयुक्त होने लगा जबकि शास्त्र के अनुसार मध्यम चढ़ता नहीं। रि-ध पंचश्रुति बनकर प्रयोग में आ गये। रागों के लक्षणसम्मत ग्रह, अंश लक्ष्य मे भिन्न हो गये। षाडव-औडव रागों में लोप्य स्वर का भी प्रयोग होने लगा और शास्त्रविहित वर्ज्य स्वर के स्थान पर कोई दूसरे स्वर वर्जित किये जाने लगे।

इस विवरण से यह बहुत स्पष्ट है कि शार्ङ्गदेव और कल्लि० के बीच की लगभग दो सदियों की अवधि में रागों के प्रयोग में बहुत बड़े परिवर्तन हो गये थे और शास्त्रोक्त नियमों से लक्ष्य में बहुत विरोध उत्पन्न हो चुका था जिसे कल्लि० ने बिना झिझक स्वीकार किया है। लेकिन यह कहते हुए कि जैसे राम ने समुद्र तट पर लगे साल के अनेक वृक्षों को एक ही बाण से भेद दिया उसी तरह मतंग आदि आचार्यों के रहस्य के वेत्ता कल्लि० एक ही उत्तर से बहुत से विरोधों का परिहार करने की इच्छा से यह कहते हैं कि देशीत्व होने से इन अनियमों में कोई दोष नहीं है क्योंकि अपने-अपने प्रदेश के लोगों के मन का रंजन ही एकमात्र फल है इसलिये प्रयोग में जो कामचार यानी इच्छानुसार प्रयोग होता है वह देशीत्व है; जैसा कि ग्रन्थकार ने ग्रन्थ के शुरू में ही देशी का लक्षण दिया है 'देश-देश में लोगों की रुचि से प्रवृत्त होकर हृदयरंजक होने वाला गीत, वाद्य और नृत्त देशी कहलाता है'। कल्लि० ने आंजनेय का यह साक्ष्य भी दिया कि जिनमें श्रुति, स्वर, ग्राम, जाति

आदि का नियम नहीं होता और जो विभिन्न प्रदेशों की गति अर्थात् प्रवृत्ति या प्रयोग की छाया से युक्त होते हैं वे देशीराग होते हैं। नियम होने पर तो मार्गत्व ही होता है जैसा ग्रन्थकार ने 'यो मार्गितो विरिञ्च्याद्यैः ……………' आदि के द्वारा कहा है।

(प्रथमबङ्गालः)

षड्जग्रामे मन्द्रहीनः षड्जमध्यमया कृतः॥ १६०॥
बङ्गालोंऽशग्रहन्यासषड्जस्तुल्याखिलस्वरः।

(राग-२) प्रथमबंगाल

१६० ग-१६१ ख. (अ०) **षड्जग्रामे** षड्जग्राम में **षड्जमध्यमया कृतः** षड्जमध्यमा (जाति) से किया हुआ (अर्थात् उत्पन्न) **बङ्गालः** बंगाल **मन्द्रहीनः** मन्द्र रहित, **अंशग्रहन्यासषड्जः** षड्ज ग्रह, अंश, न्यास (और) **तुल्य-अखिलस्वरः** सब समान (रूप से प्रयुक्त) स्वर वाला (होता है)।

(सर०) **मन्द्रहीनः** के द्वारा सिर्फ़ मध्य और तार स्थान में प्रयोग सूचित किया गया है।

(द्वितीयबङ्गालः)

मध्यमे कैशिकीजातः षड्जन्यासांशकग्रहः॥ १६१॥
बङ्गालस्तारमध्यमस्थपञ्चमः स्यात् समस्वरः।

(राग-३) द्वितीय बंगाल

१६१ ग-१६२ ख. (अ०) **मध्यमे** मध्यम (ग्राम) में **कैशिकीजातः** कैशिकी (जाति) से उत्पन्न **बङ्गालः** (द्वितीय) बंगाल **षड्जन्यास-अंशकग्रहः** षड्ज ग्रह, अंश, न्यास, **तारमध्यमस्थपञ्चमः** मध्य (और) तार (स्थान) में स्थित पंचम (तथा) **समस्वरः** समान (रूप से प्रयुक्त) स्वर वाला **स्यात्** होता है।

(सर०) **तारमध्यस्थपञ्चमः** का सिंह० ने मन्द्र पंचम से रहित अर्थ किया है।

(मध्यमषाडवः)

ऋषभांशः पञ्चमान्तः स्यादपन्यासधैवतः॥ १६२॥
वीररौद्राद्भुतरसः पाल्पो मध्यमषाडवः।

(राग-४) मध्यमषाडव

१६२ ग-१६३ ख. (अ०) **मध्यमषाडवः** मध्यमषाडव **ऋषभ-अंशः** ऋषभ अंश, **पञ्चम-अन्तः** पंचम न्यास, **अपन्यासधैवतः** धैवत अपन्यास, **प-अल्पः** प अल्प (और) **वीररौद्र-अद्भुतरसः** वीर, रौद्र (तथा) अद्भुत रस (में प्रयुक्त होने वाला) **स्यात्** होता है।

(शुद्धभैरवः)

धैवतांशग्रहन्याससंयुतः स्यात् समस्वरः॥ १६३॥
तारमन्द्रोऽयमाषड्जगान्धारं शुद्धभैरवः।

(ग्राग-५) शुद्ध भैरव

१६३ ग-१६४ ख. (अ०) **अयं शुद्धभैरवः** यह शुद्धभैरव **धैवत-अंशग्रहन्याससंयुतः** धैवत ग्रह, अंश, न्यास से संयुत, **समस्वरः** (सब) समान स्वर, **आ-षड्जगान्धारं** षड्ज (अथवा) गान्धार तक **तारमन्द्रः** तार, मन्द्र (में प्रयोग) वाला **स्यात्** होता है।

(सर०) तारमन्द्रः को सिंह० ने 'मध्यमस्वरहीन' यानी मध्यस्थान से रहित कहा है। उसने यह भी कहा कि विकल्प से अंश स्वर धैवत से शुरू करके षड्ज तक या गान्धार तक तारमन्द्र हो सकता है।

(मेघरागः)

षड्जे धैवतिकोद्भूतः षड्जतारसमस्वरः॥ १६४॥
मेघरागो मन्द्रहीनो ग्रहांशन्यासधैवतः।

(राग-६) मेघराग

१६४ ग-१६५ ख. (अ०) **षड्जे** षड्ज (ग्राम) में **धैवतिका-उद्भूतः** धैवती (जाति) से उत्पन्न **मेघरागः** मेघराग **षड्जतारसमस्वरः** षड्ज (केवल) तार (स्थान में और सब) समान स्वर, **मन्द्रहीनः** मन्द्र रहित, **ग्रह-अंशन्यासधैवतः** धैवत ग्रह, अंश न्यास वाला (होता है)।

(सर०) सिंह० के अनुसार 'षड्जतार' से षड्ज का तारस्थान में ही प्रयोग सूचित होता है, मन्द्र, मध्य में नहीं। मन्द्रहीनः का अर्थ यह है कि अन्य स्वरों का मन्द्र में प्रयोग नहीं होता।

(सोमरागः)

षड्जे षाड्जीभवः षड्जग्रहांशान्तो निगोत्कटः॥ १६५॥
सोमरागः स्मृतो वीरे तारमध्यस्थमध्यमः।

(राग-७) सोमराग

१६५ ग-१६६ ख. (अ०) **षड्जे** षड्ज (ग्राम) में **षाड्जीभवः** षाड्जी (जाति) से (उत्पन्न) होने वाला, **षड्जग्रह-अंश-अन्तः** षड्ज ग्रह, अंश, न्यास, **नि-ग-उत्कटः** नि, ग बहुल, **तारमध्यस्थमध्यमः** (केवल) मध्य (और) तार (स्थान में) स्थित (अर्थात् प्रयुक्त) मध्यम वाला **सोमरागः** सोमराग **वीरे स्मृतः** वीर (रस) में स्मरण किया गया (अर्थात् प्रयुक्त है)।

(प्रथमकामोदः)

तारषड्जग्रहः षड्जे षड्जमाध्यमिकोद्भवः॥ १६६॥
गतारमन्द्रः कामोदो धांशः सान्तः समस्वरः।

(राग-८) प्रथम कामोद

१६६ ग-१६७ ख. (अ०) **षड्जे** षड्ज (ग्राम) में **षड्जमाध्यमिका-उद्भवः** षड्जमध्यमा से (उत्पन्न) होने वाला **कामोदः** (प्रथम) कामोद **तारषड्ज-ग्रहः** तार षड्ज ग्रह, **ध-अंशः** ध अंश, **स-अन्तः** स न्यास, **ग-तार-मन्द्रः** मन्द्र (और) तार ग **समस्वरः** (सब) समान स्वर वाला (होता है)।

द्वितीयकामोदः

षड्जे षाड्जीभवः षड्जग्रहांशन्यासंयुतः॥ १६७॥
समस्वरोऽन्यः कामोदो मन्द्रगान्धारसुन्दरः।

(राग-९) द्वितीय कामोद

१६७ ग-१६८ ख. (अ०) **षड्जे** षड्ज (ग्राम) में **षाड्जीभवः** षाड्वी (जाति) से (उत्पन्न) होने वाला **अन्यः कामोदः** एक और (द्वितीय) कामोद **षड्जग्रह-अंशन्याससंयुतः** षड्ज ग्रह, अंश, न्यास युक्त, **मन्द्रगान्धारसुन्दरः** मन्द्र गान्धार से सुन्दर (बना हुआ) **समस्वरः** समान स्वर वाला (होता है)।

(आम्रपञ्चमः)

गान्धारांशग्रहन्यासो मन्द्रमध्यसमुद्भवः॥ १६८॥

निगतारो मन्द्रहीनो रागः स्यादाम्रपञ्चमः।
शार्ङ्गदेवेन गदितो हास्याद्भुतरसाश्रयः॥ १६९॥

(राग-१०) आम्रपंचम

१६८ ग-१६९. (अ०) **आम्रपञ्चमः रागः** आम्रपंचम राग **गान्धार-अंशग्रहन्यासः** गान्धार ग्रह, अंश, न्यास, **मन्द्रमध्यसमुद्भवः** मन्द्र (और) मध्य (स्वरों) से उत्पन्न होने वाला, **नि-ग-तारः** नि (और) ग तार (स्थान में) **मन्द्रहीनः** मन्द्ररहित **स्यात्** होता है। **शार्ङ्गदेवेन** शार्ङ्गदेव के द्वारा **हास्य-अद्भुतरस-आश्रयः** हास्य (और) अद्भुत रस के आश्रय वाला **गदितः** कहा गया (है)।

(सर०) मन्द्रमध्यसमुद्भवः का अर्थ, सिंह० के अनुसार, मन्द्र और मध्य स्वरों से उत्पन्न है। लेकिन मन्द्रहीनः लक्षण इसके विपरीत है इसलिये सिंह० ने कहा कि मन्द्र, मध्य से उत्पन्न कहा जा चुका है अतः विकल्प से मन्द्ररहित समझना होगा।

(अधुनाप्रसिद्धभाषाविभाषाः)

(कैशिकी)

शुद्धपञ्चमभाषा स्यात् कैशिकी मपभूयसी।
पन्यासांशग्रहा मापन्यासा सगमतारभाक्॥ १७०॥

ईर्ष्यायां विनियोक्तव्या भाषाङ्गं केचिदूचिरे।
समस्वरा रितारा सा ममन्द्रा चोत्सवे भवेत्॥ १७१॥

पापापा समधा सानी सासासाधा माससम धास नीसरी गासासा सधम मामासस धसमनी नीधा मामगमा पाप समधासा मा धासा। पाधासामाधासमाधासनि रीसनी गसा। सधमागा गस सास धमासस धसमनी नीधामाम गामा पापा—इत्यालापः।

पामामा धससनि धसनि धसनिधा माध गाग स सनिध पापारिगसरिग मा रिगसधनिधा मानिधससास ममा निधा सपा धमरिग रिमाधमधनिधनि धनि ध(मध्यम)मनिधा सास ममा निध स पापा—इति रूपकम्।

अधुनाप्रसिद्ध भाषा और विभाषाएँ

(भाषा-१०) कैशिकी

१७०-१७१. (अ०) **कैशिकी** कैशिकी **शुद्धपञ्चमभाषा स्यात्** शुद्ध पंचम (ग्रामराग) की भाषा होती है (जो) **म-प-भूयसी** बहुल म-प, **प-न्यास-अंशग्रहा** प ग्रह, अंश न्यास, **म-अपन्यासा** म अपन्यास, **स-ग-म-तारभाक्** तार (स्थान में प्रयुक्त) स, ग, म वाली **ईर्ष्यायाम्** ईर्ष्या में **विनियोक्तव्या** विनियुक्त करनी चाहिये। **केचित्** कुछ (आचार्य) **भाषाङ्गम् ऊचिरे** (इसे) भाषांग कहते हैं। **सा** वह **समस्वरा** (सब) समान स्वर, **रि-तारा** तार रि **म-मन्द्रा च** और मन्द्र म वाली **उत्सवे भवेत्** उत्सव में (प्रयुक्त) होती है।

(सर०) यहाँ से ग्रन्थकार ने कुछ भाषा, विभाषाओं के लक्षण आलाप व रूपकसहित दिये हैं। इससे यह समझ सकते हैं कि ये भाषाएँ तत्कालीन लक्ष्य में प्रचार में रही होंगी, यद्यपि ग्रन्थकार ने अधुनाप्रसिद्ध वर्ग में रागांगादि का ही उद्देश किया है, भाषाओं का नहीं।

सगमतारभाक् की व्याख्या में सिंह० ने कहा कि स, ग, म को तार का कहने का अर्थ है कि उनका मन्द्र और मध्य में प्रयोग नहीं है।

(प्रथमसौराष्ट्री)

पञ्चमादेव सौराष्ट्री भाषा पान्तग्रहांशका।
रिहीना सगधैस्तारा ममन्द्रा सपभूयसी॥ १७२॥

नियुक्ता सर्वभावेषु मुनिभिर्गमकान्विता।

पापापापमधनी सासासनीग सासासनि गानी गानी धाधा धध सास पापा पपधा पा धापामापा। मधनी मांधानी मां धनीसा सा। सनी गानी गां सासा स नी गा नी धा धाधधसा धममपा पप धापा धापामामा। मधनी मधनी। मां धनि सा सापमानी निधापम धापमध पापा—इत्यालापः।

पा पम स नीसा सनी गग सस नी गगनी नीगमग नीधाधाध धध मध सस। पाधा पाधा पामा मामा ममधम धधनी सा सनि गग सास। निधधस निधमपा पमधध पमधस पमधध धग मनी धध पा। पमनी नी नीधा पम धध पम धध पा—इति रूपकम्।

(भाषा-११) प्रथम सौराष्ट्री

१७२-१७३ ख. (अ०) **पञ्चमात् एव** पंचम (ग्रामराग) से ही (उत्पन्न) **सौराष्ट्री भाषा** (प्रथम) सौराष्ट्री भाषा **प-अन्तग्रह-अंशका** प ग्रह, अंश, न्यास वाली, **रि-हीना** रि रहित **स-प-भूयसी** बहुल स-प, **स-ग-धैः तारा** स, ग, ध के द्वारा तार (अर्थात् तार स, ग, ध) वाली, **म-मन्द्रा** मन्द्र म वाली, **गमक-अन्विता** गमकों से अन्वित **मुनिभिः** मुनियों के द्वारा **सर्वभावेषु नियुक्ता** सभी भावों में नियुक्त की गई (अर्थात् की जाती है)।

(सर०) सौराष्ट्री को यहाँ पंचम की भाषा कहा है लेकिन उद्देश में पंचम की भाषाओं में यह नाम नहीं है। सं० राज में अवश्य सौराष्ट्री पंचम की भाषाओं में गिनाई गई है।

(द्वितीयसौराष्ट्री)

सांशग्रहान्ता सौराष्ट्री टक्करागेऽतिभूरिनिः॥ १७३॥
भूरीतरा ममन्द्रा च पहीना करुणे भवेत्।

सा सा सानी धनी नीध नीनी मां नी धनी धानी धानी धनी नी मां नीधा नीसा साध नीधमध नीधनीध माधनीध मं गागाग मंगां सगा सनी धनी नीध नी नी धनी नी नी मां नीधा नीसा सा—इत्यालापः।

सनि धनि नी नी मां नी धनि सासा धनी नी मां नी धनीसा धससध रीरी रीध मम। धममं(मध्यम)म (गान्धार)ग(षड्ज)ससा गासागाध नी नी नी धनी मधास नीसा गानी धध सासा—इति रूपकम्।

(भाषा-१२) द्वितीय सौराष्ट्री

१७३ ग-१७४ ख. (अ०) टक्करागे सौराष्ट्री टक्क (ग्राम)राग में सौराष्ट्री (भाषा) स-अंशग्रह-अन्ता स ग्रह, अंश, न्यास, अतिभूरि निः अत्यन्त बहुल नि, भूरि-इतरा अन्य (स्वर) बहुल वाली, म-मन्द्रा मन्द्र म प-हीना च और प रहित करुणे भवेत् करुण (रस) में (प्रयुक्त) होती है।

(प्रथमललिता)

टक्कभाषैव ललिता ललितैरुत्कटैः स्वरैः॥ १७४॥

षड्जांशग्रहणन्यासा षड्जमन्द्रा रिपोज्झिता।
धीरैर्वीरोत्सवे प्रोक्ता तारगान्धारधैवता॥ १७५॥

सासा सास मम धधा धधमधा माम गाग मसा सग मसगम धधा धाधा धमधनी नीधामाम गागमां सां सधनीनी धनी नीध नीगागस सागासनी धनी सासा सासममसा मसगम धधा धाध मधानीनी धामामगा गमसास धानी नीध नीनीधध नीगागसा। सागां सनी धानी सासा—इत्यालापः।

सममध धाधामंध धमामा(गान्धार)गसासासग मधधनी नीधामा। धामामध गागागस सासससस गगसग मसगम धाधाधनी धधनीम मप[ध]धमा गससमस गसासासनीधधनी धनीगागागसां ग धानीं सासा—इति रूपकम्।

(भाषा-१३) प्रथम ललिता

१७४ ग-१७५. (अ०) टक्कभाषा एव ललिता टक्क की ही भाषा ललिता उत्कटैः ललितैः स्वरैः अत्यधिक ललित (स्निग्ध) स्वरों से, षड्ज-अंश-ग्रहणन्यासा षड्ज ग्रह, अंश न्यास, षड्जमन्द्रा मन्द्र षड्ज, तार-गान्धारधैवता तार (स्थान के) गान्धार (और) धैवत वाली, रि-प-उज्झिता रि-प रहित धीरैः धैर्यवानों के द्वारा वीर-उत्सवे प्रोक्ता वीरों के उत्सव में कही गई (है)।

(सर०) सिंह० ने ललितैः का अर्थ मसृण (स्निग्ध) और उत्कटैः का अर्थ अत्यधिक दिया है।

(द्वितीयललिता)

भिन्नषड्जेऽपि ललिता ग्रहांशन्यासधैवता।
रिगमैर्ललितैस्तारमन्द्रैर्युक्ता धमन्द्रभाक्॥ १७६॥

प्रयोज्या ललिते स्नेहे मतङ्गमुनिसंमता।

धाधाधाध सनी धाधाधध नीरी गासनीसा नीधाधाध सनी रीगामा। गरी मागा रीरीरीरीरीरी गमपधाधप

नींधा पामा गारी। मागारी। रीगरीग मगमरी गामागारी धनी रीगासनी। धाधाधम धाधाधध नीरी रीधा नीरी धानी रीगा सनी सनी धाधाधध सरिग मगरि मामा रीरीरीरीरी मगपधा पधनीधापामा गारी मागा रीरी गमगमं रीगामागा रीधानीरीमा सनी सनी धाधा—इत्यालापः।

(धैवत) सनिगनिस रिग रिम सनि धनि धममाध धमनिनि धधधध रीरीरीरी गम। मंमं गारी धापामगरीमागारी सनी धधनी गगा। सनी सनी धानीमांधा सनीनीधाधा—इति रूपकम्।

(भाषा-१४) द्वितीय ललिता

१७६-१७७ ख. (अ०) **मतङ्गमुनिसंमता** मतंग मुनि द्वारा संमत **भिन्नषड्जे अपि** भिन्नषड्ज (ग्रामराग) में भी **ललिता** ललिता (होती है, जो) **ग्रह-अंशन्यासधैवता** धैवत ग्रह, अंश, न्यास वाली, **ललितैः तारमन्द्रैः रि-ग-मैः युक्ता** तार और मन्द्र के ललित रि, ग, म से युक्त, **ध-मन्द्रभाक्** मन्द्र ध से युक्त **ललिते स्नेहे** कोमल (और) स्नेह (युक्त भावों) में **प्रयोज्या** प्रयुक्त करनी चाहिये।

(सर०) पिछले श्लोक में ललिता भाषा कही गई है। ललिता नाम की एक भाषा भिन्नषड्ज में भी है इसलिये अपि (भी) का प्रयोग किया है।

द्वितीय ललिता को मतंगमुनि सम्मत कहना महत्त्वपूर्ण है क्योंकि बृह० का भाषालक्षण आज प्राप्त नहीं है।

यहाँ सिंह० ने **ललितैः** का अर्थ 'किञ्चित् वक्रितैः' यानी कुछ वक्रित या वक्र बनाए हुए किया है।

स्नेह ललित (मनोहर) तो होता ही है फिर भी **ललिते स्नेहे** का प्रयोग किया है। ललित का अर्थ प्राञ्जल भी है जो निश्छल, निष्कपट का सूचक है। इसलिये ललित स्नेह का अर्थ निष्कपट स्नेह समझ सकते हैं।

(प्रथमसैन्धवी)

चतुर्धा सैन्धवी तत्र टक्कभाषा रिपोज्झिता॥ १७७॥

सन्यासांशग्रहा सान्द्रा गमकैर्लङ्घितस्वरैः।
सगतारा षड्जमन्द्रा गेया सर्वरसेष्वसौ॥ १७८॥

सासासासा मांसा मांसा सा। मंस गामा गासा सागां सामां सासमम गामा गममस नीगससा सनी मांस नीगां नीधांधां। धमाधांधाधं मानी नीनी धमाधाधा धाध मनी नीनीं धनी धनी सासा—इत्यालापः।

(मध्यम)म(षड्ज) स सागाससा। नीनीनीनी सधंनीस नीधाधा धमा धममनी धाधाधममनि नीनी-नीनीनीनी सनी सनी गगसासा ममगममम धग गगसम नीनीधध ममधम धनीनीनी मधनीनी नीधनीसगमधध गध मग सनी सनी ससनीध नीनीनीसनीधमम धध नीनी समगग नीनीनीम नीधममधधनीनीगगसा सा—इति रूपकम्।

(भाषा-१५) प्रथम सैन्धवी

१७७ ग-१७८. (अ०) **सैन्धवी चतुर्धा** सैन्धवी चार प्रकार की (होती है)। **तत्र** उनमें से **टक्कभाषा** टक्क की भाषा **रि-प-उज्झिता** रि, प रहित, **स-न्यास-अंशग्रहा** स ग्रह, अंश, न्यास, **गमकैः सान्द्रा** गमकों से व्याप्त, **लङ्घितस्वरैः** लंघन किए गए स्वरों के द्वारा, **स-ग-तारा** तार स, ग (और) **षड्जमन्द्रा** मन्द्र षड्ज वाली **असौ** यह (प्रथम सैन्धवी) **सर्वरसेषु गेया** सभी रसों में गाई जाती है।

(सर०) ग्रन्थकार ने सैन्धवी के चार प्रकार कहे हैं जिनमें से पहला टक्क में, दूसरा पंचम में, तीसरा मालवकैशिक में और चौथा प्रकार भिन्नषड्ज में है।

'लङ्घित' का अर्थ होता है लाँघ कर यानी छोड़कर। लेकिन सिंह० ने लङ्घितस्वरैः का 'द्रुत स्वरों के द्वारा' अर्थ दिया है।

(द्वितीय सैन्धवी)

सैन्धवी पञ्चमेऽप्यस्ति ग्रहांशन्यासपञ्चमा।
रिपापन्याससंयुक्ता रम्या सगमकैः स्वरैः॥ १७९॥

नितारा रिबहुस्तारपा पूर्वविनियोगिनी।

पापापा स पध सरी री री री री पमधपम धपापास पधसरी रीरीरीसरीगारी। मारी पाधा सारी गासा रीरीरीरी गापां रीं री गाससरी रीमाधा पमधपमध पापासपधम पधमपध मपधसनीरीरी मरीसरी रीपमध पमधपापा। सपधसरी। रीरीरीस रीरीरीस रीगारीमाधापाधासारी गासारीरीधरीरी गां पां रीरी माससरी रीसा धापमधापमधापापा—इत्यालापः।

पधसधसरी गसरिगरीसरी। गरीसध मधं धंप पसरीरी रीरीपारी पपपारी रिममामांमाससारी सरीरीरी रीससधा धपपपधधसग पंधं सरी सरीगम धधपाधा पमधध पमधधपापा—इति रूपकम्।

(भाषा-१६) द्वितीय सैन्धवी

१७९-१८० ख. (अ०) **सैन्धवी** सैन्धवी **पञ्चमे अपि अस्ति** पंचम (ग्रामराग) में भी है (और वह) **ग्रहअंशन्यासपञ्चमा** पंचम ग्रह, अंश, न्यास वाली, **रि-प-अपन्याससंयुक्ता** रि, प अपन्यास से संयुक्त, **सगमकैः स्वरैः रम्या** गमकयुक्त स्वरों से मनोहर (बनी हुई), **नि-तारा** तार नि (और) **तार-पा** तार प वाली, **रि-बहुः** रि बहुल (और) **पूर्वविनियोगिनी** पूर्ववत् (अर्थात् प्रथम सैन्धवी के समान सब रसों में) विनियोग वाली (है)।

(सर०) सिंह ने **रम्या सगमकैः स्वरैः** का 'नि-ध-प पर गमकों से रम्य बनी' अर्थ किया है लेकिन मूलपाठ में इन स्वरों का उल्लेख नहीं है। संभवतः सिंह० का भिन्न पाठ हो।

(तृतीय सैन्धवी)

मालवे कैशिकेऽप्यस्ति सैन्धवी मृदुपञ्चमा॥ १८०॥

समन्द्रा निगनिर्मुक्ता षड्जन्यासग्रहांशिका।
प्रयोज्या सर्वभावेषु श्रीसोढलसुतोदिता॥ १८१॥

सासासासा समरीमा पापापप धापधापा मा रीरी मा रीरी सां सां समरीमा पापा पप धापामा। पप धापा मा पापा पपधा सा पप धासा धारी। रीमपाधापम रीरी मरीरीसरीसारीससासारी मासारीमामारी मापा-पापपधापाधापधापामारीरीमारीमासा। समरीमा पापा पप धापापामा धापामापा पप पधा सां पपधा पमारींरीं मपाधापमरीमारी रीसासा—इत्यालापः।

सम रीरी ममरिरि पप रिप पपाधाप मरीरी सममममरि पप पप धध(षड्ज)सं पाधापामारी-मरीमरीसरीसाधधसध(षड्ज)सस मम रिरि पप रिरि स रिस रि सास धस ससं मं रिरि मम रिरि पाधापम रिरिसरिसामरिरिरिसा—इति रूपकम्।

(भाषा-१७) तृतीय सैन्धवी

१८० ग-१८१. (अ०) **मालवकैशिके अपि** मालवकैशिक में भी **सैन्धवी अस्ति** सैन्धवी है (जो) **मृदुपञ्चमा** मृदु पंचम, **स-मन्द्रा** मन्द्र स वाली, **नि-ग-निर्मुक्ता** नि-ग से रहित, **षड्जन्यासग्रह-अंशिका** षड्ज ग्रह, अंश, न्यास वाली (और) **सर्वभावेषु प्रयोज्या** सभी भावों में प्रयुक्त होने वाली **श्रीसोढलसुत-उदिता** श्रीसोढल के पुत्र (शार्ङ्गदेव) के द्वारा कही गई (है)।

(सर०) मृदु का अर्थ कोमल होता है तदनुसार मृदुपञ्चमा का अर्थ पंचम के कोमलता से प्रयोग वाली समझना होगा।

(चतुर्थसैन्धवी)

सैन्धवी भिन्नषड्जेऽपि न्यासांशग्रहधैवता।
उद्दीपने नियोक्तव्या धमन्द्रा रिपवर्जिता॥ १८२॥

धाधा धध गमधनि निनि धानी सानी सनि सधा नीधा नीनी धाधमामगमा सानी धाधा पमा धाधाधगसधगमगधमधनीनी। नीनीनी। धनीसधानीनीमधासानीधाधमधाधा—इत्यालापः।

धाध गम धनी नीनी सनी धनी नीनीनीध(षड्ज)सं सनीनी सनी धध गम धग मध नीनी मनी धनी नीध नीध गां सगमा नीसनी धनीधगमधगमधनीनीमनीधनीनीध धासा धमनी सनी धनीध गमधगमधनी। नीमनीधनीनीधनीधाधा—इति रूपकम्।

(भाषा-१८) चतुर्थ सैन्धवी

१८२. (अ०) **भिन्नषड्जे अपि** भिन्नषड्ज में भी **सैन्धवी** सैन्धवी (है जो) **न्यास-अंशग्रहधैवता** धैवत ग्रह, अंश, न्यास, **ध-मन्द्रा** मन्द्र ध वाली, **रि-प-वर्जिता** रि, प रहित **उद्दीपने नियोक्तव्या** उद्दीपन (अर्थात् स्थायीभाव को उद्दीप्त करने) में नियोजित करनी चाहिये।

(प्रथमगौडी)

हिन्दोलभाषा गौडी स्यात् षड्जन्यासग्रहांशिका।
पञ्चमोत्पन्नगमकबहुला धरिवर्जिता॥ १८३॥
षड्जमन्द्रा प्रयोक्तव्या प्रियसंभाषणे बुधैः।

सां मां सां स मगामापापामापामापा मागामसांसां सस सगामापापागमगा मगापगामपापा। मागागसासनी-सागामामगासनीसामास सगासासा सस गामा सागामाप मगा सापा पापा मामा गाग सासा समगा। मापा मापा पा पमगा। पमागम पगापमा गमपगा पमापगा पासासासगसामागासनिसां सां—इत्यालापः।

(षड्ज)सगमग पममगगसां(षड्ज)ससागामा मामा पाप मगापम पगा गगसापानी सनीस मगम गमपम पम गम मम गनिसां गगसगसनिसामगागसासा—इति रूपकम्।

(भाषा-१९) प्रथम गौडी

१८३-१८४ ख. (अ०) **गौडी** गौडी **हिन्दोलभाषा स्यात्** हिन्दोल की भाषा होती है। (वह) **षड्जन्यासग्रह-अंशिका** षड्ज ग्रह, अंश, न्यास वाली, **पञ्चम-उत्पन्नगमकबहुला** पंचम से उत्पन्न गमक बहुल (अर्थात् गमकयुक्त पंचम की बहुलता वाली), **ध-रि-वर्जिता** ध, रि वर्जित, **षड्जमन्द्रा** मन्द्र षड्ज वाली **बुधैः** बुद्धिमानों के द्वारा **प्रियसंभाषणे प्रयोक्तव्या** प्रिय से वार्तालाप में प्रयोग करनी चाहिये।

(द्वितीयगौडी)

ग्रहांशन्यासषड्जान्या गौडी मालवकैशिके॥ १८४॥

मतङ्गोक्ता तारमन्द्रषड्जा भूरिनिषादभाक्।
प्रयोज्या रणरणके वीरे त्वन्यैः प्रयुज्यते॥ १८५॥

सांसां सानि धासां पमा गामानी नीधनी धधमपममगम मगा गसासगारी सागामगमनीनी धम पम पाप मम मगरीमं सां सनी नीरीपा। सनीरीस नीसासा। मगमनी गा मा नीगा मानी। नीधसापा मागामनी नीधधनी धमपमगमगामपाम गरी री मपगमानीधनीस पामगमापाप सां ममगारीरीं सास नीरीरी पास नीरीसनी रीसनी सासा—इत्यालापः।

सांनीधससपापममगाधनिधनि धनिध मपम गमम सा मगरीरी सांसनी रीरी पांसनी रीरी पां स नीरीरीसागममा गानीधपममपममगमगरी सनिसास नीसासनि रिरि सासा—इति रूपकम्।

(भाषा-२०) द्वितीय गौडी

१८४ ग-१८५. (अ०) मालवकैशिके मालवकैशिक में ग्रह-अंशन्यासषड्जा षड्ज ग्रह, अंश, न्यास वाली अन्या गौडी अन्य (प्रकार की) गौडी मतङ्ग-उक्ता मतंग के द्वारा कही गई (है, जो) तारमन्द्रषड्जा मन्द्र, तार षड्ज वाली, भूरिनिषादभाक् बहुल निषाद युक्त रणरणके प्रेम से उत्पन्न संताप में प्रयोज्या प्रयोग करनी चाहिये। अन्यैः तु अन्यों के द्वारा तो (अर्थात् अन्यों के मत से) वीरे वीर (रस) में प्रयुज्यते प्रयुक्त होती है।

(सर०) यहाँ भी ग्रन्थकार ने मतंग के आधार पर लक्षण दिये हैं।

(त्रावणी)

याष्टिके त्रावणी भाषा पञ्चमस्य ग्रहांशसा।
पान्ता सरिपमैर्भूरिः संगतद्विश्रुतिर्मता॥ १८६॥

एषा भाषाङ्गमन्येषां धग्रहांशा निपोज्झिता।
अतारा प्रार्थने मन्द्रधगव्याप्तोरुमध्यमा॥ १८७॥

सासासापा पापाधाधानीनी सानिधानिधा सारी सासानीधनीध सारी गारी मासनी पापाधानीसा सनीमध धससनिमधमधसनिधामागामा सानीससासंसं सनिसांसां निगास निधामा मामां सरि सासा साधानिधापापा।

(भाषा-२१) त्रावणी

१८६-१८७. (अ०) याष्टिके याष्टिक (के मत) में पञ्चमस्य भाषा त्रावणी पंचम की भाषा त्रावणी ग्रह-अंश-सा स ग्रह, अंश वाली, प-अन्ता प न्यास वाली स-रि-प-मैः भूरिः बहुल स, रि, प, म से संगतद्विश्रुतिः द्विश्रुति (अर्थात् ग, नि) की संगति वाली मता मानी गई (है)। अन्येषाम् अन्यों (के मत) में एषा यह भाषाङ्ग भाषांग (मानी गई है और) ध-ग्रह-अंशा ध ग्रह, अंश वाली, नि-प-उज्झिता नि, प रहित, अतारा तार हीन मन्द्र-ध-ग-व्याप्ता मन्द्र ध, ग से व्याप्त, उरुमध्यमा बहुल मध्यम वाली प्रार्थने प्रार्थना में (प्रयुक्त होती है)।

(सर०) भाषा के रूप में त्रावणी के लक्षण याष्टिक के मतानुसार दिये हैं। अन्य मत में यह भाषांग कही गई है और उसके लक्षण भी दिये हैं।

कैशिकी से त्रावणी तक सभी ग्रामरागों की भाषाएँ हैं, सिर्फ़ कैशिकी और त्रावणी को अन्य मत से भाषांग भी कहा है।

(हर्षपुरी)

भाषा हर्षपुरी षड्जमन्द्रा मालवकैशिके।
सन्यासांशग्रहा तारमपा हर्षे धवर्जिता॥ १८८॥

सासासासनिसनिस रिस नीसासा। मगमापापापा। समपापा पममाम म गाग री। रीसांसनि निपां सनि ममगारी नी नी पासनीसांसां सरि रीरी पां सनिरी सनिरीस निसासा। सनिसांरी निसानीनी निसारी। सनिसां सां। मगा मा पापा। समपापमगा गममारीरीसा मनीपांसनी सासागगरी नी नीपासनीसांसां। सनिरीरी पांसनिरी सनिरी सनीसां सां—इत्यालापः।

सानी रीसा नी नीगरी सा। निरीरीग रीमरीग नीरीगरी नीस (मध्यम)म (गान्धार) गारी गगरीसारीगरीपागरी सनी रीग रीनीसासा—इति रूपकम्।

(भाषा-२२) हर्षपुरी

१८८. (अ०) मालवकैशिके मालवकैशिक में भाषा हर्षपुरी भाषा हर्षपुरी षड्जमन्द्रा मन्द्र षड्ज, तार-म-पा तार म, प वाली, ध-वर्जिता ध रहित, स-न्यास-अंशग्रहा स ग्रह, अंश, न्यास वाली हर्षे हर्ष में (प्रयुक्त होती है)।

(भम्माणी)

पञ्चमस्य विभाषा स्याद्भम्माणी मन्द्रषड्जभाक्।
पान्तांशादिः समनिपैस्तारत्यक्तरिरुत्सवे॥ १८९॥

पापा पाम गामा पापा। मामा नीधा मामगमा पापा। पगा गमा सनीधपा पापमनी नीधनीसां सां गममापा पापमपमनीसनीधापापापमपमनीसनिधां पा पापा पम निनिधागां मां पमनि निधापसधापमधपमधापापा—इत्यालापः।

पां(पञ्चम)पंग गम पामम गग मम गग ममनि धधमगा पापा। पपगमसमसनिधसनिधपापमनिनिनि धनि निसमम गपमपमनि सानि मनिध पापा पम नि पानि निधनी सस पमममाधांधमधधपमधधसमधधपापा—इति रूपकम्।

(विभाषा-३) भम्माणी

१८९. (अ०) पञ्चमस्य विभाषा भम्माणी पंचम (ग्रामराग) की विभाषा भम्माणी मन्द्रषड्जभाक् मन्द्र षड्ज युक्त, प-अन्त-अंश-आदिः प ग्रह, अंश, न्यास वाली, तार-स-म-नि-पैः तार स, म, प, नि, के द्वारा, त्यक्त रिः रि रहित उत्सवे उत्सव में (विनियुक्त होती है)।

(टक्ककैशिकः)

धैवत्या मध्यमायाश्च संभूतष्टक्ककैशिकः।
धैवतांशग्रहन्यासः काकल्यन्तरराजितः॥ १९०॥

सारोही सप्रसन्नादिरुत्तरायतयान्वितः।
उद्धटे नटने कामग्रस्ते कञ्चुकिकर्तृके॥ १९१॥

प्रवेशे तुर्ययामेऽह्नो बीभत्से सभयानके।
प्रयोक्तव्यो महाकालमन्मथप्रीतये बुधैः॥ १९२॥

धासा धपा धमामगारीमगाग सासनीम गरीगसा धाधाधसा गरीरीमा माधधधरीरीरी गागमाम धाधाधसागारीरी धाधाधास पाधममगरी गसासधधससरीरीग गममधधरी गगसस सनीनीनी सरीगस निसां सां धांधांधांधां। ससमाम धागसासनिसधाधा धाधाधाधा ससससस मरी धम मममसरि मरिमधपमसा धासासासा सागधासगध सधधसधपरिरि ममसरि ममधपमधा धाधाधस सधसस सस ससारिमधासनिगा सासा निनिधा—इत्यालापः।

सागरिम मारिममाधापा धापा धामा धाध धधसास धासामाधापामा धापामाप धम धधपामारिमा धमधास मामधाधा सागारी। मम गग धध पम धाधाधधसा धससा धपसास गधरीरी रीरी मम ममरीम मममाम ममरिम धपमध मधमध मधपधाधा रीधध रिधाधारि धधाधपा पामा रिस रिरिमम ममधप धाधासधा सासागम मधमध सधसम मसधम धाधा—इति करणम्।

१.	ध	ध	ध	ध	ध	म	प	प
	श्री		म		त्क	ट	त	ट
२.	ध	ध	रि	ग	सं	सं	रि	ग
	वि	ग	लि	त	म	द	म	दि
३.	धं	धं	मं	धं	धं	धं	धं	धं
	रा		मो		द	म		त्त
४.	मं	धं	मं	धं	धं	धं	धं	धं
	म	धु	प	कु	लं			
५.	धं	धं	सं	सं	ग	रि	म	म
	कु	लि	श	ध	र	क	म	ल
६.	रि	रि	म	म	ध	रि	म	म
	यो		नि		प्र	भृ	ति	नु
७.	ध	ध	ध	ध	ध	ध	ध	स
	तं			ग	ण		प	
८.	ध	प	म	ध	ध	ध	ध	ध
	तिं		वं		दे			

—इत्याक्षिप्तिका।

(ग्रामराग-३०) टक्ककैशिक

१९०-१९२. (अ०) **धैवत्याः मध्यमायाः च संभूतः** धैवती और मध्यमा (जातियों) से उत्पन्न **टक्ककैशिकः** टक्कैशिक (ग्रामराग) **धैवत-अंशग्रहन्यासः** धैवत ग्रह, अंश, न्यास वाला, **काकलि-अन्तरराजितः** अन्तर, काकली से शोभित, **स-आरोही सप्रसन्नादिः** आरोही (वर्ण) सहित प्रसन्नादि (अलंकार) युक्त, **उत्तरायतया-अन्वितः** उत्तरायता (मूर्छना) से अन्वित **बुधैः** बुद्धिमानों के द्वारा **उद्भटे नटने** उद्भट नृत्य में, **कामग्रस्ते** काम भाव से ग्रस्त (व्यक्ति) में, **कञ्चुकिकर्तृके प्रवेशे** कंचुकी के द्वारा किये जाने वाले प्रवेश में, **सभयानके बीभत्से** भयानक सहित बीभत्स (रस) में, **अह्नः तुर्ययामे** दिन के चौथे प्रहर में **महाकालमन्मथप्रीतये** महाकाल (शिव) (और) कामदेव की प्रसन्नता के लिये **प्रयोक्तव्यः** प्रयोग करना चहिये।

(सर०) टक्ककैशिक मध्यमा और धैवती जातियों से उत्पन्न कहा गया है इसलिये द्वैग्रामिक होना चाहिये। लेकिन मतंग के अनुसार सातों स्वरों और चतुःश्रुति पंचम के प्रयोग के कारण यह षड्जग्राम का कहा जाना चाहिये। कश्यप के मत से इस राग में नि-ग के लोप से औडुव होता है, मतंग के इस उल्लेख के आधार पर और रि-ध तथा ग-नि लोप से मध्यमग्राम में तानें बनती हैं इस आधार पर टक्ककैशिक का मध्यमग्राम से भी साक्षात् संबन्ध है। इसलिये दोनों आचार्यों के मत के आधार पर ग्रन्थकार द्वारा इस राग को द्विग्राम का राग कहना बिल्कुल सही है। कल्लि० ने इस प्रकार टक्ककैशिक संबन्धी विरोध का परिहार किया है।

सारे ग्रामरागों और दो उपरागों के सम्पूर्ण लक्षण इस अध्याय के अन्त में सारिणी में दिये गये हैं, वहाँ देखे जा सकते हैं।

(मालवा)

मालवा तस्य भाषा स्याद् ग्रहांशन्यासधैवता।
षड्जधौ संगतौ तत्र स्यातामृषभपञ्चमौ॥ १९३॥

धाधासारि सामापामा गारीमाधा पाधाधानी धासाधा।

(भाषा-२३) मालवा

१९३. (अ०) **ग्रह-अंशन्यासधैवता** धैवत ग्रह, अंश, न्यास वाली **मालवा** मालवा **तस्य** उस (टक्ककैशिक) की भाषा **स्यात्** भाषा होती है। **तत्र** उसमें **षड्ज-धौ** स और ध (तथा) **ऋषभपञ्चमौ** ऋषभ और पंचम **संगतौ स्यातां** संगति वाले होते हैं।

(द्राविडी)

गान्धारांशग्रहा धान्ता द्राविडी तद्विभाषिका।
द्विश्रुती संगतौ तत्र भवेतां षड्जधैवतौ॥ १९४॥

गासांगामा धाधा पामा धाधा गास निधाधास गासनि धापनिमागा मनिधा।

(विभाषा-४) द्राविडी

१९४. (अ०) **तत् विभाषिका** उस (टक्ककैशिक) की विभाषा **द्राविडी** द्राविडी **गान्धार-अंशग्रहा** गान्धार ग्रह, अंश, **ध-अन्ता** ध न्यास वाली (होती है)। **तत्र** उसमें **षड्जधैवतौ** षड्ज और धैवत (तथा) **द्विश्रुती** द्विश्रुति (स्वर अर्थात् गान्धार, निषाद) **संगतौ भवेतां** संगति वाले होते हैं।

(सर०) ग्रन्थकार ने अपने समय में प्रचलित देशीरागों और उनके जनक ग्रामराग, उपराग, राग, भाषा तथा विभाषाओं के ही लक्षण दिये हैं लेकिन अप्रचलित हुए और जो 'अधुनाप्रसिद्ध' रागों के जनक नहीं हैं (अजनक) उनके लक्षण छोड़ दिये हैं। कल्लि० ने मतंग, आंजनेय आदि के मतानुसार उन रागों के लक्षण दिये हैं। उस विस्तार को यहाँ व्याख्या में सम्मिलित नहीं किया गया है, पाठक मूल टीका में देख सकते हैं।

'औमापतम्' में शुद्ध, छायालग और संकीर्ण—रागों के ये जो तीन प्रकार कहे हैं उनके लक्षण उद्धृत करते हुए कल्लि० ने यह स्पष्ट किया कि शास्त्रोक्त नियमों का अतिक्रमण न करते हुए स्वतः रक्ति का हेतु होने वाले शुद्धराग होते हैं। अन्य राग की छाया के द्वारा रक्ति उत्पन्न करने वाले छायालग राग होते हैं और जो शुद्ध तथा छायालग रागों के मिश्रण से रक्ति का कारण बनते हैं वे संकीर्ण कहलाते हैं।

इति द्वितीये रागविवेकाध्याये रागाङ्गादिनिर्णयाख्यं द्वितीयं प्रकरणम्

दूसरे रागविवेकाध्याय का रागांगादि-निर्णय नामक दूसरा प्रकरण समाप्त

इति श्रीमदनवद्यविद्याविनोदश्रीकरणाधिपतिश्रीसोढलदेवनन्दननिःशङ्कश्रीशार्ङ्गदेवविरचिते
संगीतरत्नाकरे रागविवेकाध्यायो द्वितीयः

श्रीमत् अनवद्य-विद्याविनोद श्रीकरणाधिपति श्रीसोढलदेवनन्दन
निःशङ्क शार्ङ्गदेव द्वारा विरचित संगीतरत्नाकर का
दूसरा रागविवेकाध्याय समाप्त

*

तृतीयः प्रकीर्णकाध्यायः

तीसरा प्रकीर्णकाध्याय

(उपोद्घातः)

अथ प्रकीर्णकं कर्णरसायनमनाकुलम्।
देशीमार्गाश्रयं वक्ति शार्ङ्गदेवो विदां वरः॥ १॥

उपोद्घात

१. (अ०) **अथ** अब (अर्थात् स्वर और राग का निरूपण कर चुकने के बाद) **विदां वरः शार्ङ्गदेवः** विद्वानों में श्रेष्ठ शार्ङ्गदेव **अनाकुलम्** अनाकुल (असंकीर्ण, जिसका लक्षण एक दूसरे से मिश्रित नहीं है) **कर्णरसायनं** कानों को तृप्त और हर्षित करने वाले **देशीमार्ग-आश्रयं** देशी और मार्ग के आश्रय वाले **प्रकीर्णकं** प्रकीर्णक को **वक्ति** कहता है (अर्थात् निरूपण करता है)।

(सर०) ग्रन्थ के पहले अध्याय में स्वरगत और दूसरे अध्याय में रागादि का निरूपण किया जा चुका है जो मार्गगत भी है और देशीगत भी। पूरे ग्रन्थ में सभी अध्यायों की विषयवस्तु मार्ग और देशी दोनों से संबद्ध है। तीसरे अध्याय में कहे जाने वाले विषय भी मार्ग और देशी दोनों से संबन्ध रखते हैं इसलिये प्रकीर्णक को इन दोनों का आश्रय कहा है। 'प्रकीर्णक' कहने का तात्पर्य यह है कि इसमें निरूपित विषयों का ग्रन्थ के विषयविभाग यानी स्वर, राग, प्रबन्ध, ताल, वाद्य और नृत्य में से किसी में भी समावेश नहीं हो सकता। कल्लि० ने इस ओर ध्यान दिलाया है।

सिंह० ने प्रकीर्णक के अन्तर्गत प्रतिपादित विषयों के समावेश का औचित्य दिखाते हुए कहा कि पहले अध्याय में स्वरों का निरूपण करके स्वरों से साक्षात् उत्पन्न जातियाँ कहीं। उन जातियों से उत्पन्न रागों के निरूपण का अवसर होने के कारण दूसरे अध्याय में रागों का प्रतिपादन हुआ। राग की अभिव्यक्ति का हेतु होने से आलप्ति का लक्षण अपेक्षित है। रागलक्षण में गमकों का उपयोग कहा जा चुका है इसलिये गमक-लक्षण भी अपेक्षित है। सिर्फ़ लक्षण के द्वारा रागों का सही ज्ञान नहीं हो सकता। इसके लिये वाग्गेयकार आदि में रागों की प्रसिद्धि (बर्ताव) अपेक्षित है। इसलिये वाग्गेयकार आदि के लक्षण वाले प्रकीर्णकाध्याय का आरम्भ रागाध्याय के बाद करना उचित ही है।

यहाँ इस ओर ध्यान दिलाना ज़रूरी है कि 'गीत' (संगीत) की उत्पत्ति मूलतः कण्ठ में होती है इसलिये भारतीय परम्परा में कण्ठ और गान को ज़्यादा महत्त्व दिया गया है। इस दृष्टि से प्रकीर्णक अध्याय में वाग्गेयकार (रचनाकार) और गायक-गायिका (प्रस्तुतकर्ता) का सबसे पहले निरूपण किया गया है। उसके बाद, प्रस्तुति का माध्यम कण्ठ होने के कारण, 'शब्द' यानी कण्ठध्वनि का और कण्ठध्वनि में अभिव्यक्ति की ईश्वरप्रदत्त विशेष शक्ति के रूप में 'शारीर' का और उसके बाद गमक, स्थाय, आलप्ति, वृन्द और कुतप—इन विषयों का प्रतिपादन हआ है जिनका संबन्ध गायन और वादन दोनों से है। विषय निरूपण के इस क्रम का सिंह० ने औचित्य दिखाया है। वृन्द देशी संगीत का और कुतप मार्ग संगीत का अंग है।

इस अध्याय में जिन विषयों का समावेश है वे मुख्यतः संगीत की प्रस्तुति से संबद्ध हैं।

कर्णरसायनं पद में आये 'रसायन' शब्द का कोश के अनुसार यह अर्थ है—ऐसी औषधि जो बुढ़ापे को रोक कर जीवन को लम्बा करे और (आलंकारिक भाषा में) अमृत का काम करने वाली हो यानी मन को तृप्त भी करे और हर्षित भी करे। कान के लिये रसायन का अर्थ है—जो कोनों को अमृत जैसा तृप्त करने वाला और सुख देने वाला हो।

(वाग्गेयकारलक्षणम्)

वाङ् मातुरुच्यते गेयं धातुरित्यभिधीयते।
वाचं गेयं च कुरुते यः स वाग्गेयकारकः॥ २॥

वाग्गेयकार का लक्षण

२. (अ०) **वाक्** वाणी (काव्य) **मातुः उच्यते** 'मातु' कही जाती है (और) **गेयं** गेय (स्वर-ताल योजना) **धातुः इति अभिधीयते** 'धातु' इस प्रकार (अर्थात् इस शब्द से) कहा जाता है। **यः** जो **वाचं गेयं च कुरुते** वाक् और गेय को करता है (अर्थात् रच्रता है) **सः** वह **वाग्गेयकारकः** वाग्गेयकार (कहलाता है)।

(सर०) गायक के व्यापार यानी गानक्रिया का आधार गीत (प्रबन्ध या 'बन्दिश') होता है इसलिये उसके रचयिता की प्रधानता होने से सबसे पहले उसका यानी वाग्गेयकार का लक्षण इस श्लोक में दिया है। साथ ही, जो वाक् और गेय को करता (बनाता) है वह वाग्गेयकार है, (वाक्+गेय+कारकः)—यह निरुक्ति भी इस शब्द की दे दी।

दोनों व्याख्याकारों की टीका से यह प्रकट होता है कि संगीतज्ञों के व्यवहार में प्रयुक्त होने वाले प्रचलित 'मातु' और 'धातु' शब्दों के ही पर्याय शास्त्रीय शब्द 'वाक्' और 'गेय' थे। जो गीत के शब्द और उसकी स्वररचना—दोनों का निर्माण करे उसे वाग्गेयकार कहा गया।

(उत्तमवाग्गेयकारः)

शब्दानुशासनज्ञानमभिधानप्रवीणता।
छन्दःप्रभेदवेदित्वमलङ्कारेषु कौशलम्॥ ३॥

रसभावपरिज्ञानं देशस्थितिषु चातुरी।
अशेषभाषाविज्ञानं कलाशास्त्रेषु कौशलम्॥ ४॥

तौर्यत्रितयचातुर्यं हृद्यशारीरशालिता।
लयतालकलाज्ञानं विवेकोऽनेककाकुषु॥ ५॥

प्रभूतप्रतिभोद्भेदभाक्त्वं सुभगगेयता।
देशीरागेष्वभिज्ञानं वाक्पटुत्वं सभाजये॥ ६॥

रोषद्वेषपरित्यागः सार्द्रत्वमुचितज्ञता।
अनुच्छिष्टोक्ति निर्बन्धो नूत्नधातुविनिर्मितिः॥ ७॥

परचित्तपरिज्ञानं प्रबन्धेषु प्रगल्भता।
द्रुतगीतविनिर्माणं पदान्तरविदग्धता॥ ८॥

त्रिस्थानगमकप्रौढिर्विविधालप्तिनैपुणम्।
अवधानं गुणैरेभिर्वरो वाग्गेयकारकः॥ ९॥

उत्तम वाग्गेयकार

३-९. (अ०) **शब्द-अनुशासनज्ञानं** शब्दानुशासन (व्याकरण शास्त्र) का ज्ञान, **अभिधानप्रवीणता** अभिधान (कोश) में प्रवीणता (अर्थात् समृद्ध शब्दसंग्रह), **छन्दःप्रभेदवेदित्वं** छन्दों के भेदों का ज्ञान, **अलङ्कारेषु कौशलम्** (उपमादि) अर्थालंकार और (अनुप्रासादि) शब्दालंकारों (के प्रयोग)में कुशलता, **रसभावपरिज्ञानं** (शृंगारादि) रसों और (विभावादि) भावों का पूरा ज्ञान, **देशस्थितिषु चातुरी** देशस्थितियों (अर्थात् प्रदेशों के नाम पर जिनका नाम रखा गया है ऐसी वैदर्भी, पांचाली आदि) रीतियों में चातुर्य, **अशेषभाषाविज्ञानम्** अनेक भाषाओं का ज्ञान, **कलाशास्त्रेषु कौशलं** कलाओं के शास्त्रों में कुशलता, **तौर्यत्रितयचातुर्यं** तौर्यत्रितय (गीत, वाद्य, नृत्य) में चातुर्य, **हृद्यशारीरशालिता** मनोहर 'शारीर' से संपन्न, **लयतालकलाज्ञानं** (द्रुतादि) लय, (चच्चत्पुट आदि) ताल (और सशब्द-निःशब्द क्रियारूप) कलाओं का ज्ञान, **अनेककाकुषु विवेकः** ('स्थाय' के अन्तर्गत कही जाने वाली) अनेक (प्रकार की) काकुओं (के प्रयोग) में विवेक, **प्रभूतप्रतिभा-उद्भेदभाक्त्वं** विलक्षण प्रतिभा के उदय की पात्रता, **सुभगगेयता** आकर्षक ढंग से गाना, **देशीरागेषु अभिज्ञानं** देशी रागों में (का) संपूर्ण ज्ञान, **सभाजये वाक्पटुत्वं** सभा जीतने में वाक्पटुता, **रोषद्वेषपरित्यागः** क्रोध (और) ईर्ष्या का त्याग, **सार्द्रत्वं** (चित्त की) आर्द्रता (अर्थात् सरसता), **उचितज्ञता** 'औचित्य' का ज्ञान, **अनुच्छिष्ट-उक्तिनिर्बन्धः** अनुच्छिष्ट (अनुक्त, जो पहले किसी ने न कही हो) उक्ति का निर्माण, **नूत्नधातुविनिर्मितिः** नवीन धातु (स्वर) की रचना (करने की शक्ति), **परचित्तपरिज्ञानं** दूसरे के चित्त का अच्छा ज्ञान, **प्रबन्धेषु प्रगल्भता** (विविध प्रकार के) प्रबन्धों का ज्ञान और उनमें रचना करने की परिपक्वता, **द्रुतगीतविनिर्माणं** जल्दी गीत की रचना (करने की योग्यता), **पदान्तरविदग्धता** 'पदान्तर' (के निर्माण) में कुशलता, **त्रिस्थानगमकप्रौढिः** तीनों स्थानों (मन्द्र, मध्य, तार) की गमकों की प्रौढ़ता, **विविध-आलप्तिनैपुणं** (रागालप्ति, रूपकालप्ति आदि) विविध (प्रकार की) आलप्ति में निपुणता (और) **अवधानम्** अवधान (एकाग्रता)—**एभिः गुणैः** इन गुणों से (युक्त) **वरः वाग्गेयकारकः** श्रेष्ठ (उत्तम कोटि का) वाग्गेयकार (होता है)।

(सर०) ग्रन्थकार ने वाग्गेयकार में २८ गुण बताये हैं जिनसे युक्त होने पर श्रेष्ठ वाग्गेयकार कहलाता है। यह ध्यान देने की बात है कि इन गुणों में से ८ वाक् यानी गीत की शब्दरचना से संबन्धित हैं और उन्हें गुणों में सबसे पहले स्थान दिया है। इसका कारण यह है कि भारतीय संगीत में पद की अनिवार्यता है और पद के आधार पर या उसके अनुसार ही स्वरलय की योजना की जाती है। शब्द-रचना अच्छी हो इसके लिये व्याकरण का ज्ञान पहली ज़रूरत है क्योंकि व्याकरण के द्वारा ही सही-ग़लत शब्द का विवेक होता है। अभीष्ट अर्थ या भाव प्रेषित हो सके इसके लिये समृद्ध शब्दसंग्रह अपेक्षित है इसलिये अभिधान में प्रवीणता को रखा गया। लय-ताल की योजना की दृष्टि से संगीत में और विशिष्ट रस, भाव, अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये काव्य में छन्दों का विशेष स्थान है इसलिये छन्दों का ज्ञान भी वाग्गेयकार के लिये ज़रूरी है। शब्दरचना में सौंदर्य हो इसके लिये काव्य के अलंकारों के प्रयोग में कुशलता अपेक्षित है। संगीत का प्रयोजन रस-भाव की अभिव्यक्ति माना गया है इसलिये रस-भावादि का पूरा ज्ञान भी वाग्गेयकार को होना चाहिये। प्रयोजन के अनुरूप पदसंघटना कैसी हो यानी समासबहुल हो या समासरहित हो या माधुर्य के व्यंजक वर्णों से युक्त ललित हो—विभिन्न प्रदेशों के नाम से जानी जाने वाली ऐसी काव्य की वैदर्भी, गौडी, पांचाली आदि रीतियों का चातुर्य वाग्गेयकार में इसलिये कहा गया है कि प्रदेशविशेष की काव्यरचना की शैली के द्वारा 'देशकाकु' यानी उस प्रदेश की उच्चारण शैली का भी बोध होता है, सिंह० ने इसका संकेत दिया है। कई प्रबन्ध ऐसे हैं जो विभिन्न भाषाओं के पदों में गाए जाते हैं। उनकी रचना के लिये अनेक भाषाओं का ज्ञान आवश्यक है।

'शारीर' का लक्षण और उसके गुण-दोष इसी अध्याय में आगे कहे जायँगे। 'छाया' के पर्याय 'काकु' नामक स्थाय के भेदों का निरूपण भी इसी अध्याय में स्थायों में किया जायगा।

कोई नई रचना करने के लिये रचनाकार में प्रतिभा बड़ा महत्त्व रखती है, विशेष रूप से संगीत में, क्योंकि यहाँ रचनाकार स्वर, लय-ताल और पद तीनों का निर्माण करता है। दोनों टीकाकारों ने प्रतिभा का लक्षण अलग-अलग ढंग से दिया है। सिंह० ने काव्यप्रकाश का उद्धरण देते हुए स्पष्ट किया कि विशेष प्रकार की शक्ति को कवियों के द्वारा प्रतिभा कहा गया है जो बीजरूप संस्कारविशेष होता है। कल्लि० ने दण्डी के 'काव्यादर्श' पर जीवानन्द की टीका का एक उद्धरण दिया है जिसमें स्मृति को व्यतीत (भूत) विषया, मति को आगामी (भविष्य) गोचरा, बुद्धि को तात्कालिकी (वर्तमान सबन्धी) और प्रज्ञा को इन तीनों कालों से संबद्ध कह कर **नवनवोन्मेषशालिनी** यानी नित्य नवीन ही प्रकट करने वाली प्रज्ञा को प्रतिभा कहते हुए प्रतिभा की सर्वश्रेष्ठता व्यक्त की गई है।

वाग्गेयकार रचनाकार होने के साथ-साथ स्वयं गायक भी होता है, यह उसमें **सुभगगेयता** (आकर्षक ढंग से गाना) लक्षण से व्यक्त किया गया है। प्रबन्ध देशी संगीत के अंग होने से देशीरागों में बद्ध होते थे इसलिये वाग्गेयकार को देशी रागों का संपूर्ण ज्ञान सर्वथा अपेक्षित है। इसीलिये यहाँ सिर्फ़ देशीरागों की चर्चा है, मार्ग रागों की नहीं। वाग्गेयकार के दो भेदों—गान्धर्व और स्वरादि (जिनके लक्षण कुछ ही आगे दिये जायँगे) में मार्ग और देशी के आधार पर ही अन्तर किया है और केवल मार्ग को जानने वाले की अपेक्षा मार्ग और देशी दोनों को जानने वाले 'गान्धर्व' को वरीयता दी गई है।

संगीत की सभाओं में कभी-कभी ऐसे अवसर उपस्थित हो जाते हैं जब सिर्फ़ गान से ही नहीं वाक्पटुता के द्वारा भी सभा को जीतना पड़ता है इसीलिये वाग्गेयकार के गुणों में **वाक्पटुता** को भी रखा है। कल्लि० ने **रोषद्वेषपरित्यागः** पाठ लिया है, और रोष का अर्थ वाचिक क्रोध यानी वाणी से व्यक्त किया गया क्रोध और द्वेष का अर्थ मानसिक ईर्ष्या किया है यानी वाचिक और मानसिक क्रोध का त्याग। सिंह० ने 'रोष' के स्थान पर 'राग' का ग्रहण करके प्रचलित शब्दजोड़े 'रागद्वेष' का परित्याग प्राश्निक की दृष्टि से कहा है। स्पर्धा आदि के समय वाद (मतभेद) के प्रसंग में उचित निर्णय देने वाला प्रयोगकुशल व्यक्ति 'प्राश्निक' कहलाता है। सही निर्णय करने वाले व्यक्ति में राग-द्वेष का त्याग ज़रूरी है।

पदान्तर का अर्थ, कल्लि० के अनुसार, अनेक प्रबन्ध भेदों की छाया के अनुकरण में गीतरचना की कुशलता है। सिंह० ने इसे प्रबन्धाध्याय में कहे जाने वाले मध्यम कोटि के 'पदान्तर' नामक विशेष प्रबन्ध-भेद के निर्माण में निपुणता से जोड़ा है।

अनुच्छिष्ट उक्ति की रचना सहित ८ गुण प्रबन्ध के पद से संबंधित हैं। गान यानी प्रयोग पक्ष से संबद्ध गुण ये हैं— गीत-वाद्य-नृत्य में कुशलता, हृद्यशारीर, लय-ताल-कलाज्ञान, काकुओं का विवेक, सुभगगेयता, देशीरागों का ज्ञान, सरसता, तीनों स्थानों की गमकों में प्रौढ़ता और आलप्ति भेदों में निपुणता। कलाओं के शास्त्रों में कुशलता, प्रतिभा का उदय, रोषद्वेष का त्याग, उचितज्ञता, परचित का ज्ञान और अवधान जैसे गुणों का सामान्य रूप से वाग्गेयकार के सभी पक्षों से संबन्ध है। नई 'धातु' की रचना, प्रबन्ध-रचना में प्रौढ़ता, शीघ्र गीत-रचना, पदान्तर-रचना में कुशलता सीधे प्रबन्ध की रचना संबन्धी गुण हैं। गमक क्रियापक्ष के साथ-साथ रचना से भी संबद्ध है क्योंकि प्रबन्ध की रचना में भी गमकें होती हैं।

व्यक्तिगत अभिव्यक्ति की प्रधानता वाले भारतीय संगीत में सर्जनात्मकता दो रूपों में व्यक्त होती है—एक तो निबद्ध रचना के रूप में और दूसरे अनिबद्ध विस्तार (आलप्ति) के रूप में। यद्यपि भारतीय संगीत का प्राण या आत्मा अनिबद्ध ही है लेकिन जैसे आत्मा को धारण करने वाला शरीर होता है उसी तरह संगीत की आत्मा—अनिबद्ध—का धारण प्रबन्ध करता है। पूरे रागविस्तार में अनिबद्ध की अपेक्षा बहुत छोटा भाग होते हुए भी प्रबन्ध का बड़ा महत्त्व है क्योंकि वह राग के व्यापक रूप को संक्षेप में प्रस्तुत करता है, ताल के आवर्तन के द्वारा प्रयोक्ता को सीमा में रखता है और उसे रागविस्तार की दिशा देता है। नाद के दो दलों स्वर और वर्ण (अक्षर) तथा इन दोनों में लय और ताल के रूप में अनुस्यूत कालतत्त्व—इन तीनों का रचयिता वाग्गेयकार ही होता है। वाग्गेयकार में कहे गए गुणों से यह स्पष्ट है कि वह प्रभूत प्रतिभासम्पन्न रचनाकार होने के साथ-साथ गायक भी होता है, लेकिन उसका सर्जनात्मक पक्ष प्रमुख है। इसलिये भारतीय संगीत में वाग्गेयकार का बहुत ऊँचा स्थान है और इसीलिये उसमें इतने गुणों का आधान किया गया है तथा प्रकीर्णकाध्याय में सबसे पहले उसी का निरूपण किया गया है।

(मध्यमवाग्गेयकारः)

विदधानोऽधिकं धातुं मातुमन्दस्तु मध्यमः।
धातुमातुविदप्रौढः प्रबन्धेष्वपि मध्यमः॥ १०॥

मध्यम वाग्गेयकार

१०. (अ०) **धातुं** गेय को **अधिकम्** अधिक (बहुत अच्छी तरह) **विदधानः** विशेष रूप से धारण करता हुआ (अर्थात् स्वर-तालयोजना बहुत अच्छी करने वाला) **मातुमन्दः तु** (लेकिन) मातु में मन्द (होने पर) तो **मध्यमः** मध्यम (कोटि का वाग्गेयकार है)। **धातुमातुवित्** (जो) धातु (और) मातु का (तो) वेत्ता (हो लेकिन) **प्रबन्धेषु अप्रौढः अपि** (विविध प्रकार के) प्रबन्धों (की रचना) में अप्रौढ़ (अर्थात् प्रौढ़ न हो वह) भी **मध्यमः** मध्यम (वाग्गेयकार है)।

(सर०) यह ध्यान देने योग्य है कि प्रबन्ध की रचना में पद को इतना महत्त्व दिया गया है कि गेय की रचना में कुशल होने पर भी अगर शब्दरचना बहुत अच्छी न कर सके तो उसे मध्यम कोटि में रखा गया। प्रबन्ध के रचनाकार में धातु और मातु दोनों की रचना की क्षमता होनी ही चाहिये। लेकिन अगर विविध प्रकार के प्रबन्धों की रचना न कर सके तो वह मध्यम कोटि का वाग्गेयकार ही समझा गया।

(अधमवाग्गेयकारः)

रम्यमातुविनिर्माताप्यधमो मन्दधातुकृत्।

अधम वाग्गेयकार

११ क-ख. (अ०) **रम्यमातुविनिर्माता-अपि** मनोहारी मातु का निर्माता (होने पर) भी **मन्दधातुकृत्** धातु मन्द (अच्छी नहीं) बनाने वाला **अधमः** अधम (कोटि का वाग्गेयकार होता है)।

(सर०) स्वर से ही संगीत का अस्तित्व है इसलिये बहुत अच्छी शब्दरचना होने पर भी अगर स्वरयोजना अच्छी न हो तो वह रचना अच्छी नहीं कही जाती इसलिये ऐसी रचना करने वाला वाग्गेयकार अधम कहा गया है।

(वाग्गेयकारस्य मात्वाश्रितभेदाः)

वरो वस्तुकविर्वर्णकविर्मध्यम उच्यते॥ ११॥
कुट्टिकारोऽन्यधातौ तु मातुकारः प्रकीर्तितः।

मातु के आधार पर वाग्गेयकार के भेद

११ ग-१२ ख. (अ०) **वस्तुकविः वरः** वस्तु (विषयवस्तु अथवा अभिधेय की रचना करने वाला) कवि श्रेष्ठ (है)। **वर्णकविः** (जो) वर्ण(संघटना अच्छी करे ऐसा) कवि **मध्यमः उच्यते** मध्यम कहा जाता है। **अन्यधातौ** दूसरे की (अर्थात् किसी दूसरे की बनाई हुई) धातु में **मातुकारः तु** (अपनी) मातु बनाने वाला तो **कुट्टिकारः प्रकीर्तितः** कुट्टिकार (के रूप में) विशेष रूप से जाना जाता है।

(सर०) वाग्गेयकार के दो पक्ष हैं धातु और मातु। उत्तम आदि तीन वर्ग इन दोनों के उत्कर्ष के अनुसार बनाए गए हैं। लेकिन केवल पदरचना के आधार पर भी वाग्गेयकार के तीन भेद हो सकते हैं। यहाँ सिर्फ़ पद की बात है इसलिये 'कवि' शब्द का प्रयोग किया है। यों तो भारतीय परम्परा में किसी भी माध्यम के द्वारा नई रचना करने वाले रचनाकार (स्रष्टा) के लिये कवि शब्द का व्यवहार होता आया है लेकिन विशेष रूप से काव्य के रचयिता को कवि कहने की रूढ़ि है।

कवि के तीन भेदों में से 'वस्तुकवि' श्रेष्ठ है। सिंह० ने 'वस्तु' का अर्थ अभिधेय किया है यानी जो कथ्य है उसकी सम्यक् रचना करने वाला वस्तुकवि होता है। कल्लि० ने वस्तु को 'कथा' कहा है तदनुसार वस्तुकवि पद को कथा की व्यापकता से युक्त बनाता है। 'वर्णकवि' को भी दोनों टीकाकारों ने कुछ भिन्न रूप में समझाया है। सिंह० के अनुसार जिसका अभिधेय रमणीय न हो और जो वर्णों (अक्षरों) की ही सम्यक् रचना करता है वह मध्यम कवि होता है और जो नई धातु न रच कर दूसरे की धातु में सिर्फ़ अपने शब्द जोड़ देता है वह 'कुट्टिकार' यानी अधम होता है। कल्लि० के अनुसार श्लोक में 'तु' शब्द का प्रयोग उसके अधमाधम यानी निकृष्ट होने का सूचक है।

'कुट्टिकार' शब्द व्याकरणसम्मत तो नहीं प्रतीत होता लेकिन इसका संबन्ध 'कुट्ट्' धातु से हो सकता है जिसका अर्थ 'भर्त्सना करना' भी है। ऍम्० मोनियर विलियम्स के संस्कृत-अंग्रेज़ी कोश में इस धातु का अर्थ to abuse दिया है।

(गान्धर्वस्वरादी)

मार्गं देशीं च यो वेत्ति स गान्धर्वोऽभिधीयते॥ १२॥
यो वेत्ति केवलं मार्गं स्वरादिः स निगद्यते।

'गान्धर्व' और 'स्वरादि'

१२ ग-१३ ख. (अ०) **यः** जो **मार्गं देशीं च वेत्ति** मार्ग और देशी (संगीत) को जानता है **सः** वह **गान्धर्वः अभिधीयते** 'गान्धर्व' कहा जाता है। **यः** (और) जो **केवलं मार्गं वेत्ति** केवल मार्ग (संगीत) को जानता है **सः** वह **स्वरादिः निगद्यते** 'स्वरादि' कहा जाता है।

(सर०) यहाँ ग्रन्थकार ने सिर्फ़ मार्ग को जानने वाले की तुलना में मार्ग और देशी दोनों का ज्ञान रखने वाले संगीतज्ञ को श्रेष्ठ माना है। मार्ग संगीत देशी की अपेक्षा ज़्यादा शास्त्रबद्ध होते हुए भी देशी को जानने की बात इसलिये कही गई है कि विभिन्न प्रदेशों के लोगों की इच्छा और रुचि के अनुसार सहज रूप से विकसित और प्रयुक्त संगीत देशी होता है और तत्कालीन प्रचलित संगीत देशी ही था।

गान्धर्व और स्वरादि का लक्षण वाग्गेयकार के बाद और गायक से पहले किया गया है। ग्रन्थकार ने ऐसा वाग्गेयकार की दृष्टि से किया है या गायक की दृष्टि से, यह ग्रन्थ से स्पष्ट नहीं है। किन्तु मार्ग और देशी संगीत का संबन्ध रचनाकार और प्रस्तुकर्ता यानी वाग्गेयकार और गायक दोनों से है संभवतः इसलिये गान्धर्व और स्वरादि को इन दोनों के बीच रखा है। यह स्मरणीय है कि वाग्गेयकार के लक्षण गीत की रचना और प्रस्तुति दोनों से संबद्ध हैं। इससे प्रकट होता है कि वह रचनाकार होने के साथ गायक भी है।

वाग्गेयकार के लिये सिर्फ़ देशीरागों का अभिज्ञान कहा गया है, मार्गरागों का नहीं। दूसरे अध्याय में बताया जा चुका है कि ग्रामराग, राग, उपराग, भाषा, विभाषा और अन्तरभाषा मार्ग वर्ग में आते हैं जो 'ग्रामराग' कहे गये हैं। देशीरागों में केवल रागांग, भाषांग, क्रियांग और उपांग ही आते हैं। गान्धर्व और स्वरादि में जो श्रेष्ठता-भेद किया किया गया है वह देशी के आधार पर ही है। शार्ङ्गदेव के समय तक मार्ग का प्रचलन बहुत कम हो चुका था लेकिन ग्रन्थोक्त देशी संगीत का मूल आधार वही था इसलिये लक्षण में मार्ग को पूरी तरह छोड़ा तो नहीं जा सकता था किन्तु श्रेष्ठ उसी को कहा गया जो देशी में भी कुशल हो।

एक बात और ध्यान देने की है। वाग्गेयकार लक्षण में **देशीरागेषु-अभिज्ञानम्** और गान्धर्व-स्वरादि लक्षण में **वेत्ति**— ये दोनों ही प्रयोग ज्ञान यानी जानना अर्थ के सूचक हैं। लेकिन वाग्गेयकार और गायक दोनों का कर्म प्रयोगधर्मी है इसलिये देशी के आधार पर वरीयता देना भी यह प्रकट करता है कि मार्ग का ज्ञान भी ज़रूरी तो था क्योंकि वह प्रयोग में कुछ-कुछ जीवित था लेकिन अभिज्ञान यानी संपूर्ण ज्ञान देशी का ही अपेक्षित था क्योंकि लक्ष्यगत संगीत देशी ही था।

सं० स० सार में गान्धर्व और स्वरादि तो नहीं हैं लेकिन 'शास्त्रज्ञ' की जो तीन कोटियाँ बताई हैं वे भी मार्ग और देशी के आधार पर ही हैं। उसके अनुसार जो मार्ग और देशी दोनों के लक्ष्य और लक्षण को जानता है वह उत्तम शास्त्रज्ञ है, जो मार्गसंबन्धी लक्ष्य और लक्षण को जाने वह मध्यम और केवल देशी के लक्ष्य-लक्षण को जानने वाला अधम होता है। इनमें श्रेष्ठता का आधार मार्ग है और वह इसलिये कि देशी का शास्त्रीय आधार मार्ग में ही है और यहाँ कोटियाँ शास्त्रज्ञ की बताई हैं, प्रयोक्ता की नहीं।

(गायनगुणाः तद्भेदाश्च)

हृद्यशब्दः सुशारीरो ग्रहमोक्षविचक्षणः॥ १३॥

रागरागाङ्गभाषाङ्गक्रियाङ्गोपाङ्गकोविदः।
प्रबन्धगाननिष्णातो विविधालप्तितत्त्ववित्॥ १४॥

सर्वस्थानोत्थगमकेष्वनायासलसद्गतिः।
आयत्तकण्ठस्तालज्ञः सावधानो जितश्रमः॥ १५॥

शुद्धच्छायालगाभिज्ञः सर्वकाकुविशेषवित्।
अनेकस्थायसंचारः सर्वदोषविवर्जितः॥ १६॥

क्रियापरो युक्तलयः सुघटो धारणान्वितः।
स्फूर्जन्निर्जवनो हारिरहःकृद्भजनोद्धुरः॥ १७॥

सुसंप्रदायो गीतज्ञैर्गीयते गायनाग्रणीः।

'गायन' (गायक) के गुण और भेद

१३ ग-१८ ख. (अ०) **हृद्यशब्दः** हृदय को आकर्षित करने वाले (अर्थात् मधुर) कण्ठ वाला, **सुशारीरः** अच्छे 'शारीर' वाला, **ग्रहमोक्षविचक्षणः** ग्रह (गीत के आरम्भ और) मोक्ष (समाप्ति) को अच्छी तरह जानने वाला, **राग-रागाङ्ग-भाषाङ्ग-क्रियाङ्ग-उपाङ्गकोविदः** राग (मार्गराग), रागांग, भाषांग, क्रियांग उपांग (आदि देशीरागों) का विशेष वेत्ता, **प्रबन्धगाननिष्णातः** प्रबन्धों के गान में पारंगत, **विविध-आलप्तितत्त्ववित्** अनेक प्रकार की आलप्तियों के तत्त्व को जानने वाला, **सर्वस्थान-उत्थगमकेषु-अनायासलसद्गतिः** सभी (तीनों) स्थानों से उठने वाली गमकों में बिना आयास (प्रयत्न) के शोभा पाती हुई गति वाला, **आयत्तकण्ठः** स्वाधीन कण्ठ वाला, **तालज्ञः** ताल का ज्ञाता, **सावधानः** एकाग्र चित्त वाला, **जितश्रमः** श्रम को जीता हुआ (अर्थात् न थकने वाला), **शुद्धच्छायालग-अभिज्ञः** शुद्ध (और) छायालग (प्रबन्धों अथवा रागों) का ज्ञाता, **सर्वकाकुविशेषवित्** सब प्रकार की काकुओं को विशेष रूप से जानने वाला, **अनेकस्थायसंचारः** अनेक स्थायों में संचार करने वाला **सर्वदोषविवर्जितः** सारे दोषों से रहित, **क्रियापरः** (गान) क्रिया (के अभ्यास) में तत्पर, **युक्तलयः** स्थिर लय वाला, **सुघटः** सुघड़ता (से गाने) वाला, **धारणा-अन्वितः** धारणा (शक्ति) से युक्त, **स्फूर्जन्-निर्जवनः** (स्थायों के अन्तर्गत कहे ज्ञाने वाले) 'निर्जवन' (नामक स्थाय) को स्फूर्त करता हुआ (अर्थात् स्फूर्त करने वाला), **हारिरहःकृत्** (श्रोताओं के चित्त का) हरण करने वाली मोहिनी (उत्पन्न) करने वाला, **भजन-उद्धुरः** (अच्छे शारीर से उत्पन्न) भजन (अर्थात् राग की अभिव्यक्ति करने) में उत्कट, **सुसंप्रदायः** अच्छे 'संप्रदाय' (गुरु परम्परा) वाला (अर्थात् इन गुणों से युक्त गायक) **गीतज्ञैः** गीतज्ञों (गीत के शास्त्र के ज्ञाता और प्रयोग में कुशल व्यक्तियों) के द्वारा **गायन-अग्रणीः** गायकों में अग्रणी (श्रेष्ठ) **गीयते** गाया जाता है (अर्थात् माना जाता है)।

(सर०) कल्लि० ने **ग्रहमोक्षविचक्षणः** का अर्थ दिया है ग्रह, ताल, लय के अनुरोध से गीत का निर्वाह करना। आज की भाषा में यों कह सकते हैं कि ग्रह, ताल, लय आदि के अनुसार गीत को उचित रीति से 'बरतना'। सिंह० के आधार पर रागरागाङ्ग आदि में राग से मार्ग वर्ग के ग्रामराग, राग, उपराग, भाषा, विभाषा और अन्तरभाषा सभी का ग्रहण किया जा सकता है। उसने 'प्रबन्धगाननिष्णातः' के स्थान पर **प्रबन्धतालनिष्णातः** पाठ लिया है। गमकों में अनायास गति की व्याख्या में उसने 'शारीरगतिमान्' कहा है जिसका आशय यह है कि जो विशेष प्रयत्न के बिना कण्ठध्वनि की जन्मजात शक्ति (शारीर) के द्वारा ही गमकों का प्रयोग कर लेता है। **सावधानः** को उसने श्रुतियों के निश्चित ज्ञान वाला कहा है और **जितश्रमः** का अर्थ अनेक प्रबन्ध गाने पर भी न थकने वाला किया है। शुद्धछायालग को उसने प्रबन्ध के भेद कहा है लेकिन गायक के दोषों में ग्रन्थकार ने शुद्ध और छायालग का उल्लेख रागों के संदर्भ में किया है। इसलिये गुणों में भी शायद शुद्ध और छायालग राग भी अभीप्सित हैं। सिंह० द्वारा सं० स० सार से उद्धृत अंश में **क्रियापरः** का लक्षण यह है—जो शास्त्र और प्रयोग के अनुसार मार्ग और देशी दोनों को दोषरहित ढंग से गाये। टीकाकार के अनुसार **युक्तलयः** गायकों में रंजक अर्थ में प्रचलित है। लेकिन इस लक्षण में लय की बात है, रंजकता की नहीं। **सुघटः** का अर्थ है जिस रूप में शोभन हो उसी तरह संघटना करने वाला। कल्लि० के अनुसार 'लौकिक देशभाषा' यानी संस्कृत से भिन्न प्रचलित देशीभाषा में सुघट को 'सुघड' कहते हैं। सं० स० सार के अनुसार जो स्वर, वर्ण और ताल तीनों को शोभन ध्वनि (मनोहारी कण्ठ) के साथ स्पष्ट रूप से घटाता (घटयति = घड़ता) है उसे सुघट कहते हैं (९/५९-६०)। सिंह० ने धारणा की व्याख्या में सं० स० सार से उद्धरण दिया है जो वहाँ कुछ पाठभेद से 'धरणिः' स्थाय के रूप में प्राप्त है यद्यपि दोनों का आशय यह है कि तारस्थान से नीचे उतरते हुए अन्य श्रुतियों से हीन स्वरों में ध्वनि की सुगाढ़ता 'धरणि' है। अर्थ बहुत स्पष्ट नहीं है लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि वेग से तारस्थान से नीचे उतरते समय स्वर जो फिसलते से हैं और अपनी श्रुतियों यानी सही स्थान से हट जाते हैं तथा कंठध्वनि में वैसी गाढ़ता नहीं रहती जैसी होनी चाहिये यानी स्वर और ध्वनि सही रूप में धारण नहीं होती—ऐसा न होना और ध्वनि में गाढ़ता बनी रहना धारणा नामक गुण समझ सकते हैं।

निर्जवनः की व्याख्या में भी सिंह० ने सं० स० सार को उद्धृत किया है। इस ग्रन्थ के प्रकाशित पाठ में इसे 'निजवण' कहा है जिसका लक्षण है जितश्वास के साथ अर्थात् साँस टूटे बिना गाना (३/८८)। कल्लि० ने यह स्मरण दिलाते हुए कि निर्जवन का लक्षण स्थायों में दिया जाने वाला है यहाँ निर्जवन को अप्रतिहत (किसी तरह की रुकावट के बिना) वेगवान् कहा है। इसी अध्याय में स्थायों के अन्तर्गत दिये गये स्थायलक्षण के अनुसार सरल, कोमल, रंजक, क्रमशः अतिसूक्ष्म होते हुए स्वरों का जिन स्थायों में प्रयोग हो वे निर्जवनयुक्त स्थाय होते हैं। कोश के अनुसार निर्जवन शब्द वेग अर्थ वाली 'जु' धातु में 'ल्युट्' प्रत्यय और पूर्ण रूप से या बहुत अर्थ में 'निस्' (निर्) उपसर्ग लगाने पर बनता है। तदनुसार कल्लि० का अर्थ बिल्कुल संगत है। सिंह० ने जो जितश्वास कहा है उसका संबन्ध भी वेग से इस रूप में है कि अत्यन्त वेग से होने वाले स्वर-प्रयोग में साँस टूटने की आशंका रहती है, वैसा न होना निर्जवन है।

रहःकृत् के स्थान पर सिंह० का पाठ **रंहःकृत्** है जिसका अर्थ उसने वेग से गाने वाला दिया है जब कि कल्लि० ने 'रहः' का ग्रहण करके श्रोताओं को मोहित करके गाने वाला कहा है। कोश के अनुसार 'रंह्' धातु का अर्थ है वेग से चलना, जल्दी करना आदि और 'रह्' का अर्थ है छोड़ना, त्यागना आदि। तदनुसार सिंह० के अर्थ की व्याकरण की दृष्टि से पुष्टि होती है। संभव है कि कल्लि० ने जो अर्थ दिया है (श्रोतृजनमोहनत्व) वह गायकों में प्रचलित हो।

संप्रदायः पर किसी भी टीकाकार ने यहाँ कुछ नहीं कहा। लेकिन नर्तनाध्याय में कल्लि० ने संप्रदाय का यह लक्षण दिया है—जो शास्त्र में अनुक्त होते हुए भी शास्त्र द्वारा पुष्ट हो और शास्त्र का विरोधी न हो ऐसे अर्थ-विशेष का आचार्य-शिष्यपरम्परा से जो उपदेश या 'प्रदान' हो वह संप्रदाय है (७/९१)। आगे फिर से कल्लि० ने कहा कि शास्त्र में जहाँ-जहाँ रहस्य हों उनका गुरु के उपदेश से अर्थात् परम्परा से चला आया ज्ञान संप्रदायगत ज्ञान है (७/१२४८)।

यद्यपि जिस गायक की गायनशैली में अपनी निजी विशेषता न हो उसे महत्त्व नहीं दिया जाता लेकिन अच्छी गुरुपरम्परा से लक्षण (शास्त्र) और लक्ष्य (क्रिया) के ज्ञान और शिक्षा के अभाव में व्यक्तिगत शैली भी पुष्ट और मान्य नहीं होती। इसलिये गायकों के गुणों में अन्तिम लेकिन महत्त्वपूर्ण गुण 'सुसंप्रदायवाला' रखा गया है।

गुणैः कतिपयैर्हीनो निर्दोषो मध्यमो मतः॥ १८॥
महामाहेश्वरेणोक्तः सदोषो गायनोऽधमः।

१८ ग-१९ ख. (अ०) **कतिपयैः गुणैः हीनः** (ऊपर कहे गए गुणों में से) कुछ गुणों से हीन (किन्तु) **निर्दोषः** दोपरहित **मध्यमः मतः** मध्यम (कोटि का गायक) माना गया (है)। **सदोषः गायनः** दोषयुक्त गायक **महामाहेश्वरेण** महामाहेश्वर (महान् शिवपूजक अर्थात् शार्ङ्गदेव) के द्वारा **अधमः उक्तः** अधम कहा गया (है)।

(सर०) यह ज़रूरी नहीं है कि सभी गायकों में उक्त सारे गुण हों। इसलिये ग्रन्थकार ने दो कोटियाँ और बनाईं। जिसमें गुण तो कुछ कम हों लेकिन आगे कहे जाने वाले दोष न हों वह मध्यम कोटि का गायक होगा। अगर गायक में दोष हों तो वह अधम यानी सबसे निम्न कोटि का कहलायेगा।

(गायनस्य पुनः पञ्चभेदाः)

शिक्षाकारोऽनुकारश्च रसिको रञ्जकस्तथा॥ १९॥
भावकश्चेति गीतज्ञाः पञ्चधा गायनं जगुः।

गायक के पुनः पाँच भेद

१९ ग-२० ख. (अ०) **शिक्षाकारः अनुकारः च** शिक्षाकार और अनुकार **रसिकः तथा रञ्जकः** रसिक तथा रंजक **भावकः च** और भावक **इति** यों **गायनं** गायक को **गीतज्ञाः** गीत (संगीत) के ज्ञाता **पञ्चधा जगुः** पाँच प्रकार का कहते हैं।

(शिक्षाकारः)

अन्यूनशिक्षणे दक्षः शिक्षाकारो मतः सताम्॥ २०॥

(१) शिक्षाकार

२० ग-घ. (अ०) **अन्यूनशिक्षणे दक्षः** अन्यून शिक्षण में पारंगत **सतां** सज्जनों (संगीतज्ञों के मत) में **शिक्षाकारः मतः** 'शिक्षाकार' माना गया है।

(सर०) अन्यून अर्थात् संपूर्ण शिक्षण में दक्ष यानी जिसकी शिक्षा देने की पद्धति में कोई कमी न हो और जो संपूर्ण (पूरी-पूरी) शिक्षा दे, आधी-अधूरी नहीं अर्थात् जो अच्छा शिक्षक हो वह 'शिक्षाकार'—शिक्षक गायक—है।

(अनुकारः)

अनुकार इति प्रोक्तः परभङ्ग्यनुकारकः।

(२) अनुकार

२१ क-ख. (अ०) **परभङ्गि-अनुकारकः** दूसरे की (गायन-)चेष्टाओं का अनुकरण करने वाला **अनुकारः इति प्रोक्तः** 'अनुकार' इस प्रकार (अर्थात् इस संज्ञा से) कहा गया (है)।

(सर०) जो किसी दूसरे गायक की गायकी और भाव आदि का कुशलता से अनुकरण करता हो वह 'अनुकार' गायक है।

ये दोनों भेद एक दूसरे से संबद्ध नहीं हैं बल्कि स्वतन्त्र हैं। आगे के तीन भेद किसी हद तक परस्पर संबद्ध हैं और गायकों की अभिव्यक्ति के स्तरभेद के आधार पर बनाए गए हैं।

सं० स० सार में शिक्षाकार का कुछ विस्तृत लक्षण है। उसके अनुसार जो शुद्ध, छायालग राग में कठिन और सरल गीतों को झटपट सिखा देता है वह शिक्षाकार है(९/६१-६२)। अनुकरण करने वाले गायक को वहाँ अनुकार न कह कर 'पररीतिज्ञ' अर्थात् दूसरे की रीति (शैली, भंगिमा आदि) का ज्ञाता कहा है। उसका यह लक्षण तुलनीय है—आलप्ति में गीत और शारीर की चेष्टाओं का अनुकरण करने वाला और गीत के उत्तम गुणों से युक्त गायक 'पररीतिज्ञ' है (वही, ६५-६६)।

(रसिको रञ्जकः भावकश्चेति)

रसाविष्टस्तु रसिको रञ्जकः श्रोतृरञ्जकः ॥ २१ ॥
गीतस्यातिशयाधानाद्भावकः परिकीर्तितः।

(३,४,५) रसिक, रंजक और भावक

२१ ग-२२ ख. (अ०) **रस-आविष्टः तु** रस में निमग्न (गायक) तो **रसिकः** 'रसिक' (है)। **श्रोतृरञ्जकः** श्रोताओं का रंजन करने वाला **रञ्जकः** 'रंजक' (है)। **गीतस्य** गीत का **अतिशय-आधानात्** अत्यधिक आधान (करने) से **भावकः परिकीर्तितः** 'भावक' जाना गया है।

(सर०) गायक द्वारा की जाने वाली अभिव्यक्ति की दृष्टि से रसिक, रंजक और भावक परस्पर संबद्ध हैं और उनमें 'रसिक' का स्थान सर्वोच्च है क्योंकि वह गाते हुए रस में पूरी तरह लीन हो जाता है। वह श्रोता या बाह्य परिस्थितियों से ज्ञानशून्य उस अवस्था में पहुँच जाता है जिसमें उसे स्वयं उस आनन्द की, रस की प्राप्ति होती है जिसे ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है। फलतः श्रोताओं को भी अपने आप आनन्दानुभूति होती है। श्रोताओं को रसानुभूति कराने के लिये उसे कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता और न इस तरफ़ उसकी प्रवृत्ति होती है।

'रंजक' इस स्थिति से कुछ दूर रह जाता है। वह बाह्य जगत् को पूरी तरह भूल कर रसलीन नहीं होता बल्कि बाह्य परिस्थितियों का उसे भान रहता है क्योंकि श्रोताओं के हृदय का रंजन करना उसका मुख्य उद्देश्य होता है। गीत में रंग ला देने या वातावरण को रँग देने की ओर उसका ध्यान रहता है इसलिये उसमें रस की आस्वादनीयता नहीं होती, रंग का आकर्षण होता है, रस जैसी एकाकार होने की, घुल जाने की स्थिति नहीं होती बल्कि पार्थक्य बना रहता है।

यद्यपि 'भावक' को ग्रन्थकार ने अन्त में रखा है लेकिन वह रसिक और रंजक के बीच की स्थिति में है क्योंकि उसमें न तो रसिक की रसाविष्टता है न रंजक की तरह श्रोता के लिये रंग के आकर्षण जैसा वातावरण बनाना प्रयोजन है बल्कि वह गीत में भाव भरता है। वह श्रोता से निरपेक्ष तो नहीं होता, उसका भान तो अवश्य रहता है लेकिन उसका मुख्य लक्ष्य भाव भरना है जैसा कि 'भावक' शब्द से ही सूचित होता है जब कि रंजक मुख्य रूप से श्रोता को दृष्टि में रख कर गाता है।

पार्श्वदेव ने भी ये तीन श्रेणियाँ बनाई हैं। लक्षण ये हैं—जो सुश्राव्य गीत को सुन कर पुलकान्वित (रोमांचित) और आनन्दाश्रुओं से सजल नयन हो जाता है वह रसिक है। यहाँ गीत को सुन कर आनन्दित होने वाला रसिक कहा गया है, स्वयं गाते हुए पुलकित और आनन्दित होने वाले को नहीं लेकिन आशय संभवतः यही है। श्रोता के चित्त को समझ कर नीरस को सरस और भावहीन को भावयुक्त बना कर गाने वाला भावुक है। शार्ङ्गदेव के द्वारा दिये गये 'भावक' के लक्षण 'गीत के अतिशय आधान' में जो भाव की बात प्रच्छन्न है वह पार्श्वदेव ने भावहीन को भावयुक्त बना कर गाने वाला कह कर स्पष्ट कर दी है। जो श्रोता की इच्छा को जान कर रंगस्थल में मनोहर गीत का विधान करता है वह पार्श्वदेव के अनुसार रंजक कहलाता है। दोनों ग्रन्थकारों के रंजक के लक्षण में कुछ भिन्नता दिखाई देती है और पार्श्वदेव ने भावुक को रसिक और रंजक के बीच में रखा है जब कि शार्ङ्गदेव ने अन्त में।

मानसोल्लास में भी गायक के वही ५ प्रकार हैं जो सं० र० में है लेकिन अनुकार के स्थान पर 'कूटकार' है जिसका लक्षण वही है (४/१६/५६-६१)। पार्श्वदेव ने अनिन्द्य (दोषरहित) गायक के १८ भेद कहे हैं (सं० स० सार, ९/५३-७३)। इनमें से शिक्षक, रसिक, भावुक, रंजक, पररीतिज्ञ, क्रियापर और सुघट की चर्चा की जा चुकी है।

(त्रिविधगायनाः)

एकलो यमलो बृन्दगायनश्चेति ते त्रिधा॥ २२॥

एक एव तु यो गायेदसावेकलगायनः।
सद्वितीयो यमलकः सबृन्दो बृन्दगायनः॥ २३॥

तीन प्रकार के गायक

२२ ग-२३. (अ०) ते वे (गायक) **एकलः** एकल, **यमलः** यमल **बृन्दगायनः च** और वृन्दगायक **इति त्रिधा** यों तीन प्रकार के (होते हैं)। **एकः एव तु** एक ही (अर्थात् अकेला) तो **यः गायेत्** जो गाता है **असौ** यह **एकलगायनः** 'एकल' गायक (है)। **सद्वितीयः** दूसरे के साथ (गाने वाला) **यमलकः** 'यमल' (गायक है)। **सबृन्दः** समूह के साथ (गाने वाला) **बृन्दगायनः** वृन्दगायक (है)।

(सर०) शार्ङ्गदेव ने गायकों का वर्गीकरण तीन तरह से किया है। उत्तम, मध्यम, अधम के रूप में गायक के गुणों और प्रतिभा के आधार पर पहला वर्गीकरण है। दूसरा वर्गीकरण इन ५ उद्देश्यों अथवा कार्यों पर आधारित है—शिक्षा देना, अनुकरण करना, रसलीन होना, रंजन करना और भाव भरना। तीसरा प्रकार गायकों की संख्या से संबद्ध है।

(गायनीलक्षणम्)

रूपयौवनशालिन्यो गायन्यो गातृवन्मताः।
माधुर्यधुर्यध्वनयश्चतुराश्चतुरप्रियाः॥ २४॥

'गायनी' (गायिका) का लक्षण

२४. (अ०) **गायन्यः** गायनियाँ (गायिकाएँ) **गातृवत्** गायक के समान **मताः** मानी गई (है, किन्तु वे) **रूपयौवनशालिन्यः** सौंदर्य और यौवनशालिनी, **माधुर्यधुर्यध्वनयः** मधुरता की धुरी को धारण करने वाली (कण्ठ-)ध्वनि वाली, **चतुराः** (स्वयं) चतुर (और) **चतुरप्रियाः** चतुरों को प्रिय (ऐसी होती हैं)।

(सर०) गायिकाओं को गायकों के समान कहने का अर्थ यह है कि जो गुण गायक के लिये कहे गए और जो भेद उनके बताये वे ही गायिकाओं के लिये भी होते हैं लेकिन उनमें अतिरिक्त गुण भी कहे। वे नारीसुलभ रूप और यौवन से संपन्न होती हैं, उनकी कण्ठध्वनि अति मधुर होती है, स्वयं चतुर, सिंह० के अनुसार विदग्ध यानी कलाविद्, होती हैं और चतुरों यानी कलामर्मज्ञों को प्रिय होती हैं।

ना० शा० के **गुणदोषविचार** नामक ३३वें अध्याय में भी गायिका के गुणों का विशेष रूप से उल्लेख हुआ है। उसमें रूप, गुण और कान्ति से युक्त, माधुर्य के साथ बलयुक्त, विकाररहित, स्पष्ट वर्णोच्चारण, स्निग्ध, अनुनादी, सम, कोमल और शुभकण्ठ वाली, सुविहित गमकों का विधान करने वाली, अभ्यासतत्पर, ताल और लय में कुशल, वाद्य के करणों को श्रोताओं के चित्त में अर्पित करने वाली 'श्यामा' (तरुणी) गायिका कहलाती है। इसके साथ ही यह भी कहा गया है कि स्वाभाविक रूप से स्त्रियों में गान और पुरुषों में पाठ्यविधि होती है क्योंकि स्त्रियों का कण्ठ स्वभावतः मधुर तथा पुरुषों का बलशाली होता है। इसके विपरीत जहाँ स्त्रियों में पाठ्यगत बल और पुरुषों में गान का माधुर्य हो उसे अलंकार समझना चाहिये अर्थात् ऐसा कभी-कभी होता है, हमेशा नहीं, क्योंकि यह उनका स्वभाव नहीं है (ना० शा०, ३३/३-६)।

(गायनदोषाः)

संदष्टोद्‌घुष्टसूत्कारिभीतशङ्कितकम्पिताः ।
कराली विकलः काकी वितालकरभोद्भटाः ॥ २५ ॥

झोम्बकस्तुम्बकी वक्री प्रसारी विनिमीलकः ।
विरसापस्वराव्यक्तस्थानभ्रष्टाव्यवस्थिताः ॥ २६ ॥

मिश्रकोऽनवधानश्च तथान्यः सानुनासिकः ।
पञ्चविंशतिरित्येते गायना निन्दिता मताः ॥ २७ ॥

गायक के दोष

२५-२७. (अ०) **संदष्ट-उद्‌घुष्ट-सूत्कारि-भीत-शङ्कित-कम्पिताः** संदष्ट, उद्‌घुष्ट, सूत्कारी, भीत, शंकित और कम्पित, **कराली** कराली, **विकलः** विकल, **काकी** काकी, **विताल-करभ-उदभटाः** विताल, करभ और उद्‌भट, **झोम्बकः** झोंबक, **तुम्बकी** तुम्बकी, **वक्री** वक्री, **प्रसारी** प्रसारी, **विनिमीलकः** विनिमीलक, **विरस-अपस्वर-अव्यक्त-स्थानभ्रष्ट-अव्यवस्थिताः** विरस, अपस्वर, अव्यक्त, स्थानभ्रष्ट और अव्यवस्थित, **मिश्रकः** मिश्रक **अनवधानः च** और अनवधान **तथा अन्यः** और अन्य **स-अनुनासिकः** सानुनासिक **इति एते पञ्चविंशतिः** इस प्रकार ये पच्चीस (अर्थात् इन दोषों से युक्त) **गायनाः** गायक **निन्दिताः मताः** निन्दित माने गए (हैं)।

(सर०) दोषों को धर्मिपरक (यानी जिस गायक में ये दोष रहते हैं) मान कर अर्थात् दोषों को विशेषण बना कर उनका उद्देश किया है। अब ग्रन्थकार इनके लक्षण दे रहे हैं। जिस तरह गायक के गुण ही गायिका के लिये भी मान लिये गये उसी तरह गायिका के दोषों के बारे में भी समझना चाहिये, इस ओर कल्लि० ने ध्यान दिलाया है।

संदश्य दशनान् गायन् संदष्टः परिकीर्तितः ।
उद्‌घुष्टो विरसोद्‌घोषः सूत्कारी सूत्कृतैर्मुहुः ॥ २८ ॥

भीतो भयान्वितो गाता त्वरया शङ्कितो मतः ।
कम्पितः कम्पनाज्ज्ञेयः स्वभावाद्गात्रशब्दयोः ॥ २९ ॥

कराली गदितः सद्भिः करालोद्‌घाटिताननः ।
विकलः स तु यो गायेत् स्वरान् न्यूनाधिकश्रुतीन् ॥ ३० ॥

काकक्रूररवः काकी वितालस्तालविच्युतः ।
दधानः कन्धरामूर्ध्वां करभोऽभिहितो बुधैः ॥ ३१ ॥

छागवद्वहनीं कुर्वन्नुद्भटोऽधमगायनः ।
शिरालभालवदनग्रीवो गाता तु झोम्बकः ॥ ३२ ॥

तुम्बकी तुम्बकाकारोत्फुल्लगल्लस्तु गायनः ।
वक्री वक्रीकृतगलो गायन् धीरैरुदीरितः ॥ ३३ ॥

प्रसारी गीयते तज्ज्ञैर्गात्रगीतप्रसारणात्।
निमीलको मतो गायन् निमीलितविलोचनः॥ ३४॥

विरसो नीरसो वर्ज्यस्वरगानादपस्वरः।
गद्गदध्वनिरव्यक्तवर्णस्त्वव्यक्त उच्यते॥ ३५॥

स्थानभ्रष्टः स यः प्राप्तुमशक्तः स्थानकत्रयम्।
अव्यवस्थित इत्युक्तः स्थानकैरव्यवस्थितैः॥ ३६॥

शुद्धच्छायालगौ रागौ मिश्रयन् मिश्रकः स्मृतः।
इतरेषां च रागाणां मिश्रको भूरिमिश्रणात्॥ ३७॥

स्थायादिष्ववधानेन निर्मुक्तोऽनवधानकः।
गेयं नासिकया गायन् गीयते सानुनासिकः॥ ३८॥

२८- ३८. (अ०) **दशनान्** दाँतों को **संदश्य गायन्** 'पीस कर' गाता हुआ (अर्थात् गाने वाला) **संदष्टः परिकीर्तितः** 'संदष्ट' (गायक) जाना गाया (है)।

विरस-उद्घोषः रसहीन उद्घोषपूर्वक (अर्थात् आवाज़ को अत्यधिक खोल कर गाने वाला) **उद्घुष्टः** 'उद्घुष्ट' (माना जाता है)।

मुहुः बार-बार **सूत्कृतैः** सूत्कार के साथ (साँस भीतर खींचते समय 'सी' जैसी ध्वनि करते हुए गाने वाला) **सूत्कारी** 'सूत्कारी' (कहलाता है)।

भयान्वितः गाता भय से अन्वित होकर (अर्थात् डरते हुए गाने वाला) गायक **भीतः** 'भीत' (होता है)।

त्वरया हड़बड़ी से (गाने से) **शङ्कितः मतः** 'शंकित' (गायक) माना गया है।

गात्रशब्दयोः शरीर और आवाज़ के **स्वभावात् कम्पनात्** स्वभावतः कंपन से (अर्थात् आदतन काँपती आवाज़ और काँपते शरीर से गाने पर) **कम्पितः ज्ञेयः** 'कम्पित' जाना गया (है)।

कराल-उद्घाटित-आननः भयानक (रूप से) खुले हुए मुँह वाला (अर्थात् भयानक ढंग से मुँह खोल कर गाने वाला) **सद्भिः** बुद्धिमानों के द्वारा **कराली गदितः** 'कराली' कहा गया (है)।

यः जो **न्यून-अधिकश्रुतीन् स्वरान्** कम (या) ज़्यादा श्रुति वाले स्वरों का (अर्थात् सही स्थान पर स्वर न लगाते हुए) **गायेत्** गाता है **सः तु विकलः** वह तो 'विकल' (गायक) है।

काकक्रूररवः कौओ जैसी क्रूर (तीखी और कर्कश) ध्वनि वाला **काकी** 'काकी' (होता है)।

तालविच्युतः ताल से गिरा हुआ (अर्थात् 'बेताला' होने वाला) **वितालः** 'विताल' (गायक माना जाता है)।

कन्धरां गर्दन को **ऊर्ध्वां दधानः** ऊपर की ओर धारण करने वाला (अर्थात् ऊँची करके गाने वाला) **बुधैः** बुद्धिमानों के द्वारा **करभः अभिहितः** 'करभ' कहा गया है।

वहनीं वहनी (नामक स्थाय) को **छागवत् कुर्वन्** भेड़ (अथवा बकरे) के समान (काँपती हुई आवाज़) करते हुए (अर्थात् गाने वाला) **उद्भटः** 'उद्भट' **अधमगायनः** अधम (सबसे निचले स्तर का) गायक (होता है)।

शिराल-भाल-वदन-ग्रीवः गाता **तु** माथे, चेहरे (और) गर्दन की फूली नसों वाला गायक तो **झोम्बकः** 'झोम्बक' (कहलाता है)।

तुम्बक-आकार-उत्फुल्लगल्लः तूँबे के आकार में फूले हुए गालों वाला (अर्थात् फुला कर गाने वाला) **गायनः तु** गायक तो **तुम्बकी** 'तुम्बकी' (कहा जाता है)।

वक्रीकृतगलः गले (गर्दन) को वक्र (टेढ़ा) करके **गायन्** गाने वाला **धीरैः** धैर्यवानों के द्वारा **वक्री उदीरितः** 'वक्री' कहा गया (है)।

गात्रगीतप्रसारणात् शरीर (अर्थात् हाथ आदि और) गीत को फैला कर गाने से **तत्-ज्ञैः** उसके ज्ञाताओं के द्वारा **प्रसारी गीयते** 'प्रसारी' गाया जाता है (अर्थात् जाना जाता है)।

निमीलितविलोचनः गायन् बन्द आँखों से गाते हुए (अर्थात् गाने वाला) **निमीलकः मतः** 'निमीलक' माना गया (है)।

नीरसः रसहीन (गाने वाला) **विरसः** 'विरस' (कहलाता है)।

वर्ज्यस्वरगानात् वर्ज्य स्वर को गाने से (अर्थात् गाने वाला) **अपस्वरः** 'अपस्वर' (गायक माना जाता है)।

गद्‌गद्ध्वनिः गद्‌गद (भर्राई हुई) आवाज़ वाला **अव्यक्तवर्णः** अव्यक्त वर्ण (अक्षरों का अस्पष्ट उच्चारण करने) वाला **अव्यक्तः उच्यते** 'अव्यक्त' (गायक) कहा जाता है।

यः जो **स्थानकत्रयं** तीन स्थानों को **प्राप्तुम् अशक्तः** प्राप्त करने में समर्थ न हो (अर्थात् जिसकी आवाज़ तीनों स्थानों में न चले) **सः** वह **स्थानभ्रष्टः** 'स्थानभ्रष्ट' (गायक है)।

अव्यवस्थितैः स्थानकैः अव्यवस्थित स्थानों से (यानी जिसके गाने में त्रिस्थानों में संबद्धता न रहे) **अव्यवस्थितः** 'अव्यवस्थित' **इति उक्तः** इस प्रकार कहा गया (है)।

शुद्धच्छायालगौ रागौ मिश्रयन् शुद्ध और छायालग रागों का मिश्रण करते हुए (गाने वाला) **मिश्रकः स्मृतः** 'मिश्रक' (के रूप में) स्मरण किया गया (है)। **इतरेषां च रागाणाम्** इनके अतिरिक्त भी (अन्य) रागों का **भूरिमिश्रणात्** बहुत मिश्रण करने से **मिश्रकः** 'मिश्रक' (माना गया है)।

स्थाय-आदिषु स्थायों आदि में **अवधानेन निर्मुक्तः** एकाग्रता से मुक्त (अर्थात् जिसकी एकाग्रता बनी न रहे) **अन्-अवधानकः** 'अनवधानक' (है)।

गेयं गेय को (अर्थात् जो कुछ गाया जा रहा है उसे) **नासिकया गायन्** नाक से गाता हुआ (अर्थात् गाने वाला) **सानुनासिकः गीयते** 'सानुनासिक' (के रूप में) प्रसिद्ध होता है।

(सर०) कल्लि० ने दोषों को स्पष्ट कह कर छोड़ दिया है। सिर्फ़ इतना कहा है कि ये दोष गायिका के भी समझ लेने चाहियें।

गात्रगीतप्रसारणात् का अर्थ है जो हाथों को बहुत फैलाते हुए या पटक कर गाये और जो गीत को अनावश्यक रूप से फैला कर गाये। पूरे या अधिकांश समय आँखें बन्द रख कर गाना दोष है। गेय में लीन होकर गाते समय तो आँखें स्वाभाविक रूप से बन्द हो जाती हैं और यह दोष नहीं हैं। **अव्यक्तवर्णः** से आशय यह है कि भर्राई आवाज़ से इस तरह गाने वाला जिससे शब्द स्पष्ट सुनाई न दें। तीनों स्थान प्राप्त करने में अशक्त में विशेष रूप से मन्द्र और तार स्थान समझना चाहिये क्योंकि मध्यस्थान में तो आवाज़ चलती ही है।

(शब्दभेदाः)

चतुर्भेदो भवेच्छब्दः खाहुलो नारटाभिधः।
बोम्बको मिश्रकश्चेति तल्लक्षणमथोच्यते॥ ३९॥

'शब्द' (कण्ठध्वनि) के भेद

३९. (अ०) **खाहुलः** खाहुल, **नारट-अभिधः** नारट नाम वाला, **बोम्बकः मिश्रकः च** बोम्बक और मिश्रक **इति** इस प्रकार **शब्दः** 'शब्द' (कण्ठध्वनि) **चतुर्भेदः भवेत्** चार भेद वाला होता है। **अथ** अब **तत् लक्षणम्** उसका लक्षण **उच्यते** कहा जा रहा है।

(सर०) 'शब्द' यहाँ पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ है कण्ठध्वनि। ग्रन्थकार ने स्वयं भी नारट के लक्षण में 'शब्द' के लिये 'ध्वनि' का प्रयोग किया है।

गायक के गुणों में पहला गुण 'हृद्यशब्दः' कहा गया है। उसी 'शब्द' यानी कण्ठ के भेद, उनके लक्षण और प्रभेदों का विस्तार से निरूपण यहाँ से शुरू किया है। कण्ठ मुख्य रूप से तीन प्रकार का होता है—खाहुल, नारट या नाराट और बोम्बक तथा इनके मिश्रण से चौथा प्रकार मिश्र कहलाता है।

(खाहुलः)

कफजः खाहुलः स्निग्धमधुरः सौकुमार्ययुक्।
आडिल्ल एष एव स्यात् प्रौढश्चेन्मन्द्रमध्ययोः॥ ४०॥

(१) खाहुल

४०. (अ०) **खाहुलः** (इनमें से) 'खाहुल' **कफजः** कफ से उत्पन्न **स्निग्धमधुरः** स्निग्ध (चिकना यानी कोमल), मधुर **सौकुमार्ययुक्** (और) सुकुमारता से युक्त (होता है)। **मन्द्रमध्ययोः** मन्द्र और मध्य (स्थानों) में **प्रौढः चेत्** यदि प्रौढ़ (हो तो) **एष एव** यही **आडिल्लः स्यात्** 'आडिल्ल' होता है।

(सर०) शरीर को धारण करने वाले ३ प्रमुख तत्त्व, आयुर्वेद के अनुसार, वात, पित्त और कफ हैं जिन्हें 'धातु' कहा गया है। जिस तरह पूरे शरीर की रचना और प्रकृति इन धातुओं पर निर्भर है उसी तरह विभिन्न प्रकार की कण्ठध्वनियों के निर्माण में इन धातुओं के गुण और अनुपात का बड़ा महत्त्व है।

खाहुल में कफ की प्रधानता होती है इसलिये वह कोमल, मधुर और सुकुमार होता है। यही मन्द्र और मध्य स्थान में ज्यादा प्रौढ़ हो तो उसे 'आडिल्ल' कहते हैं। नाराट को तीनों स्थानों से और बोम्बक को तारस्थान से संबद्ध कहा जाने वाला है इसलिये खाहुल को विशेष रूप से मन्द्रस्पर्शी समझना चाहिये। उसी में मध्यस्थान का उत्कर्ष जुड़ जाने पर 'आडिल्ल' हो जाता है।

(नाराटः)

त्रिस्थानघनगम्भीरलीनः पित्तोद्भवो ध्वनिः।
नाराटः,

(२) नाराट

४१ क-ग. (अ०) **पित्त-उद्भवः** पित्त से उत्पन्न (अर्थात् पित्त की प्रधानता वाली) **त्रिस्थानघनगम्भीरलीनः** तीनों स्थानों में घन (भरावदार), गम्भीर (और) लीन होने वाली **ध्वनिः** ध्वनि **नाराटः** नाराट (है)।

(सर०) पित्त की प्रधानता वाली ध्वनि 'नाराट' या 'नारट' कहलाती है। घन का शब्दार्थ है ठोस अर्थात् भीतर से भरी हुई या अन्तःसारता से युक्त और गम्भीर यानी गहराई से युक्त। लीन का संगीतपरक अर्थ है स्वर के साथ मिल कर एकरूप हो जाने वाली। ध्वनि के ये तीनों गुण एक दूसरे से संबद्ध और ध्वनि की उत्कृष्टता में परस्पर पूरक हैं।

(बोम्बकः)

बोम्बकस्तु स्यादन्तर्निःसारतायुतः ॥ ४१ ॥
परुषोच्चैस्तरः स्थूलो वातजः शार्ङ्गिणोदितः।

(३) बोम्बक

४१ ग-४२ ख. (अ०) शार्ङ्गिणा शार्ङ्ग(देव) के द्वारा **बोम्बकः तु** बोम्बक तो **अन्तः निःसारतायुतः** अन्तः (भीतर से) निःसारता (खोखलेपन से) युक्त **परुष** कठोर (रूखा), **उच्चैस्तरः** बहुत ऊँचा, **स्थूलः** बड़ा, **वातजः** वात (नामक धातु) से उत्पन्न **उदितः** कहा गया (है)।

(सर०) सिंह० ने अन्तःनिःसार का अर्थ 'एरण्डकाण्डवत्' किया है। जैसे अरंडी (एरण्ड) के पेड़ की शाखा (काण्ड) भीतर से खोखली होती है उसी तरह भीतर से खोखली आवाज़ अन्तःनिसार कहलायेगी जो नाराट के गुण 'घन', सिंह० के अनुसार अन्तःसार, के विपरीत है। परुष का अर्थ सिंह० ने 'स्निग्धताहीन' (रूखी) किया है। ग्रन्थकार ने मिश्र भेदों में परुष के स्थान पर रूक्ष शब्द का ही प्रयोग किया है। यह खाहुल की स्निग्धता के ठीक विपरीत है। **उच्चैस्तरः** को गधे की आवाज़ की तरह बहुत ऊँची तार ध्वनि वाला कहा है। **स्थूलः** सिंह० के अनुसार महान् है। संगीतज्ञों की भाषा में जिसे 'बड़ी' और 'मोटी' आवाज़ कहा जाता है शायद वही यहाँ अभिप्रेत है जो 'बारीक' और 'पतली' के विपरीत होती है।

यह ध्यान देने योग्य है कि खाहुल में स्निग्ध, मधुर, सुकुमार और नाराट में त्रिस्थानक, घन, गम्भीर, लीन—यों मुख्य ध्वनिगुण ७ ही हैं। बोम्बक के स्थूल को भी बड़ी आवाज़ के रूप में गुण मान लें तो ८ कह सकते हैं, यद्यपि नाराट और खाहुल के उत्तम मिश्र भेदों में स्थूल को नहीं गिनाया गया है।

कल्लि० ने खाहुल आदि को रूढ़ शब्द कहा है यानी ये संगीतज्ञों द्वारा प्रयोग किये जाने वाले शब्द हैं। खाहुल, आडिल्ल, नाराट और बोम्बक देशी यानी लोकभाषा के शब्द हैं जो संस्कृत व्याकरण के प्रकृति-प्रत्यय नियम से सीधे व्युत्पन्न नहीं होते। संभव है ये पुरानी मराठी या महाराष्ट्र के इर्दगिर्द किसी प्रदेश की भाषा के शब्द हों। यही शब्द सं० स० सार० में भी हैं। सं० र० की रचना महाराष्ट्र में हुई थी और सं० स० सार में आए अनेक मराठी शब्दों के आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि संभवतः यह ग्रन्थ भी महाराष्ट्र या उसके आसपास ही लिखा गया होगा। दोनों ग्रन्थों के रचनाकाल और प्रदेश की संभावित समानता तथा दोनों में प्रयुक्त एक से शब्दों के आधार पर यह समझा जा सकता है कि कण्ठध्वनि के भेदों के लिये प्रयोग किये गये ये शब्द पश्चिमी भारत में संगीतज्ञों के व्यवहार के लक्ष्यगत पारिभाषिक शब्द रहे होंगे।

(मिश्रकः)

एतत्संमिश्रणादुक्तो मिश्रकः सान्निपातिकः ॥ ४२ ॥

(४) मिश्रक

४२ ग-घ. (अ०) **एतत् संमिश्रणात्** इन (तीन) के मिश्रण से **मिश्रकः उक्तः** 'मिश्रक' कहा गया है (जो) **सान्निपातिकः** सांनिपातिक (तीनों धातुओं के मिश्रण वाला) (कहलाता है)।

(सर०) खाहुल आदि तीन ध्वनिभेदों के गुणों का जिस ध्वनि में मिश्रण दिखाई दे वह 'मिश्रक' होता है।

सं० स० सार में भी ध्वनि के भेद के रूप में यही चार प्रकार कहे गये हैं। लक्षण इस प्रकार हैं—मन्द्रस्थान का बहुलता से स्पर्श करने वाली और माधुर्यगुण से युक्त खाहुल, अरण्ड की शाखा की तरह गूदे से रहित निःसार (खोखली), स्थूल और प्रायः मध्यस्थानीय बोम्बक तथा तारस्थान का अधिक स्पर्श करने वाली और माधुर्यगुण से रहित नाराट ध्वनि होती है। इनके गुणों के मिश्रण से मिश्रक कहलाती है।

लक्षणों में कुछ अन्तर होते हुए भी दोनों ग्रन्थों में ध्वनि के भेद और गुण लगभग एक से हैं।

ननु रूक्षगुणो बोम्बः खाहुलः स्निग्धतायुतः।
कथं तयोर्मिश्रणं स्याद्विरुद्धगुणयोगिनोः॥ ४३॥

४३. (अ०) ननु आक्षेप (अथवा प्रश्न) (यह है कि) **बोम्बः रूक्षगुणः** बोम्बक रूखेपन गुण वाला (है और) **खाहुलः स्निग्धतायुतः** खाहुल स्निग्धता से युक्त (है तब) **विरुद्धगुणयोगिनोः तयोः** विरोधी गुणों वाले उन दोनों (बोम्बक और खाहुल) का **मिश्रणं** मिश्रण **कथं स्यात्** कैसे होता है (अर्थात् कैसे हो सकता है)?

(सर०) मिश्रक में ध्वनि के तीनों भेदों का मिश्रण कहा गया है। उनमें से खाहुल और बोम्बक में विरोधी गुण हैं जिनका किसी ध्वनि में एकसाथ होना संभव नहीं है। यही शंका यहाँ उठा कर अगले श्लोक में उसका उत्तर दिया है।

अत्रोच्यते परित्यागात् पारुष्यस्य विरोधिनः।
अविरुद्धस्य माधुर्यस्थौल्यादेर्मिश्रणं मतम्॥ ४४॥

४४. (अ०) **अत्र** यहाँ (अर्थात् इसका) **उच्यते** कहते हैं (अर्थात् उत्तर देते हैं)। **पारुष्यस्य** रूखेपन (जैसे) **विरोधिनः** विरोधी (गुणों) का **परित्यागात्** त्याग होने से (अर्थात् न होने, और) **माधुर्यस्थौल्यादेः** माधुर्य, स्थूलता आदि **अविरुद्धस्य** अविरोधी (गुणों) का **मिश्रणं मतं** मिश्रण माना गया (है)।

(सर०) रूखेपन और स्निग्धता जैसे परस्पर विरोधी गुणों का मिश्रण तो संभव नहीं है लेकिन कोई ध्वनि मधुर होने के साथ ही स्थूल भी हो सकती है क्योंकि ये विरोधी नहीं हैं इसलिय इनका मिश्रण संभव है।

संस्कृत ग्रन्थों में शास्त्रीय अर्थात् तर्कबद्ध चर्चा में आक्षेप करने, शंका उठाने या विरोधी पक्ष को प्रस्तुत करने के लिये 'ननु' का प्रयोग होता है और प्रायः 'उच्यते' से उसका उत्तर दिया जाता है या समाधान किया जाता है। यहाँ भी पिछले श्लोक में ग्रन्थकार ने ननु से प्रश्न उठा कर प्रस्तुत कारिका में उच्यते से उत्तर दिया है।

(मिश्रस्य भेद-प्रभेदाः)

एतेन घननिःसारगुणनाराटबोम्बयोः।
विरुद्धगुणताक्षेपसमाधाने निवेदिते॥ ४५॥

मिश्रस्य भेदाश्चत्वारो युक्तौ नाराटखाहुलौ।
नाराटबोम्बकौ बोम्बखाहुलौ मिश्रितास्त्रयः॥ ४६॥

निःसारतारूक्षताभ्यां हीनस्त्रितयमिश्रणात्।
उत्तमोत्तम इत्युक्तः सुराणामिव शङ्करः॥ ४७॥

मिश्र के भेद-प्रभेद

४५-४७. (अ०) **एतेन** इस (कथन) के द्वारा **घननिःसारगुणनाराटबोम्बयोः** नाराट (के) गुण घनता (और) बोम्बक

(के) गुण निःसारता के **विरुद्धगुणता-आक्षेपसमाधाने निवेदिते** विरुद्ध-गुणता (संबन्धी) आक्षेप का समाधान निवेदित करने पर (अर्थात् इन परस्पर विरोधी गुणों को छोड़ कर अन्य गुणों के मिश्रण से मिश्रध्वनि कह चुकने के बाद) **मिश्रस्य** मिश्र (ध्वनि) के **चत्वारः भेदाः** चार भेद **नाराटखाहुलौ युक्तौ** नाराट और खाहुल से युक्त, **नाराटबोम्बकौ** नाराट और बोम्बक (से युक्त), **बोम्बखाहुलौ** बोम्ब और खाहुल (से युक्त) **त्रयः मिश्रिताः** तीन मिश्र (भेद) **निःसारतारूक्षताभ्यां हीनः** (तथा) निःसारता और रूक्षता से रहित **त्रितयमिश्रणात्** (खाहुल, नाराट, बोम्बक) तीनों के मिश्रण से (चौथा भेद) **सुराणां** देवताओं में **शङ्करः इव** शंकर के समान **उत्तमोत्तमः इति उक्तः** उत्तमोत्तम (सबसे उत्तम) इस प्रकार कहा गया।

नाराटखाहुलोन्मिश्र उत्तमः खाहुलः पुनः।
बोम्बयुक्तो मध्यमः, स्याद्बोम्बो नाराटसंयुतः॥ ४८॥

शब्दानामधमः प्रोक्तः श्रीमत्सोढलसूनुना।
निःसारतारूक्षताभ्यां युक्तः सर्वाधमो मतः॥ ४९॥

भवन्ति बहवो भेदा नानातद्गुणमिश्रणात्।

४८-५० ख. (अ०) **नाराटखाहुल-उन्मिश्रः** नाराट (और) खाहुल (के) मिश्रण वाला **उत्तमः** उत्तम (है)। **पुनः** फिर **बोम्बयुक्तः खाहुलः** बोम्बयुक्त खाहुल **मध्यमः स्यात्** मध्यम होता है। **नाराटसंयुतः बोम्बः** नाराट के साथ बोम्बक **श्रीमत्सोढलसूनुना** श्रीमान् सोढल के पुत्र (शार्ङ्गदेव) के द्वारा **शब्दानां** 'शब्दों' में **अधमः प्रोक्तः** अधम कहा गया। **निःसारतारूक्षताभ्यां युतः** निःसारता और रूक्षता से युक्त **सर्व-अधमः मतः** सबसे अधम माना गया (है)।

नानातत्-गुणमिश्रणात् उनके अनेक गुणों के मिश्रण से **बहवः भेदाः** बहुत भेद **भवन्ति** होते हैं।

(द्वन्द्वजभेदाः)

(खाहुलनाराटयोः मिश्रभेदाः)

कश्चित् स्यान्मधुरस्निग्धघनोऽन्यः स्निग्धकोमलः॥ ५०॥

घनोऽपरस्तु मधुरमृदुत्रिस्थानकोऽन्यकः।
मृदुत्रिस्थानगम्भीरोऽपरः स्निग्धो मृदुर्घनः॥ ५१॥

त्रिस्थानोऽन्यस्तु मधुरमृदुत्रिस्थानको घनः।
अन्यस्तु मधुरस्निग्धमृदुत्रिस्थानकोऽपरः॥ ५२॥

मधुरस्निग्धगम्भीरघनत्रिस्थानकोऽपरः।
स्निग्धकोमलगम्भीरघनत्रिस्थानलीनकः॥ ५३॥

अपरः स्निग्धमधुरकोमलः सान्द्रलीनकः।
त्रिस्थानशोभी गम्भीर इति भेदा दशोदिताः॥ ५४॥

खाहुलोन्मिश्रनाराटे,

द्वन्द्वज (दो के मिश्रण से उत्पन्न) भेद

खाहुल-नाराट के मिश्र भेद

५० ग-५५ क. (अ०) **कश्चित्** कोई (अर्थात् एक भेद) (१) **मधुरस्निग्धघनः** मधुर, स्निग्ध, घन (गुणों) वाला **स्यात्** होता है। **अन्यः** दूसरा (२) **स्निग्धकोमलः घनः** स्निग्ध, कोमल, घन वाला, **अपरः तु** अपर तो (३) **मधुरमृदुत्रिस्थानकः** मधुर, मृदु, त्रिस्थान (व्याप्ति) वाला, **अन्यकः** अन्य (४) **मृदुत्रिस्थानगम्भीरः** मृदु, त्रिस्थान (व्याप्ति और) गम्भीर (गुण) वाला, **अपरः** अन्य (५) **स्निग्धः मृदुः घनः** स्निग्ध, मृदु, घन, **त्रिस्थानः** त्रिस्थान वाला, **अन्यः तु** अन्य तो (६) **मधुरमृदुत्रिस्थानकः** मधुर, मृदु, त्रिस्थान, **घनः** घन (गुण) वाला, **अन्यः तु** अन्य तो (७) **मधुरस्निग्धमृदुत्रिस्थानकः** मधुर, स्निग्ध, मृदु, त्रिस्थानक (गुण) वाला, **अन्यः** अन्य (८) **मधुरस्निग्धगम्भीरघनत्रिस्थानकः** मधुर, स्निग्ध, गम्भीर, घन, त्रिस्थानक वाला, **अपरः** अन्य (९) **स्निग्धकोमलगम्भीरघनत्रिस्थानलीनकः** स्निग्ध, कोमल, गम्भीर, घन, त्रिस्थानक, लीन (गुणों) वाला, **अपरः** अन्य (१०) **स्निग्धमधुरकोमलः** स्निग्ध, मधुर, कोमल, **सान्द्रलीनकः** सान्द्र (घन), लीन, **त्रिस्थानशोभी** तीनों स्थानों में शोभित होने वाला **गम्भीरः** गम्भीर **इति ये दश भेदाः** दस भेद **उदिताः** कहे गए (हैं)।

(सर०) खाहुल और नाराट के १० मिश्र भेदों में से ४ भेद ३-३ गुण वाले, ३ भेद ४-४ गुणयुक्त, १ भेद ५ गुणसहित, १ भेद ६ गुणों वाला और अन्तिम भेद इन दोनों के सभी सातों गुणों से युक्त है इसलिये वह इस द्वियोगज मिश्र भेद में सबसे उत्तम है। द्वियोगज मिश्र भेदों में त्रिस्थान व्याप्ति मुख्य गुण है जो दो को छोड़ कर शेष सभी भेदों में है। सभी में स्निग्धता अथवा मधुरता या दोनों हैं जिससे ध्वनि में चित्त को तुरन्त प्रभावित करने वाला गुण पैदा होता है।

(खाहुलबोम्बयोः मिश्रभेदाः)

ततः खाहुलबोम्बयोः।
स्निग्धकोमलनिःसार एकोऽन्यो मधुरो मृदुः॥ ५५॥

रूक्षोऽन्यस्तु मृदुस्निग्धनिःसारोच्चतरः परः।
कोमलः स्निग्धनिःसारः स्थूलोऽन्यः स्निग्धकोमलः॥ ५६॥

निःसारोच्चतरस्थूलः परो मधुरकोमलः।
रूक्षनिःसारपीनश्च भेदाः षडिति कीर्तिताः॥ ५७॥

खाहुल-बोम्ब के मिश्र भेद

५५ ख-५७. (अ०) **ततः** इस (खाहुल-नाराट के मिश्र भेद) के बाद **खाहुल-बोम्बयोः** खाहुल और बोम्ब का **एकः** एक (१) **स्निग्धकोमलनिःसारः** स्निग्ध, कोमल, निःसार (गुण) वाला, **अन्यः** अन्य (२) **मधुरः मृदुः रूक्षः** मधुर, मृदु, रूक्ष वाला, **अन्यः तु** अन्य तो (३) **मृदुस्निग्धनिःसार-उच्चतरः** मृदु, स्निग्ध, निःसार, उच्चतर वाला, **परः** इसके बाद (४) **कोमलः** कोमल, **स्निग्धनिःसारः** स्निग्ध, निःसार, **स्थूलः** स्थूल वाला, **अन्यः** अन्य (५) **स्निग्धकोमलः** स्निग्ध, कोमल, **निःसार-उच्चतरस्थूलः** निःसार, उच्चतर, स्थूल वाला, **परः** फिर (६) **मधुरकोमलः** मधुर, कोमल, **रूक्षनिःसारपीनः च** रूक्ष, निःसार और पीन (स्थूल) **इति** यों **षट् भेदाः** ६ भेद **कीर्तिताः** जाने गये (हैं)।

(सर०) इस मिश्र भेद में खाहुल और बोम्ब के गुणों में से ३ से ६ गुणों का मिश्रण है। इसके भेदों में भी स्निग्धता, कोमलता, मधुरता में से एक या दो गुण तो अवश्य हैं लेकिन बोम्ब की निःसारता, रूक्षता, उच्चता, स्थूलता में से एक, दो या तीन गुणों के कारण ये ध्वनिभेद वैसे चित्ताकर्षक, दिल को तुरन्त छूने वाले नहीं हैं जैसे खाहुल-नाराट के भेद हैं।

(नाराटबोम्बयोः मिश्रभेदाः)

नाराटे बोम्बभेदाः स्युर्घनत्रिस्थानरूक्षकः।
एकोऽन्यो घनगम्भीररूक्षोऽन्यो लीनपीवरः॥ ५८॥

निःसाररूक्षोऽन्यो लीनघनोच्चतरपीवरः।
त्रिस्थानघनगम्भीरलीनरूक्षोऽपरः परः॥ ५९॥

त्रिस्थानलीननिःसाररूक्षः स्थूलः षडित्यमी।
एते द्वन्द्वजभेदाः स्युरथैते सान्निपातिकाः॥ ६०॥

नाराट-बोम्ब के मिश्र भेद

५८-६०. (अ०) **नाराटे बोम्बभेदाः** नाराट में बोम्ब भेद (अर्थात् नाराट और बोम्ब के मिश्र भेद) **एकः** एक (१) **घनत्रिस्थानरूक्षकः** घन, त्रिस्थान (व्याप्ति), रूक्ष वाला, **अन्यः** अन्य (२) **घनगम्भीररूक्षः** घन, गम्भीर, रूक्ष वाला, **अन्यः** अन्य (३) **लीनपीवरः** लीन, स्थूल, **निःसाररूक्षः** निःसार, रूक्ष, **अन्यः** अन्य (४) **लीनघन-उच्चतरपीवरः** लीन, घन, उच्चतर, स्थूल, **अपरः** और अन्य (५) **त्रिस्थानघनगम्भीरलीनरूक्षः** त्रिस्थान, घन, गम्भीर, लीन, रूक्ष वाला, **परः** अगला (६) **त्रिस्थानलीननिःसाररूक्षः स्थूलः** त्रिस्थान, लीन, निःसार, रूक्ष, स्थूल वाला **इति अमी** इस प्रकार ये **षट्** ६ (मिश्र भेद हैं)।

एते ये **द्वन्द्वजभेदाः स्युः** द्वन्द्व से उत्पन्न (अर्थात् दो-दो शब्दभेदों के जोड़ों से बने) भेद होते हैं। **अथ** अब **एते** ये **सान्निपातिकाः** सांनिपातिक (तीनों के मिश्रण से बने भेद कहेंगे)।

(सर०) ग्रन्थकार द्वारा इन्हें नाराट में बोम्ब के भेद कहने का आशय यह है कि इन ६ भेदों में नाराट प्रधान है। यहाँ भी तीन से पाँच गुणों का मिश्रण है। लेकिन बोम्ब के मिश्रण के कारण खाहुल-नाराट के मिश्रभेदों जैसे आकर्षित करने वाले नहीं हैं।

(सान्निपातिकभेदाः)

स्निग्धत्रिस्थाननिःसारोऽन्यो मृदुर्मधुरो घनः।
गम्भीरोच्चतरो रूक्षः परस्तु स्निग्धकोमलः॥ ६१॥

घनलीनः पीवरोच्चतरोऽन्यः स्निग्धकोमलः।
त्रिस्थानलीननिःसारपीवरोच्चतरोऽपरः॥ ६२॥

कीर्तितो मधुरो लीनत्रिस्थानो रूक्षपीवरः।
निःसारोच्चतरोऽन्यस्तु मधुरस्निग्धकोमलः॥ ६३॥

त्रिस्थानघनगम्भीरलीन उच्चतरः परः।
मधुरो मृदुगम्भीरलीनत्रिस्थानरूक्षकः॥ ६४॥

निःसारोच्चतरोऽन्यस्तु कोमलो मधुरो घनः।
लीनत्रिस्थानरूक्षोच्चतरपीवरतायुतः॥ ६५॥

अष्टाविति त्रिमिश्रस्य भेदाः सर्वे तु मिश्रजाः।
मिलिता मुग्धबोधाय त्रिंशन्निःशङ्ककीर्तिताः॥ ६६॥

सांनिपातिक भेद

६१-६६. (अ०) **स्निग्धत्रिस्थाननिःसारः** (१) स्निग्ध, त्रिस्थान, निःसार, **अन्यः** अन्य (२) **मृदुः मधुरः घनः** मृदु, मधुर, घन **गम्भीर-उच्चतरः रूक्षः** गम्भीर, उच्चतर, रूक्ष, **परः तु** अगला तो (३) **स्निग्धकोमलः** स्निग्ध, कोमल, **घनलीनः** घन, लीन, **पीवरः उच्चतरः** स्थूल, उच्चतर, **अन्यः** अन्य (४) **स्निग्धकोमलः** स्निग्ध, कोमल, **त्रिस्थानलीननिःसारपीवर-उच्चतरः** त्रिस्थान, लीन, निःसार, स्थूल, उच्चतर, **अपरः** अन्य (५) **मधुरः लीनत्रिस्थानः** मधुर, लीन, त्रिस्थान, **रूक्षपीवरः** रूक्ष, स्थूल, **निःसार-उच्चतरः कीर्तितः** निःसार, उच्चतर जाना गया है। **अन्यः तु** अन्य तो (६) **मधुरस्निग्धकोमलः** मधुर, स्निग्ध, कोमल, **त्रिस्थानघनगम्भीरलीनः** त्रिस्थान, घन, गम्भीर, लीन, **उच्चतरः** उच्चतर, **परः** अगला (७) **मधुरः** मधुर **मृदुगम्भीरलीनत्रिस्थानरूक्षकः** मृदु, गम्भीर, लीन, त्रिस्थान, रूक्ष, **निःसार-उच्चतरः** निःसार, उच्चतर, **अन्यः तु** अन्य तो (८) **कोमलः मधुरः घनः** कोमल, मधुर, घन, **लीनत्रिस्थानरूक्ष-उच्चतरपीवरतायुतः** लीन, त्रिस्थान, रूक्ष, उच्चतर, स्थूलता से युक्त (गुण वाले) **इति अष्टौ** ये आठ **त्रिमिश्रस्य भेदाः** तीनों मिश्र (शब्दभेदों) के (मिश्रण से बने) भेद (हैं)। **मिश्रजाः सर्वे मिलिताः तु** मिश्रण से उत्पन्न सारे (भेद) मिला कर तो **मुग्धबोधाय** मुग्ध (व्यक्तियों) के बोध के लिये **त्रिंशत्** तीस **निःशङ्ककीर्तिताः** निःशंक (शार्ङ्गदेव) द्वारा जाने गये (अर्थात् कहे गए हैं)।

(सर०) द्वियोगज खाहुल-नाराट के १०, खाहुल-बोम्ब के ६, नाराटबोम्ब के ६ और त्रियोगज सांनिपातिक के ८—यों कुल मिला कर 'शब्द' के ३० मिश्र भेदों का निरूपण ग्रन्थकार ने किया है।

अन्येषां सूक्ष्मभेदानां नान्तोऽस्ति गुणसंकरात्।
ते ग्रन्थविस्तरत्रासादस्माभिर्न समीरिताः॥ ६७॥

६७. (अ०) **गुणसंकरात्** गुणों के संकर (मिश्रण) से **अन्येषां सूक्ष्मभेदानाम्** अन्य सूक्ष्म भेदों का **अन्तः न अस्ति** अन्त नहीं है। **ग्रन्थविस्तरत्रासात्** ग्रन्थ के विस्तार के भय से **ते** वे **अस्माभिः** हमारे द्वारा **न समीरिताः** नहीं कहे गए।

(सर०) कण्ठध्वनि के अनन्त भेद होते हैं, यह तो इस कारिका में कहा ही गया है लेकिन गुणों के संकर को इसका कारण कहने से यह भी सूचित होता है कि गुणभेद से और उनके परस्पर मिश्रण से ध्वनिभेदों का कारण वात, पित्त और कफ धातुएँ हैं। पूर्वोक्त खाहुल आदि तीन मुख्य भेदों में कफ आदि धातुओं के अपने-अपने विशिष्ट गुणों की प्रधानता रहती है। लेकिन मिश्र भेदों में किसी एक गुण की प्रधानता नहीं होती बल्कि खाहुल आदि के गुणों का मिश्रण होता है।

(शब्दगुणाः)

मृष्टो मधुरचेहालत्रिस्थानकसुखावहाः।
प्रचुरः कोमलो गाढः श्रावकः करुणो घनः॥ ६८॥

स्निग्धः श्लक्ष्णो रक्तियुक्तश्छविमानिति सूरिभिः।
गुणैरेभिः पञ्चदशभेदः शब्दो निगद्यते॥ ६९॥

'शब्द' के गुण

६८-६९. (अ०) मृष्ट, मधुर, चेहाल, त्रिस्थानक, सुखावह, प्रचुर, कोमल, गाढ, श्रावक, करुण, घन, स्निग्ध, श्लक्ष्ण, रक्तियुक्त, छविमान् **इति एभिः गुणैः** इस प्रकार इन गुणों से (युक्त) **शब्दः** 'शब्द' **सूरिभिः** विद्वानों के द्वारा **पञ्चदशभेदः** पन्द्रह भेद वाला **निगद्यते** कहा जाता है।

(सर०) कल्लि० ने व्याख्या शुरू करते हुए कहा कि सुकुमारता, स्थूलता आदि पहले कहे गये गुणों के मिश्रण से 'शब्दों' की अनन्तता होते हुए भी गीत के उपयोगी गुणों की भिन्नता के द्वारा भिन्न होने वाले 'शब्दों' को मृष्ट आदि के द्वारा कह कर

ग्रन्थकार ने लक्षण दिये हैं। आशय यह है कि कफ आदि से संबद्ध सुकुमारता आदि गुणों के आधार पर खाहुल आदि और उनके मिश्रण से कण्ठध्वनि के भेदों की अनन्तता तो कही जा चुकी है, यहाँ जो भेद कहे जा रहे हैं वे विशेष रूप से संगीत संबन्धी गुणों के आधार पर हैं।

पन्द्रह भेद वाला 'शब्द' कहने का तात्पर्य यह है कि गान में इन गुणों या विशेषणों के रूप में कण्ठध्वनि के भिन्न-भिन्न प्रकारों का स्पष्ट अनुभव किया जा सकता है।

ग्रन्थकार के 'इन गुणों के द्वारा'—इस कथन पर कल्लि० ने शंका उठाई कि ग्रन्थकार ने मृष्ट आदि तो गुणी (जिसमें गुण रहते हैं) के रूप में कहे हैं फिर 'इन गुणों के द्वारा' कथन कैसे उपपद्य होगा? इस शंका के द्वारा कल्लि० ने यह भी कह दिया कि वास्तव में मृष्ट आदि गुण नहीं गुणी हैं क्योंकि मृष्ट आदि को ग्रन्थकार ने कण्ठभेद कहा है। शंका यह है कि इस प्रकार पहले इन्हें गुणी मान कर फिर गुण कहना संगत नहीं लगता। दूसरे, अगर बुद्धि में पहले विशेषण का ग्रहण न हुआ हो तो विशेष्य (जिसमें विशेषण रहते हैं) का बोध भी नहीं हो सकता। उत्तर यह दिया कि 'इन गुणों से'—ऐसा कहने से पहले ही मृष्टादि में रहने वाले श्रोत्रनिर्वापकता आदि गुणों का बोध या ग्रहण हो जाने के बाद 'इन गुणों के द्वारा' कहना निर्दोष यानी उचित है।

श्रोत्रनिर्वापको मृष्टस्त्रिषु स्थानेष्वविस्वरः।
मधुरः कीर्तितस्तारः प्रौढो मधुररञ्जकः॥ ७०॥

नातिस्थूलो नातिकृशः स्निग्धश्चेहालको घनः।
आकण्ठकुण्ठनं स स्यात् पुंसां स्त्रीणां तु सर्वदा॥ ७१॥

त्रिषु स्थानेष्वेकरूपश्छविरक्त्यादिभिगुर्णैः।
त्रिस्थानो मनसो यस्तु सुखदः स सुखावहः॥ ७२॥

श्रीशङ्करप्रियेणोक्तः प्रचुरः स्थूलतायुतः।
कोमलोऽन्वर्थनामैव कोकिलाध्वनिवन्मतः॥ ७३॥

गाढस्तु प्रबलो दूरश्रवणाच्छ्रावको मतः।
करुणः श्रोतृचित्तस्य करुणारसदीपकः॥ ७४॥

दूरंश्रवणयोग्यस्तु घनोऽन्तःसारतायुतः।
अरूक्षो दूरसंश्राव्यो बुधैः स्निग्धो ध्वनिः स्मृतः॥ ७५॥

श्लक्ष्णस्तु तैलधारावदच्छिद्रो धीरसंमतः।
अनुरक्तेस्तु जनको रक्तिमानभिधीयते॥ ७६॥

धातुर्विमलकण्ठत्वाद्यः प्राज्ञैरुपलक्ष्यते।
उज्ज्वलोऽयमिति प्रोक्तश्छविमानिति स ध्वनिः॥ ७७॥

७०-७७. (अ०) श्रोत्रनिर्वापकः कान को 'बुझाने वाला' (अर्थात् शीतलता देने वाला) मृष्टः 'मृष्ट', त्रिषु स्थानेषु तीनों स्थानों में अविस्वरः विस्वर (बेसुरा) न होने वाला मधुरः कीर्तितः 'मधुर' कहा गया है। तारः ऊँची ध्वनि वाला, प्रौढः प्राढ़ (परिपक्व), मधुररञ्जकः मधुर (और) रंजक, न-अतिस्थूलः न बहुत स्थूल (भारी) न-अतिकृशः न बहुत कृश (दुर्बल),

स्निग्धः स्निग्ध (चिकनेपन वाला), **घनः** घन **चेहालकः** 'चेहाल' (है)। **सः** वह (चेहाल) **पुंसां** पुरुषों में **आकण्ठकुण्ठनं** कंठ-कुंठन होने (कंठ 'फूटने') तक (और) **स्त्रीणां तु** स्त्रियों में तो **सर्वदा स्यात्** हमेशा होता है। **त्रिषु स्थानेषु** तीनों स्थानों में **एकरूपः** एकरूप रहने वाला (अर्थात् विकृत न होने वाला) **छविरक्ति-आदिभिः गुणैः** छवि (कान्ति, आभा), रंजकता आदि गुणों के द्वारा **त्रिस्थानः** 'त्रिस्थान' (होता है)। **यः** जो **मनसः सुखदः** मन का सुखद (अर्थात् मन को सुख देने वाला हो) **सः तु** वह तो **सुखावहः** 'सुखावह' (है)। **स्थूलतायुतः** स्थूलता से युक्त **श्रीशङ्करप्रियेण** शंकर के प्रिय (शार्ङ्गदेव) के द्वारा **प्रचुरः उक्तः** 'प्रचुर' कहा गया (है)। **कोमलः** 'कोमल' **अन्वर्थनाम-एव** अन्वर्थ नाम (नाम के अनुरूप जिसका अर्थ हो) वाला ही (है, जो) **कोकिलाध्वनिवत् मतः** कोयल की ध्वनि के जैसा माना गया (है)। **गाढः तु** 'गाढ' तो **प्रबलः** प्रबल (बलयुक्त है)। **दूरश्रवणात्** दूर से सुनाई देने से **श्रावकः मतः** 'श्रावक' माना गया (है)। **श्रोतृचित्तस्य** श्रोता के चित्त के **करुणारसदीपकः** करुण रस को उद्दीप्त करने वाला **करुणः** 'करुण' है। **अन्तःसारतायुतः** अन्तःसारता से युक्त (और) **दूरश्रवणयोग्यः** तु दूर तक सुनाई देने योग्य तो **घनः** 'घन' (है)। **अरूक्षः** रूखेपन से रहित (और) **दूरसंश्राव्यः ध्वनिः** दूर तक सुनाई देने वाली ध्वनि **बुधैः** बुद्धिमानों के द्वारा **स्निग्धः** 'स्निग्ध' **स्मृतः** स्मरण की गई (अर्थात् कही गई है)। **श्लक्ष्णः** तु 'श्लक्ष्ण' तो **तैलधारावत् अच्छिद्रः** तेल की धारा की तरह अच्छिद्र (बीच में से न टूटने वाला) **धीरसंमतः** धीरों का संमत (है)। **अनुरक्तेः जनकः** तु अनुरक्ति (श्रोताओं के चित्त में रंजकता) को उत्पन्न करने वाला तो **रक्तिमान् अभिधीयते** 'रक्तिमान्' कहा जाता है। **यः धातुः** जो धातु (गेय) **विमलकण्ठत्वात्** विमल (शुद्ध, विकाररहित) कण्ठ (से उत्पन्न) होने से **प्राज्ञैः** विशेषज्ञों के द्वारा **अयम् उज्ज्वलः** यह उज्ज्वल (है) **इति उपलक्ष्यते** इस प्रकार उपलक्षित की जाति है (कही जाती है) **सः ध्वनिः** वह ध्वनि **छविमान् इति प्रोक्तः** 'छविमान्' इस प्रकार कही गई (है)।

(सर०) 'कान को बुझाने वाला' से आशय है कानों को शीतलता देने वाला या सुख पहुँचाने वाला। 'मधुर' के लक्षण में कल्लि० का पाठ **अविस्तरः** है लेकिन उसने कोई व्याख्या नहीं की है। अविस्तर का अर्थ है न फैलने वाली यानी जो बिखरे नहीं। सिंह० का पाठ **अनश्वरः** है जिसकी व्याख्या में उसने इसे अविनाशी और अविकृत कहा यानी जो टूटे नहीं और बिगड़े नहीं। 'अविस्तरः' के बहुत नज़दीक का एक पाठ 'अविस्वरः' भी हो सकता है जिसका अर्थ है जो बेसुरा न हो। तीनों स्थानों में घूमते समय ध्वनि बिखरने यानी निरन्तरता खंडित होने का डर रहता है, ऐसा न हो यह 'अविस्तरः' से व्यक्त होता है। तीनों स्थानों के प्रयोग में ध्वनि बिगड़ जाने या बीच में आवाज़ टूट जाने का भय भी रहता है, ऐसा न होना 'अनश्वरः' में अन्वित है। लेकिन आवाज़ बेसुरी न हो जाय यह 'अविस्वरः' का सीधा अर्थ है। हमने यही पाठ रखा है।

'चेहाल' के लक्षण में **आकण्ठकुण्ठनं स स्यात्** की टीका में सिंह० और कल्लि० के दृष्टिकोण अलग हैं। सिंह० ने कहा कि तरुणता के उदय के समय जब अस्थिविशेष के कारण कण्ठ कुंठित होता है तो चेहाल ध्वनि उत्पन्न नहीं होती, कण्ठकुण्ठन तक ही होती है। लेकिन स्त्रियों की ध्वनि में चेहाल सदा होता है। इसके विपरीत कल्लि० के अनुसार कंठ में वायु का निरोध यानी सब तरफ़ से रुकावट होने के कारण ध्वनि न तो बहुत स्थूल होती है और न दुर्बल बल्कि स्निग्ध हो जाती है। पुरुषों में कण्ठ फूटने पर ऐसा होता है लेकिन स्त्रियों में कंठकुंठन नहीं होता इसलिये उनमें चेहाल स्वतः प्रवर्तित होता है यानी हमेशा रहता है। व्यावहारिक दृष्टि से देखें तो शुरू में स्त्री, पुरुषों की आवाज़ एक सी रहती है लेकिन पुरुषों का कण्ठ फूटने पर अलग हो जाती है क्योंकि उस समय अवरोध आने से पुरुषों की आवाज़ में स्त्रियों जैसी मधुरता, स्निग्धता नहीं रहती। कण्ठ फूटने के बाद जब ध्वनि स्थिर होती है तो घनता आ जाती है। दूसरी ओर स्त्रियों की आवाज़ न फूटने के कारण उसमें मधुरता, स्निग्धता और घनता हमेशा बनी रहती है।

कल्लि० के अनुसार 'चेहाल' रूढ़ शब्द है। इसका आशय यह है कि संगीतज्ञों की परम्परा में यह विशेष अर्थ में प्रचलित रहा है।

ध्वनि के संदर्भ में 'छवि' शब्द का प्रयोग लाक्षणिक है क्योंकि छवि रूप का विषय है। जिस तरह किसी के चेहरे में आभा, कान्ति होती है उसी तरह ध्वनि में भी आभा (चमक) का अनुभव हो सकता है।

'श्लक्ष्ण' में तेल की धारा के समान—यह प्रयोग भी लाक्षणिक है। तेल की धारा शुरू से आख़िर तक एकसी बनी रहती है, बीच-बीच में बिखरापन नहीं होता। इसके विपरीत पानी की धारा बिखरी-बिखरी होती है। ध्वनि में बिखराव न होना श्लक्ष्ण से व्यक्त किया गया है।

छविमान् की व्याख्या में सिंह० ने लोक (दैनिक व्यवहार) का यह उदाहरण दिया है—'शब्द में ज्योति प्रतीत होती है'। आज के विज्ञान के द्वारा भी यह प्रमाणित है कि शब्द यानी ध्वनि (जो कान का विषय है) और ज्योति यानी प्रकाश (जो आँख का विषय है) परस्पर परिवर्तनीय और परस्पर अनुभूति के विषय हैं। भारतीय शास्त्रकारों ने इस सत्य या वैज्ञानिक तथ्य को ऋषि परम्परा से प्राप्त किया था। 'शब्द' और अन्य धारणाओं के निरूपण में इस वैज्ञानिक तथ्य के अनेक उदाहरण हैं।

ऊपर कहे गये लाक्षणिक प्रयोग इस तथ्य के सूचक हैं कि जब किसी इन्द्रिय के विषय की अनुभूति उसी इन्द्रिय की भाषा में पूरी तरह व्यक्त नहीं होती तो दैनिक व्यवहार की ही तरह शास्त्र में भी किसी दूसरी इन्द्रिय की भाषा के द्वारा उसे व्यक्त किया जाता है। संगीतशास्त्र में ऐसे कई उदाहरण हैं।

गायक द्वारा गीत की उत्पत्ति का माध्यम उसका कण्ठ ही होता है और कण्ठध्वनि पर गीतात्मक अभिव्यक्ति का गुण और श्रोता पर होने वाला प्रभाव निर्भर करता है। श्रोता को गायक की कण्ठध्वनि ही सबसे पहले प्रभावित करती है। कण्ठध्वनि के अनन्त प्रकार हो सकते हैं लेकिन संगीत की दृष्टि से विशिष्ट रूप में जो ध्वनिभेद कहे जा सकते हैं उनके लक्षण, वर्गीकरण, भेद-प्रभेद आदि का ग्रन्थकार ने बड़े विस्तार से निरूपण किया है।

(शब्ददोषाः)

रूक्षस्फुटितनिःसारकाकोलीकेटिकेणयः।
कृशो भग्न इति प्रोक्ता दुष्टस्याष्टौ भिदाध्वनेः॥ ७८॥

'शब्द' के दोष

७८. (अ०) **रूक्ष-स्फुटित-निःसार-काकोली-केटि-केणयः** रूक्ष, स्फुटित, निःसार, काकोली, केटि और केणि, **कृशः भग्नः इति** कृश (और) भग्न—ये **दुष्टस्य ध्वनेः** दोषयुक्त ध्वनि के **अष्टौ भिदाः प्रोक्ताः** आठ भेद कहे गये हैं।

(सर०) शब्दगुणों के द्वारा जैसे कण्ठध्वनि के १५ भेद कहे गये उसी तरह ८ दोषों के रूप में दोषयुक्त कण्ठध्वनि के भेद समझने चाहियें।

रूक्षः स्निग्धत्वनिर्मुक्तः स्फुटितोऽन्वर्थनामकः।
एरण्डकाण्डनिःसारो निःसार इति कीर्तितः॥ ७९॥

काकोलिकाख्यः काकोलकुलनिर्घोषनिष्ठुरः।
स्थानत्रयव्याप्तियुक्तो निर्गुणः केटिरुच्यते॥ ८०॥

कृच्छ्रोन्मीलन्मन्द्रतारः केणिरित्यभिधीयते।
अतिसूक्ष्मः कृशो भग्नः खरोष्ट्रध्वनिनीरसः॥ ८१॥

७९-८१. (अ०) **रूक्षः** 'रूक्ष' **स्निग्धत्वनिर्मुक्तः** स्निग्धता से रहित (होता है)। **स्फुटितः** 'स्फुटित' **अन्वर्थनामकः** अन्वर्थ नाम वाला (है)। **एरण्डकाण्डनिःसारः** अरंड के पेड़ की शाखा की तरह खोखला **निःसारः इति कीर्तितः** 'निःसार' इस प्रकार जाना गया (है)। **काकोलकुलघोषनिष्ठुरः** काकोल (पहाड़ी कौओं) के कुल (समूह) की ध्वनि के समान कर्कश **काकोलिक-आख्यः** 'काकोली' नामक ('शब्द' है)। **स्थानत्रयव्याप्तियुक्तः** तीनों स्थानों में व्याप्ति वाला (लेकिन) **निर्गुणः**

(माधुर्य आदि) गुणों से रहित **केटिः उच्यते** 'केटि' कहा जाता है। **कृच्छ्र-उन्मीलन्-मन्द्रतारः** मन्द्र और तार स्थानों में कठिनाई से खोलते हुए (संगीतकारों की भाषा में कठिनाई से 'खुलने' या 'पहुँचने' वाला) **केणिः इति अभिधीयते** 'केणि' इस प्रकार (इस नाम से) कहा जाता है। **अतिसूक्ष्मः कृशः** बहुत बारीक (दुर्बल ध्वनि) 'कृश' (है)। **खर-उष्ट्रध्वनिनीरसः** गधे (और) ऊँट की ध्वनि की तरह रसहीन 'भग्न' (है)।

(सर०) स्निग्ध के ठीक विपरीत रूखा होता है। 'स्फुटित' यानी फटा हुआ है। संगीतज्ञों के द्वारा कही जाने वाली 'फटी आवाज़' 'स्फुटित' है।

(शारीरलक्षणम्)

रागाभिव्यक्तिशक्तत्वमनभ्यासेऽपि यद्ध्वनेः।
तच्छारीरमिति प्रोक्तं शरीरेण सहोद्भवात्॥ ८२॥

शारीर का लक्षण

८२. (अ०) **अनभ्यासे अपि** अभ्यास के बिना भी **ध्वनेः** (कण्ठ)ध्वनि का **यत्** जो **राग-अभिव्यक्तिशक्त्वं** राग को अभिव्यक्त करने का शक्तत्व (शक्ति)(होता है) **तत्** वह **शरीरेण सह** शरीर के साथ **उद्भवात्** उत्पन्न होने से **शारीरम् इति प्रोक्तं** 'शारीर'—यों कहा गया (है)।

(सर०) सिंह० ने 'शारीर' की संक्षिप्त व्याख्या में कहा है कि शारीर स्वभावतः सिद्ध होता है, प्रयत्न से साध्य नहीं होता।

कल्लि० के अनुसार 'अभ्यास के बिना भी रागाभिव्यक्ति की शक्ति' कह कर ग्रन्थकार ने शारीर और कण्ठध्वनि में धर्म-धर्मिभाव से भेद दिखाया है। शारीर कण्ठ की ध्वनि में रहता है इसलिये धर्म है, फलतः कण्ठध्वनि धर्मी है।

'शक्ति' की व्याख्या करते हुए उसने कहा कि राग की अभिव्यक्ति के बीजरूप ऐसे संस्कारविशेष का नाम 'शक्ति' है जिसके न होने पर या तो राग का विस्तार होता ही नहीं और अगर होता है तो वह उपहास के योग्य होता है। शारीर के संदर्भ में 'शक्ति' की यह व्याख्या काव्यप्रकाश के शक्तिलक्षण के साथ तुलनीय है। वहाँ लक्षण यह है—*शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः यां विना काव्यं न प्रसरेत् प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात्* (काव्य०,१/३)। दोनों में अन्तर इतना ही है कि मम्मट ने शक्ति की यह व्याख्या कवित्व के संदर्भ में की है और कल्लि० ने रागाभिव्यक्ति के संदर्भ में। लेकिन इस लक्षण और व्याख्या में यह अन्वित है कि काव्यरचना के लिये जिस तरह की प्रतिभा जरूरी है उसी तरह रागाभिव्यक्ति के लिये भी अपेक्षित है और वह काव्यात्मक प्रतिभा की तरह जन्मजात होती है।

अनभ्यासेऽपि की व्याख्या में कल्लि० ने यह महत्त्व की बात कही है कि वह शक्ति होने पर अभ्यास करने से राग की अभिव्यक्ति सरलता से और अच्छी होती है लेकिन शक्ति न हो तो अभ्यास के द्वारा भी अभिव्यक्ति संभव नहीं है क्योंकि वह जन्मजात होती है। जिस तरह ध्वनि शरीर के साथ उत्पन्न होती है उसी तरह शारीर भी शरीर के साथ ही ध्वनि में उत्पन्न होता है, जन्म के बाद अभ्यास से अर्जित नहीं किया जा सकता। इसीलिये ग्रन्थकार ने 'शारीर' को 'शरीर के साथ उत्पन्न' कहा है। इस लक्षण के द्वारा ग्रन्थकार ने 'शारीर' शब्द की निरुक्ति भी दे दी है।

'शरीर' शब्द में 'अण्' प्रत्यय लगाने पर 'शारीर' बनता है और *तत्र भवः* सूत्र से 'शरीर में होने वाला'—इस प्रकार 'शारीर' शब्द व्युत्पन्न होता है।

अभ्यास के बिना भी रागाभिव्यक्ति होने का व्यावहारिक दृष्टि से अर्थ यह है कि शिक्षा और अभ्यास के बिना सिर्फ़ सुन कर राग के स्वरूप को ग्रहण कर लेना, संगीतकारों की भाषा में राग को 'उठा लेना' और वैसा ही अभिव्यक्त कर देना—ध्वनि का यह सामर्थ्य या क्षमता 'शारीर' है। शारीर की यह धारणा भारतीय संगीतशास्त्र में विशिष्ट है।

सं० स० सार में भी शारीर का वही लक्षण है जो सं० र० में है। वहाँ शारीर के ये ४ भेद भी कहे गये हैं—कडाल, मधुर, पेशल और बहुभंगी, जो लक्षणसहित सिंह० की टीका में उद्धृत हैं।

शारीर का ग्रन्थोक्त लक्षण और कल्लि० की व्याख्या मान० के शारीरलक्षण से अत्यन्त प्रभावित है। उसमें शारीर का वही लक्षण है जो सं० र० में है और बड़ी सार्थक उपमाओं के द्वारा शारीर की विशेषता को एक कारिका में व्यक्ति किया है। वहाँ कहा है कि जैसे चम्पा के फूल में गन्ध, मोती में कान्ति, गन्ने में माधुर्य हांता है उसी तरह शारीर में स्निग्धता होती है। स्निग्धता स्पष्टतः अच्छे शारीर का सहज, अनिवार्य गुण है। पूर्व जन्मों में किए गए अभ्यास से , ज्ञानयोग से, शिव की अर्चना से और पुण्यों से शारीर प्राप्त होता है लेकिन जन्म के बाद अभ्यास के द्वारा कभी प्राप्त नहीं होता। यहाँ पूर्वजन्मों के अभ्यास से शारीर प्राप्त होना और इस जन्म के बाद अभ्यास से प्राप्त न होना परस्पर विरोधी लगता है। वास्तव में यहाँ एक सूक्ष्म संकेत है। भारतीय विचारधारा के अनुसार हर कर्म का फल अवश्य होता है लेकिन कभी तुरन्त या इसी जन्म में प्राप्त हो जाता है और कुछ कर्मों के फल संचित होते हैं। पूर्वजन्मों के संगीत के अभ्यास के संचित फल के रूप में इस जन्म के साथ शारीर प्राप्त होता है लेकिन इस जन्म में अभ्यास करने पर इसी जन्म में शारीर नहीं मिलता। ऊपर जो उपमाएँ दी गई हैं उनमें भी यही संकेतित है क्योंकि फूल में सुगन्ध, मोती में आभा और गन्ने में मिठास भी उनके साथ ही उत्पन्न होती है।

(शारीरगुणाः)

तारानुध्वनिमाधुर्यरक्तिगाम्भीर्यमार्दवैः।
घनतास्निग्धताकान्तिप्राचुर्यादिगुणैर्युतम्॥ ८३॥

तत् सुशारीरमित्युक्तं लक्ष्यलक्षणकोविदैः।

शारीर के गुण

८३-८४ ख. (अ०) **तार-अनुध्वनि-माधुर्य-रक्ति-गाम्भीर्य-मार्दवैः** (जो शारीर) तार (स्थान में व्याप्ति), अनुध्वनि (अनुरणन), मधुरता, रंजकता, गाम्भीर्य (अगाधता या गहराई = depth) और मार्दव (कोमलता) से (तथा) **घनता-स्निग्धता-कान्ति-प्राचुर्य आदिगुणैः युतं स्यात्** घनता, स्निग्धता, कान्ति (छवि), प्राचुर्य (भराव) आदि गुणों से युक्त होता है **तत्** वह **लक्ष्यलक्षणकोविदैः** (संगीत के) लक्ष्य (और) लक्षण के कोविदों के द्वारा **सुशारीरम् इति उक्तं** 'सुशारीर' ऐसा कहा गया (है)।

(सर०) ऊपर कहे गये १० गुणों से युक्त होने पर 'सुशारीर' यानी अच्छा शारीर होता है। सिंह० के अनुसार 'आदि' से पूर्वोक्त 'शब्द' के अन्य गुणों का ग्रहण करना चाहिये।

(शारीरदोषाः)

अनुस्वानविहीनत्वं रूक्षत्वं त्यक्तरक्तिता॥ ८४॥

निःसारता विस्वरता काकित्वं स्थानविच्युतिः।
कार्श्यं कार्कश्यमित्याद्यैः कुशारीरं तु दूषणैः॥ ८५॥

शारीर के दोष

८४ ग-८५. (अ०) **अनुस्वानविहीनत्वम्** अनुरणन का न होना, **रूक्षत्वं** रूखापन, **त्यक्तरक्तिता** रंजकता न होना, **निःसारता** खोखलापन, **विस्वरता** स्वर का सही न लगना, **काकित्वं** कठोरता, **स्थानविच्युतिः** (विभिन्न) स्थानों में सही व्याप्ति न होना, **कार्श्यं** दुर्बलता, **कार्कश्यम् आद्यैः** कर्कशता आदि **इति दूषणैः तु** इन दोषों से तो **कुशारीरं** 'कुशारीर' (होता है)।

(सुशारीरप्राप्त्युपायाः)

विद्यादानेन तपसा भक्त्या वा पार्वतीपतेः।
प्रभूतभाग्यविभवैः सुशारीरमवाप्यते॥ ८६॥

'सुशारीर'-प्राप्ति के उपाय

८६. (अ०) **विद्यादानेन** (संगीत-)विद्या के दान से, **तपसा** तप से, **पार्वतीपतेः भक्त्या** पार्वतीपति (शिव) की भक्ति से **प्रभूतभाग्यविभवैः वा** अथवा प्रचुर भाग्य के होने से **सुशारीरम् अवाप्यते** 'सुशारीर' प्राप्त होता है।

(सर०) शारीर जन्मजात होता है इसलिये उसकी प्राप्ति के यहाँ बताए गए सभी हेतु पूर्वजन्म से संबद्ध समझने चाहियें। शारीर का संबन्ध रागाभिव्यक्ति से यानी संगीत से है इसलिये विद्यादान से संगीत-विद्या का दान समझा जा सकता है।

(गमकलक्षणम्)

स्वरस्य कम्पो गमकः श्रोतृचित्तसुखावहः।

गमक का लक्षण

८७ क-ख. (अ०) **श्रोतृचित्तसुखावहः** श्रोता के चित्त के लिये सुख का वहन करने वाला (अर्थात् सुख देने वाला) **स्वरस्य कम्पः** स्वर का कम्प **गमकः** गमक (है)।

(सर०) 'जाना' अर्थ वाली 'गम्' धातु से 'ण्वुल्' प्रत्यय लगाने पर 'गमकः' शब्द बनता है जिसका अर्थ है 'जाने वाला'। गमक के लक्षण में स्वर के कम्प को गमक कहा है। कम्पित होने पर स्वर अपने स्थान से आगे या पीछे या दोनों ओर जाता है इसलिये स्वर का ऐसा प्रयोग जिसमें वह आगे-पीछे जाय वह 'गमक' है, यह इस पारिभाषिक शब्द का मूल अर्थ है।

यहाँ दिया गया गमक-लक्षण बड़ा संक्षिप्त है। सं० स० सार का लक्षण इसकी तुलना में ज़्यादा स्पष्ट है। उसके अनुसार जो स्वरप्रयोग अपने श्रुतिस्थान (जिस श्रुति पर वह स्थित हो उस) से उत्पन्न छाया को अन्य श्रुति के आश्रित छाया पर ले जाता है वह 'गमक' है (२/७२)। आशय यह है कि स्वर कम्पित होने पर अपने मूलस्थान (श्रुति) से हट कर अन्य स्थान (श्रुति) पर 'गमन' करता है इसलिये कम्प को 'गमक' कहा है।

किन्तु हर कम्प गमक नहीं कहलाता, श्रोता के चित्त को आनन्द देने वाला कम्प ही गमक कहा जायगा। इसे ध्यान में रख कर कल्लि० ने कहा कि सुखावह कम्प ही गमक कहा जायगा अन्यथा इसके विपरीत सुख न देने वाले कम्प में भी गमकत्व हो जायगा।

'स्वर का कम्प'—इस लक्षण से यह स्पष्ट है कि गमक का संबन्ध मूलतः अकेले स्वर के उच्चारण यानी 'लगाव' से है, स्वरसमुदाय से नहीं जैसा आगे स्थाय-निरूपण में स्पष्ट किया जायगा।

ना० शा० के ३३वें अध्याय में गायिका के गुणों में एक गुण *सुविहितगमकविधायिनी* है (३३/४) और अलंकारों में रेचित, कम्पित, कुहर अलंकार कम्पयुक्त कहे हैं। लेकिन ना० शा० में गमक के प्रकार नहीं हैं। बृह० में भी इन तीनों अलंकारों में त्रिश्रुति स्वर का कम्प कहा गया है। चतुःश्रुति आदि तीन प्रकार के स्वरों में से किस पर कम्प हो इस बारे में अभिनव ने बहुत साफ़ तौर पर कहा कि कम्प का प्रयोग त्रिश्रुति स्वरों में ही होता है (ना० शा० २८/२१ पर अभि०, पृ० १४) क्योंकि कम्प की क्रिया में स्वर अपने स्थान से नीचे या ऊपर जाता है। उस स्थिति में त्रिश्रुति स्वर नीचे उतरने पर द्विश्रुति स्वर के और ऊपर जाने पर चतुःश्रुति स्वर के क्षेत्र को छू सकता है। इस प्रकार एक श्रुति उतर कर वह द्विश्रुति हो सकता है और एक श्रुति चढ़ कर चतुःश्रुति हो सकता है। इस तरह उसकी स्वरता बनी रहती है। यह ध्यान रहना चाहिये कि स्वर की स्वरता के

लिये दो श्रुति से कम या चार श्रुति से ज़्यादा का अन्तराल भरत परम्परा में मान्य नहीं है। लेकिन सं० र० या अन्य ग्रन्थों में गमक या कम्प के लिये स्वर के त्रिश्रुतिक होने की कोई शर्त या अनिवार्यता नहीं कही गई है क्योंकि देशी संगीत में यथेच्छ प्रयोग की छूट है।

संस्कृत में गमक शब्द पुल्लिंग है इसलिये अन्वय में तदनुसार अर्थ दिया है।

(गमकभेदाः)

तस्य भेदास्तु तिरिपः स्फुरितः कम्पितस्तथा ॥ ८७ ॥

लीन आन्दोलितवलित्रिभिन्नकुरुलाहताः ।
उल्लासितः प्लावितश्च हुम्फितो मुद्रितस्तथा ॥ ८८ ॥

नामितो मिश्रितः पञ्चदशैते परिकीर्तिताः ।

गमक के भेद

८७ ग-८९ ख. (अ०) तस्य भेदाः तु उसके भेद तो तिरिप, स्फुरित, कम्पित, लीन आन्दोलित, वलि, त्रिभिन्न, कुरुल, आहत, उल्लासित, प्लावित, हुम्फित, मुद्रित, नामित और मिश्रित एते पञ्चदश ये पन्द्रह परिकीर्तिताः जाने गए (हैं)।

(तिरिपः)

लघिष्ठडमरूध्वानकम्पानुकृतिसुन्दरः ॥ ८९ ॥
द्रततुर्यांशवेगेन तिरिपः परिकीर्तितः ।

१. तिरिप

८९ ग-९० ख. (अ०) द्रुततुर्यांशवेगेन द्रुत के चौथे भाग के वेग से लघिष्ठडमरूध्वानकम्प-अनुकृतिसुन्दरः छोटे डमरू की ध्वनि के कम्प के अनुकरण से सुन्दर (बना हुआ कम्प) तिरिपः 'तिरिप' परिकीर्तितः प्रसिद्ध है।

(सर०) प्राचीन ताल पद्धति में एक लघु ५ ह्रस्व अक्षरों (जैसे क, ख, ग, घ, ङ) के उच्चारणकाल के बराबर माना गया है। द्रुत उसका आधा, गुरु दुगना और प्लुत तीनगुना होता है। लघु को आज के उत्तर भारतीय प्रयोग की दृष्टि से एक मात्रा मान लें तो द्रुत आधी मात्रा, गुरु दो मात्रा और प्लुत तीन मात्रा के बराबर कहा जायगा। तिरिप गमक में द्रुत के चतुर्थांश यानी लघु के आठवें हिस्से के वेग से कम्प कहा गया है इसलिये इसमें छोटा कम्प समझना चाहिये।

(स्फुरितः)

वेगे द्रुततृतीयांशसंमिते स्फुरितो मतः ॥ ९० ॥

२. स्फुरित

९० ग-घ. (अ०) द्रुततृतीयांशसंमिते वेगे द्रुत के तृतीयांश से नापे गए वेग से होने पर स्फुरितः मतः स्फुरित (गमक) माना गाया (है)।

(सर०) यह भी छोटा कम्प है लेकिन तिरिप से इसका नाप कुछ बड़ा है।

(कम्पितः)

द्रुतार्धमानवेगेन कम्पितं गमकं विदुः ।

३. कम्पित

९१ क-ख. (अ०) द्रुत-अर्धमानवेगेन द्रुत के आधे नाप के वेग से कम्पितं गमकं 'कम्पित' गमक को विदुः जानते हैं।

(सर०) कम्पित गमक में लघु के चौथे भाग का कम्प है।

(लीनः)

लीनस्तु द्रुतवेगेन,

४. लीन

९१ ग. (अ०) लीनः तु 'लीन' तो द्रुतवेगेन द्रुत के वेग से (होता है)।

(आन्दोलितः)

आन्दोलितो लघुवेगतः॥ ९१॥

५. आन्दोलित

९१ घ. (अ०) आन्दोलितः आन्दोलित लघुवेगतः लघु के वेग से (होता है)।

(सर०) अभी तक कही गई सभी गमक और आगे कही जाने वाली 'प्लावित' गमक कम्प के वेग से यानी कम्प कितनी धीमी या तेज़ गति से होता है इस तत्त्व से संबन्धित हैं क्योंकि इनमें से हरेक में कम्प का नाप नियत है।

(वलिः)

वलिर्विविधवक्रत्वयुक्तवेगवशाद्भवेत्।

६. वलि

९२ क-ख. (अ०) वलिः वलि विविधवक्रत्वयुक्तवेगवशात् भवेत् अनेक वक्रता से युक्त वेग के वश से (अर्थात् वेग से) होता है।

(सर०) 'वलि' में भी वेग की बात तो है लेकिन पूर्वोक्त गमकों की तरह इसमें कम्प का नाप नियत नहीं है। साथ ही यहाँ सिर्फ़ वेग आधार नहीं है बल्कि प्रधान लक्षण कम्प में वक्रता है।

(त्रिभिन्नः)

त्रिभिन्नस्तु त्रिषु स्थानेष्वविश्रान्तघनस्वरः॥ ९२॥

७. त्रिभिन्न

९२ ग-घ. (अ०) त्रिभिन्नः तु 'त्रिभिन्न' तो त्रिषु स्थानेषु तीनों स्थानों में अविश्रान्तघनस्वरः बिना रुकावट (अटूट) घनता से युक्त स्वर वाला (कम्प है)।

(सर०) तीनों स्थानों में कम्प है लेकिन 'घन' के द्वारा उसमें ध्वनिगुण अर्थात् आवाज़ कैसी लगाई जाय इस पर बल है। अथवा तीनों स्थानों में बहुत पास-पास परस्पर जुड़े हुए से स्वरों का ऐसा प्रयोग जिसमें 'घनापन' लगे, यह भी समझ सकते हैं।

(कुरुलः)

कुरुलो वलिरेव स्याद् ग्रन्थिलः कण्ठकोमलः।

८. कुरुल

९३ क-ख. (अ०) **वलिः एव** वलि ही **ग्रन्थिलः कण्ठकोमलः** गँठीला (और) कण्ठ की कोमलत वाला (होने से) **कुरुलः स्यात्** 'कुरुल' होता है।

(सर०) वक्रतायुक्त स्वरों में कम्प का प्रयोग होने पर कण्ठ में कोमलता और गठीलापन रहना कठिन होता है और यही 'कुरुल' का लक्षण है। वलि और कुरुल में यही अन्तर है।

(आहतः)

स्वरमग्रिममाहत्य निवृत्तस्त्वाहतो मतः॥ ९३॥

९. आहत

९३ ग-घ. (अ०) **अग्रिमं स्वरम् आहत्य** अगले स्वर को आहत करके (अर्थात् आघात करके) **निवृत्तः तु** वापस लौटा हुआ (कम्प) तो **आहतः मतः** 'आहत' माना गया है।

(सर०) सिंह० के अनुसार आहत करने का अर्थ है एक बार शीघ्रता से छूकर लौट आना। जैसे—$^{\text{रि}}\text{स}$ $^{\text{ग}}\text{रि}$ $^{\text{म}}\text{ग}$।

(उल्लासितः)

उल्लासितः स तु प्रोक्तो यः स्वरानुत्तरोत्तरान्।
क्रमाद्गच्छेत्,

१०. उल्लासित

९४ क-ग. (अ०) **सः तु** वह (कम्प) तो **उल्लासितः प्रोक्तः** 'उल्लासित' कहा गया (है) **यः** जो **क्रमात्** क्रम से **उत्तर-उत्तरान् स्वरान्** अगले-अगले स्वरों को (अर्थात् स्वरों तक) **गच्छेत्** जाता है (अर्थात् पहुँचता है)।

(सर०) आहत में पहले अगले स्वर को छूकर प्रयोज्य स्वर पर लौटना होता है और उल्लासित में बाद में अगले स्वर को छूना है, जैसे—$\text{स}^{\text{रि}}$ $\text{रि}^{\text{ग}}$ $\text{ग}^{\text{म}}$ $\text{म}^{\text{प}}$।

(प्लावितः)

प्लावितस्तु प्लुतमानेन कम्पनम्॥ ९४॥

११. प्लावित

९४ ग-घ. (अ०) **प्लावितः तु** 'प्लावित' तो **प्लुतमानेन कम्पनं** प्लुत के नाप से कम्पन (वाला है)।

(सर०) प्लुत का नाप तीन लघु के बराबर है इसलिये 'प्लावित' का कम्प बहुत बड़े माप का है। उत्तर भारतीय मियाँ मल्हार में ग् म रे के ग् पर और नि् ध नि सा में नि् प़र लगने वाली गमक में इसका रूप देखा जा सकता है।

(हुम्फितः)

हृदयङ्गमहुङ्कारगर्भितो हुम्फितो भवेत्।

१२. हुम्फित

९५ क-ख. (अ०) **हृदयङ्गमहुङ्कारगर्भितः** मनोहर हुंकार ('हुं' ध्वनि) से गर्भित (अर्थात् जिसमें 'हुं' की ध्वनि हो) **हुम्फितः भवेत्** 'हुम्फित' होता है।

(सर०) ध्रुपद शैली में इसका अनुभव किया जा सकता है।

(मुद्रितः)

मुखमुद्रणसंभूतो मुद्रितो गमको मतः॥ ९५॥

१३. मुद्रित

९५ ग-घ. (अ०) **मुखमुद्रणसंभूतः** मुँह बन्द करके उत्पन्न **गमकः** गमक **मुद्रितः मतः** 'मुद्रित' माना गया (है)।

(नामितः)

स्वराणां नमनादुक्तो नामितो ध्वनिवेदिभिः।

१४. नामित

९६ क-ख. (अ०) **स्वराणां नमनात्** स्वरों के नमन (नीचे की ओर जाने) से (उत्पन्न गमक) **ध्वनिवेदिभिः** ध्वनि के विज्ञों (ध्वनि के प्रयोग के विशेषज्ञों) के द्वारा **नामितः** 'नामित' **उक्तः** कहा गया (है)।

(सर०) सिंह० ने 'नमन' का अर्थ 'मन्द्रस्थान में उच्चारण' या 'अवरोहण' किया है। तात्पर्य शायद प्रयोज्य स्वर के उच्चारण के अन्त में उससे नीचे के स्वर को छूने से है, जैसे—$\text{प}^{\text{म}}$ $\text{म}^{\text{ग}}$ $\text{ग}^{\text{रि}}$ $\text{रि}^{\text{स}}$ में।

(मिश्रः)

एतेषां मिश्रणान्मिश्रस्तस्य स्युर्भूरयो भिदाः॥ ९६॥
तेषां तु स्थायवागेषु विवृतिः संविधास्यते।

१५. मिश्र

९६ ग-९७ ख. (अ०) **एतेषां मिश्रणात्** इन (गमकों) के मिश्रण से **मिश्रः** 'मिश्र' (होता है)। **तस्य भूरयः भिदाः** उसके बहुत भेद **स्युः** होते हैं। **तेषां विवृतिः तु** उनका विवरण तो **स्थायवागेषु** स्थायवागों में **संविधास्यते** निरूपित किया जायगा।

(सर०) अगले श्लोकों में ग्रन्थकार कहने वाले हैं कि गमक को 'वाग' भी कहते हैं और प्रसंगवश स्थायों के अन्तर्गत कुछ वागों के लक्षण भी देंगे। इस पृष्ठभूमि में प्रस्तुत श्लोक में आये 'स्थायवाग' शब्द का अर्थ स्थाय के अन्तर्गत आने वाली या स्थायों से संबद्ध गमक ही है। कल्लि० ने कहा भी है 'राग के अवयव (स्थाय) के आश्रित गमकों में'। यह पक्ष स्थायों के विवरण में, विशेष रूप से स्थायों के अन्त में कहे गये मिश्रस्थायों में, उजागर होगा।

'वाग' शब्द संस्कृत व्याकरण से सिद्ध नहीं होता और 'वाक्' का अपभ्रंश रूप प्रतीत होता है।

'मिश्र' को छोड़ कर बाक़ी १४ गमकों में मुख्यतः दो प्रकार उभरते हैं—एक तो कम्प में लगने वाले समय पर आधारित और दूसरे कम्प में स्वर के उच्चार यानी 'लगाव' से संबन्धित। तिरिप, स्फुरित, कम्पित, लीन, आन्दोलित और प्लावित पहले प्रकार की गमक हैं क्योंकि उनका मुख्य लक्षण कम्प का काल यानी कम्प की गति है। त्रिभिन्न, आहत, उल्लासित, हुम्फित, मुद्रित और नामित में स्वरों का लगाव या किस तरह की ध्वनि उत्पन्न होती है अथवा श्रोता के चित्त पर कैसा प्रभाव होता है, यह कहा गया है। वलि और कुरुल का प्रधान लक्षण तो स्वर का लगाव ही है लेकिन साथ ही वेगपूर्वक प्रयोग भी उसका अंग है। तिरिप मुख्यतः कम्प की गति से संबन्धित है लेकिन छोटे डमरू जैसे सुन्दर कम्प के द्वारा उसमें स्वर के गुण या प्रभाव का भी समावेश हो गया है। साथ ही मन्द्रादि स्वरस्थानों, हृदय-कण्ठ आदि उच्चारण स्थानों, वक्रता और आघात आदि से संबन्धित गमक भी हैं।

सं० र० के प्रथम अध्याय के वर्णालंकार प्रकरण में यह बताया जा चुका है कि भरत ने गमक अलग से नहीं कही हैं, अलंकारों में ही उनका अन्तर्भाव हो गया है। उदाहरण के लिये शिर, वक्ष और कण्ठ से उच्चरित होने वाले रेचित, कम्पित, कुहर अलंकार, जो कम्पयुक्त कहे गये हैं।

बृह० में गीतियों के लक्षणों में, भिन्नकैशिकमध्यम ग्रामराग में और एला प्रबन्ध के भेद-प्रभेदों में कई बार गमक का उल्लेख है और 'स्थित', 'बिन्दु', 'मूर्छना' गमक-भेदों के नाम भी हैं। एला के एक भेद आन्ध्री एला को अनेक प्रकार की गमकों से परिपूर्ण कहा है।

भ० भा० में गमक संबन्धी एक खण्डित अंश है जिसमें इन ७ गमकों के नाम और कुछ लक्षण हैं—स्फुरित, कम्पित, लीन, तिरिप, आन्दोलित, आहत, त्रिभिन्न (ग० ओ० मै० ला०, मद्रास से प्राप्त फ़ोटोकॉपी, पृ० १७२)।

मान० में भी यही ७ गमक लक्षणसहित दी गई हैं, 'स्फुरित' के बजाय 'पूरित' नाम है। इनके अलावा मुँह बन्द करके होने वाली 'मुद्रक' गमक भी है। ध्वनि उत्पन्न होने के स्थानभेद से गमक तीन प्रकार की कही हैं—नाभि से उत्पन्न 'नाभिस्थ', हृदय से उत्पन्न 'देहस्थ' और कण्ठ से उत्पन्न 'कण्ठस्थ'।

सं० स० सार में भी पूर्वोक्त ७ ही गमक हैं। सं० र० की वलि गमक यहाँ स्थायों में 'वली' के रूप में है और उसे 'वहनी' स्थाय के समान कहा गया है। सं० र० में भी कहा है कि वलि गमक के भेद वहनी स्थाय के समान समझने चाहियें। वास्तव में वलि गमक और वहनी स्थाय में कोई ख़ास अन्तर नहीं है।

सबसे पहले सं० र० में ही गमक का लक्षण है और ग्रन्थों में पहले से चली आ रही ७ गमकों के अलावा ८ गमक और भी हैं। इस तरह इसमें १५ गमक हैं।

सं० र० के गमक लक्षण से यह स्पष्ट है कि गमक का संबन्ध मूलतः व्यक्तिरूप स्वर से है। लेकिन स्थाय यानी समूह रूप स्वर में प्रयुक्त होकर ही गमक सार्थक होती है। इस दृष्टि से उसे स्थाय का अंग कह सकते हैं। इसलिये गमक पर कुछ विचार स्थाय में भी करेंगे।

(स्थायलक्षणम्)

रागस्यावयवः स्थायः वागो गमक उच्यते॥ ९७॥
तत्रोक्तं लक्ष्म वागानां स्थायानां तूच्यतेऽधुना।
वागानामपि केषाञ्चित् प्रसङ्गाद्वच्मि लक्षणम्॥ ९८॥

'स्थाय' का लक्षण

९७ ग-९८. (अ०) **रागस्य अवयवः** राग का अवयव (अंश या भाग) **स्थायः** 'स्थाय' (है)। **गमकः** गमक (को) **वागः उच्यते** 'वाग' कहा जाता है। **तत्र** उनमें से **वागानां लक्ष्म** वागों (गमकों) का लक्षण **उक्तं** कहा गया (अर्थात् कहा जा चुका है)। **स्थायानां तु** स्थायों का तो **अधुना उच्यते** अब कहा जाता है (अर्थात् कहेंगे)। **प्रसङ्गात्** प्रसंग से **केषाञ्चित्** कुछ **वागानां** वागों के **लक्षणम् अपि** लक्षण भी **वच्मि** (स्थायों के अन्तर्गत) कहूँगा।

(सर०) 'स्थाय' शब्द प्रकृति-प्रत्यय के नियम से सिद्ध नहीं होता। 'स्थिर' अर्थ वाली 'स्था' धातु से बनने वाले स्थायिन्, स्थायुक आदि शब्द 'स्थिर रहने वाला' अर्थ के सूचक हैं। संभव है कि इन्हीं का अपभ्रंश 'स्थाय' हो अथवा मराठी आदि किसी देशी भाषा के 'ठाय' को संस्कृत रूप दे दिया गया हो। राजस्थानी बोली में कुछ इसी अर्थ में 'ठाया' शब्द का प्रयोग होता है। स्थाय के संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि सं० स० सार में स्थाय के पर्याय के रूप में 'ठाय' शब्द का प्रयोग हुआ है।

स्थाय शब्द राग में स्थायी रूप से रहने वाले ऐसे छोटे स्वरसंनिवेशों का सूचक है जिनके द्वारा आलप्ति के रूप में राग का स्वरूप बनता है। इस दृष्टि से स्थाय राग में स्थायी रूप से रहने वाली उसकी मौलिक इकाई है।

शार्ङ्गदेव के द्वारा प्रस्तुत अध्याय में अब तक जिन विषयों का निरूपण हुआ है उनमें से गमक और स्थाय सीधे राग से संबद्ध हैं क्योंकि आलप्ति के रूप में राग के स्वरूप का निर्माण और हर राग के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की निर्मिति या अलग पहचान इन्हीं के द्वारा होती है। स्थाय को राग का अवयव, कल्लि० के अनुसार 'एकदेश' यानी संपूर्ण राग का एक अंश कहा गया है जो राग के अंश स्वर को केन्द्र में रखते हुए न्यास, अपन्यास, सन्यास, विन्यास आदि विश्रान्ति के स्वरों में से किसी एक स्वर पर विश्राम करने से बनने वाला 'स्वरसंदर्भ' यानी स्वरसमूह या स्वरगुच्छ है।

स्थायों के लक्षण मुख्यत: दो रूपों में दिये गये हैं—१. उपमाओं के द्वारा, जिनमें स्थाय के द्वारा श्रोता के चित्त पर कैसा प्रभाव उत्पन्न होता है या कैसी छवि उभरती है या कैसी मूर्ति बनती है, यह कहा गया है। इन स्थायों के लक्षणों में बड़ी समृद्ध कल्पना का दर्शन होता है। जैसे, 'ढाल' नामक स्थाय जिसका यह लक्षण है—गोल मोती, सं० स० सार की भाषा में काच जैसी चिकनी सतह पर रखा गया मोती, जैसे अपने आप लुढ़कता चला जाता है उसी तरह जहाँ स्वर सहजता से लुढ़कते हुए से प्रयुक्त हों। २. संगीत की ही भाषा में दिये गये लक्षण, जैसे, स्वरलंघित स्थाय जिसका लक्षण यों है—जिसमें बीच-बीच में कई स्वरों का लंघन हो। इनके अलावा कुछ स्थाय ऐसे भी हैं जो इन दोनों में से किसी वर्ग में नहीं रखे जा सकते। उन्हें अलग वर्ग में रख सकते हैं।

सं० र० में स्थायों के मुख्य वर्ग दो हैं—प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध। प्रसिद्ध से तात्पर्य उन स्थायों से है जो शार्ङ्गदेव के समय में प्रचलित थे और अप्रसिद्ध वे जो अप्रचलित हो गये थे। ग्रन्थकार ने इन दोनों में दो-दो भेद और किये—असंकीर्ण और संकीर्ण। इस तरह ४ प्रकार के स्थाय हुए—प्रसिद्ध असंकीर्ण, प्रसिद्ध संकीर्ण, अप्रसिद्ध असंकीर्ण और अप्रसिद्ध संकीर्ण। असंकीर्ण, जैसा कल्लि० ने कहा है, पृथक् लक्षण वाले हैं यानी जिनके लक्षण बिल्कुल स्पष्ट हैं और एक दूसरे से भिन्न स्वरूप वाले होने के कारण लक्षण परस्पर नहीं मिलते। दूसरी ओर जिनके लक्षण उनके गुणों के आधार पर ही निश्चित होते हैं और उसी आधार पर उनके नाम निरूपित हुए हैं वे संकीर्ण स्थाय हैं। कल्लि० ने 'भजन' स्थाय का उदाहरण देते हुए यही बात इस प्रकार कही है—राग के अतिशय आधान को भजन कहते हैं और जिन स्थायों के द्वारा राग का अतिशय आधान हो वे भजन के स्थाय होते हैं।

स्थायों में स्वरों के क्रम, तीव्रता और उसके घटने-बढ़ने से प्रभाव में होने वाले पग्विर्तन, स्वरोच्चारण की गति और तत्संबन्धी प्रभाव, वर्ण, अलंकार, गमक आदि राग के स्वरूप की निर्मिति और राग में रंजकता के आधान से जुड़े सारे पक्षों का समावेश है। इस रूप में तारता, तीव्रता, कालमान, गुण या छवि, समग्र प्रभाव आदि—ध्वनि (स्वर) के सारे पक्ष स्थायों में समाविष्ट हैं, यह स्थायों के अध्ययन से प्रकट होता है। ध्रुपद, ख़्याल, टप्पा, ठुमरी आदि शैलियों, गानवादन की अपनी-अपनी शैलीगत विशेषताओं तथा गायक-वादक की शैली के निर्माण से संबद्ध स्थायों का रूप भी इनमें देखा जा सकता है।

धारणा और प्रयोग—दोनों दृष्टियों से 'स्थाय' भारतीय संगीत में बड़ा महत्त्वपूर्ण और विशेष है क्योंकि राग का रूप उसके अनिबद्ध विस्तार (आलप्ति) में ही समग्रता में व्यक्त होता है और आलप्ति स्थायों के द्वारा ही आकार ग्रहण करती है। आलप्ति के निरूपण के अन्त में (४/१९६) कहा ही गया है कि छोटे-छोटे स्थायों के द्वारा राग की स्थापना होती है। स्थाय के सन्दर्भ में राग और आलप्ति को पर्याय कह सकते हैं। सामान्य रूप से राग की सबसे छोटी मूल इकाई स्वर है, उससे बड़ी इकाई कुछ या कई स्वरों से मिल कर बनने वाले स्वरगुच्छ की संज्ञा स्थाय है, अनेक स्थायों से मिल कर बनने वाला और चित्त को प्रभावित करने वाला बड़ा संनिवेश आलप्ति है और अपनी संपूर्णता में गठित आलप्ति ही राग है। स्वर से राग तक के विस्तार के बीच की एक कड़ी है गमक जिसका संबन्ध स्वर के लगाव से है। स्थाय में गमक का विशेष स्थान है क्योंकि स्थाय में

प्रयुक्त होने वाले स्वरों में किस प्रकार की गमक का प्रयोग होता है इस आधार पर एक ही स्थाय अलग-अलग रूप धारण करके अलग-अलग रागों का सूचक हो जाता है जिसके कुछ उदाहरण भूमिका में दिये गये हैं।*

सं० र० की अपेक्षा सं० स० सार में ठाय का लक्षण कुछ विस्तृत है जो इस प्रकार है—गतिपूर्वक गमक के योग से अथवा किसी अन्य राग के द्वारा इच्छानुसार स्वरों की आवृत्ति ठाय कहलाती है (३/३४)। इसमें 'गमक का योग' और 'इच्छानुसार स्वरों की आवृत्ति' ध्यान देने योग्य है क्योंकि, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, राग में गमक का बड़ा महत्त्व है। स्वरों की आवृत्ति से तात्पर्य स्वरों के विभिन्न प्रकार के संयोजन से है। विभिन्न स्वरसंचार ही स्थाय हैं और उनमें स्वर का विशेष प्रकार का लगाव ही गमक है। पार्श्व० ने एक उदाहरण से स्थायों में विविधता दिखाई है। उसके अनुसार राग का स्थाय एकरूप यानी एक जैसा नहीं होता बल्कि बहुत प्रकारों से विकृत (विविध रूप वाला) दिखाई देता है जैसे मोर का कण्ठ रंगबिरंगा होने से जगज्जनों को प्रीतिकर होता है (वही, ३३)। स्थाय के चार करण यानी साधन भी बताये हैं जिनके द्वारा स्थाय संपन्न होता है। ये हैं—स्थान, तान, गमक और मान। इनके लक्षण इस प्रकार हैं। स्थायी आदि वर्णों का आश्रयरूप स्वरमण्डल यानी राग की वह आधार स्वरावली जिसके अन्तर्गत वर्णों के आश्रित होकर रागविशेष में स्थायों का प्रयोग किया जाता है वह 'स्थान' है। 'तान' का लक्षण स्पष्ट नहीं है। कम्पित आदि 'गमक' होती हैं जो राग की अभिव्यक्ति में उसी तरह सहायक होती हैं जैसे शाक आदि में स्वाद उत्पन्न करने वाले ६ रस होते हैं। वास्तव में गमक रागाभिव्यक्ति में सहायक ही नहीं, उत्तर भारतीय संगीत में अनिवार्य तत्त्व कही जा सकती है।

सं० स० सार में ९२ स्थाय हैं जिनमें से अधिकांश के नाम किसी देशीभाषा के, और कई नाम मराठी के हैं।

पूरे संगीतरत्नाकर के अध्ययन से यह प्रकट होता है कि देशी संगीत का प्रयोजन रंजन होने के कारण गान, वादन और नर्तन की रचना, प्रयोग, प्रस्तुति और शिक्षण से संबद्ध वाग्गेयकार, गायक, वादक, नर्तकी, नृत्याचार्य आदि सभी के लिये स्थायों का ज्ञान और उनके प्रयोग में कुशलता अनिवार्य थी।

अगले श्लोकों (९९-११२ ख) में ग्रन्थकार ने स्थाय के ऊपर कहे गये ४ वर्गों के अन्तर्गत आने वाले स्थायों का उद्देश किया है।

(स्थायभेदाः)

(स्थायभेदानामुद्देशः)

ते च शब्दस्य ढालस्य लवन्या वहनेरपि।
वाद्यशब्दस्य यन्त्रस्य छायायाः स्वरलङ्घितः॥ ९९॥
प्रेरितस्तीक्ष्ण इत्युक्ता व्यक्तासंकीर्णलक्षणाः।

---

* स्थाय के संबन्ध में द्रष्टव्य—१. Transformation as Creation, ले० मुकुन्द लाठ, में इसी शीर्षक का लेख। प्रका०, आदित्य प्रकाशन, दिल्ली।

२. Śārṅgadeva And His Saṅgītaratnākara में मुकुन्द लाठ का लेख 'राग की इतिहास-यात्रा का एक प्रमुख पड़ाव—शार्ङ्गदेव का संगीतरत्नाकर', प्रका० संगीत नाटक अकादेमी, दिल्ली।

३. Musical Forms In Saṅgītaratnākara, N. Ramanathan, Pub., Sampradāya, Chennai.

४. गवेषणा पत्रिका में 'स्थाय : शास्त्र और प्रयोग के बीच सेतुबन्ध-परक अनुशीलन' लेख, ले० प्रेमलता शर्मा, प्रका० संगीत रिसर्च अकादमी, कलकत्ता।

५. 'The concept of Sthaya in Indian Sangitasastra', Prem Lata Sharma, article in Indian Music Journal. No. 4, 5, Pub.. Delhi Sangīta Samāj, Delhi.

स्थायों के भेद

स्थायभेदों का उद्देश

९९-१०० ख. (अ०) **ते च** और वे **शब्दस्य** शब्द*, **ढालस्य** ढाल, **लवन्याः** लवनी, **वहनेः अपि** और वहनी, **वाद्यशब्दस्य** वाद्यशब्द, **यन्त्रस्य** यन्त्र, **छायायाः** छाया (इन सब) से संबन्धित, **स्वरलङ्घितः** (तथा) स्वरलंघित, **प्रेरितः** प्रेरित, **तीक्ष्णः** तीक्ष्ण **इति ये** (दस) **व्यक्त-असंकीर्णलक्षणाः** व्यक्त (प्रसिद्ध) असंकीर्ण लक्षण वाले (स्थाय) **उक्ताः** कहे गये (हैं)।

(सर०) कल्लि० ने कहा है कि संबन्धसूचक षष्ठी विभक्ति वाले (यानी 'शब्द' से लेकर 'छाया' तक के ७) स्थायों को 'शब्द' आदि से संबन्धित स्थाय अर्थात् शब्दसंबन्धी, ढालसंबन्धी आदि—इस प्रकार समझना चाहिये।

भजनस्य स्थापनाया गतेर्नादध्वनिच्छवेः॥ १००॥

रक्तेर्द्रुतस्य शब्दस्य भृतस्यांशावधानयोः।
अपस्थानस्य निकृतेः करुणाविविधत्वयोः॥ १०१॥

गात्रोपशमयोः काण्डारणानिर्जवनान्वितौ।
गाढो ललितगाढश्च ललितो लुलितः समः॥ १०२॥

कोमलः प्रसृतः स्निग्धचोक्षोचितसुदेशिकाः।
अपेक्षितश्च घोषश्च स्वरस्यैते प्रसिद्धितः॥ १०३॥

स्थायानां गुणभेदेन व्यपदेशा निरूपिताः।

१०० ग-१०४ ख. (अ०) **भजनस्य** भजन, **स्थापनायाः** स्थापना, **गतेः** गति, **नाद-ध्वनि-छवेः** नाद, ध्वनि और छवि, **रक्तेः** रक्ति, **द्रुतस्य शब्दस्य** द्रुतशब्द, **भृतस्य** भृत, **अंश-अवधानयोः** अंश और अवधान, **अपस्थानस्य** अपस्थान, **निकृतेः** निकृति, **करुणाविविधत्वयोः** करुणा और विविधत्व, **गात्र-उपशमयोः** गात्र और उपशम (इन सब) से संबन्धित, **काण्डारणा-निर्जवन-अन्वितौ** काण्डारणा (और) निर्जवन से अन्वित, **गाढः** गाढ़ **ललितगाढः च** और ललितगाढ़ **ललितः** ललित, **लुलितः** लुलित, **समः** सम, **कोमलः** कोमल, **प्रसृतः** प्रसृत, **स्निग्ध-चोक्ष-उचित-सुदेशिकाः** स्निग्ध, चोक्ष, उचित और सुदेशिक **अपेक्षितः च** तथा अपेक्षित, **घोषश्च** घोष भी, **स्वरस्य** स्वर से संबन्धित **एते स्थायानाम्** इन (तैंतीस) स्थायों का (अर्थात् इनसे संबद्ध स्थायों का) **गुणभेदेन** गुणभेद से **प्रसिद्धितः** (गीतज्ञों में) प्रसिद्धि के आधार पर **व्यपदेशाः निरूपिताः** संज्ञा कही गईं।

(सर०) कल्लि० ने **गुणभेदेन** को स्पष्ट करते हुए कहा कि (आगे कहे जाने वाले) भजन आदि स्थायों के राग के अतिशय आधान आदि गुणों के भेद के कारण भजन आदि संज्ञाओं का निरूपण गीतज्ञों में प्रसिद्धि के आधार पर किया गया है। इन स्थायों में मुख्यतः धर्म भेद यानी गुण में ही भेद है, धर्मिभेद नहीं अर्थात् स्थायों में भेद नहीं है इसीलिये ये संकीर्ण हैं।

ग्रन्थकार ने इस वर्ग में ३३ स्थाय कहे हैं।

वहाक्षराडम्बरयोरुल्लासिततरङ्गितौ॥ १०४॥

प्रलम्बितोऽवस्खलितस्त्रोटितः संप्रविष्टकः।
उत्प्रविष्टो निःसरणो भ्रामितो दीर्घकम्पितः॥ १०५॥

---

* षष्ठी विभक्ति से अन्त होने वाले हर स्थायनाम में षष्ठी का सूचक 'संबन्धित' शब्द अन्वय में हर नाम के बाद न रख कर सर्वत्र षष्ठी वाले अन्तिम नाम के बाद रखा गया है।

प्रतिग्राह्योल्लासितश्च स्यादलम्बविलम्बकः।
स्यात् त्रोटितप्रतीष्टोऽपि प्रसृताकुञ्चितः स्थिरः॥ १०६॥

स्थायुकः क्षिप्तसूक्ष्मान्तावित्यसंकीर्णलक्षणाः।

१०४ ग-१०७ ख. (अ०) **वह-अक्षराडम्बरयोः** वह और अक्षराडम्बर संबन्धी, **उल्लासिततरङ्गितौ** उल्लासित और तरंगित, **प्रलम्बितः** प्रलम्बित, **अवस्खलितः** अवस्खलित, **त्रोटितः** त्रोटित, **संप्रविष्टकः** संप्रविष्ट, **उत्प्रविष्टः** उत्प्रविष्ट, **निःसरणः** निःसरण, **भ्रामितः** भ्रामित, **दीर्घकम्पितः** दीर्घकम्पित, **प्रतिग्राह्योल्लासितः** प्रतिग्राह्योल्लासित **अलम्बविलम्बकः च स्यात्** और अलम्बविलम्बक होता है। **त्रोटितप्रतीष्टः अपि** त्रोटितप्रतीष्ट भी **स्यात्** होता है। **प्रसृताकुञ्चितः** प्रसृताकुंचित, **स्थिरः** स्थिर, **स्थायुकः** स्थायुक, **क्षिप्तसूक्ष्मान्तौ** क्षिप्त और सूक्ष्मान्त, **इति** ये (बीस) **असंकीर्णलक्षणाः** असंकीर्ण लक्षण वाले (अप्रसिद्ध स्थाय हैं)।

(सर०) पूर्वोक्त शब्द, ढाल संबन्धी आदि स्थाय भी असंकीर्ण लक्षण वाले हैं और वह, अक्षराडम्बर संबन्धी आदि भी। दोनों में भेद यह है कि पूर्वोक्त प्रसिद्ध थे और यहाँ कहे गये अप्रसिद्ध। कल्लि० के अनुसार इसी कारण दोनों को अलग-अलग कहा गया है।

प्रकृतिस्थस्य शब्दस्य कलाक्रमणयोरपि॥ १०७॥

घटनायाः सुखस्यापि चालेर्जीवस्वरस्य च।
वेदध्वनेर्घनत्वस्य शिथिलोऽवघटः प्लुतः॥ १०८॥

रागेष्टोऽपस्वराभासो बद्धः कलरवस्य च।
छान्दसः सुकराभासः संहितो लघुरन्तरः॥ १०९॥

वक्रो दीप्तप्रसन्नश्च स्यात् प्रसन्नमृदुर्गुरुः।
ह्रस्वः शिथिलगाढश्च दीर्घोऽसाधारणस्ततः॥ ११०॥

साधारणो निराधारो दुष्कराभासनामकः।
मिश्रश्चैतेऽपि संकीर्णा गुणैर्भिन्नाश्च पूर्ववत्॥ १११॥

इति षण्णवतिः स्थायाः शार्ङ्गदेवेन कीर्तिताः।

१०७ ग-११२ ख. (अ०) **प्रकृतिस्थस्य शब्दस्य** प्रकृतिस्थ शब्द, **कला-आक्रमणयोः अपि** कला और आक्रमण भी, **घटनायाः** घटना, **सुखस्य अपि** सुख भी, **चालेः** चालि **जीवस्वरस्य च** और जीवस्वर, **वेदध्वनेः** वेदध्वनि, **घनत्वस्य** घनत्व (इन सब) से संबन्धित, **शिथिलः** शिथिल, **अवघटः** अवघट, **प्लुतः** प्लुत, **रागेष्टः** रागेष्ट, **अपस्वराभासः** अपस्वराभास, **बद्धः** बद्ध **कलरवस्य च** और कलरव संबन्धी, **छान्दसः** छन्द संबन्धी, **सुकराभासः** सुकराभास, **संहितः** संहित, **लघुः** लघु, **अन्तरः** अन्तर, **वक्रः** वक्र **दीप्तप्रसन्नः च** और दीप्तप्रसन्न **स्यात्** होता है। **प्रसन्नमृदुः** प्रसन्नमृदु, **गुरुः** गुरु, **ह्रस्वः** ह्रस्व, **शिथिलगाढः च** और शिथिलगाढ़, **दीर्घः** दीर्घ, **असाधारणः** असाधारण **ततः साधारणः** तब साधारण, **निराधारः** निराधार, **दुष्कराभासनामकः** दुष्कराभास नाम वाला **मिश्रः च** और मिश्र **एते अपि** ये (तैंतीस) भी **पूर्ववत्** पहले की तरह **गुणैः भिन्नाः** गुणों के द्वारा भिन्न **संकीर्णाः च** और संकीर्ण (स्थाय हैं)। **इति** इस प्रकार (१० + ३३ + २० + ३३ =) **षट्-नवतिः स्थायाः** ९६ स्थाय **शार्ङ्गदेवेन कीर्तिताः** शार्ङ्गदेव के द्वारा कहे गये (हैं)।

(सर०) कल्लि० के अनुसार ये भी भजन आदि स्थायों की तरह संकीर्ण हैं किन्तु वे प्रसिद्धि के द्वारा और ये अप्रसिद्धि के आधार पर भिन्न हैं इसीलिये इन्हें भजन आदि से अलग किया है।

(स्थायभेदानां लक्षणानि)

(प्रसिद्धासंकीर्णलक्षणस्थायाः)

(शब्दसंबद्धाः)

मुक्तशब्दप्रतिग्राह्याः स्थायाः शब्दस्य कीर्तिताः॥ ११२॥

(स्थायभेदों के लक्षण)

(अ) प्रसिद्ध असंकीर्ण लक्षण वाले स्थाय

१. शब्द-संबन्धी

११२ ग-घ. (अ०) **मुक्तशब्दप्रतिग्राह्याः स्थायाः** छोड़े गए शब्द (स्वर) से प्रतिग्रहण (फिर से ग्रहण) करने वाले स्थाय **शब्दस्य कीर्तिताः** 'शब्द' के स्थाय कहे गए (हैं)।

(सर०) शब्द का अर्थ ध्वनि, शब्द और स्वर होता है। मुक्तशब्दप्रतिग्राह्याः में 'शब्द' का अर्थ स्वर है। कल्लि० के अनुसार पूर्व (पहले वाला) स्थाय जिस ध्वनि अर्थात् स्वर पर छोड़ा जाय उत्तर (बाद वाला) चक्रवाल रीति से (अर्थात् वृत्त या मण्डल की तरह) वहीं से उठा लिया जाय तो वे 'शब्द' संबन्धी स्थाय कहे जाते हैं। इसे बिहाग राग के उदाहरण से समझ सकते हैं।* गान्धार पर विश्रान्ति करते हुए—निसागमग, गमपम् गमग, गमपनि-धम्प म् गमग, ग रेनिसा। अथवा अलग-अलग स्वरों पर रुकते हुए वहीं से अगला स्थाय बनाते हुए— निसागमग, गमप-, पम्गमग, गमपनि-, नि-धप-पधम्प गमग, गमपनि-, निधपम्प, पसा॑निधपम्प-गमग, ग रेनिसा।

सिंह० ने 'मुक्त' के स्थान पर 'युक्त' पाठ ग्रहण करके उसका अर्थ 'उचित' देकर यह कहा है कि उचित शब्द से प्रतिग्रहण करने वाले स्थाय शब्दसंबन्धी होते हैं। उसने शब्द का अर्थ ध्वनि या स्वर न करके शब्द (पद = word) ही किया है। लेकिन स्थाय के संदर्भ में कल्लि० का 'मुक्त' पाठ और 'शब्द' का उसके द्वारा किया गया अर्थ ही संगत है।

यह रागरूप का स्थाय लगता है क्योंकि रागविशेष में ही संभव है, हर राग में नहीं। जैसे तिलककामोद में सारेमग, रेपमग, रेमपधमग, रेमपसा॑-पधमग यों ग पर छोड़ तो सकते हैं लेकिन वहीं से उठा नहीं सकते।

(ढालसंबद्धाः)

ढालो मुक्ताफलस्येव चलनं लुण्ठनात्मकम्।
स येषु ते स्युर्ढालस्य,

२. ढाल-संबन्धी

११३ क-ग. (अ०) **मुक्ताफलस्य इव** मोती की तरह **लुण्ठनात्मकं चलनं** लुढ़कते हुए चलना **ढालः** ढाल (है)। **स येषु** वह (ढाल) जिन (स्थायों) में (हो) **ते** वे **ढालस्य** 'ढाल' संबन्धी (स्थाय) **स्युः** होते हैं।

(सर०) सं० स० सार में 'काच के फ़र्श पर रखे गोल मोती की तरह शोभित' कह कर कुछ शब्दान्तर से उपमा को ज़्यादा स्पष्ट किया है। किसी चिकनी सतह पर मोती को रखने से वह बड़े सहज रूप से लुढ़कता चला जाता है। यह उपमा बिना प्रयत्न के स्वरों के लुढ़कते हुए से प्रयोग के लिये बड़ी सार्थक है। ढाल शब्द ऊपर से नीचे की ओर झुकाव का व्यंजक

---

* इस अध्याय में सभी उदाहरण उत्तर भारतीय रागों के हैं। नोटेशन में प्रयुक्त चिन्ह यों हैं—विकृत स्वरों के नीचे हलन्त—म्, ध्। मन्द्र के लिये स्वर के नीचे आड़ी रेखा—नि। तार के लिये स्वर के ऊपर खड़ी रेखा—ग॑।

है। स्वरों का लुढ़कना अवरोह में स्वरों के सीधे प्रयोग में अनुभव किया जा सकता है। लुढ़कने की क्रिया में वेग भी अन्वित है इसलिये अवरोह की सपाट तानों में ढाल कहा जा सकता है। वायलिन जैसे वाद्य में तार पर ऊपर से नीचे की ओर जाने से अवरोह होता है इसलिये वहाँ भी ढाल का अनुभव अवरोह में हो सकता हैं। लेकिन सितार, सरोद जैसे वाद्यों में, जिनमें अंगुलि-संचालन ऊपर से नीचे की ओर करने से स्वरों का आरोह होता है, ढाल की क्रिया अवरोह की अपेक्षा आरोह में ज्यादा सरल और स्पष्ट होती है। श्रव्य की दृष्टि से तो स्वरों का ढाल अवरोह में ही अनुभूत होता है किन्तु दृश्य रूप में और सपाट तानें बजाने में सुविधा की दृष्टि से सितार आदि में ढाल का सादृष्य आरोह में दिखाई देता है।

यह स्थाय गायक-वादक की शैली का कहा जा सकता है क्योंकि इस तरह का स्वरप्रयोग उसकी अपनी निजी विशेषता हो सकती है, ध्रुपद आदि शैली या रागरूप की नहीं।

(लवनीसंबद्धाः)

नमनं त्वतिकोमलम्॥ ११३॥
लवनी तद्युजाः स्थाया लवन्याः परिकीर्तिताः।

३. लवनी-संबन्धी

११३ घ-११४ ख. (अ०) अतिकोमलं नमनं तु अत्यन्त कोमल नमन तो **लवनी** लवनी (है)। **तत् युजाः स्थायाः** उस (लवनी) से युक्त स्थाय **लवन्याः परिकीर्तिताः** 'लवन्य' अर्थात् 'लवनी'-संबन्धी (स्थाय) कहे गये (हैं)।

(सर०) नमन का अर्थ है झुकना जो नीचे की ओर गति को सूचित करता है। सिंह० के 'अधः उच्चारणं' का अर्थ भी नीचे की ओर जाना ही है, इसलिये नमन को अवरोह समझा जा सकता है। तदनुसार अतिकोमल नमन यानी बड़ी कोमलता से अवरोह में प्रयोग है जो वर्तमान लक्ष्य में दो रूपों में देखा जा सकता है। एक तो राग के अवरोही संचारों में, जैसे—बसन्त में म् ध् सा॑ नि ध् - प स्थाय में सा॑ से प पर आने की क्रिया में और ग नि - ध् प में नि से प तक के संचार में। अथवा जैत में प ग - रे् सा में ग से रे् पर जिस कोमलता से उतरते हैं वह भी 'लवनी' है। दूसरा रूप अवरोह की मींड में मिलता है, जैसे—गौड़सारंग में $\overset{\frown}{\text{प रे}}$ की मींड में।

'ढाल' और 'लवनी' दोनों में अवरोहप्रधान क्रिया है। लेकिन ढाल में लुढ़कने की गति के कारण वेग अन्वित है जब कि लवनी में अति कोमल क्रिया, जो द्रुत गति में नहीं होती।

लवनी के साथ नामित गमक भी तुलनीय है। इन दोनों का लक्षण नमन यानी स्वरों की अवरोहात्मक गति ही है। फिर अन्तर क्या है? अन्तर यह है कि गमक होने के कारण नामित में व्यक्तिरूप यानी अकेले स्वर का कम्प है और लवनी में अतिकोमलता से प्रयुक्त स्वरगुच्छ है। अकेले कम्प से कोई निश्चित आकृति नहीं बनती लेकिन लवनी स्थाय है इसलिये एक आकृति बनती है।

'लवनी' संभवतः 'लवणं' या 'लवनं' का अपभ्रंश रूप है। दोनों में 'सलोनापन' अर्थ अन्वित है और सलोनेपन में कोमलता अन्वित होती है। राजस्थानी बोली में एक विशिष्ट प्रयोग है 'लूण्यो घी' जिसका अर्थ है मक्खन। और नमक के लिये शब्द है 'लूण'। 'लूण' 'लवण' का और 'लूण्यो' 'लवन्य' का अपभ्रंश जान पड़ते हैं। स्थायों में 'लवनी' शब्द भी मक्खन जैसी कोमलता के लिये प्रयुक्त हुआ लगता है।

(वहनीसंबन्धिस्थायस्तद्भेदाश्च)

यत्तु कम्पनमारोहिण्यवरोहिणि वा भवेत्॥ ११४॥
वहनी साथ संचारिण्यपि वा स्थिरकम्पनम्।

४. वहनी-संबन्धी स्थाय और उसके भेद

११४ ग-११५ ख. (अ०) **यत्** जो **कम्पनं तु** कम्पन तो **आरोहिणि अवरोहिणि वा भवेत्** आरोही या अवरोही में होता है **सा अथ वहनी** वह तो 'वहनी' है **संचारिणि अपि वा** अथवा संचारी (वर्ण) में भी **स्थिरकम्पनं** स्थिर कम्पन (वहनी होता है)।

(सर०) आरोही, अवरोही और संचारी में कम्पन वहनी कहा गया है लेकिन संचारी वर्ण में स्थिरकम्पन का आशय स्पष्ट नहीं है। स्थायों में 'स्थिर' एक स्थाय भी है जिसका लक्षण है 'स्थायी वर्ण में स्थित स्वरों में कम्पन'। इस आधार पर वहनी में भी स्थिरकम्पन का अर्थ स्थायी वर्ण के कम्पन समझा जा सकता है। लेकिन दो कारणों से यह संगत नहीं लगता। एक तो यह कि अगर चारों ही वर्णों के कम्पन वहनी में अभिप्रेत हों तो आरोही, अवरोही को स्थायी और संचारी से अलग करके लक्षण देने की सार्थकता क्या है? दूसरे वहनी में ही स्थायी वर्ण के कम्पन का भी ग्रहण हो जाय तो फिर अलग से 'स्थिर' नामक स्थाय कहने की ज़रूरत नहीं रहती। इसलिये यहाँ संचारी वर्ण में स्थिर कम्पन अर्थ ही तर्कसंगत लगता है। सिंह० ने यही अर्थ दिया है। लेकिन स्थिरकम्पन का आशय अस्पष्ट ही है।

सा गीतालप्तिसंबन्धभेदेन द्विविधा मता॥ ११५॥

पुनर्द्विधा स्थिरा वेगाढ्या पुनस्त्रिविधोदिता।
हृद्या कण्ठ्या शिरस्या च देहस्था हृदयोद्भवा॥ ११६॥

वहनी स्यात् पुनर्द्वेधा खुत्तोत्फुल्लेति भेदतः।
यस्यामन्तर्विशन्तीव स्वराः खुत्तेति सा मता॥ ११७॥

सोत्फुल्लेत्युदिता यस्यां निर्यान्तीवोपरि स्वराः।

११५ ग-११८ ख. (अ०) **सा** वह (वहनी) **गीत-आलप्तिसंबन्धभेदेन** गीत (निबद्ध) (और) आलप्ति से संबन्ध के भेद से **द्विविधा मता** दो प्रकार की मानी गई (है)। **पुनः द्विधा** फिर से दो प्रकार की **स्थिरा वेगाढ्या** 'स्थिरा' (और) 'वेगाढ्या' (वेग से संपन्न) (होती है)। **पुनः** फिर **देहस्था** देह में स्थित **हृद्या कण्ठ्या शिरस्या च** हृदय, कंठ और शिर संबन्धी (यों) **त्रिविधा उदिता** तीन प्रकार की कही गई (है)। **हृदयोद्भवा वहनी** हृदय से उत्पन्न होने वाली वहनी **खुत्ता-उत्फुल्ला इति भेदतः** 'खुत्ता' (और) 'उत्फुल्ला'—इस भेद से **पुनः द्वेधा स्यात्** फिर दो प्रकार की होती है। **यस्यां** जिसमें **स्वराः** स्वर **अन्तः विशन्ति इव** भीतर प्रविष्ट होते हुए से (सुनाई दें) **सा** वह **खुत्ता इति मता** 'खुत्ता' यों (इस नाम से) मानी गई (है और) **यस्यां** जिसमें **स्वराः** स्वर **उपरि निर्यान्ति इव** ऊपर की ओर निकलते हुए से (सुनाई दें) **सा** वह **उत्फुल्ला इति उदिता** 'उत्फुल्ला'—इस प्रकार कही गई है।

(सर०) वहनी के भेद यहाँ बताये हैं। वहनी का लक्षण कम्प है और कम्प के चार पक्षों के आधार पर यहाँ वहनी को ४ प्रकार से वर्गीकृत किया है। पहला, गीत यानी निबद्ध और आलप्ति यानी अनिबद्ध संबन्धी स्थायों में गीतवहनी और आलप्तिवहनी। दूसरा, विलम्बित और द्रुत लय के आधार पर दो-दो भेद स्थिरा और वेगाढ्या। तीसरा, शरीर में स्वरोत्पत्ति के तीन स्थानों—हृदय, कंठ और सिर के अनुसार यानी मन्द्र, मध्य और तार स्थान संबन्धी कम्प के आधार पर स्थिरा और वेगाढ्या के ३-३ भेद 'हृद्या' 'कण्ठ्या' और 'शिरस्या' तथा चौथा, हृद्या यानी मन्द्र स्थान के कम्प में स्वरों के प्रवेश या निर्गम के आधार पर। वहनी के ये भेद-प्रभेद नीचे सारिणी के रूप में दिये जा रहे हैं।

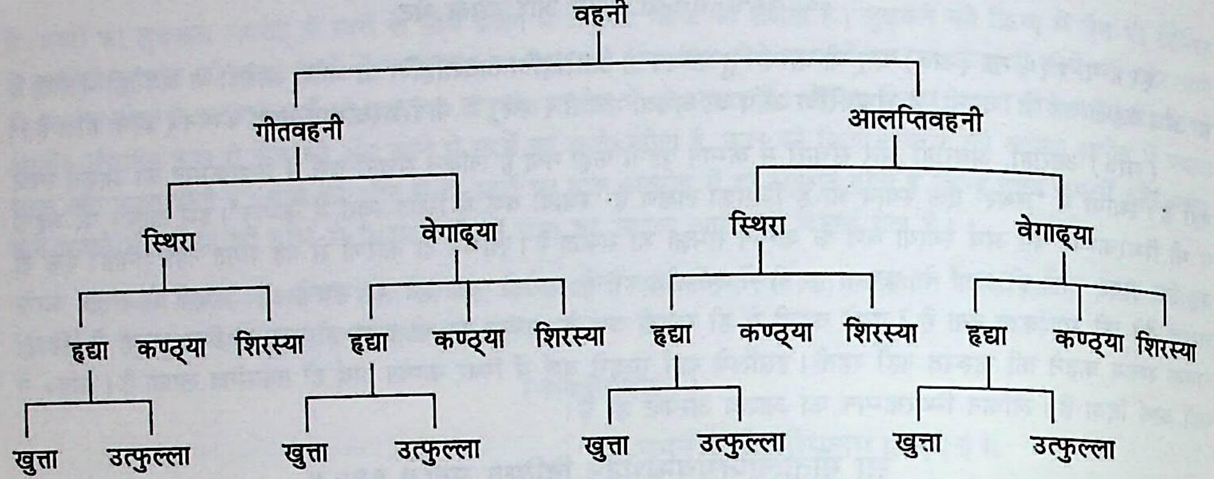

वहनी के आलप्ति और गीत के आधार पर किए गये दो भेद रागालप्ति और रूपकालप्ति से संबद्ध करके देखे जा सकते हैं। मोटे रूप में गीत की बन्दिश शुरू होने से पहले किया जाने वाला अनिबद्ध विस्तार रागालप्ति है और गीत शुरू होने के बाद गीत के शब्द और ताल के साथ होने वाला विस्तार रूपकालप्ति है। जहाँ तक स्वरसंनिवेशों का संबन्ध है दोनों ही अनिबद्ध हैं लेकिन एक में किसी तरह का बन्धन नहीं है तो दूसरी गीत के शब्दों को लेकर और ताल के आवर्तन के दायरे में ही की जाती है इसलिये उसमें शब्द और ताल का बन्धन है। इस कारण दोनों में अन्तर आना अनिवार्य है।

गीत और आलप्ति के आधार पर वहनी के दो भेदों को ध्रुपद शैली के साथ संबद्ध करके देखा जा सकता है। ध्रुपद में बन्दिश से पहले भी आलप्ति की जाती है, 'नोम् तोम्' के रूप में, और बन्दिश शुरू होने के बाद भी। 'नोम् तोम्' में किसी तरह का बन्धन नहीं होता इसलिये राग के नियमों के दायरे में रह कर मुक्त रूप से गमकादि और मनचाहे स्थायों का प्रयोग करना संभव है जब कि शब्द और ताल से बँध जाने के कारण गीतालप्ति में गमक, स्थायों का उसी तरह से प्रयोग नहीं किया जा सकता और अगर ठीक वैसा ही मुक्त प्रयोग किया जाय तो रंजक भी नहीं होगा। ध्रुपद के नोम् तोम् में और बन्दिश में की जाने वाली आलप्ति में गमक स्थायादि का जो भेद आज के प्रयोग में स्पष्टत: दिखाई देता है संभवत: कुछ ऐसा ही अन्तर वहनी के इन दो भेदों में है।

गमकों में कम्प के वेग के आधार पर कई भेद कहे जा चुके हैं। वहनी के स्थिरा और वेगाढ्या स्थाय भेद भी कम्प की विलम्बित, द्रुत गति से ही संबद्ध हैं। अन्तर स्वरविशेष के कम्प और कम्पयुक्त स्वरगुच्छ का है।

विलम्बित, द्रुत गति में मन्द्र, मध्य, तार स्थान के स्वरों का कम्प एकसा नहीं होता, हृद्या, कण्ठ्या आदि इसी पक्ष के सूचक हैं। प्रत्यक्ष अनुभव के अनुसार विलम्बित कम्प मन्द्र और मध्य में ही ज़्यादा रंजक होते हैं, जैसे—दरबारी कानड़ा में गान्धार और धैवत का गमकयुक्त प्रयोग जो मन्द्र और मध्य स्थान में ही किया जाता है, तार में इसका क्वचित् ही प्रयोग होता है और तार में प्रयोग का वैसा प्रभाव नहीं होता जैसा मन्द्र, मध्य में।

खुत्ता और उत्फुल्ला सिर्फ हृद्या के भेद कहे हैं, कण्ठ्या और शिरस्या के नहीं। इसका अर्थ है कि प्रवेश और निर्गम संबन्धी प्रयोग मन्द्र में ही होता है। 'ऊपर की ओर बाहर निकलते हुए से'—उत्फुल्ला के इस लक्षण में दो बातें कही गई हैं, एक तो ऊपर की ओर जाना और दूसरे बाहर निकलना। ऊपर जाना स्वरों की आरोहात्मक गति के रूप में समझ सकते हैं क्योंकि बाहर निकलने में दूर जाना अन्वित है जो आरोह में ही संभव है, अवरोह में पास आने की ही अनुभूति होती है जिसे प्रवेश के रूप में समझ सकते हैं। बाहर निकलने और भीतर प्रवेश करने का संबन्ध ध्वनि की तीव्रता के बढ़ने और घटने के साथ भी देखा जा सकता है। तीव्रता बढ़ने में बाहर निकलने का और घटने में लौटने या भीतर प्रवेश करने का सादृश्य है। इस प्रकार आगेह में स्वरों की तीव्रता बढ़ने को उत्फुल्ला और अवरोह में तीव्रता के घटने को खुत्ता समझा जा सकता है।

वलिर्या गमकेषूक्ता साप्येवंविधभेदभाक्॥ ११८॥
वहनी येषु ते स्थाया वहन्याः परिभाषिताः।

११८ ग-११९ ख. (अ०) **गमकेषु** गमकों में या **वलिः उक्ता** जो वलि (नामक गमक) कही गई **सा अपि** वह भी **एवंविध-भेदभाक्** इसी तरह के भेद वाली (समझनी चाहिये)। **येषु** जिन (स्थायों) में **वहनी** 'वहनी' (हो) **ते** वे **वहन्याः स्थायाः** 'वहन्य' अर्थात् वहनी के स्थाय **परिभाषिताः** परिभाषित हुए (हैं)।

(सर०) द्रुत लय में वक्रता के साथ होने वाले कम्प की संज्ञा 'वलि' है। वहनी में भी मुख्य लक्षण कम्प ही है और वेगाढ्या भी कम्पयुक्त भेद ही है। इसलिये वलि गमक और वहनी स्थाय में समानता है। लेकिन गमकों के अन्तर्गत वलि के भेद नहीं कहे हैं, स्थायों के संदर्भ में वहनी जैसे ही भेद कहने से दोनों में कोई अन्तर नहीं रह जाता। इसी तरह त्रिभिन्न, जो तीनों स्थानों के कम्प वाली गमक है, की भी वहनी के हृद्या आदि भेदों से समानता है। कोमल कण्ठ से और गँठी हुई वलि ही कुरुल गमक कही गई है। इसलिये वलि, कुरुल, त्रिभिन्न गमकों और वहनी स्थाय को अलग कहने की कोई ज़रूरत नहीं दिखाई देती। लेकिन, जैसा पहले भी कहा जा चुका है, अकेले स्वर के कम्प और राग के अंशरूप कम्पयुक्त स्वरसमुदाय के अन्तर के आधार पर इन्हें अलग कहने की आवश्यकता समझी गई है।

वहनी का संबन्ध शैली से है—ध्रुपद आदि गायनशैली से भी और गायक की शैली से भी। वहनी के गीत और आलप्ति भेद ख़ास तौर पर ध्रुपद शैली में बहुत स्पष्ट दिखते हैं।

(वाद्यशब्दजाः)

रागमग्ना वाद्यशब्दा येषु ते वाद्यशब्दजाः॥ ११९॥

५. वाद्यशब्दज

११९ ग-घ. (अ०) **येषु** जिन (स्थायों) में **वाद्यशब्दाः** वाद्य के शब्द (बोल) **रागमग्नाः** राग में मग्न (प्रयुक्त) (होते हों) **ते** वे **वाद्यशब्दजाः** 'वाद्यशब्दज' (स्थाय होते हैं)।

(सर०) वाद्यशब्द से तात्पर्य तन्त्री, अवनद्ध आदि वाद्यों के शब्दों यानी बोलों से है, जैसे—तंत्री वाद्यों के दिर दिर आदि या तबला, पखावज के धिटटिट, तक धिलांग आदि। बहुत प्राचीन समय से वाद्यों में हाथों के द्वारा किए जाने वाले विभिन्न प्रकार के आघातों को शिक्षण और अभ्यास की सुविधा तथा वादन में विविधता की दृष्टि से भाषा के अक्षरों के साथ नियत रूप से जोड़ दिया गया जो 'पाट' या 'पाटाक्षर' कहे जाते थे। आज उनको 'बोल' कहा जाता है। राग में इनका प्रयोग हो तो वे 'वाद्यशब्दज' या वाद्यशब्द-संबन्धी स्थाय कहलायेंगे।

वाद्यशब्दों का प्रयोग गान और वादन दोनों में हो सकता है। गान में इनका प्रयोग दो रूपों में आज भी दिखाई देता है। एक तो चतुरंग, तराना, त्रिवट, ख़्याल आदि की बन्दिशों में और ध्रुपद के 'नोम् तोम्' आलाप में। चतुरंग के अन्तिम खण्ड में तो अनिवार्यतः पाटाक्षर या किसी भिन्न भाषा का पद रहता है। तराने में, जैसे, ग्वालियर घराने के बागेश्री के एक तराने के अन्तरे क़े अन्त में धेत् धेत् त्रक धेत् ता दिं धिधिकिट तकधुम कतात तकघिघि तिटघिघि दिं ता तक् क्ड़धान धि ग़दिगन धा—पखावज के ये बोल। भूपाली के एक छोटे ख़्याल की उठान ही तबले के इस बोल से हुई है—धिरकिट तक धी धी ना धीना ती तीना धीना धीधीना धीधीना थुं थुं ना थुं थुं थुं थुं थुं थुं। इसी बन्दिश के स्थायी, अन्तरे का समापन भी बोलों से ही है। गीत में जिन स्थायों में बोलों का प्रयोग होगा वे वाद्यशब्द संबन्धी स्थाय कहे जायँगे। इसी प्रकार ध्रुपद के नोम् तोम् आलाप के अन्तिम हिस्से में लयाधारित द्रुत गति में बीन के बोलों का प्रयोग करते हुए झाले का जो अनुकरण किया जाता है वहाँ भी वाद्यशब्दज स्थाय होंगे।

(यन्त्रज)

ये यन्त्रेष्वेव दृश्यन्ते बाहुल्यात्ते तु यन्त्रजाः।

६. यन्त्रज

१२० क-ख. (अ०) ये जो **यन्त्रेषु एव** यन्त्रों (वाद्यों) में ही **बाहुल्यात् दृश्यन्ते** बहुलता से दिखाई देते हैं **ते तु** वे तो **यन्त्रजाः** यन्त्र से उत्पन्न (स्थाय होते हैं)।

(सर०) ऐसे प्रयोग जो वाद्यों में ही संभव हैं उनसे युक्त स्थाय 'यन्त्रज' कहलाते हैं, जैसे—सूत, घसीट, कृन्तन, ज़मज़मा आदि या एक से ज़्यादा तारों पर एकसाथ की जाने वाली क्रिया जिसका मूल ना० शा० की 'अवमृष्ट' धातु में देखा जा सकता है। सितार में दाहिने हाथ के आघात के ठीक साथ किसी स्वर के पर्दे को बायें हाथ से हल्के से छूकर उँगली को तुरन्त उठा लेने की क्रिया जिससे पर्दे की ध्वनि का तारस्थानीय स्वर स्वतः उत्पन्न होता है, भी यन्त्रज स्थाय कहा जा सकता है। ना० शा० में 'व्यञ्जन' धातु के 'उन्मृष्ट' नामक भेद का कुछ ऐसा ही विवरण है। ना० शा० में वीणावादन की धातुओं में ऐसी कई क्रियाएँ हैं जो वाद्य में ही संभव हैं, कण्ठ में नहीं। यन्त्रज स्थाय का मूल उनमें है।

'वाद्यशब्द' और 'यन्त्रज' दोनों ही वाद्य से संबन्धित हैं। लेकिन वाद्यशब्द संबन्धी स्थायों में वाद्यों के बोलों का वाद्य या कंठ में प्रयोग होता है और यन्त्रज स्थाय उन क्रियाओं से संबद्ध हैं जो वाद्य में ही संभव हैं, कण्ठ में नहीं।

यह स्थाय तीसरे वर्ग में आता है। वर्तमान संगीत में गायन और वादन की शैलियों में जो अन्तर किया जाता है उसे ध्यान में रखें तो वादन शैली का कह सकते हैं। लेकिन उस काल में गायन-वादन में आज जैसा स्पष्ट शैलीगत अन्तर रहा हो यह निश्चित रूप से कहना संभव नहीं है।

(छायासंबद्धस्थायस्तद्भेदाश्च)

छाया काकुः षट्प्रकारा स्वररागान्यरागजा॥ १२०॥
स्याद्देशक्षेत्रयन्त्राणां तल्लक्षणमथोच्यते।

७. छाया-संबन्धी स्थाय और उसके भेद

१२० ग-१२१ ख. (अ०) **छाया काकुः** 'छाया' (की अन्य संज्ञा) 'काकु' (है, जो) **षट्प्रकाराः** छह प्रकार वाली (होती है)—**स्वर-राग-अन्यरागजा** स्वर, राग और अन्यराग से उत्पन्न (तथा) **देश-क्षेत्र-यन्त्राणां स्यात्** देश, क्षेत्र (शरीर) और यन्त्रों की होती है। **अथ** अब **तत् लक्षणम् उच्यते** उसका लक्षण कहा जा रहा है।

(सर०) ध्वनि के विकार को काकु कहा जाता है। यह शब्द सबसे पहले ना० शा० में आया है जहाँ काकु का बड़ा सूक्ष्म और विस्तार से निरूपण हुआ है। लेकिन वहाँ कंठ ध्वनि में होने वाले उन परिवर्तनों की संज्ञा काकु है जिनके कारण भाव प्रकट होते हैं। या यों कहें कि भाव के अनुसार कंठध्वनि में होने वाले परिवर्तनों को काकु कहा गया है। सं० र० के स्थायों में काकु का प्रयोग भावों के संदर्भ में नहीं हुआ है लेकिन रागों के प्रभाव से संबन्धित ज़रूर है। यहाँ काकु को छाया का पर्याय कहा है। छाया का मुख्य अर्थ प्रतिबिम्ब है जो स्थाय के संदर्भ में सार्थक है क्योंकि काकु के सभी भेदों में प्रकृत* यानी प्रयोज्य राग पर किसी न किसी प्रकार की छाया कही गई है। राग का तात्पर्य स्थायरूप अवयवों से है क्योंकि स्थायों के मेल से ही राग बनता है और स्वर, राग, अन्यराग, देश, क्षेत्र या यन्त्र के काकुभेद से राग के बर्ताव या प्रभाव में अन्तर स्थाय के द्वारा ही आता है। इसलिये यहाँ राग कहें या स्थाय कहें संकेत राग के अवयव की ओर ही है।

काकु स्थाय के ६ भेद कहे हैं—स्वरकाकु, रागकाकु, अन्यरागकाकु, देशकाकु, क्षेत्रकाकु और यन्त्रकाकु।

पार्श्व० ने छाया के पर्याय काकु, भावना और भाषा भी कहे हैं तथा छाया को रक्ति कहा है (सं० स० सार, ३/९६)।

---

* स्थायों की व्याख्या में प्रकृत-अप्रकृत शब्दों का प्रयोग हुआ है। प्रकृत का अर्थ प्रयोज्य, मुख्य या प्रस्तुत किया जा रहा राग या स्थाय और अप्रकृत का अर्थ प्रकृत से भिन्न कोई दूसरा राग या स्थाय समझना चाहिये।

(स्वरकाकुः)

श्रुतिन्यूनाधिकत्वेन या स्वरान्तरसंश्रया॥ १२१॥
स्वरान्तरस्य रागे स्यात् स्वरकाकुरसौ मता।

(१) स्वरकाकु

१२१ ग-१२२ ख. (अ०) रागे राग में श्रुति-न्यून-अधिकत्वेन (किसी स्वर की) श्रुति (संख्या) के कम (या) ज़्यादा होने से **स्वरान्तरसंश्रया** अन्य स्वर के आश्रय वाली (अर्थात् किसी दूसरे स्वर की श्रुति वाली) **स्वरान्तरस्य** अन्य स्वर की (जो छाया) **स्यात्** होती है **असौ** यह **स्वरकाकुः मता** 'स्वरकाकु' मानी गई (है)।

(सर०) स्वरकाकु का संबन्ध ऐसे स्थायों से है जिनमें रागविशेष में श्रुतिसंख्या कम या ज़्यादा होने से किसी स्वर पर किसी अन्य स्वर की छाया पड़ती है, जैसे—दरबारी कानड़ा में म प निध् निध् निध् में कोमल ध को बार-बार कोमल निषाद से छूकर लेते समय निषाद की छाया से ध थोड़ा चढ़ा मालूम होता है। इसी राग में सारेग् संचार में कोमल ग को बार-बार म से छूकर लेने में ग् पर म की छाया आने से वह भी थोड़ा चढ़ा सा लगता है।

लेकिन अपने मूल स्थान से स्वर किस प्रमाण से यानी कितना आगे-पीछे जाय यह राग के अनुसार तय होता है। जैसे, मध्यम से छू- छूकर कोमल ग के प्रयोग में गान्धार अपने स्थान से कितना चढ़े यह इस पर निर्भर है कि वह दरबारी का है या मियाँ मल्हार का।

कल्लि० ने स्वरकाकु की व्याख्या में प्रयोज्य स्वर पर अन्य स्वर की छाया पड़ने का उदाहरण यह दिया है कि चतुःश्रुति षड्ज की दो श्रुति निषाद द्वारा ले लिये जाने पर दो श्रुति कम हो जाने से षड्ज निषादवत् प्रतीत होता है तो दूसरी तरफ़ निषाद षड्ज की दो श्रुतियाँ लेकर चतुःश्रुति (काकली निषाद) बन कर षड्जवत् प्रतीत होता है। यह प्रतीति जिस ध्वनिविकार से होती है उसे स्वरकाकु समझना चाहिये। यहाँ निषाद के चढ़ने पर उसका स्थान बदल जाने से वास्तव में विकार आता है लेकिन षड्ज अपने स्थान पर ही रहता है, सिर्फ़ निषाद से उसकी दूरी कम हो जाती है। इसलिये उसमें वास्तव में कोई अन्तर दिखाई नहीं देता। वर्तमान संदर्भ में केवल अन्तराल बदल जाने से उस स्वर में कोई विशेष या स्पष्ट अन्तर तो सुनाई नहीं देता लेकिन उससे राग के भाव या प्रभाव में ज़रूर अन्तर अनुभव में आता है।

कल्लि० ने जो उदाहरण दिया है उसके लगभग समकक्ष उदाहरण खमाज और मारूबिहाग में देखा जा सकता है। खमाज में गमपधनि्ध-गमग, मगरेसा—इस स्वरसंचार के गमप में म-प का अन्तराल चार श्रुति का है। मारूबिहाग में गम्प ध नि-प, धम् प ग - म् ग रे - सा के गम्प में म के दो श्रुति चढ़ जाने से म् - प का अन्तर दो श्रुति का रह जाता है। फिर भी खमाज के प से मारूबिहाग के प में कोई अन्तर सुनाई नहीं देता, यद्यपि दोनों का म-प भिन्न सुनाई देता है और म के दो श्रुति चढ़ जाने से दोनों रागों के गमप वाले संचार का प्रभाव बिल्कुल भिन्न हो जाता है।

वर्तमान संगीत का प्रयोक्ता (और श्रोता भी) सिर्फ़ स्थानविकृति में ही विकृति सुनने का अभ्यस्त हो गया है इसलिये अन्तराल विकृति में कोई भिन्नता अनुभव नहीं कर पाता। लेकिन पहले संभवतः केवल अन्तराल बदल जाने से भी अपरिवर्तित स्वर की पूर्व और पर स्थिति में अन्तर का अनुभव किया गया। और शायद इसीलिये शार्ङ्गदेव ने मध्यमग्राम के धैवत और 'अन्तरसाधारण' के षड्ज, मध्यम तथा 'षड्जसाधारण' के ऋषभ को विकृत कहा।*

(रागकाकुः)

या रागस्य निजच्छाया रागकाकुं तु तां विदुः॥ १२२॥

---

* इन स्वरों के लिये देखे सं० र० के प्रथम खण्ड का स्वरसाधारण प्रकरण और उस पर 'सरस्वती' व्याख्या।

(२) रागकाकु

१२२ ग-घ. (अ०) या जो रागस्य राग की निजच्छाया अपनी छाया (होती है) तां तु उसे तो रागकाकुं 'रागकाकु' (के नाम से) विदः जानते हैं।

(सर०) अपनी छाया का अर्थ है राग का अपना विशिष्ट रूप यानी स्थाय-विशेष। आज की भाषा में रागवाची स्वरसमुदाय जिसमें उसका अपना रूप दिखाई देता है। ऐसा स्वरसमुदाय उसे दूसरे रागों से अलग भी करता है और कभी-कभी वह अन्य रागों में जाकर 'अन्यरागकाकु' को भी जन्म देता है, जैसे, सारंग का नि्प कानड़ा और मल्हार में जाता है।

राग की रागवाची क्रिया के उदाहरण तो उत्तर भारतीय संगीत के सभीं रागों में देखे जा सकते हैं। उदाहरणार्थ—अल्हैया बिलावल का ग प $^{\text{नि}}$ध नि सां-धनि्धप, ललित का ग म म् म म् ग, मियाँ मल्हार का म प नि्-ध नि् -ध नि सां और रेसा नि्नि् -ध नि सा, देश का रेम- गरे—और मपनि्-ध प, श्री का रे् प और म् ध्-म् ग ^{प} रे्, बसन्त का म् ध् सां-नि ध्-प और म्ग म्-ग।

(अन्यरागकाकुः)

सा त्वन्यरागकाकुर्या रागे रागान्तराश्रया।

(३) अन्यरागकाकु

१२३ क-ख. (अ०) रागे राग में या जो रागान्तर-आश्रया अन्य राग के आश्रय वाली (छाया होती है) सा तु वह तो अन्यरागकाकुः 'अन्यरागकाकु' (है)।

(सर०) एक राग में किसी दूसरे राग के विशेष स्वरसंचार का प्रयोग होने से दूसरे राग का जो आभास उस अंश में होता है वह 'अन्यरागकाकु' होती है। जैसे—बिलावल अंग के लोकप्रिय राग देवगिरि बिलावल में नि रे ग रे, ग प म ग $^{\text{रे}}$ग - रे, नि ध नि रे ग प म ग $^{\text{रे}}$ग - रे, ध नि रे ग - म ग $^{\text{रे}}$ग - रे जैसे स्वरसंनिवेशों में निरेगरे, निधनिरे, धनिरेग के प्रयोग में कल्याण अंग की जो छाया है वह अन्यरागकाकु है। इसी तरह कानड़ा और मल्हार के कुछ प्रकारों में नि्प की संगति में सारंग की छाया भी इसी काकु के अन्तर्गत आयेगी।

पार्श्व० ने अन्यरागकाकु को 'उपरागभाषा' भी कहा है और यह उल्लेख भी किया है कि इसी को लोक में 'ठाय' कहा जाता है (सं० स० सार, ३/१००-०१) यहाँ 'ठाय' विशेष और सीमित अर्थ में समझना चाहिये, 'स्थाय' के पर्याय 'ठाय' जितना व्यापक नहीं।

(देशकाकुः)

सा देशकाकुर्या रागे भवेद्देशस्वभावतः ।। १२३ ।।

(४) देशकाकु

१२३ ग-घ. (अ०) देशस्वभावतः देश (प्रदेश विशेष) के स्वभाव के कारण रागे राग में या जो (छाया) भवेत् होती है सा वह देशकाकुः 'देशकाकु' (है)।

(सर०) प्रदेशभेद के कारण संगीत में जो भेद अनुभव में आता है उसी को देशकाकु कहा है। जैसे—कर्णाटक संगीत और उत्तर भारतीय संगीत में प्रदेशभेद के कारण अन्तर अनुभूत होता है या एक ही रागरूप में कर्णाटकी और उत्तर भारतीय रूप में भिन्नता का अनुभव। इसी तरह औड्र पद्धति (उड्र = उत्कल, वर्तमान उड़ीसा, उसकी संगीत पद्धति) में स्वरों को हल्के से झुलाते हुए किया जाने वाला प्रयोग जो उसे कर्णाटकी और उत्तर भारतीय— दोनों पद्धतियों से अलग रूप देने वाला देशकाकु का उदाहरण है।

देशकाकु कभी स्वर लगाने के ढंग से, कभी विशेष प्रकार के कंठगुण से, कभी विशिष्ट स्वरसंचारों से और कभी शब्दों के उच्चारण से पकड़ में आती है। जैसे, रागों के गान में कभी-कभी बंगाल और महाराष्ट्र के गायकों में देशकाकु का स्पष्ट अन्तर समझ में आता है।

शास्त्रीय संगीत की अपेक्षा लोकसंगीत में देशकाकु ज़्यादा स्पष्ट पहचानी जाती है। बंगाल, राजस्थान, पंजाब और गुजरात का लोकसंगीत देशकाकु के सटीक उदाहरण हैं।

वर्तमान रागदारी में सौराष्ट्र भैरव, बंगाल भैरव, गुर्जरी तोड़ी आदि रागनाम भी शायद देशकाकु के भेद के संकेतक हैं। शायद भैरव के वे प्रकार जो सौराष्ट्र और बंगाल की देशकाकु के भेद से और तोड़ी का गुर्जर प्रदेश की काकु के कारण भिन्न हो जाते हों—इस रूप में इन नामों के मूल में शायद देशकाकु रही हो।

(क्षेत्रकाकुः)

शरीरं क्षेत्रमित्युक्तं प्रतिक्षेत्रं निसर्गतः।
रागे नानाविधा काकुः क्षेत्रकाकुरिति स्मृता॥ १२४॥

(५) क्षेत्रकाकु

१२४. (अ०) **शरीरं** शरीर को **क्षेत्रम् इति उक्तं** 'क्षेत्र' इस प्रकार (इस नाम से) कहा गया (है)। **प्रतिक्षेत्रं** हर शरीर में **निसर्गतः** प्राकृतिक रूप से **नानाविधा काकुः** कई तरह की काकु (होती है वह) **रागे** राग (के संदर्भ) में **क्षेत्रकाकुः इति स्मृता** 'क्षेत्रकाकु' इस प्रकार स्मरण की गई (है)।

(सर०) मूलतः मनुष्य के उस कंठगुण का नाम 'क्षेत्रकाकु' है जिसके द्वारा किसी व्यक्ति की अपनी कंठध्वनि की पहचान होती है या एक से दूसरे मनुष्य की आवाज़ का भेद पहचाना जाता है।

संगीत में भी यह अन्तर झलकता है। गायक का नाम जाने बिना भी किसी राग को गाये जाते हुए सुन कर पहचान लिया जाता है और कहा जाता है कि अमुक गायक गा रहा है। जैसे—अब्दुल क़रीम ख़ाँ और पं० ओंकारनाथ ठाकुर के तिलंग के रिकॉर्डों को सुन कर गायक की कंठध्वनि की जिस छाया के कारण 'अमुक रिकॉर्ड अमुक का है'—यह जो पहचान हो जाती है उसी छाया, झलक या प्रतिबिम्ब की संज्ञा क्षेत्रकाकु है। पार्श्व० के दिये क्षेत्रकाकु के लक्षण में ऐसा ही संकेत है जहाँ यह कहा गया है कि रंजक स्वभाव के कारण अगर किसी राग में किसी गायक की छाया दिखाई दे तो वह क्षेत्रकाकु कहलाती है (सं० स० सार, १०१)

क्षेत्रकाकु देशकाकु की पकड़ में भी सहायक होती है क्योंकि रागों के गायन में कंठध्वनि के द्वारा यह भी समझ में आता है कि गायक, गायिका किस प्रदेशमूल के हैं। जैसे—महाराष्ट्र, पंजाब और दाक्षिणात्य प्रदेशों की विशिष्ट क्षेत्रकाकु होती है जिससे गायक के महाराष्ट्रीय, पंजाबी या दाक्षिणात्य होने का तुरन्त पता चल जाता है।

(यन्त्रकाकुः)

वीणावंशादियन्त्रोत्था यन्त्रकाकुः सतां मता।

(६) यन्त्रकाकु

१२५ क-ख. (अ०) **सतां** विद्वानों (के मत) में **वीणावंश-आदि-यन्त्र-उत्था** वीणा, वंश आदि वाद्यों से उत्पन्न (छाया) **यन्त्रकाकुः मता** 'यन्त्रकाकु' मानी गई (है)।

(सर०) 'यन्त्रकाकु' का वाद्यों की ध्वनि के विशेष गुण से संबन्ध है और इसे भी कई तरह से समझा जा सकता है।

१. वीणा, सितार आदि तन्त्री वाद्यों और बाँसुरी आदि सुषिर वाद्यों की काकुविशेष जिसके द्वारा उन्हें तन्त्री या सुषिर की ध्वनि के रूप में पहचाना जाता है। २. किसी एक ही वाद्य के अलग-अलग नमूनों में भी काकु का अन्तर समझ में आता है जिसके कारण कभी-कभी यह कहा जाता है 'अमुक के सितार की ध्वनि का कोई जोड़ नहीं है'। या जैसे विलायत ख़ाँ और रविशंकर के सितार की यन्त्रकाकु का अन्तर स्पष्ट पहचाना जा सकता है। ३. एक ही वाद्य के अलग-अलग नमूनों का अपना नियत स्वरक्षेत्र होता है। वाद्य को उसी के स्वरक्षेत्र में मिलाने पर वह ज़्यादा अच्छा 'बोलता' है। ४. यन्त्रकाकु को राग के संदर्भ में एक और ढंग से भी समझ सकते हैं। कुछ वाद्यों की विशेष ध्वनि के कारण विशेष राग उनके ज़्यादा उपयुक्त होते हैं, जैसे— सारंगी की अपेक्षा बीन में दरबारी कानड़ा, मियाँ मल्हार ज़्यादा अच्छे लगते हैं। मालकौंस जैसे मींडप्रधान और गम्भीर रागों के लिये जलतरंग की तुलना में बाँसुरी आदि ज़्यादा उपयुक्त है। ५. एक ही राग को विभिन्न वाद्यों में बजाने पर उनके प्रभाव में जो अन्तर अनुभव में आता है वह भी मुख्य रूप से वाद्य की अपनी काकु का परिणाम होता है।

यन्त्रकाकु के इन सभी पक्षों में राग की प्रस्तुति और प्रभाव में यन्त्र की काकु (छाया) प्रतिबिम्बित होती है।

काकु के ६ भेदों में से अन्तिम तीन यानी देशकाकु, क्षेत्रकाकु और यन्त्रकाकु के बारे में यह शंका उठाई जा सकती है कि इनका राग से क्या संबन्ध है क्योंकि ये क्रमशः प्रदेशभेद, कंठगुण और वाद्य के ध्वनिगुण से संबन्धित हैं? लेकिन इनकी व्याख्या में इनके रागसंबन्ध के बारे में यह स्पष्ट किया गया है कि इनका राग के बर्ताव, प्रस्तुति के ढंग और प्रभाव से गहरा संबन्ध है। एक ही राग के गाने और बजाने में कंठ और वाद्य के अपने-अपने माध्यम की विशेषताओं और सीमाओं के कारण 'यह वही राग है' यह अनुभूति होते हुए भी उनमें कुछ अन्तर सुनाई देता है और प्रभाव भी कुछ अलग हो जाता है। यह भिन्नता प्रदेशगत वैशिष्ट्य, अलग-अलग कंठों के अलग-अलग गुण और वाद्यों की ध्वनि की भिन्नता के कारण अनुभव होती है। काकु के पहले तीन भेद—स्वरकाकु, रागकाकु और अन्यरागकाकु—सीधे राग के रूप से संबद्ध हैं और बाक़ी तीन का सीधा संबन्ध रागरूप से न होकर राग के प्रभाव से है।

अन्यच्छायाप्रवृत्तौ ये छायान्तरमुपाश्रिताः॥ १२५॥
छायायास्ते मताः स्थाया गीतविद्याविशारदैः।

१२५ ग-१२६ ख. (अ०) **अन्यत्-छायाप्रवृत्तौ** अन्य (अर्थात् किसी) छाया की प्रवृत्ति होने पर ये जो (स्थाय) **छायान्तरम् उपाश्रिताः** (उस) छायान्तर के आश्रय वाले (होते हैं) ते वे **गीतविद्याविशारदैः** संगीत के विशारदों के द्वारा **छायायाः स्थायाः मताः** 'छाया' के स्थाय माने गए (हैं)।

(सर०) इस अंश की पहली पंक्ति का प्रथम दृष्टि में यह अर्थ निकलता प्रतीत होता है—अन्य छाया की (अन्यत् छायाप्रवृत्तौ) यानी एक छाया के आने पर किसी दूसरी छाया (छायान्तर) के आने से वे छाया के स्थाय कहलाते हैं। सिंह० ने ऐसा ही अर्थ किया भी है। लेकिन यह लक्षण काकु के ६ भेदों में से सिर्फ़ स्वरकाकु और अन्यरागकाकु पर ही घटित होता है क्योंकि इन दो में ही दो छायाओं का प्रसंग है, शेष ४ भेद इस लक्षण के घेरे में नहीं आ सकते क्योंकि उनमें अपनी-अपनी ही छाया रहती है।

लेकिन ऐसे सामान्य लक्षण की सार्थकता नहीं हो सकती जो सारे भेदों पर लागू न हो। इसलिये 'छायान्तर' को हमने 'दूसरी छाया' न कह कर उसी पहले वाली छाया के अर्थ में इस प्रकार ग्रहण किया है—किसी छाया के आने पर उस छाया के आश्रित जो स्थाय होते हैं वे छाया के स्थाय कहे जाते हैं। इस रूप में उक्त लक्षण रागकाकु, क्षेत्रकाकु, देशकाकु और यन्त्रकाकु पर भी घटित होता है।

प्रस्तुत लक्षण की पहली पंक्ति का अगर यह पाठ होता तो ज़्यादा सार्थक होता—'अन्यच्छायाप्रवृत्तौ ये छायां तां समुपाश्रिताः'; यद्यपि इसकी पुष्टि में हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है। देवनागरी लिपि में 'छायां तां समुपाश्रिताः' और 'छायान्तरमुपाश्रिताः' में काफ़ी निकटता है। आड्यार के पाठ में भी ग्रन्थकार का आशय 'उसी छाया' से है 'एक नई छाया' से नहीं क्योंकि, जैसा ऊपर कहा गया, यह अर्थ सारे भेदों के संदर्भ में सार्थक नहीं है।

सिंह० द्वारा किये गये अर्थ का ग्रहण करें तो फिर यह समझना होगा कि क्षेत्र, देश और यन्त्रकाकुओं में राग पर क्षेत्र, देश या यन्त्रकाकु के कारण जो छाया आती है वह दूसरी छाया है। लेकिन फिर भी रागकाकु छूट जाती है क्योंकि उसमें अपनी मूल छाया के अलावा और कोई छाया नहीं है।

काकु के निरूपण के शुरू में काकु को छाया का पर्याय कह कर उसके भेदों का निरूपण किया गया। इस प्रकार स्थाय की कारणभूत छाया का निरूपण करके प्रस्तुत अंश में छाया संबन्धी स्थाय का लक्षण दिया है। छाया को स्थाय का कारण इसलिये कहा है कि स्थाय में शैलीगत या प्रभावगत जो भेद आता है वह विभिन्न छायाओं के कारण आता है।

सिंह० ने यह भी कहा कि प्रकृत गान (स्वरवाद्य भी गान में सम्मिलित समझना चाहिये) में अन्य छाया आने पर अन्य छाया के आश्रय से जो स्थाय प्रवर्तित होते हैं वे छायासंबंधी स्थाय होते हैं। यह कहा जा चुका है कि विभिन्न छायाओं के द्वारा राग के अवयवों में जब अन्तर अनुभव में आता है तो ऐसे अवयव (स्थाय) छायासंबन्धी कहलाते हैं। यहाँ यह सवाल उठाया जा सकता है कि ६ भेद तो काकु के कहे लेकिन उनसे प्रभावित स्थायों को छायासंबन्धी कहा, ऐसा क्यों? ग्रन्थकार शुरू में ही छाया और काकु को पर्याय कह चुके हैं इसलिये ६ भेदों को काकुभेद कहें या छायाभेद एक ही बात है। लेकिन यह समझना ज़रूरी है कि काकु मूलतः ध्वनि में होने वाले विकार (परिवर्तन) की सूचक है और छाया उस विकार से प्रयोग पर पड़ने वाले प्रतिबिम्ब की। यह प्रतिबिम्ब काकु से ही पड़ता है इसलिये व्यापक रूप से छाया में ही सारे काकुभेदों का समावेश कर लिया गया है।

सार रूप में यह कह सकते हैं कि जहाँ प्रकृत में अप्रकृत की छाया दिखाई देती है उसे 'छाया' या 'काकु' कहा है और उससे संबद्ध स्थायों को 'छाया के स्थाय'। प्रकृत राग के किसी स्वर में किसी दूसरे स्वर की छाया दिखने पर 'स्वरकाकु'; प्रकृत राग की अपनी छाया, जो उसकी पहचान कराती है, 'रागक़ाकु'; प्रकृत राग में अन्य राग की छाया 'अन्यरागकाकु'; देशभेद से प्रकृत राग में पड़ने वाली देश की छाया 'देशकाकु'; भिन्न-भिन्न कंठध्वनियों के भेद से प्रकृत राग में उत्पन्न होने वाली अन्य छाया 'क्षेत्रकाकु' और विभिन्न वाद्यों में प्रयुक्त होने पर एक ही प्रकृत राग के प्रभाव में आने वाली भेदरूप-छाया 'यन्त्रकाकु'— इस प्रकार ६ भेदों का निरूपण किया गया है।

काकु के भेदों का ग्रन्थकार द्वारा इतने विस्तार से निरूपण इस तथ्य को उजागर करता है कि संगीत में काकु का बड़ा महत्त्व है। काकु मूलतः नाट्यशास्त्र से ली गई धारणा है जिसका संबन्ध नाट्य के संदर्भ में मनुष्य की कण्ठध्वनि में होने वाले परिवर्तनों से है।* सं० र० की काकु भी ध्वनि से ही संबन्धित है लेकिन यहाँ ध्वनिभेद कंठ तक सीमित न होकर स्वर, राग, देश, शरीर और वाद्य को भी घेरता है इसलिये ना० शा० की काकु की अपेक्षा ज़्यादा व्यापक है।

(स्वरलङ्घित)

मध्ये मध्ये स्वरान् भूरील्लँङ्घयन् स्वरलङ्घितः॥ १२६॥

८. स्वरलंघित

१२६ ग-घ. (अ०) मध्ये मध्ये बीच बीच में भूरीन् स्वरान् लङ्घयन् बहुत से स्वरों का लंघन करते हुए स्वरलङ्घितः 'स्वरलंघित' (स्थाय होता है)।

(सर०) सिंह० के अनुसार भूरीन् का अर्थ तीन या चार स्वर है। आज के प्रचलित रागों में ऐसे बहुत उदाहरण मिलते हैं जिनमें स्वरों का लंघन किया जाता है। जैसे—श्री में रे॒-प, केदार में सा-म, गौड़सारंग मे प-रे, कामोद में रे-प जैसी

---

* काकु की धारणा के लिये द्रष्टव्य—१. संगीत-संचयन पुस्तक में लेखिका का लेख वाचिक अभिव्यक्ति का प्राण-'काकु' और २. ज्ञानप्रवाह, वाराणसी द्वारा मार्च १९९९ में आयोजित 'ध्वनि' शीर्षक विचारगोष्ठी में लेखिका का शोधपत्र 'काकु—भाषागत व्यवहार और संगीत के बीच सेतु'।

स्वर-संगतियाँ जिनमें दो स्वरों का लंघन होता है या देशकार में सा – ध, भटियार में सा – ध की रागवाची स्वरजोड़ियाँ जिनमें चार-चार स्वरों का लंधन है।

ये तो रागविशेष में उनके रागवाची स्थायों के उदाहरण हैं लेकिन इनके अलावा भी स्वरों का लंघन करते हुए ऐसे प्रयोग होते हैं जो किसी राग-विशेष के वाचक न होकर किसी भी राग में प्रयुक्त होते रहते हैं, जैसे—सासां सांनिधप या गगग गंगंगं रेंसां अथवा प प प पपप पंपंपं मंगंरेंसां जिनमें सप्तक का लंघन है। पिछले दो दशकों में रागों के गायन-वादन में इस तरह के संचारों का बहुत प्रयोग होने लगा है।

इसे रागरूप का स्थाय कहेंगे जब रागविशेष से संबद्ध होगा अन्यथा तीसरे वर्ग में रखा जा सकता है।

(प्रेरितः)

तिर्यगूर्ध्वमधस्ताच्च प्रेरितः प्रेरितैः स्वरैः।

९. प्रेरित

१२७ क-ख. (अ०) तिर्यक्-ऊर्ध्वम्-अधःतात् च तिरछे, ऊपर और नीचे (की ओर) **प्रेरितैः स्वरैः** प्रेरित स्वरों के द्वारा **प्रेरितः** 'प्रेरित' (नामक स्थाय होता है)।

(सर०) 'ऊर्ध्व' और 'अधः' यानी ऊपर और नीचे से आरोही, अवरोही और तिर्यक् से वक्र प्रयोग समझा जा सकता है। लेकिन यह प्रश्न उठता है कि दूसरे स्थायों में भी आरोह, अवरोह की बात आई है, फिर उसे यहाँ दोहराने की क्या ज़रूरत है? ऊपर-नीचे के साथ 'तिर्यक्' के प्रयोग से शायद आड़े-तिरछे, ऊपर-नीचे, वक्र-यों मिले-जुले स्वरों की फेंक की ओर संकेत है। कभी-कभी आलप्ति में इस तरह के संचारों का प्रयोग होता है जिनमें स्वरों को इस तरह फेंका जाता है कि उनमें आरोही आदि वर्ण होते हुए भी स्वरों का उत्कर्ष किसी वर्णविशेष में न होकर स्वरों के आड़े-तिरछेपन में होता है। संभवतः ऐसा प्रयोग यहाँ अभिप्रेत है।

वक्रता का बड़ा उदाहरण गौड़सारंग है जिसमें स्वरों की वक्रगति ही उसका स्वरूप है। उसके अलावा देसी के अवरोह में भी सांरेंनि्सां – पधमप – रेग्सारेनि्सा—इस प्रकार वक्रता से ही स्वर लिये जाते हैं। इन्हें भी तिर्यक् प्रयोग समझ सकते हैं।

(तीक्ष्णः)

स्वरः पूर्णश्रुतिस्तारे तीक्ष्णवत्तीक्ष्ण उच्यते॥ १२७॥

१०. तीक्ष्ण

१२७ ग-घ. (अ०) तारे तार (स्थान) में **तीक्ष्णवत्** तीखी (पैनी, तेज़ धार वाली वस्तु) के समान **पूर्णश्रुतिः स्वरः** पूर्णश्रुति स्वर **तीक्ष्णः उच्यते** 'तीक्ष्ण' (स्थाय) कहा जाता है।

(सर०) सिंह० ने **तीक्ष्णवत्** का अर्थ सूई की नोक की तरह तीखा दिया है और **पूर्णश्रुतिः** का 'स्वरस्थान पर रहते हुए भी'। इसके अनुसार यह कहा जा सकता है कि कोई स्वर पूर्णश्रुति यानी उसकी जितनी श्रुतियाँ हों उतनी श्रुति का प्रयुक्त होते हुए अर्थात् अपने नियत स्थान पर रहते हुए भी तारस्थानीय होने के कारण सूई की नोक की तरह पैना अर्थात् सुनने में तीखा प्रतीत हो वहाँ 'तीक्ष्ण' स्थाय होता है। प्रयोग की दृष्टि से यह अनुभवजन्य तथ्य है कि मन्द्र, मध्य स्थान की तुलना में तारस्थान के स्वर तीखे प्रतीत होते हैं। तारे शब्द के प्रयोग में इस तथ्य का संकेत है। साथ ही अपने स्थान से हटे हुए अर्थात् कम्पयुक्त स्वरों की अपेक्षा सीधे ('खड़े') स्वरों में ज़्यादा तीखापन अनुभव में आता है। इसीलिये ग्रन्थकार ने पूर्णश्रुतिः पद का प्रयोग किया है।

तीखेपन से संबद्ध एक तथ्य यह भी है कि कोमल की अपेक्षा शुद्ध और उसकी अपेक्षा तीव्र स्वर में तीखापन ज़्यादा महसूस होता है। जैसे—वर्तमान प्रयोग में कोमल की तुलना में शुद्ध ग और शुद्ध म की अपेक्षा तीव्र म ज़्यादा तीखा लगता है। वर्तमान शुद्ध ग और शुद्ध नि मध्य युग में तीव्र ग और तीव्र नि ही कहलाते थे क्योंकि उनमें तीव्रता यानी तीखापन अनुभव में आता है।

यहाँ तक प्रसिद्ध वर्ग के असंकीर्ण लक्षण वाले १० स्थायों का निरूपण किया गया। इनके लक्षण देखने से यह स्पष्ट होता है कि इन सभी के लक्षण बिल्कुल पृथक् यानी भिन्न हैं, परस्पर मिलते-जुलते नहीं हैं।

यहाँ से आगे प्रसिद्ध वर्ग के ३३ संकीर्ण स्थायों के लक्षण दिये गये हैं।

(प्रसिद्धसंकीर्णलक्षणस्थायाः)

(भजनसंबद्धाः)

रागस्यातिशयाधानं प्रयत्नाद्भजनं मतम्।
तद्युक्ता भजनस्य स्युः,

(आ) प्रसिद्ध संकीर्ण लक्षण वाले स्थाय

१. भजन-संबन्धी

१२८ क-ग. (अ०) **प्रयत्नात्** प्रयत्न के साथ **रागस्य** राग का **अतिशय-आधानम्** अतिशय आधान (बनाव या निष्पादन) **भजनं मतं** भजन माना गया है। **तत् युक्ताः** उससे युक्त **भजनस्य स्युः** 'भजन' के (स्थाय) होते हैं।

(सर०) सिंह० के अनुसार राग के अतिशय आधान का अर्थ है रंजकता। इसलिये ऐसे स्थाय जिनका विशेष प्रयत्नपूर्वक प्रयोग करने से राग की रंजकता बढ़ती है 'भजन' के स्थाय समझने चाहियें। इन्हें राग के ऐसे स्वरसंचार कह सकते हैं जो साधारण रूप से भी राग में लगते हैं लेकिन उनमें विशेष प्रयत्न से ज़्यादा रंजकता आ जाती है। जैसे—गुर्जरी तोड़ी में रे् ग् रे् सा को सा-, सारे् रेग् -मरे् ग् -मु रे्गुरे् - सा या रे् ग् -मु ग् गुरे् - सा —इस तरह गाने में विशेष प्रयत्न आवश्यक है और इससे वही संचार अत्यन्त रंजक बन जाता है।

इसे शैली का स्थाय कह सकते हैं। ध्रुपदादि शैली विशेष के अनुसार विशेष प्रयत्न से ऱंजकता का आधान करने से या गायक की अपनी शैली में उसी स्थाय को अपने ढंग से रंजक बनाने से—इस प्रकार गायन शैली और गायक की शैली दोनों से संबद्ध हो सकता है।

(स्थापनासंबद्धाः)

स्थापनायास्तु ते मताः॥ १२८॥
स्थापयित्वा स्थापयित्वा येषां प्रतिपदं कृतिः।

२. स्थापना-संबन्धी

१२८ घ-१२९ ख. (अ०) **येषां** जिन (स्थायों) में **प्रतिपदं** पग-पग पर (अर्थात् स्वरों पर) **स्थापयित्वा स्थापयित्वा** जमा-जमा कर **कृतिः** क्रिया (हो) **ते तु** वे तो **स्थापनायाः मताः** 'स्थापना'-संबन्धी (स्थाय) माने गए (हैं)।

(सर०) जिस तरह कभी-कभी हर क़दम पर पैरों को जमा-जमा कर रखते हुए चलते हैं उसी का सादृष्य स्वरों के प्रयोग में यहाँ दिखाया गया है। सिंह० के आधार पर 'स्थापित कर-कर के' का अर्थ है निश्चल करके यानी रुक-रुक कर करना। प्रयोग की दृष्टि से किसी स्वर पर रुक-रुक कर आगे बढ़ने की क्रिया स्थापना समझी जा सकती है और उससे युक्त 'स्थापना'

के स्थाय होंगे। ये किसी भी राग में हो सकते हैं। जैसे—मालकौंस में विलम्बित गति में म पर रुकते हुए इस प्रकार अनुभव कर सकते हैं—सा ^{म}ग् ^{म}ग् म-, म म ^{म}ग् ^{म}ग् म ध् –म, म $^{\text{नि}}$ध् नि् नि् ध्–म, म म ग्–, सागम– म ग्–सा।

यह स्थाय गायक की शैली से संबद्ध किया जा सकता है, सामान्य रूप से तीसरे वर्ग का कह सकते हैं।

(गतिसंबद्धाः)

सविलासास्ति गीतस्य मत्तमातङ्गवद्गतिः ॥ १२९ ॥
तद्युक्तास्तु गतेः स्थायाः,

३. गति-संबन्धी

१२९ ग-१३० क. (अ०) गीतस्य गीत (गेय स्थाय) की **मत्तमातङ्गवत्** मत्त हाथी के समान **सविलासा** विलासयुक्त **गतिः अस्ति** (जो) गति होती है **तत् युक्ताः तु** उस (गति) से युक्त तो **गतेः स्थायाः** 'गति' संबन्धी स्थाय (होते हैं)।

(सर०) मत्त हुआ हाथी जब झूमता हुआ लेकिन भव्यता से चलता है तो उसकी जैसी चाल (गति) होती है उसी तरह का प्रयोग जिन स्थायों में हो वे 'गति' के स्थाय होते हैं। सिंह० ने कहा कि गान में मत्तमातंगवत् गति गायकों में प्रसिद्ध है। मालकौंस के इन स्थायों का विलंबित गति में मींड के साथ प्रयोग करने पर उक्त गति का सादृष्य देखा जा सकता है—म ग् म सा म ग् ध् म नि् ध् नि् म नि् ध् सा॑ नि् सा॑-, सा॑ नि् सा॑ ध् नि् ध् नि् म ध् म ध् ग म ग् म सा।

इस स्थाय को तीसरे वर्ग में रखा जा सकता है किन्तु यह गायक की शैली से भी संबद्ध हो सकता है।

(नादसंबद्धाः)

स्निग्धो माधुर्यमांसलः ।
बहुलो येषु नादः स्यात्ते नादस्य प्रकीर्तिताः ॥ १३० ॥

४. नाद-संबन्धी

१३० ख-घ. (अ०) येषु जिनमें **स्निग्धः** स्निग्ध **माधुर्यमांसलः** बलवान् (किन्तु) मधुर **नादः बहुलः स्यात्** नाद बहुल होता है **ते** वे **नादस्य** 'नाद' संबन्धी (स्थाय) **प्रकीर्तिताः** प्रकर्ष से जाने गए (हैं)।

(सर०) 'नाद' संबन्धी स्थाय में आवाज़ के लगाव की बात है जिसका गायक की शैली से संबन्ध समझ सकते हैं। 'नाद' शब्द का यहाँ सीमित और विशेष अर्थ में प्रयोग हुआ है।

(ध्वनिसंबद्धाः)

अतिदीर्घप्रयोगाः स्युः स्थाया ये ते ध्वनेर्मताः ।

५. ध्वनि-संबन्धी

१३१ क-ख. (अ०) ये जो **अतिदीर्घप्रयोगाः स्थायाः स्युः** बहुत बड़े 'प्रयोग' वाले स्थाय होते हैं **ते** वे **ध्वनेः** 'ध्वनि' संबन्धी (स्थाय) **मताः** माने गए (हैं)।

(सर०) 'ध्वनि' शब्द का भी सीमित और विशेष अर्थ में प्रयोग किया गया है। सिंह० ने 'प्रयोग' का अर्थ 'गमकसंदर्भ' किया है यानी कई गमकों से युक्त स्वरसमुदाय। इसके अनुसार धीमी गति की बड़ी-बड़ी गमकों से युक्त स्थाय 'ध्वनि' संबन्धी समझे जा सकते हैं। जैसे—दरबारी कानड़ा में रेसा $^{\text{नि}}$ध॒ $^{\text{नि}}$ध॒ $^{\text{नि}}$ध॒ $^{\text{सा}}$नि॒ सा और म प $^{\text{नि}}$ध् $^{\text{नि}}$ध् नि्-प।

प्रबन्धाध्याय में 'प्रयोग' का यह लक्षण ग्रन्थकार ने दिया है—अक्षरों से रहित (यानी केवल 'आ'कार में की जाने वाली)

गमकालप्ति या आलाप 'प्रयोग' कहलाता है (४/३६०-६१)। सिंह० ने इसी के अनुसार 'ध्वनि' संबन्धी स्थाय की व्याख्या में 'प्रयोग' का अर्थ गमकयुक्त संदर्भ किया है।

इसे रागरूप का स्थाय समझा जा सकता है।

(छविसंबद्धाः)

युक्ताः कोमलया कान्त्या छवेः स्थाया निरूपिताः॥ १३१॥

६. छवि-संबन्धी

१३१ ग-घ. (अ०) **कोमलया कान्त्या युक्ताः** कोमल कान्ति से युक्त **छवेः स्थायाः** 'छवि' संबन्धी स्थाय **निरूपिताः** निरूपित हुए (हैं)।

(सर०) स्थायों के निरूपण में स्निग्ध, मधुर, कोमल आदि शब्दों का बहुत बार प्रयोग हुआ है जो कंठध्वनि के गुणों में आ चुके हैं और उनके लक्षण भी वहाँ दिये गये हैं। इन शब्दों के द्वारा जहाँ स्थायों के लक्षण दिये गये हैं वे स्थाय, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, ध्वनि के लगाव के सूचक हैं जिनसे गायक की शैली बनती है।

(रक्तिसंबद्धाः)

रक्तेरुत्कर्षतो रक्तेरुक्ताः स्थाया मनीषिभिः।

७. रक्ति-संबन्धी

१३२ क-ख. (अ०) **रक्तेः उत्कर्षतः** रक्ति के उत्कर्ष से **मनीषिभिः** मनीषियों के द्वारा **रक्तेः स्थायाः उक्ताः** 'रक्ति' के स्थाय कहे गये (हैं)।

(सर०) 'रक्ति' संबन्धी और 'भजन' संबन्धी स्थाय बहुत निकट लगते हैं क्योंकि दोनों में रक्ति या रंजकता है और रक्ति की अतिशयता यानी उत्कर्ष भी है। अन्तर यह समझा जा सकता है कि रक्ति लाने के लिये जिन स्थायों में विशेष प्रयत्न करना पड़े उन्हें भजन-संबन्धी कहा है और जिनमें विशेष प्रयत्न के बिना भी रंजकता उत्पन्न हो उन्हें रक्तिसंबन्धी। प्रयोगगत सूक्ष्म अन्तर को दृष्टि में रख कर दो भिन्न स्थाय कहे गये लगते हैं।

इसे गायक की शैली से संबद्ध किया जा सकता है।

(द्रुतसंबद्धाः)

द्रुतस्यान्वर्थनामानः,

८. द्रुत-संबन्धी

१३२ ग. (अ०) **द्रुतस्य** 'द्रुत' संबन्धी (स्थाय तो) **अन्वर्थनामानः** अर्थ के अनुसार नाम वाला (होता है)।

(सर०) द्रुत गति में स्वरों का उच्चारण होने पर 'द्रुत' संबन्धी स्थाय कहे जाते हैं। वर्तमान लक्ष्य में ख़्याल में तान में इस स्थाय का रूप देखा जा सकता है। टप्पा शैली में भी यह स्थाय व्याप्त दिखाई देता है। अतः गायन शैलियों से संबद्ध स्थाय है।

(भृतसंबद्धाः)

भृतस्य भरणाद्ध्वनेः॥ १३२॥

९. भृत-संबन्धी

१३२ घ. (अ०) ध्वनेः भरणात् ध्वनि के भरण (भराव) से भृतस्य 'भृत' संबन्धी (स्थाय होते हैं)।

(सर०) सिंह० ने कहा कि पूरण यानी घनता के साथ उच्चारण (यानी आवाज़ लगाने) से 'भृत' संबन्धी स्थाय होते हैं। संगीतज्ञों की भाषा में जिसे 'भरावदार' आवाज़ से स्वरप्रयोग कहते हैं यहाँ उसी से तात्पर्य है। इसे गायक की शैली संबन्धी स्थाय कह सकते हैं।

(अंशसंबद्धस्थायस्तद्भेदाश्च)

रागान्तरस्यावयवो रागेंऽशः स च सप्तधा।
कारणांशश्च कार्यांशः सजातीयस्य चांशकः॥ १३३॥

सदृशांशो विसदृशो मध्यमस्यांशकोऽपरः।
अंशांशश्चेति,

१०. अंश-संबन्धी स्थाय और उसके भेद

१३३-१३४ ग. (अ०) रागे राग में **रागान्तरस्य अवयवः** दूसरे राग का अवयव **अंशः** 'अंश' (कहलाता है) **सः च** और वह **कारणांशः कार्यांशः** 'कारणांश', 'कार्यांश', **सजातीयस्य अंशकः च** 'सजातीय' का अंश भी (अर्थात् 'सजातीयांश'), **सदृशांशः** 'सदृशांश', **विसदृशः** 'विसदृशांश', **अपरः मध्यमस्य अंशकः** अन्य 'मध्यम' का अंश (अर्थात् 'मध्यमांश') **अंशांशः च** और 'अंशाश' **इति** यों **सप्तधा** सात प्रकार से (होता है)।

(सर०) 'अंश' संबन्धी स्थाय के संदर्भ में किसी राग में किसी अन्य राग के अवयव को अंश कहा गया है। 'अवयव' या 'अंश' को इस स्थाय की दृष्टि से आज की संगीत की प्रचलित भाषा में राग का 'टुकड़ा' या स्वरसंचार कह सकते हैं। सिंह० ने अंश के प्रस्तुत लक्षण पर शंका उठाई कि अंश का अन्यरागकाकु से क्या भेद है ? शंका इसलिये उठी है कि अन्यरागकाकु में भी प्रकृत राग में अन्य राग की छाया कही गई है इसलिये प्रथम दृष्टि में दोनों में समानता दिखाई देती है। सिंह० ने यह कह कर इस शंका का समाधान किया कि अन्यराग की छाया तो काकु है और छाया से भिन्न कोई अवयव (विशेष) अंश होता है। संकेत यह है कि राग का कोई अवयव आकस्मिक या आनुषंगिक रूप से किसी राग में प्रयुक्त हो तो वहाँ अंश का स्थाय होता है और जब राग में किसी अन्य राग की छाया स्थायी रूप से रहे तो अन्यरागकाकु।

कल्लि० ने इस बात को और ज़्यादा स्पष्ट भाषा में कहा कि प्रकृत राग में समवाय वृत्ति से बनी रहने वाली, अत्यन्त सादृश्य के कारण, अन्य राग की जो छाया प्रतीत होती है वह अन्यरागकाकु है किन्तु अंश प्रकृत राग में (सदा) विद्यमान न रह कर सिर्फ़ शोभा बढ़ाने के लिये माँग कर लाये गये आभूषण की तरह दूसरे राग से लेकर संयोग वृत्ति से संबद्ध किया जाता है। इसका अर्थ यह है कि किसी राग में उसका अंग बन कर हमेशा विद्यमान रहने वाली रागान्तर (अन्य राग) की छाया अन्यरागकाकु है और किसी राग का कोई स्वरसंनिवेश प्रकृत राग में अंग बन कर सदा न रहे, कभी लगाया जाय तो वह 'अंश' होता है। जैसे—बसन्त में ललित का अवयव म म् ग बसन्त का अंगभूत अवयव नहीं है बल्कि उसकी शोभा को बढ़ाने वाला ऐसा अंश है जिसका कभी-कभी प्रयोग किया जाता है। इस अंश के बिना भी बसन्त का अपना स्वरूप पूरी रंजकता के साथ बना रहता है। इसलिये बसन्त में ललित का यह अवयव 'अंश' का स्थाय कहा जायगा।

कल्लि० ने इस ओर भी ध्यान दिलाया है कि स्वर विशेष के रूप में जो अंश प्रसिद्ध है उससे यहाँ तात्पर्य नहीं है। यानी राग के दस लक्षणों में सुपरिचित अंश स्वर यहाँ नहीं समझना चाहिये बल्कि किसी राग में रंजकता बढ़ाने के लिये किसी दूसरे राग का स्वरसमुदायरूप एकदेश (कोई 'टुकड़ा') जो दूसरे राग से (उधार) लेकर प्रयुक्त किया जाय उसे यहाँ अंश समझें। उसने अंश-भेदों के तत्कालीन रागों के उदाहरण भी दिये हैं लेकिन वे या तो आज लक्ष्य में नहीं हैं या उनके रूप बदल गए

हैं इसलिये उनके द्वारा अंशस्थाय के भेदों का आज प्रत्यक्ष करना संभव नहीं है। अतः जहाँ संभव होगा आज के रागों के उदाहरण दिये जायँगे।

(कारणांशः)

यो रागे कार्येऽशः कारणोद्भवः॥ १३४॥
कारणांशस्त्वसौ रामकृतौ कोलाहलांशवत्।

(१) कारणांश

१३४ ग-१३५ ख. (अ०) **कार्ये रागे** कार्य(भूत) राग में **कारण-उद्भवः** कारण भूत (राग का) **यः अंशः** जो अंश (होता है) **असौ तु** यह तो **रामकृतौ** रामकृति (राग) में **कोलाहल-अंशवत्** कोलाहल (राग) के अंश के समान **कारणांशः** 'कारणांश' (है)।

(सर०) कारणराग के अंश को 'कारणांश' कहा है। कारणराग का अर्थ है जिस राग से अन्य राग उत्पन्न हुआ हो या निकला हो और कार्यराग यानी उत्पन्न हुआ राग। तदनुसार जन्य राग में जनक राग का कोई अंश आने से वहाँ कारणांश होता है। लेकिन 'अंश' के लक्षण के अनुसार जनक राग का अंश स्थायी रूप से विद्यमान न रह कर क्वचित् प्रयुक्त होना चाहिये। उत्तर भारतीय संगीत में अंग का सूचक विशेष संचार उस अंग के सभी रागों में दिखाई देता है लेकिन उसे 'अंश' का स्थाय नहीं कह सकते क्योंकि एक तो वह राग में स्थायी रूप से रहता और बार-बार प्रयुक्त होता है तथा दूसरे, आज यह कहना संभव नहीं है कि परस्पर समवर्ती या एक अंग के रागों में कौन-सा मूल या जनक है और कौन-सा जन्य। इसलिये उपयुक्त उदाहरण देना तो संभव नहीं है लेकिन कारणांश की धारणा को समझना कठिन नहीं है।

(कार्यांशः)

कारणे कार्यरागांशः कार्यांशो भैरवे यथा॥ १३५॥
भैरव्यंशः,

(२) कार्यांश

१३५ ग-१३६ क. (अ०) **कारणे** कारण (राग) में **कार्यराग-अंशः** कार्यराग का अंश **कार्यांशः** 'कार्यांश' (होता है), **यथा** जैसे **भैरवे** भैरव में **भैरवी-अंशः** भैरवी का अंश।

(सर०) जन्य राग का अंश जनक राग में आए तो 'कार्यांश' होता है। ग्रन्थकार ने भैरव में भैरवी के अंश का उदाहरण दिया है। सं० र० में भैरवी भैरव का उपांग राग कहा गया है (२/१४१)। रागरागिणी पद्धति में भैरव को राग और भैरवी को उसकी रागिणी कहा गया है। वर्तमान संगीत में भी इन नामों के राग बहुत प्रचलित हैं लेकिन मध्ययुगीय इन्हीं रागों से बहुत भिन्न हैं और इनमें कोई जन्य-जनक संबन्ध भी नहीं कहा जा सकता। उत्तर के संगीत में आज जन्य-जनक संबन्ध निश्चित न होने से कारणांश की तरह इसका भी उदाहरण मिलना कठिन है।

(सजातीयांशः)

समां जातिं गौडत्वाद्यां समाश्रिताः।
कर्णाटाद्याः सजातीयास्तेष्वेकांशोऽपरत्र यः॥ १३६॥

सजातीयांशकः,

(३) सजातीयांश

१३६ क-१३७ क. (अ०) **कर्णाट-आद्याः** कर्णाट आदि (राग) **गौडत्व-आद्यां** गौडत्व आदि **समां जातिं** समान जाति (वाले रागों) के **समाश्रिताः** समाश्रित **सजातीयाः** सजातीय (हैं)। **तेषु** उनमें (से) **एक-अंशः** एक (का) अंश **यः अपरत्र** जो दूसरे में (आये वह) **सजातीयांशकः** 'सजातीयांश' है।

(सर०) 'गौडत्व' का अर्थ है गौड की वे विशेषताएँ जिनसे गौड का अपना स्वरूप बनता है और जो गौड के प्रकारों में रह कर उन सब प्रकारों को एक गौड वर्ग में लाती हैं। बोलचाल की भाषा में गौड़'पन' शब्द से इसे समझा जा सकता है। समां जातिं का आशय 'समान प्रकार' है। इसलिये एक ही प्रकार के रागों में से किसी का अंश उसी प्रकार के किसी दूसरे राग में जाना 'सजातीयांश' है। 'जाति' शब्द षाड्जी आदि विशेष जातियों के लिये नहीं बल्कि सामान्य जाति यानी एक ही वर्ग के रागरूपों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। सिंह० ने इस तरफ़ ध्यान दिलाया है कि सजातीय से षाड्जी आदि जातियों का भ्रम नहीं होना चाहिये।

वर्तमान लक्ष्य में मेघमल्हार में, जिसमें ध वर्जित माना जाता है, आलाप करते समय मेघ की स्थापना हो जाने के बाद उसके सजातीय यानी मल्हार अंग के ही अन्य राग मियाँमल्हार के नि् -ध नि् -ध अंश का इस प्रकार कभी-कभी प्रयोग कर लिया जाता है—सा ${}^{\text{म}}$रे ${}^{\text{म}}$रे प, म प नि् -ध नि् -ध म प और फिर तुरन्त मेघ का ${}^{\text{सां}}$नि् ${}^{\text{सां}}$नि् सां लगा कर फिर से मेघ स्थापित किया जाता है। यहाँ नि् -ध नि् -ध मेघमल्हार में मियाँमल्हार का सजातीयांश है।

(सदृशांशः)

स स्यादंशः सदृशरागयोः।
सदृशांशो यथा नट्टावराट्योः शुद्धयोर्मिथः॥ १३७॥

(४) सदृशांश

१३७ क-घ. (अ०) **सदृशरागयोः** दो सदृश रागों का (जो) **अंशः** अंश **सः** वह **सदृशांशः स्यात्** 'सदृशांश' होता है **यथा** जैसे **शुद्धयोः नट्टा-वराट्योः** शुद्ध नट्टा और शुद्ध वराटी में **मिथः** परस्पर।

(सर०) सदृश रागों से आशय परस्पर मिलते-जुलते रागों से है। सजातीय से सदृश का भेद यह है कि सजातीय एक ही वर्ग के हैं, आज की भाषा में एक ही 'अंग' के हैं, लेकिन सदृश राग एक वर्ग न होकर भी मिलते-जुलते हैं, जैसे—कामोद-श्यामकल्याण या श्यामकल्याण-शुद्धसारंग। इन जोड़ियों में स्वर एक जैसे हैं और 'चलन' में भी कुछ समानता है लेकिन गमकों और स्वरों के बर्ताव से उनमें भिन्नता बनी रहती है। कामोद में कभी पधम्प - ग म प ${}^{\text{म}}$ग ${}^{\text{ग}}$म ${}^{\text{म}}$सा रे - सा ${}^{\text{म}}$रे-पि के स्थान पर धम्प ग म-रे ${}^{\text{म}}$नि् सा—श्यामकल्याण का यह संचार सदृशांश का उदाहरण है, यद्यपि इसके तुरन्त बाद सा ${}^{\text{म}}$रे ${}^{\text{म}}$रे पि ध - प प - दिखा कर कामोद को फिर से प्रतिष्ठित करना ज़रूरी होता है।

(विसदृशांशः)

सादृश्यशून्ययोरंशोऽत्यन्तं विसदृशांशकः।
वेलावल्याश्च गुर्जर्याः परस्परगतौ यथा॥ १३८॥

(५) विसदृशांश

१३८. (अं०) **अत्यन्तं विसदृश-अंशकः** अत्यन्त विसदृश अंश वाले **सादृश्यशून्ययोः** सादृश्य से शून्य (अर्थात् परस्पर बिल्कुल भिन्न) दो (रागों) के **अंशः** अंश **यथा** जैसे **वेलावल्याः गुर्जर्याः च** वेलावली और गुर्जरी (के अंशों) का **परस्परगतौ** एक दूसरे में जाने पर (होता है, वह 'विसदृशांश' है)।

(सर०) प्रस्तुत श्लोक के **विसदृशांशकः** को दो बार अन्वित किया गया है क्योंकि **अत्यन्तं** पद विसदृश-अंश के विशेषण के रूप में तो आया है लेकिन 'विसदृशांश' नामक अंशभेद के संज्ञापद के रूप में नहीं। इसलिये अंशभेद सूचित करने के लिये दूसरी बार उसका अध्याहार करके 'काकाक्षिगोलकन्याय'* के द्वारा यह पद दो ओर अन्वित किया गया है।

उत्तर भारत के आज के प्रचार में विसदृशांश का प्रयोग प्रायः रागों में नहीं होता। लेकिन एक उदाहरण दिया जा सकता है। ललित और बसन्त विसदृश राग होते हुए भी बसन्त में म म् ग ललितांग का कभी-कभी प्रयोग किया जाता है। इसे विसदृशांश कहा जायगा। ठुमरी और 'धुन' के वादन में और कभी-कभी ठुमरीगान में भी विस्तार करते समय आधार राग से बिल्कुल भिन्न रागों के स्वरसंचारों का प्रयोग करके विचित्रता लाने का आजकल काफ़ी प्रचार हो गया है। इसे भी विसदृशांश कह सकते हैं।

आज ऐसे कई मिश्र राग गाये-बजाये जाते हैं जिनमें बिल्कुल भिन्न रागों के अंशों का मिश्रण दिखाई देता है, जैसे— भैरव बहार, बसन्त बहार। यद्यपि इन मिश्र रागों में दोनों रागों के अंश मिश्र राग का स्थायी अंग होते हैं किन्तु इनकी रचना का मूल विसदृशांश स्थाय में देखा जा सकता है।

(मध्यस्थांशः)

मध्यस्थरागौ सादृश्यवैसादृश्यविवर्जितौ।
मध्यस्थांशस्तयोरंशो नट्टादेशाख्ययोरिव॥ १३९॥

(६) मध्यस्थांशः

१३९. (अ०) **सादृश्य-वैसादृश्य-विवर्जितौ** सदृशता और विसदृशता (सादृश्य का विपरीत) से रहित **मध्यस्थरागौ** दो मध्यस्थ राग **तयोः अंशः** उन दोनों का अंश **नट्टा-देशाख्ययोः इव** नट्टा और देशाख्य की तरह **मध्यस्थांशः** 'मध्यस्थांश' (है)।

(सर०) ऐसे दो राग जो न तो सदृश हों और न विसदृश हों, उनके अंश मध्यस्थांश कहे हैं। उनका एक दूसरे में प्रयोग 'मध्यस्थांश' अंशभेद है।

इसका पूरा-पूरा सार्थक उदाहरण तो नहीं दिया जा सकता लेकिन राग सागर में कुछ समानता देखी जा सकती है। इस राग के एक रूप में यमन, हमीर, छायानट, श्यामकल्याण, दरबारी, नायकी आदि रागों के अंशों का प्रयोग होता है। इनमें से शुरू के चार राग अलग तरह के हैं जो न तो सदृश हैं और न पूरे विसदृश। इसी तरह दरबारी और नायकी दूसरी तरह के हैं लेकिन कुछ सदृश हैं।

(अंशांशः)

अंशेंऽशान्तरसंचारादंशांश इति कीर्तितः।

(७) अंशांश

१४० क-ख. (अ०) **अंशे** एक अंश में **अंशान्तरसंचारात्** दूसरे अंश के संचार से **अंशांशः** 'अंशांश' **इति कीर्तितः** इस प्रकार प्रसिद्ध हुआ (है)।

(सर०) इसका अर्थ बहुत स्पष्ट नहीं है। सिंह० के अनुसार लक्षित अंशों में किसी अन्य अंश का प्रवेश 'अंशांश' है। लक्षित का सामान्य रूप से अर्थ है 'जिनका लक्षण दिया गया'। यानी जो अंशभेद कहे गये उनमें से किसी अंश के बीच में किसी दूसरे अंश का प्रयोग होना शायद अभिप्रेत है।

---

* ऐसी मान्यता है कि दो गोलक होते हुए भी कौअे के आँख यानी देखने की शक्ति एक ओर ही होती है। लेकिन आवश्यकतानुसार वह उसे एक से दूसरे गोलक में ले जा सकता है। इस प्रकार एक होते हुए भी वह उसे दो ओर प्रयोग कर सकता है। न्यायशास्त्र में इसे 'काकाक्षिगोलक' न्याय (सिद्धान्त) कहा गया है। इसी तरह जब किसी वाक्य में किसी पद का एक बार ही प्रयोग हुआ हो लेकिन उसका दो जगह अन्वय करना जरूरी हो तो दूसरी जगह उस पद का अध्याहार करना इस 'न्याय' से सूचित होता है। प्रस्तुत कारिका में 'विसदृशांशकः' एक ही बार आया है और दूसरी बार उसका अध्याहार हुआ है।

येष्वंशो दृश्यते स्थायास्तेंऽशस्य परिकीर्तिताः ॥ १४० ॥

१४० ग-घ. (अ०) **येषु** जिन (स्थायों) में **अंशः दृश्यते** अंश दिखाई देता है **ते** वे **अंशस्य स्थायाः** 'अंश' संबन्धी स्थाय **परिकीर्तिताः** जाने गए (हैं)।

(सर०) श्लोक १३३ क-ख में 'अंश' का लक्षण देकर उसके ७ प्रकारों का निरूपण करने के बाद अन्त में 'अंश' संबन्धी स्थाय का लक्षण दिया है।

ग्रन्थकार ने 'छाया' और 'अंश'—इन दो स्थायों का जितने विस्तार से निरूपण किया है उतना और किसी स्थाय का नहीं। इनमें भी अंश के स्थायों का जितना विस्तार है वह शार्ङ्गदेव के समय की रागदारी में इनके सर्वोपरि स्थान का सूचक है क्योंकि ये राग के रूप से संबन्ध रखते हैं, जो उनके लक्षणों से ही स्पष्ट है। अन्य रागों के अंशों का किस तरह प्रयोग करके रागरूप का निर्माण किया जा सकता है इसका विश्लेषण अंश के स्थायों में है। हमारी आज की रागदारी का भी इनमें से कुछ भेदों से सीधा संबन्ध दिखाई देता है, जैसा कि उदाहरणों के द्वारा व्याख्या में दिखाया है।

(अवधानजाः)

मनसा तद्गतेनैव ये ग्राह्यास्तेऽवधानजाः।

११. अवधानज

१४१ क-ख. (अ०) **ये** जो **तत् गतेन एव** उसी में गए हुए (अर्थात् अपने में ही पूरी तरह डूबे हुए) **मनसा** मन के द्वारा **ग्राह्याः** ग्रहण होने वाले (अर्थात् गेय) (स्थाय होते हैं) **ते** वे **अवधानजाः** 'अवधान' से उत्पन्न (स्थाय कहलाते हैं)।

(सर०) **ग्राह्याः** का सिंह० ने 'गेय' अर्थ दिया है और साथ ही यह भी कहा कि चित्त की व्यग्रता (व्याकुलता) की स्थिति में जो स्थाय गाया न जा सके वह 'अवधानज' स्थाय है।

(अपस्थानसंबद्धाः)

आयासेन विना यत्र स्थाने स्यात् प्रचुरो ध्वनिः ॥ १४१ ॥

स्वस्थानं तदपस्थानं त्वायासेन तदुद्गतेः।
अपस्थानस्य ते स्थाया येऽपस्थानसमुद्भवाः ॥ १४२ ॥

१२. अपस्थान-संबन्धी

१४१ ग-१४२. (अ०) **यत्र स्थाने** जिस 'स्थान' में **आयासेन विना** प्रयत्न के बिना **प्रचुरः ध्वनिः स्यात्** प्रचुर (सबल या 'भरपूर') ध्वनि (उत्पन्न) होती है **तत्** वह **स्वस्थानं** 'स्वस्थान' (है)। **तत्** वह (सबल ध्वनि) **आयासेन** प्रयत्न के द्वारा **उद्गतेः तु** उत्पन्न होने से तो **अपस्थानम्** 'अपस्थान' (होता है)। **ये** जो **अपस्थानसमुद्भवाः** अपस्थान से उत्पन्न होने वाले (स्थाय) **ते** वे **अपस्थानस्य स्थायाः** 'अपस्थान' के स्थाय (होते हैं)।

(सर०) 'स्थान' से तात्पर्य कण्ठ के अपने आधार सा और तदनुरूप स्वरक्षेत्र (pitch range) से है। यह अनुभवसिद्ध है कि हर गायक का अपना एक आधार स्वर होता है जहाँ से गाने पर विशेष प्रयत्न के बिना भी सहज रूप से उसकी आवाज़ भरपूर लगती है, पूरी सबलता बनी रहती है। इसी को 'स्व-स्थान' (अपना स्थान) कहा है। लेकिन उसी स्थान में भी कभी कुछ ऐसे संचारों का प्रयोग हो सकता है जिनमें सबलता बनाए रखने के लिये विशेष प्रयत्न करना पड़े। वह स्वस्थान से कुछ अलग—अपस्थान सा—लगता है। सिंह० की व्याख्या के अनुसार जिस स्थान में बिना प्रयत्न के प्रचुर ध्वनि की व्याप्ति हो वह स्वस्थान होता है और जिस स्थान में आयास से प्रचुर ध्वनि की व्याप्ति हो वह अपस्थान है। इसका आशय कुछ ऐसा लगता

है कि अपनी आधार ध्वनि से अलग यानी उससे ऊँची या नीची ध्वनि को सा बना कर गाने से उस स्वरक्षेत्र में भरपूर आवाज़ की व्याप्ति के लिये विशेष प्रयत्न करना पड़ता है। उस स्थिति में वह 'अपस्थान' (अपने स्वाभाविक स्थान से अलग) सा प्रतीत होता है। अपस्थान में गाए गए 'अपस्थान' संबन्धी स्थाय होते हैं।

सं० स० सार में एक अन्य प्रसंग में (राग में अन्य राग की छाया आने का कारण देते हुए) स्वस्थान और अपस्थान की चर्चा हुई है जो ऊपर सिंह० के आधार पर की गई व्याख्या की पुष्टि करती है। वहाँ उल्लेख है कि जिस स्वर के 'स्थायी' होने पर राग चारु रहता है उसे सुख के लिये 'स्वस्थानक' (आधार स्वर) बनाया जाता है। सौख्य (प्रयोक्ता की सुविधा) के विपर्यय से 'अपस्थिति' (अपस्थान यानी उपयुक्त स्थान की विहीनता) होती है। ऐसा होने पर राग में अन्य रागों की छाया आने लगती है (३/५)।

क्षेत्रकाकु की व्याख्या में भी स्वरक्षेत्र की चर्चा की गई लेकिन दोनों में अन्तर है। वहाँ स्वरक्षेत्र के कारण रागों की प्रस्तुति पर क्षेत्र की छायामात्र झलकती है और यहाँ स्थान में स्वरक्षेत्र ध्वनि के सबलता पक्ष को प्रभावित करता है।

(निकृतेः करुणायास्तत्संबद्धाः)

निकृतेः करुणायाश्च स्थायास्त्वन्वर्थनामकाः।

१३, १४. निकृति और करुणा-संबन्धी

१४३ क-ख. (अ०) **निकृतेः करुणायाः च स्थायाः** तु 'निकृति' और 'करुणा' संबन्धी स्थाय तो **अन्वर्थनामकाः** अर्थ के अनुरूप नाम वाले (हैं)।

(सर०) इन दोनों स्थायों का ग्रन्थकार ने कोई लक्षण न देकर इन्हें अन्वर्थ कह कर छोड़ दिया है। 'निकृति' के अर्थ हैं—नीचा देखना, तिरस्कार, अपमान आदि। लेकिन स्थाय के संदर्भ में इनमें से किसी अर्थ की संगति नहीं बैठती। पार्श्व० ने इसका कुछ विस्तृत लक्षण दिया है—विविध स्थायों को लेकर बलात् संस्थापन में अन्यूनता और अनधिकता 'निकृति' है (वही, ८०)। यहाँ 'बलात् संस्थापन' का अर्थ अस्पष्ट है। सिंह० ने पार्श्व० के आधार पर कहा कि जिन स्थायों में न न्यूनता हो और न अधिकता हो वे निकृति के स्थाय होते हैं। 'अन्यूनता' और 'अनधिकता' का अर्थ कुछ यों समझा जा सकता है कि जिन स्थायों में कहीं कुछ भी कम या ज़्यादा न हो यानी जैसा चाहिये ठीक वैसा प्रयोग हो वे 'निकृति' के स्थाय होते हैं।

'करुणा' स्थाय का पार्श्व० का लक्षण यह है—करुणा राग के योग से, चिन्ता अथवा दीनता से और करुणा काकु से युक्त स्थाय 'करुण' कहलाते हैं (वही, ६७)। आशय यह है कि जिनसे करुणा उत्पन्न होती है वे 'करुणा' संबन्धी स्थाय होते हैं। चिन्ता और दीनता जैसे भावों को करुण से संबद्ध करने से यह प्रकट है कि जिनके द्वारा चित्त पिघलता हुआ सा लगे उन स्थायों की ओर संकेत है।

इसे रागरूप का स्थाय ही कहा जा सकता है क्योंकि रागविशेष में ही करुण भाव की अभिव्यक्ति हो सकती है, सभी रागों में नहीं।

विविधत्वजाः

स्थाया नानाविधां भङ्गीं भजन्तो विविधत्वजाः॥ १४३॥

१५. विविधत्वज

१४३ ग-घ. (अ०) **नानाविधाम्** अनेक प्रकार की **भङ्गीं भजन्तः** भंगिमाओं को उत्पन्न करने वाले **विविधत्वजाः** 'विविधत्वज' (विविधत्व से उत्पन्न) **स्थायाः** स्थाय (होते हैं)।

(सर०) विविध भंगी उत्पन्न करने का अर्थ बहुत स्पष्ट नहीं है। लेकिन संकेत शायद ऐसे स्थायों की तरफ़ है जिनमें एक ही स्वरसंचार को अलग-अलग तरह से बरतने से रागभाव के अलग-अलग रूप प्रकट होते हैं।

(गात्रसंबद्धाः)

गात्रस्य गात्रे नियताः,

१६. गात्र-संबन्धी

१४४ क. (अ०) गात्रे गात्र (शरीर) में नियताः नियत गात्रस्य 'गात्र' के (स्थाय होते हैं)।

(सर०) सिंह० ने इसकी व्याख्या में कहा कि गात्रविशेष में नियत यानी हर शरीर में जो भिन्न रूप में उत्पन्न होते हैं वे 'गात्र' संबन्धी स्थाय होते हैं। एक ही स्थाय को अलग-अलग गायकों के द्वारा गाये जाने पर उनके कण्ठ के अनुरूप उस संचार को बरते जाने से उसी स्थाय का स्वरूप भिन्न हो जाता है। सिंह० की उक्त व्याख्या में इसी को इंगित किया गया है। इस प्रकार एक ही राग की अलग-अलग गायकों की प्रस्तुति में रागरूप में 'अलगपन' दिखाई देने का यह भी एक कारण होता है। इस दृष्टि से यह स्थाय रागरूप से भी, किसी हद तक, संबद्ध है और गायक की शैली से भी। जैसे— तोड़ी के रे् ग् रे् सा स्थाय का सभी गायक-वादक प्रयोग करते हैं लेकिन पं० ओंकारनाथ ठाकुर की तोड़ी में इसका स्वरूप अन्य सभी गायकों से भिन्न रहता है।

लक्षणों से 'गात्र' के स्थाय और 'क्षेत्रकाकु' में समानता लगती है क्योंकि दोनों का संबन्ध गात्र या क्षेत्र (शरीर) विशेष से है। सिंह० ने दोनों का भेद इस तरह समझाया है—क्षेत्रकाकु शरीर विशेष की छायामात्र है लेकिन गात्रज में शरीरविशेष में स्थाय का स्थरूप ही भिन्न जाता है।

(उपशम संबद्धाः)

कृत्वा तीव्रतरं ध्वनिम्।
येषूपशान्तिः क्रियते भवन्त्युपशमस्य ते॥ १४४॥

१७. उपशम-संबन्धी

१४४ ख-घ. (अ०) येषु जिनमें ध्वनिं ध्वनि को तीव्रतरं कृत्वा तीव्रतर करके उपशान्तिः क्रियते शान्त किया जाता है ते वे उपशमस्य 'उपशम' संबन्धी (स्थाय) भवन्ति होते हैं।

(सर०) 'तीव्रतर' करने का अर्थ ध्वनि की सबलता बढ़ाना और 'उपशान्ति' का अर्थ सबलता कम कर देना या समाप्त कर देना है। तदनुसार जिन स्थायों में पहले सबलता को बढ़ा कर फिर ख़त्म कर दिया जाय वे 'उपशम' के स्थाय कहे जायँगे। लेकिन सिंह० ने 'तीव्रतर' का अर्थ 'अतितार' और 'उपशान्ति' का तेज़ी से मन्द्र में जाना किया है जिसके अनुसार जहाँ स्वरों को अतितार स्थान में ले जाकर तेज़ी से मन्द्र में जायँ वे उपशम के स्थाय होंगे।

(काण्डारणासंबद्धाः)

काण्डारणा प्रसिद्धैव तस्याः स्थायास्तदुद्भवाः।

१८. काण्डारणा-संबन्धी

१४५ क-ख. (अ०) काण्डारणा प्रसिद्धा एव काण्डारणा प्रसिद्ध ही है। तत् उद्भवाः उससे उत्पन्न तस्याः स्थायाः उसके ('काण्डारणा' के) स्थाय (होते हैं)।

(सर०) ग्रन्थकार ने काण्डारणा का लक्षण नहीं दिया क्योंकि वह लोक में प्रसिद्ध है। सिंह० ने बताया कि स्तम्भ (खम्भे) आदि में जो कमल आदि की आकृति उत्कीर्ण की (खोद कर बनाई) जाती है उसे लोक में काण्डारणा कहते हैं। जिन स्थायों में इसका सादृश्य दिखाई दे उन्हें 'काण्डारणा' के स्थाय समझना चाहिये। जिन स्थायों से खोद-खोद कर बनाई गई किसी विशेष आकृति की छवि मन में उभरे उनकी ओर संकेत है। लेकिन इस विवरण से इस स्थाय की कोई स्पष्ट धारणा नहीं बनती।

कल्लि० ने काण्डारणा का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ देते हुए कहा कि 'काण्ड' यानी मन्द्र, मध्य, तार स्थानों में जो पूरी तरह 'रणित' होता है यानी गूँजता है। उसने काण्डारणा की इस अर्थ में प्रसिद्धि बताई है। इससे यह ध्वनित होता है कि तीनों स्थानों में जिन स्वर प्रयोगों में गूँज बनी रहे वे काण्डारणा संबन्धी स्थाय होंगे।

दोनों टीकाकारों की इस स्थाय की व्याख्या बिल्कुल भिन्न है।

(निर्जवनसंबद्धाः)

सरलः कोमलो रक्तः क्रमान्नीतोऽतिसूक्ष्मताम्॥ १४५॥
स्वरः स्याद्येषु ते स्थायाः प्रोक्ता निर्जवनान्विताः।

१९. निर्जवन-संबन्धी

१४५ ग-१४६ ख. (अ०) **येषु** जिनमें **स्वरः** स्वर **सरलः कोमलः रक्तः** सरल, कोमल, रंजक (और) **क्रमात्** क्रमशः (धीरे-धीरे) **अतिसूक्ष्मतां नीतः** अतिसूक्ष्मता को ले जाया गया **स्यात्** होता है (अर्थात् ले जाया जाता है) **ते** वे **निर्जवन-अन्विताः स्थायाः** 'निर्जवन' से अन्वित स्थाय **प्रोक्ताः** कहे गए (हैं)।

(सर०) 'अतिसूक्ष्मता' का अर्थ है स्वर का मन्द होना। इसलिये सरल (अवक्र), कोमल और रंजकता से प्रयुक्त स्वर जिनमें क्रमशः मन्द होता जाय वे 'निर्जवन' के स्थाय कहे जायँगे। इसकी उपशम के स्थाय से कुछ समानता है क्योंकि दोनों में सबलता अथवा तीव्रता (intensity या loudness) कम करनी है। लेकिन उपशम में पहले बढ़ा कर फिर मन्द करनी अपेक्षित है जब कि निर्जवन में सरलता, कोमलता और रंजकता के साथ प्रयुक्त हो रहे स्वरों की सबलता अथवा तीव्रता कम करनी है।

सामान्य रूप से इसे तीसरे वर्ग में रख सकते हैं लेकिन गायक की शैली से भी संबद्ध हो सकता है।

सं० स० सार के 'निजवण' नामक स्थाय से 'निर्जवन' का नामसाम्य लगता है लेकिन लक्षण विल्कुल भिन्न है—वहाँ जितश्वासता के साथ गाने से 'निजवण' होता है यानी श्वास पर नियंत्रण के साथ गाया हुआ (३/८८)।

(गाढः)

गाढः शैथिल्यनिर्मुक्तः,

२०. गाढ़

१४६ ग. (अ०) **गाढः** 'गाढ़' (स्थाय) **शैथिल्यनिर्मुक्तः** शिथिलता से रहित (है)।

(सर०) शिथिलता से रहित यानी जहाँ स्वरों में ढीलापन न हो बल्कि 'कसाव' हो।

इस स्थाय को शैली से संबद्ध कर सकते हैं।

(ललितगाढः)

स एव मृदुतान्वितः॥ १४६॥
भवेल्ललितगाढस्तु,

२१. ललितगाढ़

१४६ घ-१४७ क. (अ०) **ललितगाढः तु** 'ललितगाढ़' तो **सः एव** वही (गाढ़ ही) **मृदुता-अन्वितः** कोमलता से अन्वित (होने पर) **भवेत्** होता है।

(ललितः)

ललितस्तु विलासवान्।

२२. ललित

१४७ ख. (अ०) **ललितः तु** 'ललित' तो **विलासवान्** विलासयुक्त (होता है)।

(सर०) जहाँ स्वर प्रयोग में चातुर्य हो अथवा लालित्यपूर्ण गति हो वे 'ललित' स्थाय होते हैं। इसे गायक की शैली संबन्धी स्थाय कह सकते हैं।

(लुलितः)

मार्दवाघूर्णितः प्रोक्तो लुलितः,

२३. लुलित

१४७ ग. (अ०) **मार्दव-आघूर्णितः** कोमलता से घुमाया हुआ **लुलितः प्रोक्तः** 'लुलित' कहा गया (है)।

(सर०) सिंह० के अनुसार आघूर्णितः यानी झूले की तरह घूमता हुआ। तात्पर्य यह है कि कोमलता के साथ स्वरों को झुलाते हुए प्रयोग होने पर 'लुलित' स्थाय होता है। उड़ीसी संगीत पद्धति में स्वरों को झुलाते हुए प्रचुर मात्रा में प्रयोग होता है, उसमें इस स्थाय का अनुभव किया जा सकता है।

यह स्थाय प्रदेश विशेष या गायक की शैली का कहा जा सकता है। ठुमरी-दादरा, विशेष रूप से पुरानी दादरा शैली से भी संबद्ध किया जा सकता है।

(समः)

स्यात् समः पुनः॥ १४७॥
हीनो वेगविलम्बाभ्यां,

२४. सम

१४७ घ-१४८ क. (अ०) **पुनः** फिर **समः** 'सम' **वेग-विलम्बाभ्यां हीनः स्यात्** द्रुत और विलम्बित (गति) से रहित होता है।

(सर०) जिन स्थायों में स्वर न तो द्रुत गति में लगाए जायँ और न विलम्बित में अर्थात् मध्य गति में रहें वे 'सम' स्थाय होते हैं।

(कोमलः)

यथार्थः कोमलो मतः।

२५. कोमल

१४८ ख. (अ०) **कोमलः** 'कोमल' **यथार्थः** जैसा अर्थ (है) वैसा **मतः** माना गया (है)।

(सर०) गायक और गायन—दोनों शैलियों से यह संबद्ध हो सकता है।

(प्रसृतः)

प्रसृतः प्रसरोपेतः,

२६. प्रसृत

१४८ ग. (अ०) प्रसर-उपेतः विस्तार से युक्त **प्रसृतः** 'प्रसृत' (होता है)।

(सर०) 'प्रसर' का अर्थ है फैलाव। इसलिये जिन स्थायों में फैलाव हो अर्थात् लम्बा संचार हो वे 'प्रसृत' कहे जायँगे।

(स्निग्धः)

स्निग्धो रूक्षत्ववर्जितः ॥ १४८ ॥

२७. स्निग्ध

१४८ घ. (अ०) स्निग्धः 'स्निग्ध' **रूक्षत्ववर्जितः** रूखेपन से रहित होता है।

(सर०) स्निग्ध रूक्ष का विपरीत होता है। यहाँ लक्षण इसी रूप में दिया है जिसका अर्थ है जिसमें रूखापन न हो यानी चिकनापना हो।

(चोक्षः)

उज्ज्वलो गदितश्चोक्षः,

२८. चोक्ष

१४९ क. (अ०) चोक्षः चोक्ष **उज्ज्वलः गदितः** उज्ज्वल (अर्थात् दीप्ति वाला) कहा गया है।

(सर०) दीप्ति, कान्ति, छवि, उज्ज्वल के अर्थ बहुत मिलते-जुलते हैं। 'छवि' का स्थाय पहले आ चुका है जिसका लक्षण है कोमल कान्ति से युक्त। कण्ठ के गुणों में भी छवि एक गुण के रूप में आया है जिसका लक्षण यह है—किसी गेय के विकाररहित कण्ठ से उत्पन्न होने के कारण उसमें जो उज्ज्वलता की अनुभूति होती है ध्वनि का वह गुण 'छवि' होता है। 'चोक्ष' स्थाय में भी उज्ज्वलता है। उज्ज्वलता का अर्थ सिंह० ने 'दीप्तिमान्' दिया है। कोश के अनुसार कान्ति ही जब अति विस्तीर्ण होती है तो दीप्ति कहलाती है। छवि के स्थाय में कान्ति और चोक्ष स्थाय में दीप्ति है। दोनों शब्दों में जो सूक्ष्म अर्थभेद है उसके आधार पर दोनों में यह अन्तर किया जा सकता है कि कान्तियुक्त होने पर छवि और अत्यधिक कान्ति (दीप्ति) होने पर 'चोक्ष' स्थाय होता है।

इसे गायक की शैली का स्थाय कह सकते हैं।

(उचितः)

उचितस्तु यथार्थकः।

२९. उचित

१४९ ख. (अ०) उचितः तु 'उचित' तो **यथार्थकः** यथार्थ (शब्दार्थ के अनुसार) है।

(सर०) वाग्गेयकार के गुणों में भी 'उचितज्ञता' आ चुका है। उचित का अर्थ है उपयुक्त। 'औचित्य' को कलामात्र के लिये अनिवार्य माना गया है और औचित्य के भंग को रस (कला से होने वाली आनन्दानुभूति) के भंग का मुख्य कारण कहा गया है—*अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्* (ध्वन्या०, तृतीय उद्योत, कारिका १३ के बाद पृ० ३६२)। किसी कलाकृति की संरचना में उस कला से संबन्धित सिद्धान्तों या तत्त्वों के उचित अनुपात का बोध जो कलाकृति में दिखाई देता है वह 'औचित्य' है।

तदनुसार 'उचित' स्थाय उसे कहा जायगा जिसमें स्थाय के हर पक्ष में उचित अनुपात हो यानी जहाँ, जो, जैसा और जितना चाहिये उसके अनुरूप हो।

(सुदेशिकः)

सुदेशिको विदग्धानां वल्लभः,

३०. सुदेशिक

१४९ ग. (अ०) **विदग्धानां** मर्मज्ञों को **वल्लभः** प्रिय **सुदेशिकः** 'सुदेशिक' (है)।

(सर०) कुछ संचारों में कुछ बारीकियाँ या ऐसे सूक्ष्म प्रयोग होते हैं जिनका आनन्द मर्मज्ञ श्रोता ही ले सकते हैं, सामान्य श्रोता नहीं। ऐसे स्थायों को 'सुदेशिक' कहा है। इसे गायक की शैली का स्थाय कह सकते हैं।

(अपेक्षितः)

अपेक्षितस्तु सः॥ १४९॥

स्थायः स्थायेन पूर्वेण पूर्त्यर्थं योऽभिकाङ्क्षितः।

३१. अपेक्षित

१४९ घ-१५० ख. (अ०) **अपेक्षितः तु** 'अपेक्षित' तो **सः स्थायः** वह स्थाय (है) **यः** जो **पूर्वेण स्थायेन** पूर्व (पिछले) स्थाय के द्वारा (अर्थात् पूर्व स्थाय की) **पूर्ति-अर्थं** पूर्ति के लिये **अभिकाङ्क्षितः** इच्छित (हो)।

(सर०) रागों में कुछ ऐसे संचार प्रयुक्त होते हैं जिनमें अधूरापन लगता है और पूर्णता लाने के लिये किसी अन्य संचार की अपेक्षा रहती है। जिस संचार के द्वारा पूर्णता आती है उसे 'अपेक्षित' स्थाय समझना चाहिये। जैसे—भीमपलासी में ग् म प $^{\text{सा॑}}$नि् अधूरा है, उसमें पूर्णता लाने के लिये प $^{\text{सा॑}}$नि् सा॑ - या ^{प}ध-प -म धप ग् - की ज़रूरत है इसलिये ये दोनों 'अपेक्षित' स्थाय कहे जायँगे।

(घोषजः)

वलौ वहे वहन्यां च यः स्निग्धमधुरो महान्॥ १५०॥
मन्द्रे ध्वनिः स घोषः स्यात्तद्युक्ता घोषजा मताः।

३२. घोषज

१५० ग-१५१ ख. (अ०) **वलौ वहे वहन्यां च** 'वलि', 'वह' और 'वहनी' में **मन्द्रे** मन्द्र स्थान में **यः** जो **स्निग्ध-मधुरः महान् ध्वनिः** स्निग्ध, मधुर और महान् (भरपूर/समृद्ध, भरावदार) ध्वनि (होती है) **सः** वह **घोषः स्यात्** घोष होता है। **तत्-युक्ताः** उस (घोष) से युक्त **घोषजाः मताः** 'घोषज' (घोष से उत्पन्न स्थाय) माने गये (हैं)।

(सर०) गमकों में वलि कही जा चुकी है जिसमें वक्रतासहित वेगपूर्वक स्वरों का कम्प होता है। 'वह' अप्रसिद्ध स्थायों में कहा जाने वाला है। उसमें भी स्वरों का कम्प है। 'वहनी' पहले कही जा चुकी है और वह भी कम्प संबन्धी है। इस प्रकार इन तीनों में मुख्य लक्षण स्वर का कम्प है। इनका मन्द्र स्थान में प्रयोग करने पर कम्पयुक्त होते हुए ध्वनि स्निग्ध, मधुर और भरपूर भरावदार हो तो वह ध्वनि 'घोष' और उससे युक्त स्थाय 'घोषज' कहे जायँगे।

इसे गायक और गायन—दोनों शैलियों का स्थाय कह सकते हैं।

(स्वरसंबद्धाः)

गम्भीरमधुरध्वाना मन्द्रे ये स्युः स्वरस्य ते॥ १५१॥

३३. स्वर-संबन्धी

१५१ ग-घ. (अ०) **ये** जो **मन्द्रे** मन्द्र में **गम्भीर-मधुर-ध्वानाः** गंभीर और मधुर ध्वनि वाले (होते हैं) **ते** वे **स्वरस्य स्युः** 'स्वर' के (स्थाय) होते हैं।

(सर०) 'घोष' और 'स्वर'—दोनों के स्थायों में गम्भीर, मधुर ध्वनि है लेकिन 'घोष' में कम्पयुक्त स्वर होते है जब कि स्वर संबन्धी स्थाय में कम्प नहीं है।

'स्वर' शब्द का यहाँ बहुत सीमित और विशेष अर्थ में प्रयोग हुआ है।

यह गायक की शैली से संबद्ध स्थाय कहा जा सकता है।

(अप्रसिद्धासंकीर्णलक्षणस्थायाः)

(वहसंबद्धाः)

वहन्त इव कम्पन्ते स्वरा येषु वहस्य ते।

(इ) अप्रसिद्ध असंकीर्ण लक्षण वाले स्थाय

१. वह-संबन्धी

१५२ क-ख. (अ०) **येषु** जिनमें **स्वराः** स्वर **वहन्तः इव** (भार) वहन करते हुए के समान **कम्पन्ते** काँपते हैं **ते** वे **वहस्य** 'वह' के (स्थाय होते हैं)।

(सर०) बहुत भार उठा कर चलता हुआ व्यक्ति जैसे काँपता है उसी तरह जब स्वर कम्पित हों तो वे 'वह' संबन्धी स्थाय कहे जाते हैं। सबलता अथवा तीव्रता बहुत होने से जिस तरह के कम्पन होते हैं यहाँ उनसे आशय प्रतीत होता है।

(अक्षराडम्बरसंबद्धाः)

अक्षराडम्बरो येषु मुख्यस्ते स्युस्तदन्विताः॥ १५२॥

२. अक्षराडम्बर-संबन्धी

१५२ ग-घ. (अ०) **येषु** जिनमें **अक्षर-आडम्बरः मुख्यः** अक्षरों का आडम्बर (प्रदर्शन/प्रयोग) मुख्य (बहुत, हो) **ते** वे **तत्-अन्विताः स्युः** उससे (अक्षराडम्बर से) युक्त होते हैं।

(सर०) जिन स्थायों में अक्षरों का बहुत प्रयोग हो उन्हें 'अक्षराडम्बर' के स्थाय समझना चाहिये। अक्षर दो तरह के हो सकते हैं—एक तो स, रि, ग आदि स्वराक्षर और दूसरे गेय पद रचना के अक्षर। 'बहुत' होने से यह संकेतित है कि स्वराक्षरों का कर्षण न हो बल्कि लगातार एक के बाद दूसरा, जैसे—सरिगरिगरिगमगरिपमगरिगरिसा—इस तरह हो स - - रि ग - - रि ग रि - - ग म - - इस तरह नहीं। गीत यानी गेय पद में ह्रस्व अक्षरों की योजना होने से ऐसी प्रतीति होती है कि अक्षर बहुत हैं। जैसे—बहार की एक परम्परागत बन्दिश 'सकल बन गगन पवन चलत पुरवाई' के इस अंश को सुनने से ऐसी अनुभूति होती है कि अक्षर बहुत हैं।

(उल्लासितः)

वेगेन प्रेरितैरूर्ध्वं स्वैरुल्लासितो मतः।

३. उल्लासित

१५३ क-ख. (अ०) **वेगेन** वेगपूर्वक (द्रुत गति में) **ऊर्ध्वम्** ऊपर की ओर (आरोही में) **प्रेरितैः स्वरैः** ले जाए गए स्वरों के द्वारा **उल्लासितः मतः** 'उल्लासित' (स्थाय) माना गया है।

(सर०) उल्लासित एक गमक भी है। अन्तर यह है कि ऊपर जाते हुए स्वरों में कम्प होने से 'उल्लासित' गमक होती है और कम्प के बिना ही द्रुत लय में आरोही गति में स्वरों का गुच्छ बने तो वहाँ 'उल्लासित' स्थाय कहा जायगा। कई गमकों के लक्षणों में ग्रन्थकार ने कम्प का उल्लेख नहीं किया है, 'उल्लासित' गमक में भी नहीं, क्योंकि शुरू में ही गमक का लक्षण 'स्वर का कम्प' कहा जा चुका है। सिंह० ने कहा ही है कि सामान्य लक्षण का अनुवर्तन करना ही चाहिये क्योंकि सामान्य का अनुवर्तन करके ही विशेष लक्षण होता है (३/९० की सिंह० की व्याख्या)। दूसरा अन्तर यह भी दिखाई देता है कि उल्लासित स्थाय में द्रुत गति विशेष लक्षण है। आरोही की द्रुत तान में 'उल्लासित' का रूप देखा जा सकता है।

(तरङ्गितः)

यत्र गङ्गातरङ्गन्ति स्वराः स स्यात्तरङ्गितः ॥ १५३ ॥

४. तरंगित

१५३ ग-घ. (अ०) **यत्र** जहाँ **स्वराः** स्वर **गङ्गातरङ्गन्ति** गंगा की तरंगों की तरह तरंगित होते (घूमते ऊपर-नीचे उठते-गिरते) हैं **सः** वह **तरङ्गितः स्यात्** 'तरंगित' (स्थाय) होता है।

(सर०) इस स्थाय के लक्षण में स्थाय के प्रभाव की बात है, लेकिन स्थाय का रूप स्पष्ट नहीं होता।

(सलम्बितोऽथवा प्रलम्बितः)

परितोऽर्धभृते कुम्भे जलं डोलायते यथा।
गीते तथाविधः स्थायः प्रोक्तस्तज्ज्ञैः सलम्बितः ॥ १५४ ॥

५. सलंबित अथवा प्रलंबित

१५४. (अ०) **यथा** जैसे **अर्धभृते कुम्भे परितः** आधे तक भरे हुए घड़े में **जलं डोलायते** पानी डोलता (हिलता) है **गीते** गेय में **तथाविधः स्थायः** उस तरह का स्थाय **तत्-ज्ञैः** उसके ज्ञाताओं के द्वारा **सलम्बितः प्रोक्तः** 'सलम्बित' कहा गया (है)।

(सर०) 'पानी डोलने' का आशय है आधे भरे घड़े में पानी के हिलने से जैसी ध्वनि होती है उसी तरह की ध्वनि किसी स्थाय में हो तो उसे 'सलम्बित' कहा जायगा। सिंह० ने उल्लेख किया है कि कहीं-कहीं सलम्बित के बजाय 'प्रलम्बित' पाठ भी है।

(अवस्खलितः)

अवस्खलति यो मन्द्रादवरोहेण वेगतः।
सोऽवस्खलित इत्युक्तः,

६. अवस्खलित

१५५ क-ग. (अ०) **यः** जो **वेगतः**/वेगपूर्वक **अवरोहेण** अवरोह के द्वारा (अर्थात् अवरोह करके) **मन्द्रात्** मन्द्र से **अवस्खलति** गिरता है (अर्थात् मन्द्र से दूर हो जाता है) **सः** वह **अवस्खलितः** 'अवस्खलित' **इति उक्तः** ऐसा कहा गया (है)।

(सर०) लक्षण बहुत स्पष्ट नहीं है। सिंह० ने कहा 'जो अवरोह करके शीघ्र मन्द्र का परित्याग करता है'। इससे ऐसा लगता है कि संभवतः तेज़ी से मन्द्र में जाकर फिर तुरन्त मध्य में स्वरप्रयोग अभिप्रेत है।

(त्रोटितः)

त्रोटितस्तु स्वरे क्वचित्॥ १५५॥
चिरं स्थित्वाग्निवत्तारं स्पृष्ट्वा प्रत्यागतो भवेत्।

७. त्रोटित

१५५ घ-१५६ ख. (अ०) **त्रोटितः तु** 'त्रोटित' तो **क्वचित् स्वरे** किसी स्वर पर **चिरं स्थित्वा** देर तक रुक कर **अग्निवत्** आग की तरह **तारं स्पृष्ट्वा** तार (स्वर) को छूकर **प्रति-आगतः** वापस लौटा हुआ **भवेत्** होता है।

(सर०) आग को ज़्यादा देर तक छुए नहीं रख सकते उसे छूते ही हाथ तुरन्त वापस लौट जाता है, इसी का सादृश्य स्वरों में दिखाया है। तदनुसार पहले किसी स्वर का लम्बा उच्चारण करके फिर उसके तार स्वर को ज़रा सा छूकर वापस मूल स्वर पर लौट आने से 'त्रोटित' स्थाय कहलाता है। जैसे— ग---र्ग ग --।

(सम्प्रविष्टः)

घनस्वरोऽवरोहे स्यात् सम्प्रविष्टः,

८. संप्रविष्ट

१५६ ग-घ. (अ०) **अवरोहे** अवरोह में **घनस्वरः** घन स्वर वाला **संप्रविष्टः स्यात्** 'संप्रविष्ट' (स्थाय) होता है।

(सर०) सिंह० ने 'घन' का अर्थ निबिड किया है। स्वरों के बहुत पास-पास आ जाने से घनेपन की अनुभूति होती है इसलिये ऐसे स्वरसंचार जिनमें स्वरों का लम्बा उच्चारण न करके स्वरों को पास-पास गुँथ कर लगाया जाय उन्हें 'संप्रविष्ट' स्थाय कह सकते हैं। जैसे—पपप ममम गगग रेरेरे सा। लेकिन 'घनस्वर' से ऐसा लगता है कि जिन स्थायों में अवरोह में घन आवाज़ में स्वर लगें वे संप्रविष्ट स्थाय होते हैं।

इसे गायक की शैली का स्थाय कह सकते हैं।

(उत्प्रविष्टः)

तथाविधः॥ १५६॥
आरोहिण्युत्प्रविष्टः स्यात्,

९. उत्प्रविष्ट

१५६ घ-१५७ क. (अ०) **आरोहिणि** आरोही में **तथाविधः** उसी तरह का (प्रयोग) **उत्प्रविष्टः स्यात्** 'उत्प्रविष्ट' होता है।

(सर०) 'संप्रविष्ट' में स्वरों का जैसा घन प्रयोग अवरोह में होता है वैसा ही आरोह में होने पर 'उत्प्रविष्ट' स्थाय होगा। जैसे—गगग ममम पपप धधध।

इसे भी गायक की शैली का स्थाय समझ सकते हैं।

(निसृतभ्रामितदीर्घकम्पिताः)

अन्वर्थाः स्युः परे त्रयः।

१०, ११, १२. निसृत, भ्रामित, दीर्घकम्पित

१५७ ख. (अ०) **परे त्रयः** अगले तीन ('निःसरण', 'भ्रामित', 'दीर्घकम्पित') **अन्वर्थाः स्युः** अन्वर्थ होते हैं।

(सर०) ग्रन्थकार ने इनके लक्षण नहीं दिये हैं। इन्हें इस तरह समझा जा सकता है। 'निःसरण' का अर्थ है बाहर निकल पड़ना, जैसे किसी बर्तन से पानी बाहर निकल कर बह जाय। उदाहरण के लिये सा -- ग् म ध् नि् सां गं् -- । ऐसे स्थाय निःसरण के अर्थात् 'निःसृत' कहे जा सकते हैं। सं० स० सार में इससे मिलता-जुलता स्थाय है 'निस्सरड'। लक्षण यह है— जहाँ अत्यन्त मसृण स्वर परम तार तक जाकर फिसलता हुआ मन्द्र में पतित हो जाय।

'भ्रामित' का अर्थ है घुमाया हुआ। डोलर झूले की गति में घुमाना इससे प्रकट होता है। इसी तरह स्वरों का प्रयोग हो तो 'भ्रामित' कहा जा सकता है। जैसे—मध्नि्ध् मध्नि्ध् मध्नि्ध् मम।

'दीर्घकम्पित' यानी जिसमें बड़े या लम्बे कम्पन हों। गमकों के अन्तर्गत आन्दोलित और प्लावित गमकों में भी बड़े कम्प हैं। दोनों में अन्तर स्वरविशेष के कम्प और कम्पित स्वरसमूह का है। 'वहनी' स्थाय भी कम्पयुक्त है और उसके 'स्थिरा' भेद में विलम्बित कम्प होते हैं इसलिये उसका 'दीर्घकम्पित' स्थाय से कुछ साम्य दिखाई देता है। दोनों में कोई स्पष्ट अन्तर समझ में नहीं आता। अगर 'वहनी' को आरोही, अवरोही और संचारी वर्णों के कम्प समझें तो 'दीर्घकम्पित' में स्थायी वर्ण में विलम्बित कम्प समझ सकते हैं। लेकिन आगे 'स्थिर' नामक स्थाय में भी स्थायी वर्ण में कम्प कहा है। संभवतः 'स्थिर' में बहुत लम्बे कम्प अपेक्षित नहीं हैं जो 'दीर्घकम्पित' के नाम में ही अन्वित हैं।

(प्रतिग्राह्योल्लासितः)

प्रतिग्राह्योल्लासितः स्यादसौ यः प्रतिगृह्यते॥ १५७॥
उत्क्षिप्योत्क्षिप्य निपतन् केलिकन्दुकसुन्दरः।

१३. प्रतिग्राह्योल्लासित

१५७ ग-१५८ ख. (अ०) **असौ** यह **प्रतिग्राह्योल्लासितः स्यात्** 'प्रतिग्राह्योल्लासित' होता है **यः** जो **केलि-कन्दुक-सुन्दरः निपतन्** खेल में गिरती हुई सुन्दर गेंद (की तरह स्वरों को) **उत्क्षिप्य-उत्क्षिप्य** उछाल-उछाल कर **प्रतिगृह्यते** प्रतिग्रहण करता (फिर-फिर पकड़ लेता) है।

(सर०) गेंद के खेल में नीचे आती हुई गेंद को जैसे बार-बार उछाल कर फिर से पकड़ लिया जाता है उसी तरह अगर स्वरों को ऊपर की ओर उछाल कर फिर मूल स्वर पर आ जायँ तो यह स्थाय होगा, जैसे-साम-म मसा-सा, रेप-प परे-रे।

(अलम्बविलम्बकः)

द्रुतपूर्वो विलम्बान्तः स्यादलम्बविलम्बकः॥ १५८॥

१४. अलम्बविलम्बक

१५८ ग-घ. (अ०) **द्रुतपूर्वः** पहले द्रुत (फिर) **विलम्ब-अन्तः** विलंबित से अन्त होने वाला **अलम्बविलम्बकः स्यात्** 'अलम्बविलम्बक' होता है।

(सर०) द्रुत, मध्य और विलम्बित प्राचीन और मध्यकालीन पद्धति में सापेक्ष्य हैं। द्रुत की दुगनी विश्रान्ति (दो क्रियाओं के बीच लगने वाला समय) होने पर मध्य और मध्य से दुगनी विश्रान्ति हो तो विलम्बित लय कहलाती है। इस प्रकार द्रुत की चौगुनी विश्रान्ति से विलम्बित होती है। यहाँ द्रुत और विलम्बित ठीक उसी क्रम में हैं या नहीं यह कहना संभव नहीं है। तारता के संदर्भ में मन्द्र, मध्य, तार स्थान भी क्रमशः दुगने-दुगने ऊँचे होते हैं लेकिन मन्द्र-तार के जोड़े का प्रयोग कई बार इससे व्यापक अर्थ में भी होता है। मन्द्र-मध्य और मध्य-तार को भी मन्द्र-तार कहा जाता है। तब पहला-पहला निचले स्थान

का और दूसरा-दूसरा ऊपर के स्थान का सूचक होता है। इसी तरह प्रस्तुत स्थाय में भी यह लगता है कि द्रुत पहली गति का और दूसरा उसकी दुगनी या चौगुनी विश्रान्ति वाली लय का सूचक है। 'अलम्ब' का अर्थ है जो विलम्बित न हो फिर वह द्रुत या मध्य कोई भी हो सकती है। तदनुसार किसी स्थाय में पहले द्रुत या मध्य और फिर विलम्बित अथवा पहले द्रुत और फिर मध्य लय में प्रयोग हो तो वह 'अलम्बविलम्बक' कहा जा सकता है।

यहाँ यह समझ लेना भी ज़रूरी है कि द्रुत-मध्य-विलम्बित आज की ठाह-दुगुन -चौगुन नहीं होती बल्कि इसके विपरीत क्रम से चौगुन-दुगुन-ठाह कही जा सकती है। इस पक्ष पर ज़्यादा प्रकाश प्रस्तुत ग्रन्थ के तीसरे खण्ड में पाँचवें तालाध्याय में डाला जायगा।

(त्रोटितप्रतीष्टः)

स्यात् त्रोटितप्रतीष्टोऽसौ यत्र स्यात्तारमन्द्रयोः।
प्रथमं त्रोटयित्वैकमपरस्य प्रतिग्रहः॥ १५९॥

१५. त्रोटितप्रतीष्ट

१५९. (अ०) **असौ** यह **त्रोटितप्रतीष्टः स्यात्** 'त्रोटितप्रतीष्ट' होता है **यत्र** जहाँ **प्रथमं** पहले **तारमन्द्रयोः** तार, मन्द्र में से **एकम्** एक (स्वर) पर **त्रोटयित्वा** तोड़ कर **अपरस्य** दूसरे का **प्रतिग्रहः स्यात्** प्रतिग्रहण होता है।

(सर०) तार-मन्द्र को यहाँ ऊपर और नीचे वाले स्वर के सामान्य अर्थ में समझना चाहिये, पारिभाषिक अर्थ में नहीं।

इसमें से किसी एक में किसी स्वर पर संचार को तोड़ कर दूसरे स्थान में उसी स्वर का ग्रहण करने से 'त्रोटितप्रतीष्ट' समझना चाहिये; जैसे—निसा̍ग̍ ग या सागमप प॒।

(प्रसृताकुञ्चितः)

प्रसृताकुञ्चितः स्थायः प्रसार्याकुञ्चितध्वनिः।

१६. प्रसृताकुंचित

१६० क-ख. (अ०) **प्रसार्य-आकुञ्चित-ध्वनिः** (पहले) फैला कर (अर्थात् तीव्रता बढ़ा कर, फिर) सिकोड़ी हुई (अर्थात् तीव्रता घटाई हुई) ध्वनि वाला (अर्थात् स्वरों वाला) **प्रसृत-आकुञ्चितः स्थायः** 'प्रसृताकुञ्चित' स्थाय (होता है)।

(सर०) जहाँ पहले सबलता बढ़ा कर फिर कम कर दी जाय वहाँ 'प्रसृताकुंचित' स्थाय समझना चाहिये।

(स्थिरः)

स्थायिवर्णस्थितिः कम्पः स्थिर इत्यभिधीयते॥ १६०॥

१७. स्थिर

१६० ग-घ. (अ०) **स्थायिवर्णस्थितिः** स्थायी वर्ण (में) स्थित **कम्पः** कम्प वाला (स्थाय) **स्थिरः इति** 'स्थिर'—इस प्रकार (अर्थात् इस नाम से) **अभिधीयते** कहा जाता है।

(सर०) स्थायी वर्ण यानी एक ही स्वर का बार-बार प्रयोग, ऐसे स्वरों पर कम्प हो तो 'स्थिर' स्थाय होता है।

ध्रुपद शैली में इसका रूप देखा जा सकता है।

(स्थायुकः)

एकैकस्मिन् स्वरे स्थित्वा स्थित्वा वाथ द्वयोर्द्वयोः।
त्रिषु त्रिष्वथवा स्थायो रचितः स्थायुको मतः॥ १६१॥

१८. स्थायुक

१६१. (अ०) **एक-एकस्मिन् स्वरे** एक-एक स्वर पर **अथ वा** या **द्वयोः द्वयोः** दो-दो पर अथवा या **त्रिषु त्रिषु** तीन-तीन (स्वरों) पर **स्थित्वा स्थित्वा** रुक-रुक कर **रचितः स्थायः** रचित स्थाय **स्थायुकः मतः** 'स्थायुक' माना गया (है)।

(सर०) एक-एक स्वर पर रुक कर, जैसे-नि̲--सा रे म् प, दो-दो पर रुक कर, जैसे-नि̲--सा--रे म् प, तीन-तीन पर रुक कर, जैसे-नि--सा--रे--म्प—इस तरह के संचार 'स्थायुक' स्थाय के अन्तर्गत आयँगे।

(क्षिप्तः)

ऊर्ध्वं प्रसारितः क्षिप्तः,

१९. क्षिप्त

१६२ क. (अ०) **ऊर्ध्वं प्रसारितः** ऊपर की ओर ले जाया गया **क्षिप्तः** 'क्षिप्त' (स्थाय है)।

(सर०) 'क्षिप्त' का अर्थ हैं फेंका हुआ। शायद आज प्रयुक्त 'सुरों की फेंक' से तात्पर्य है। तदनुसार जिन स्थायों में ऊपर की ओर 'फेंक' हो वे 'क्षिप्त' कहलायेंगे।

(सूक्ष्मान्तः)

सूक्ष्मान्तोऽन्तेऽल्पतां गतः।

२०. सूक्ष्मान्त

१६२ ख. (अ०) **अन्ते** अन्त में **अल्पतां गतः** अल्पता को गया हुआ (अर्थात् क्रमशः मन्द होता हुआ) **सूक्ष्मान्तः** 'सूक्ष्मान्त' (होता है)।

(सर०) प्रसृताकुंचित स्थाय में भी ध्वनि क्रमशः मन्द होती है। लेकिन उसमें पहले तीव्रता बढ़ाई जाती है फिर क्रमशः कम की जाती है, 'सूक्ष्मान्त' में बढ़ाने की बात नहीं है इसलिये सामान्य तीव्रता से शुरू करके धीरे-धीरे घटाई जाती है।

(अप्रसिद्धसंकीर्णलक्षणस्थायाः)

(प्रकृतिस्थशब्दसंबद्धाः)

शब्दः प्रकाशते येषु धृतिभृत्यादिवर्जितः॥ १६२॥
स्वभावादेव शब्दस्य प्रकृतिस्थस्य ते मताः।

(ई) अप्रसिद्ध संकीर्ण लक्षण वाले स्थाय

१. प्रकृतिस्थ-शब्द-संबन्धी

१६२ ग-१६३ ख. (अ०) **येषु** जिनमें **धृति-भृति-आदिवर्जितः** धृति (स्थिरता, स्थापित रहना), भृति (धारण, संपालन) आदि के बिना **स्वभावात् एव** स्वाभाविक रूप से ही **शब्दः** ध्वनि **प्रकाशते** प्रकाशित होती है **ते** वे **प्रकृतिस्थस्य शब्दस्य** 'प्रकृतिस्थ शब्द' के (स्थाय) **मताः** माने गये (हैं)।

(सर०) धृति और भृति शब्द स्थिरता या बनाए रखना अर्थ व्यक्त करते हैं यानी घटाए-बढ़ाए बिना जैसा है वैसा ही रखना। सिंह० ने धृति-भृति का आकुञ्चन-पूरण अर्थ दिया है। तदनुसार ध्वनि की सबलता कम-ज़्यादा किये बिना स्वाभाविक रूप से जिन स्थायों में शब्द (ध्वनि) व्यक्त हो वे 'प्रकृतिस्थ शब्द' के स्थाय समझने चाहियें।

(कलासंबद्धाः)

येषु सूक्ष्मीकृताः शब्दास्ते कलायाः प्रकीर्तिताः॥ १६३॥

२. कला-संबन्धी

१६३ ग-घ. (अ०) येषु जिनमें **शब्दाः** ध्वनि **सूक्ष्मीकृताः** सूक्ष्म की गई (हो) **ते** वे **कलायाः** 'कला' संबन्धी (स्थाय) **मताः** माने गये (हैं)।

(सर०) जिनमें ध्वनि की सबलता कम की जाती है वे 'कला' संबन्धी स्थाय होते हैं। कला शब्द का यहाँ सीमित और विशेष अर्थ में प्रयोग किया गया है।

(आक्रमणसंबद्धाः)

भृशं प्राणप्रतिग्राह्या ये स्युराक्रमणस्य ते।

३. आक्रमण-संबन्धी

१६४ क-ख. (अ०) ये जो **भृशम्** अत्यधिक **प्राणप्रतिग्राह्याः** प्राण (वायु के बल) से प्रतिग्रहण (उत्पन्न) किये जाने वाले (होते हैं) **ते** वे **आक्रमणस्य स्युः** 'आक्रमण' के (स्थाय) होते हैं।

(सर०) जिन स्थायों को बलपूर्वक उत्पन्न किया जाता है वे 'आक्रमण' संबन्धी होते हैं।

(घटनासंबद्धाः)

ते स्थाया घटनाया ये शिल्पिना घटिता इव॥ १६४॥

४. घटना-संबन्धी

१६४ ग-घ. (अ०) ये जो **शिल्पिना** शिल्पी के द्वारा **घटिता इव** गढ़े हुए जैसे (हों) **ते** वे **घटनायाः स्थायाः** 'घटना' के स्थाय (होते हैं)।

(सर०) सिंह० ने कहा कि जो शिल्पी के द्वारा गढ़े हुए स्तम्भ के समान ध्वनित होते हैं वे घटना के स्थाय हैं। पहले कहे गये काण्डारणा स्थाय में भी शिल्पी द्वारा खम्भे पर बनाई गई कमल आदि आकृति का उल्लेख हुआ है। दोनों में अन्तर यह है कि वहाँ खोद कर आकृति बनाना अन्वित है और यहाँ 'घटना' में गढ़ कर आकार देना।

'घटना' और 'घटित' में 'घट्' धातु के अर्थ हैं रूप देना, गढ़ना, आकार देना। 'गढ़ना' और 'खोदना' में जो सूक्ष्म भेद है उसी के सादृश्य से दो अलग स्थाय कहे गये हैं।

(सुखसंबद्धाः)

सुखदास्तु सुखस्य स्युः,

५. सुख-संबन्धी

१६५ क. (अ०) सुखदाः तु सुख देने वाले तो **सुखस्य स्युः** 'सुख' के (स्थाय) होते हैं।

(सर०) प्रसिद्ध संकीर्ण स्थायों में कहे गये 'रक्ति' के साथ इस स्थाय का अन्तर देख लेना उपयोगी होगा। 'रक्ति' में रंजकता है जिसका अर्थ है चित्त को 'रँग देना'। 'सुख' में शायद उतनी गहराई नहीं है।

(चालिसंबद्धाः)

चालिर्जक्केति कीर्तिता।

स्थायास्तदन्विताश्चालेः,

६. चालि-संबन्धी

१६५ ख-ग. (अ०) **चालिः** चालि **जक्का इति कीर्तिता** (लोक में) 'जक्का'—इस प्रकार प्रसिद्ध है। **तत्-अन्विताः** उससे युक्त **चालेः** 'चालि' के **स्थायाः** स्थाय (होते हैं)।

(सर०) सिंह० के अनुसार भङ्गिविशेष के द्वारा स्वरों का चालन 'चालि' है और उसे लोक में यानी संगीतज्ञों के द्वारा 'जक्का' कहा जाता है। 'जक्का' देशी भाषा का शब्द है। 'चालि' भी 'चलना' अर्थ वाली 'चल्' धातु से बने किसी शब्द का अपभ्रंश रूप है।

(जीवस्वरसंबद्धाः)

अंशो जीवस्वरो मतः॥ १६५॥

तत्प्राधान्येन ये गीताः स्थाया जीवस्वरस्य ते।

७. जीवस्वर-संबन्धी

१६५ घ-१६६ ख. (अ०) **अंशः** अंश (स्वर) **जीवस्वरः मतः** जीवस्वर माना गया (है)। **ये** जो **तत् प्राधान्येन** उसकी प्रधानता से **गीताः** गाये जाते हैं **ते** वे **जीवस्वरस्य स्थायाः** 'जीवस्वर' के स्थाय (होते हैं)।

(सर०) रागलक्षण में जो अंश कहा गया है वही यहाँ अभिप्रेत है। अंश को ही 'जीवस्वर' भी कहा जाता है। ग्रन्थकार ने कुछ आगे चल कर इसी अध्याय में 'आलप्ति' के अन्तर्गत अंश के लिये 'जीवस्वर' संज्ञा का प्रयोग किया है (३/१९६)।

जिन स्थायों में जीवस्वर को मुख्य बना कर प्रयोग किया जाता है वे 'जीवस्वर' के स्थाय कहलाते हैं। जैसे—सारंग के जीवस्वर रे को केन्द्र में रख कर बने ये स्थाय—निसारेम-रे, रेमपम-रे-, रेमप रे म -रे, रेरेरे नि सा, सानि रेसा मरे पम -रे, रेमपनि्पम -रे, सा नि रेसा।

इसे रागरूप का स्थाय कह सकते हैं।

(वेदध्वनिसंबद्धाः)

वेदध्वनिनिभध्वानाः स्थाया वेदध्वनेर्मताः॥ १६६॥

८. वेदध्वनि-संबन्धी

१६६ ग-घ. (अ०) **वेदध्वनि निभध्वानाः** वेदध्वनि के समान ध्वनि वाले **वेदध्वनेः स्थायाः** 'वेदध्वनि' के स्थाय **मताः** माने गए (हैं)।

(सर०) वेदपाठ में २-३ स्वरों में ही विशेष प्रकार का स्वर-संयोजन होता है जिससे तुरन्त वेदपाठ की पहचान हो जाती है। उसी तरह का स्वरसंयोजन राग के स्वरसंचार में हो तो वहाँ भी वेदध्वनि का आभास होता है। ऐसे संचार 'वेदध्वनि' के स्थाय कहे जायँगे।

(घनत्वसंबद्धाः)

अन्तःसारो घनत्वस्य,

९. घनत्व-संबन्धी

१६७ क. (अ०) **अन्तःसारः** अन्तःसार (भीतर से ठोस या घन) **घनत्वस्य** 'घनत्व' के (स्थाय होते हैं)।

(सर०) जिन स्थायों के गान में घनता की अनुभूति हो वे 'घनता' के स्थाय कहे जायँगे। इसे गायक की शैली के साथ संबद्ध समझ सकते हैं।

(शिथिलः)

यथार्थः शिथिलो मतः।

१०. शिथिल

१६७ ख. (अ०) **शिथिलः** 'शिथिल' **यथार्थः** अर्थ के अनुसार **मतः** माना गया (है)।

(सर०) शिथिल का अर्थ है ढीला जो गाढ़ का विपरीत है। जिन स्थायों में कसावट न हो बल्कि ढीलापन प्रतीत हो वे 'शिथिल' कहे जायँगे।

सिंह० ने शिथिल को 'घन' का विपरीत कहा है जो सही नहीं है क्योंकि ग्रन्थकार ने स्वयं गाढ़ स्थाय को 'शिथिलता से मुक्त' कहा है (३/१४६)। आगे शिथिलगाढ़ एक स्थाय भी है। इस नाम से ही यह स्पष्ट है कि शिथिल और गाढ़ परस्पर विपरीत हैं।

(अवघटः)

दुष्करोऽवघटः प्रोक्तः,

११. अवघट

१६७ ग. (अ०) **दुष्करः** कठिन (स्थाय) **अवघटः प्रोक्तः** 'अवघट' कहा गया है।

(सर०) सं० स० सार का 'दुर्वास' स्थाय इसका निकटवर्ती है जिसमें कहा गया है कि तार, मन्द्र के योग से जहाँ दुष्कर प्रयोग रहता है वह 'दुर्वास' कहा जाता है। यहाँ दुष्करता को तारता के साथ जोड़ा है। सं० र० में केवल दुष्कर कहा है इसलिये किसी भी दृष्टि से कठिन स्थाय 'अवघट' कहला सकता है।

(प्लुतः)

प्लुतोऽत्यन्तविलम्बितः॥ १६७॥

१२. प्लुत

१६७ घ. (अ०) **प्लुतः** 'प्लुत' **अत्यन्तविलम्बितः** बहुत विलम्बित (स्थाय है)।

(रागेष्टः)

रागेणेष्टः स्वपूर्त्यर्थं रागेष्ट इति कीर्तितः।

१३. रागेष्ट

१६८ क-ख. (अ०) **रागेण** राग के द्वारा **स्वपूर्ति-अर्थम्** अपनी पूर्ति के लिये **इष्टः** आकांक्षित (स्थाय) **रागेष्टः** 'रागेष्ट' **इति कीर्तितः** इस नाम से कहा गया (है)।

(सर०) कुछ रागों में पूर्णता का भाव लाने के लिये संचारविशेष का प्रयोग करना ज़रूरी होता है अन्यथा राग अपूर्ण सा लगता है; जैसे—मारूबिहाग में साम-पममग-सा गम्प ^{ग}म् प अथवा देवगिरि बिलावल में सा$\underline{\text{नि}}$ $\underline{\text{ध}}$ $\underline{\text{प}}$ ग।

यह रागरूप का स्थाय है।

(अपस्वराभासः)

स स्यादपस्वराभासो भात्यपस्वरवत्तु यः ॥ १६८ ॥

१४. अपस्वराभास

१६८ ग-घ. (अ०) **यः** जो **अपस्वरवत्** (सुस्वर होते हुए भी) अपस्वर (बेसुरा) जैसा **भाति** भासित होता है **सः तु** वह तो **अपस्वराभासः** 'अपस्वराभास' (स्थाय) **स्यात्** होता है।

(सर०) कभी-कभी कोई स्वरसंचार सही और सुरीला होते हुए भी बेसुरा सा लगता है, उसी से यहाँ तात्पर्य लगता है।

ग्रन्थकार गायक के दोषों में 'अपस्वर' कह चुके हैं जिसका लक्षण है वर्ज्यस्वर का गान यानी राग में जो स्वर वर्जित हो उसका लग जाना। शायद यहाँ स्थाय में भी उसी 'अपस्वर' का संबन्ध है। अगर वैसा मान लें तो 'अपस्वर' का प्रयोग न होते हुए भी जहाँ अपस्वर के प्रयोग जैसा आभास हो वहाँ 'अपस्वराभास' स्थाय समझ सकते हैं।

(बद्धः)

स्तब्धः स्थायस्तु बद्धः स्यात्,

१५. बद्ध

१६९ क. (अ०) **स्तब्धः स्थायः तु** स्तब्ध (स्थिर, अचल) स्थाय तो **बद्धः स्यात्** 'बद्ध' होता है।

(सर०) स्तब्ध का अर्थ स्थिरता या निश्चलता है। यहाँ एक ही स्वर को लम्बा करते हुए उसी पर रुक जाना आशय प्रतीत होता है।

(कलरवः)

बहुत्वं मधुरध्वनेः।

यस्मिन् कलरवस्यासौ,

१६. कलरव

१६९ ख-ग. (अ०) **यस्मिन्** जिसमें **मधुरध्वनेः** मधुरध्वनि का **बहुत्वं** बहुत्व (हो) **असौ** यह **कलरवस्य** 'कलरव' का (स्थाय होता है)।

(सर०) सिंह० ने बहुत्व का नकारात्मक अर्थ देते हुए कहा कि जिसमें मधुर ध्वनि का अल्पत्व न हो वह 'कलरव' संबन्धी स्थाय है। मधुरध्वनेः एकवचनान्त है इसलिये सिंह० के आधार पर यह समझा जायगा कि जिसमें बहुत मधुरध्वनि हो। तदनुसार ध्वनि की मधुरता की मात्रा समझनी होगी।

जब बोलचाल में पक्षियों का कलरव कहा जाता है तो 'कलरव' बहुत से पक्षियों की ध्वनि का सूचक होता है। इस दृष्टि से 'बहुत्व' का मधुरता की मात्रा के बजाय 'अनेक' अर्थ लिया जा सकता है। तदनुसार जिसमें अनेक मधुरध्वनियाँ हों वह 'कलरव' का स्थाय होगा। कई मधुरध्वनियों का एकसाथ होना अनेक व्यक्तियों के एकसाथ मिल कर गाने या कई वाद्यों के एकसाथ वादन में ही संभव है। भारतीय संगीत में 'वृन्द' (समूह में गायन अथवा वादन) में इसका अनुभव किया जा सकता है। गायक के भेदों में 'बृन्दगायन' प्रस्तुत अध्याय में कहा जा चुका है (३/२२-२३) और गायक-वादकों के सामूहिक प्रयोग के रूप में 'बृन्द' इसी अध्याय में आगे कहा जाने वाला है (३/२०३-२३)।

(छान्दसः)

छान्दसोऽचतुरप्रियः॥ १६९॥

१७. छान्दस

१६९ घ. (अ०) **अचतुरप्रियः** जो 'अचतुरों' को प्रिय (हो वह) **छान्दसः** 'छान्दस' (स्थाय है)।

(सर०) सिंह० ने छान्दसों को अचतुरों से जोड़ते हुए यह अर्थ किया है कि छान्दसों यानी अचतुरों, अविदग्धों को प्रिय होता है वह छान्दस है।

'अचतुर' का अर्थ है ऐसे श्रोता जो विदग्ध अर्थात् कलामर्मज्ञ नहीं हैं बल्कि सामान्य श्रोता हैं। अतः जो स्थाय मर्मज्ञों को नहीं, सामान्य श्रोताओं को प्रिय लगते हैं वे 'छान्दस' कहे जायँगे। उदाहरण के लिये जब गायक-वादक द्रुत लय का काम करते हैं तो वहाँ जो स्थाय होते हैं उनमें सामान्य श्रोताओं को बहुत अच्छा लगता है।

'छान्दस' का अर्थ है वेदों का ज्ञाता। स्थाय में इस शब्द का प्रयोग बिल्कुल भिन्न अर्थ में हुआ है।

(सुकराभासः)

सुकराभास इत्युक्तो दुष्करः सुकरोपमः।

१८. सुकराभास

१७० क-ख. (अ०) **सुकर-उपमः** सुकर (सरल, आसान) जैसा (लगने वाला) **दुष्करः** कठिन (स्थाय) **सुकराभासः** 'सुकराभास' **इति उक्तः** ऐसा कहा गया (है)।

(सर०) जो वास्तव में कठिन हो लेकिन सुनने में सरल जैसा लगे वह 'सुकराभास' है। समर्थ गायक-वादकों के गान-वादन में ऐसे प्रयोग होते हैं जो वास्तव में कठिन होते हैं लेकिन उनके द्वारा प्रस्तुति सुनते समय वे सरल से प्रतीत होते हैं।

(संहितः)

घण्टानादवदायातस्तारान्मन्द्रं तु संहितः॥ १७०॥

१९. संहित

१७० ग-घ. (अ०) **घण्टानादवत्** घंटे के नाद (अनुरणन) के समान (क्रमशः क्षीण होते हुए) **तारात्** तार (स्थान) से **मन्द्रं** मन्द्र (स्थान) को **आयातः तु** आया हुआ तो **संहितः** 'संहित' (स्थाय है)।

(सर०) घंटे का अनुरणन धीरे-धीरे क्षीण होता जाता है उसी तरह यहाँ भी तार से मन्द्र में आते हुए ध्वनि मन्द होना अभिप्रेत है। सिंह० ने **घण्टानादवत्** का अर्थ 'अनुरणनयुक्तता के साथ' तो दिया है लेकिन ध्वनि के क्षीण होते जाने का उल्लेख नहीं है।

सं० स० सार में बिल्कुल सं० र० के लक्षण वाला 'अवतीर्णक' स्थाय है (३/११९)।

(लघुः)

लघुर्गुरुत्वरहितः,

२०. लघु

१७१ क. (अ०) गुरुत्वरहितः गुरुत्व से रहित **लघुः** 'लघु' (स्थाय होता है)।

(सर०) गुरु-लघु कालमान से संबन्धित शब्द हैं। अगर यही अर्थ समझें तो जहाँ गुरु अक्षरों अथवा स्वरों का प्रयोग न हो, लघु ही हों, उसे 'लघु' स्थाय समझा जा सकता है। लेकिन 'गुरुत्व' भारीपन, बोझिलपन का सूचक भी है। यह अर्थ लें तो यह समझा जा सकता है कि जहाँ भारीपन न हो, सहज प्रयोग हो वहाँ 'लघु' स्थाय होता है। गान-वादन में भारीपन-हल्कापन अनुभूति का विषय है जिसे शब्दों में प्रकट नहीं किया जा सकता।

(अन्तरः)

ध्रुवकाभोगयोस्तु यः।
अन्तरे सोऽन्तरः,

२१. अन्तर

१७१ ख-ग. (अ०) यः जो **ध्रुवक-आभोगयोः अन्तरे** ध्रुव और आभोग (धातुओं) के बीच में (होता है) **सः तु** वह तो **अन्तरः** 'अन्तर' (स्थाय है)।

(सर०) ध्रुव और आभोग प्रबन्ध की 'धातुएँ' यानी विशेष गेयखण्ड हैं जिनका निरूपण प्रबन्धाध्याय में होगा। प्रबन्ध में 'अन्तर' नामक एक धातु है जो ध्रुव और आभोग के बीच में रहती है। उसी अन्तर धातु को यहाँ स्थाय कहने का प्रयोजन स्पष्ट नहीं है। लेकिन प्रबन्धाध्याय में धातुभेदों और मण्ठ नामक सालगसूड प्रबन्ध की टीका में कल्लि० ने जो कुछ कहा है उससे यह प्रकट होता है कि इसे आभोग खण्ड के चरम आभोग (आस्वाद) के लिये ध्रुव और आभोग के बीच में गाया जाता है। इस प्रकार 'अन्तर' ध्रुव और आभोग को जोड़ने वाला गेय अंश है। संभवतः इसका विशेष आकार या स्वरूप हो इसलिये इसे स्थाय में रखा गया है। इसके समकक्ष कोई प्रयोग वर्तमान लक्ष्य में दिखाई नहीं देता।

(वक्रः)

वक्रो यथार्थः,

२२. वक्र

१७१ ग-घ. (अ०) वक्रः 'वक्र' **यथार्थः** (शब्द के) अर्थ के अनुसार (स्थाय है)।

(सर०) स्वरों का वक्र प्रयोग होने से 'वक्र' स्थाय कहलाता है; जैसे—गौड़सारंग में गरेमग पमृधप।

यह रागरूप से संबद्ध स्थाय है।

(दीप्तप्रसन्नः)

सुकरस्तु यः॥ १७१॥
तारे दीप्तप्रसन्नोऽसौ,

२३. दीप्तप्रसन्न

१७१ घ-१७२ क. (अ०) **यः** जो **तारे** तार (स्थान) में **सुकरः** सहज (हो) **असौ तु** यह तो **दीप्तप्रसन्नः** 'दीप्तप्रसन्न' (होता है)।

(सर०) जो स्थाय तारस्थान में सहजता से यानी किसी कष्ट या विशेष प्रयत्न के बिना प्रयुक्त हो उसे 'दीप्तप्रसन्न' कहा है।

सिंह० ने सुकरः के स्थान पर 'सकलः' पाठ लिया है और उसका अर्थ यह किया है—जो 'अन्यून' यानी 'सम्पूर्ण' प्रतीत होता है।

पहले अध्याय के वर्णालंकार प्रकरण में 'दीप्त' को तार का और 'मृदु' को मन्द्र का पर्याय कहा गया है। तदनुसार 'दीप्तप्रसन्न' में दीप्त से तार का और अगले स्थाय 'प्रसन्नमृदु' में मृदु से मन्द्र का ग्रहण करना चाहिये।

यह गायक की शैली बनाने वाला स्थाय लगता है।

(प्रसन्नमृदुः)

सुकरः कोमलध्वनिः।
प्रसन्नमृदुरित्युक्तः,

२४. प्रसन्नमृदु

१७२ ख-ग. (अ०) **सुकरः** सहज (और) **कोमलध्वनिः** कोमल ध्वनि वाला (स्थाय) **प्रसन्नमृदुः** 'प्रसन्नमृदु' **इति उक्तः** यों कहा गया (है)।

(सर०) 'दीप्तप्रसन्न' में तार स्थान में सहज प्रयोग है और 'प्रसन्नमृदु' में मन्द्रस्थान में। लेकिन यहाँ विशेष लक्षण कोमल ध्वनि है।

यह भी गायक की शैली से संबद्ध स्थाय है।

(गुरुः)

गुरुरन्वर्थनामकः॥ १७२॥

२५. गुरु

१७२ घ. (अ०) **गुरुः** 'गुरु' **अन्वर्थनामकः** अन्वर्थ नाम वाला (है)।

(सर०) 'गुरु' को पूर्वोक्त 'लघु' स्थाय का विपरीत कह सकते हैं। इसलिये जिसमें गुरु अक्षरों या स्वरों का प्रयोग हो अथवा जिसमें भारीपन लगे उसे 'गुरु' नामक स्थाय समझ सकते हैं।

(ह्रस्वः)

ह्रस्वः स्तोकः,

२६. ह्रस्व

१७३ क. (अ०) **ह्रस्वः** 'ह्रस्व' **स्तोकः** अल्प (छोटा, होता है)।

(सर०) ह्रस्व और दीर्घ शब्द भाषा में अक्षर के उच्चारण में लगने वाले समय के सूचक हैं। लेकिन सामान्य रूप से

छोटा-बड़ा भी इससे सूचित होता है। यहाँ ह्रस्व इसी सामान्य अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसलिये छोटे-छोटे स्थायों को 'ह्रस्व' समझना चाहिये।

सिंह० ने इसे बौने के समान भासित होने वाला कहा है। इस सादृश्य में भी आकार में छोटा होना ही प्रकट होता है।

(शिथिलगाढदीर्घौ)

परौ द्वौ तु स्यातामन्वर्थनामकौ।

२७, २८, शिथिलगाढ़ और दीर्घ

१७३ क-ख. (अ०) **परौ द्वौ तु** अगले दो ('शिथिलगाढ़' और 'दीर्घ') तो **अन्वर्थनामकौ** अर्थ के अनुसार नाम वाले (हैं)।

(सर०) पहले 'शिथिल' और 'गाढ़' स्थाय आ चुके हैं। जिस स्थाय में शिथिलता और गाढ़ता दोनों हों वह 'शिथिलगाढ़' स्थाय कहा जायगा।

यहाँ यह समझना होगा कि एक ही स्थाय का कोई अंश कुछ शिथिल और कोई अंश गाढ़ सा लगे, दो स्थायों का मिश्रण नहीं। अन्यथा इसे आगे कहे जाने वाले मिश्रस्थायों में रखा जाता।

ह्रस्व का विपरीत दीर्घ होता है। इसलिये बड़े स्थाय को 'दीर्घ' समझना होगा।

(असाधारणः)

शब्दशारीरगुणतः सुकरः सुस्वरोऽथवा॥ १७३॥
यः कस्यचिन्न सर्वेषां सोऽसाधारण उच्यते।

२९. असाधारण

१७३ ग-१७४ ख. (अ०) **यः** जो **शब्द-शारीरगुणतः** (गायक के) 'शब्द' (और/या) 'शारीर' के गुण से **कस्यचित्** किसी को ही (अर्थात् किसी गायक के लिये ही) **सुकरः** सहज **अथवा सुस्वरः** या सुस्वर (होता है) **न सर्वेषां** सबको नहीं **सः** वह **असाधारणः उच्यते** 'असाधारण' स्थाय कहा जाता है।

(सर०) जिन स्थायों का सभी गायक प्रयोग न कर सकें बल्कि विशेष कण्ठगुण और शारीर यानी अभिव्यक्ति की जन्मजात असाधारण प्रतिभा से संपन्न बिरले संगीतकार ही जिनका प्रयोग कर सकें वे 'असाधारण' स्थाय होते हैं।

(साधारणः)

सदृशो यस्तु सर्वेषामसौ साधारणः स्मृतः॥ १७४॥

३०. साधारण

१७४ ग-घ. (अ०) **यः** जो **सर्वेषां** सभी में **सदृशः** समान (हो) **असौ तु** यह तो **साधारणः स्मृतः** 'साधारण' स्मरण किया गया (अर्थात् जाना गया है)।

(सर०) 'असाधारण' का विपरीत 'साधारण' है। जिस स्थाय को सभी प्रयोक्ता गा-बजा सकें वह 'साधारण' होता है।

(निराधारः)

न वाञ्छति वहन्यादिर्यः स्वनिर्वाहहेतवे।
उच्यते स निराधारः,

३१. निराधार

१७५ क-ग. (अ०) **यः** जो **स्वनिर्वाहहेतवे** अपने निर्वाह (अर्थात् संपन्न होने) के लिये **वहनी-आदिः** 'वहनी' आदि (स्थायों की) **न वाञ्छति** आकांक्षा नहीं रखता **सः** वह **निराधारः उच्यते** 'निराधार' कहा जाता है।

(सर०) जिस स्थाय को अपनी पूर्णता के लिये वहनी आदि के आधार की ज़रूरत नहीं होती वह 'निराधार' है। वहनी स्थाय का विशेष रूप से उल्लेख क्यों किया गया है यह बहुत स्पष्ट नहीं है। सिंह० ने 'आदि' में 'वलि' स्थाय और हुम्फित तथा कम्पित गमक का भी ग्रहण कर लिया है। ये सभी कम्पयुक्त हैं इसलिये इनका निषेध करने का आशय यह प्रतीत होता है कि किसी तरह के कम्पयुक्त प्रयोग का सहारा लिये बिना ही जो स्थाय सम्पन्न हो जाय वह 'निराधार' है।

(दुष्कराभासः)

सुकरो दुष्करोपमः॥ १७५॥
दुष्कराभास इत्युक्तः,

३२. दुष्कराभास

१७५ घ-१७६ क. (अ०) **सुकरः** (जो) सरल (होकर भी) **दुष्कर-उपमः** कठिन जैसा (प्रतीत हो, वह) **दुष्कराभासः** 'दुष्कराभास' **इति उक्तः** इस प्रकार कहा गया है।

(सर०) यह 'सुकराभास' का विपरीत स्थाय है। जो वास्तव में सरल हो लेकिन कठिन जैसा लगे वह 'दुष्कराभास' होता है।

(मिश्रः)

मिश्रणान्मिश्रको मतः।

३३. मिश्र

१७६ ख. (अ०) **मिश्रणात्** मिश्रण से (उत्पन्न होने से) **मिश्रकः मतः** 'मिश्र' (स्थाय) माना गया (है)।

(सर०) सिंह० के अनुसार जो स्थाय कहे गये हैं उनके कुछ लक्षणों के मिश्रण से 'मिश्र' स्थाय होते हैं।

ग्रन्थकार अब मिश्र स्थायों के ३६ भेदों के नाम देने वाले हैं जिनमें स्थायों के साथ गमकों का मिश्रण भी है। स्थायनिरूपण के शुरू में ही यह कहा गया है कि गमक को 'वाग' भी कहते हैं और कुछ वागों के लक्षण स्थायों के अन्तर्गत कहेंगे। इससे पहले गमकों के अन्त में यह कह चुके हैं कि गमकों के मिश्रण से अनेक मिश्र भेद बनते हैं जिनका विवरण 'स्थायवागों' में दिया जायगा। इसलिये मिश्रस्थाय 'स्थायवाग' ही हैं।

(मिश्रस्थायाः)

आनन्त्यान्नैव शक्यन्ते भेदा मिश्रस्य लक्षितुम्॥ १७६॥
दिक्प्रदर्शनमात्रार्थमुच्यन्ते तेषु केचन।

(उ) मिश्रस्थाय

१७६ ग-१७७ ख. (अ०) **आनन्त्यात्** अनन्तता होने से **मिश्रस्य भिदाः** मिश्र (स्थाय) के भेद (अर्थात् सारे भेदों के) **लक्षितुं** लक्षण देने के लिये (अर्थात् लक्षण देना) **न एव शक्यते** बिल्कुल संभव नहीं है। **दिक्प्रदर्शनमात्र-अर्थं** केवल दिशासूचन के लिये **तेषु** उनमें (से) **केचन** कुछ **उच्यन्ते** कहे जा रहे हैं।

(सर०) दिशासूचन का आशय है मिश्रण किस तरह होता है इसका संकेत करना। मिश्र स्थायों के यहाँ सिर्फ़ नाम दिये गये हैं, लक्षण नहीं; क्योंकि जिन गमकों और स्थायों के मिश्रण से भेद बनाये गये हैं उनके लक्षण पहले दिये जा चुके हैं।

यो यस्मिन् बहुलः स्थायः स तेन व्यपदिश्यते॥ १७७॥
साम्ये तु मिश्रनामैव स त्विदानीं प्रपञ्च्यते।

१७७ ग-१७८ ख. (अ०) **यस्मिन्** जिस (मिश्र स्थाय) में **यः स्थायः** जो स्थाय **बहुलः** बहुल (प्रधान, हो) **सः** वह (मिश्र भेद) **तेन** उस (बहुलता वाले स्थाय) के द्वारा **व्यपदिश्यते** कहा जाता है (अर्थात् उसके नाम से जाना जाता है)। **साम्ये तु** (मिश्रण) बराबर (समान मात्रा में) होने पर तो **मिश्रनाम-एव** मिश्र नाम ही (दिया जाता है)। **सः तु** वह तो **इदानीं प्रपञ्च्यते** अब निरूपित किया जा रहा है।

(सर०) मिश्र भेद में अगर किसी एक स्थाय का रूप ज़्यादा हो तो उसी के नाम से मिश्र भेद को नाम दिया जाता है, जैसे—शब्दमिश्र, ढालमिश्र आदि। लेकिन मिश्रण में मिश्रित स्थायों की मात्रा समान हो तो उनके मिश्रनामों से ही भेद कहा जाता है, जैसे—तिरिप-आन्दोलित, त्रोटितप्रतीष्ट-उत्प्रविष्ट-निःसरण आदि।

सिंह० ने दो, तीन, चार स्थायों के मिश्रभेदों को क्रम से 'द्वियोगज', 'त्रियोगज', 'चतुर्योगज' कहा है।

इससे आगे श्लोक १८८ तक मिश्रस्थायों के सिर्फ़ नाम हैं इसलिये उनका अन्वय न देकर सिर्फ़ नाम दिये जायँगे।

(मिश्रस्थायनामानि)

तिरिपान्दोलितो लीनकम्पितः कम्पिताहतः॥ १७८॥

तिरिपस्फुरितो लीनस्फुरितः स्फुरिताहतः।
लीनकम्पितलीनश्च त्रिभिन्नकुरुलाहतः॥ १७९॥

प्लावितोल्लासितवलिर्वलिहुम्फितमुद्रितः।
नामितान्दोलितवलिर्वलिनामितकम्पितः॥ १८०॥

आन्दोलितप्लावितकसमुल्लासितनामितः।
तिरिपान्दोलितवलित्रिभिन्नकुरुलोऽपरः॥ १८१॥

त्रिभिन्नलीनस्फुरितप्लावितान्दोलितः परः।
वहनीढालयोर्ढालवहन्योः शब्दढालयोः॥ १८२॥

वहनीयन्त्रयोश्छायायन्त्रयोः शब्दयन्त्रयोः।
वहनीच्छाययोर्यन्त्रवाद्यशब्दभवः परः॥ १८३॥

तीक्ष्णप्रेरितकस्तीक्ष्णप्रेरितस्वरलङ्घितः।
ढालशब्दोत्थयन्त्रोत्थवाद्यशब्दभवः परः॥ १८४॥

ढालच्छायायन्त्रवाद्यशब्दशब्दभवोऽपरः।
प्रलम्बितावस्खलितस्त्रोटितोल्लासितः परः॥ १८५॥

संप्रविष्टोत्प्रविष्टश्च संप्रविष्टतरङ्गितः।
प्रतिग्राह्योल्लासितकोत्क्षिप्तालम्बविलम्बकः॥ १८६॥

स्यात् त्रोटितप्रतीष्टोत्प्रविष्टनिःसरणः परः।
दीर्घकम्पितसूक्ष्मान्तभ्रामितस्थायुकोऽन्यकः॥ १८७॥
वहाक्षराडम्बरजः प्रसृताकुञ्चितस्थिरः।
भ्रामितक्षिप्तसूक्ष्मान्ततरङ्गितविलम्बितः॥ १८८॥
एते षट्त्रिंशदन्येऽपि विज्ञातव्या दिशाऽनया।

मिश्र स्थायों के नाम

१७८ ग-१८९ ख. (अ०) (१) तिरिप-आन्दोलित, (२) लीन-कम्पित, (३) कम्पित-आहत, (४) तिरिप-स्फुरित, (५) लीन-स्फुरित, (६) स्फुरित-आहत, (७) लीन-कम्पित-लीन, (८) त्रिभिन्न-कुरुल-आहत, (९) प्लावित-उल्लासित-वलि, (१०) वलि-हुम्फित-मुद्रित, (११) नामित-आन्दोलित-वलि, (१२) वलि-नामित-कम्पित, (१३) आन्दोलित-प्लावित-उल्लासित-नामित, (१४) तिरिप-आन्दोलित-वलि-त्रिभिन्न-कुरुल, (१५) त्रिभिन्न-लीन-स्फुरित-प्लावित-आन्दोलित, (१६) वहनी-ढाल के (स्थाय) अथवा ढाल-वहनी के, (१७) शब्द-ढाल के, (१८) वहनी-यन्त्र के, (१९) छाया-यन्त्र के, (२०) शब्द-यन्त्र के, (२१) वहनी-छाया के, (२२) यन्त्र-वाद्यशब्द से होने वाले। (२३) तीक्ष्ण-प्रेरित, (२४) तीक्ष्ण-प्रेरित-स्वरलंघित, (२५) ढाल-शब्द-यन्त्र-वाद्यशब्द से होने वाले, (२६) ढाल-छाया-यन्त्र-वाद्यशब्द-शब्द से होने वाले (२७) प्रलम्बित-अवस्खलित, (२८) त्रोटित-उल्लासित, (२९) संप्रविष्ट-उत्प्रविष्ट, (३०) संप्रविष्ट- तरंगित, (३१) प्रतिग्राह्योल्लासित-उत्क्षिप्त-अलम्बविलम्बक, (३२) त्रोटितप्रतीष्ट-उत्प्रविष्ट-निःसरण, (३३) दीर्घकम्पित-सूक्ष्मान्त-भ्रामित-स्थायुक, (३४) वह-अक्षराडम्बर से उत्पन्न, (३५) प्रसृताकुंचित-स्थिर, (३६) भ्रामित-क्षिप्त-सूक्ष्मान्त-तरंगित-विलंबित—**एते** ये **षट्त्रिंशत्** छत्तीस (मिश्रस्थाय हैं)। **अनया दिशया** इसी दिशा से (अर्थात् इसी तरह) **अन्ये अपि** अन्य (मिश्र स्थाय) भी **विज्ञातव्याः** विशेष रूप से जानने चाहियें।

(सर०) संख्या ७ पर **लीनकम्पितलीनः** में लीन दो बार आया है। संभव है कि पहले लीन के स्थान पर 'वलि' या और कोई शब्द रहा हो। अथवा यह कह सकते हैं यह कोई विशिष्ट मिश्र प्रकार है जिसके शुरू और अन्त—दोनों तरफ 'लीन' गमक है। १६वाँ मिश्र स्थाय 'वहनीढाल' या 'ढालवहनी' है जो दो स्थायों के मिश्रण में उनके क्रम परिवर्तन के आधार पर प्रयोग के दो प्रकारों का सूचक है। संख्या २४ पर 'तीक्ष्णप्रेरितस्वरलंघित' स्थाय है। आडयार संस्क० में इस अंश का पाठ **तीक्ष्णप्रेरितः स्वरलङ्घितः** है जिसमें तीक्ष्णप्रेरित और स्वरलंघित अलग हो जाने से २३ वें स्थाय 'तीक्ष्णप्रेरित' की पुनरावृत्ति दिखाई देती है। इसलिये इसका पाठ हमने यह रखा है—**तीक्ष्णप्रेरितकस्तीक्ष्णप्रेरितस्वरलङ्घितः**। इसी तरह आड्यार संस्क० में ३१वें स्थाय के पाठ में तीनों स्थाय विसर्गान्त होने से अलग-अलग हो गये हैं। इसलिये हमने उसके स्थान पर **प्रतिग्राह्योल्लासितकोत्क्षिप्तालम्बविलम्बकः** पाठ बनाया है।

पूर्वोक्त १०+३३+२०+३३=९६ स्थायों के अलावा शार्ङ्गदेव ने दिशासूचन करने के लिये ३६ मिश्रस्थाय बनाए और कह दिया कि इसी तरह और भी अनेक मिश्रस्थाय बन सकते हैं। कुम्भाकृत संगीतराज में ६६ मिश्रस्थाय दिये हैं।

पहले कहा जा चुका है कि मुख्यतः स्थाय तीन तरह के हैं। अगर स्थायों के लक्षणों पर फिर से नज़र डालें तो उक्त बात स्पष्ट हो जायगी। जो स्थाय रागरूप और शैली से संबद्ध लगते हैं उनका उल्लेख व्याख्या में किया गया है। जिनके बारे में कोई संकेत नहीं दिया है उन्हें तीसरे सामान्य वर्ग में रखा जा सकता है।

(आलप्तिलक्षणं तद्भेदाश्च)

रागालपनमालप्तिः प्रकटीकरणं मतम्॥ १८९॥
सा द्विधा गदिता रागरूपकाभ्यां विशेषणात्।

आलप्ति का लक्षण और भेद

१८९ ग-१९० ख. (अ०) **राग-आलपनं** राग का आलपन (कहना), **प्रकटीकरणं** (राग को) प्रकट करना **आलप्तिः मतम्** 'आलप्ति' माना गया (है)। **राग-रूपकाभ्यां विशेषणात्** राग और रूपक विशेषणों से **सा** वह **द्विधा** दो प्रकार से (अर्थात् रागालप्ति और रूपकालप्ति) **गदिता** कही गई (है)।

(सर०) 'कहना' अर्थ वाली 'लप्' धातु से 'आ' उपसर्ग लगा कर तीन अलग-अलग प्रत्ययों से तीन शब्द बनते हैं— 'घञ्' लगाकर 'आलापः', 'क्तिन्' लगा कर 'आलप्तिः' और 'ल्युट्' से 'आलपनम्'। ये तीनों शब्द क्रमशः पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग के वाचक हैं और तीनों का सामान्य अर्थ है 'कहना'। रागालपनमालप्तिः में 'आलपनम्'—इस नपुंसकलिंग शब्द को ही 'आलप्ति' के पर्याय के रूप में क्यों प्रयुक्त किया गया, यह प्रश्न उठ सकता है। 'आलपनं' के बजाय 'आलापः' का प्रयोग क्यों नहीं किया? प्रत्ययभेद से क्या अर्थभेद हो सकता है? इसे ध्यान में रख कर कल्लि० ने इन शब्दों की उक्त व्युत्पत्ति बताते हुए 'आलप्ति' पर लम्बी टीका की है और शंका का समाधान किया है जिसका सार दिया जा रहा है।

तीन प्रत्ययों से बनने वाले उक्त तीन शब्दों में धातु अर्थात् क्रिया और उसका फल समाविष्ट है। यहाँ तक तीनों में समानार्थता है। हिन्दी में तो इन तीन शब्दों में कोई अर्थभेद नहीं किया जाता लेकिन संस्कृत भाषा की दृष्टि से उनमें अपनी-अपनी विलक्षणता होती है। 'घञ्' प्रत्यय आविर्भाव का, 'क्तिन्' तिरोभाव का और 'ल्युट्' मध्यावस्था या साम्यावस्था का द्योतक है इसलिये 'आलाप' शब्द के द्वारा राग का आविर्भाव, 'आलप्ति' के द्वारा तिरोभाव और 'आलपन' के द्वारा 'किंचित् प्रतीयमानता' (कुछ आविर्भाव, कुछ तिरोभाव) अर्थ विवक्षित है। इनमें क्रमशः सत्त्व, रजस् और तमोगुण की प्रधानता होती है। सृष्टि की उत्पत्ति में भी पहले साम्यावस्था रहती है, उसी से उत्पत्ति और अन्तर्भाव होता है। इसलिये तमोगुण या साम्यावस्था अन्य दोनों गुणों या अवस्थाओं में साधारण हो सकता है। इसीलिये श्लोक में 'आलपन' को 'आलप्ति' के साथ अन्वित किया है।

इस प्रकार जब राग के विस्तार में राग का स्पष्ट स्वरूप व्यक्त होता है तो आविर्भाव होने के कारण 'आलाप' होता है, जब स्वरूप छिप जाता है तो तिरोभाव के कारण 'आलप्ति' होती है और जब कभी आविर्भाव और कभी तिरोभाव होता है तो 'आलपन' होता है। काव्य और संगीत में यह तीसरी स्थिति अत्यन्त आनन्ददायक मानी गई है। आविर्भाव होने के बाद ही स्वरूप के कुछ छिप जाने पर तिरोभाव होता है और तिरोभाव की स्थिति में भी मूल स्वरूप किंचित् प्रतीयमान रहता है। इस प्रकार आलप्ति में आलाप और आलपन दोनों के धर्म रहते हैं। इसीलिये ग्रन्थकार ने आलप्ति को प्रधान रख कर निरूपण किया है।

'प्रकट' शब्द में 'च्वि' प्रत्यय लगा कर 'प्रकटीकरणं' शब्द बनता है जिसका अर्थ है 'जो पहले से प्रकट या प्रतीयमान न हो उसे प्रकट करना या प्रतीयमान बनाना'। इसलिये 'प्रकटीकरणं' में आविर्भाव होने से यह आलाप का समानार्थक है लेकिन आलपन के योग के कारण किंचित् प्रतीयमानता ही यहाँ अभिप्रेत है, पूरी प्रकटार्थता नहीं। जब यह कहा जाय कि आलपन आलप्ति है तब भी आलप्ति में तिरोभाव अन्वित होने से उसका धर्म प्रकट अर्थ का आवरण (ढक देना) होता है। इस कारण कुछ प्रतीयमानता ही अभिप्रेत है। आलप्ति शब्द की प्रवृत्ति आलपन और प्रकटीकरण दोनों के साथ है और इस प्रवृत्ति का निमित्त यही है कि आलप्ति के योग में आलपन और प्रकटीकरण दोनों का फल राग की किंचित् प्रतीयमानता ही है।

आलप्ति को दो तरह से समझा जा सकता है। जब आविर्भूत राग का विभिन्न प्रकार के वर्ण, अलंकार, गमक, स्थाय और भंगियों के प्रयोग से तिरोभाव किया जाय तब आलप्ति की आलपन से समानता होगी। लेकिन जब राग के अनुरूप ही प्रयोग होगा यानी राग के अपने विशिष्ट स्वरसंनिवेशों से ही आलाप होगा तब आलप्ति की प्रकटीकरण से समानता होगी।

हर राग के अपने विशेष रागवाची संचार होते हैं जो सिर्फ़ उसी में होते हैं और कुछ संचार या संनिवेश ऐसे होते हैं जो बहुत से रागों में प्रयुक्त हो सकते हैं। इनमें से पहले प्रकार से राग का आविर्भाव होने से प्रकटीकरण के साथ अन्वित आलप्ति मानी जायगी और दूसरे प्रकार से तिरोभाव होने से आलप्ति शब्द आलपन के साथ अन्वित समझा जायगा।

आलप्ति दो तरह की होती है—रागालप्ति और रूपकालप्ति।

(रागालप्तिः)

रागालप्तिस्तु सा या स्यादनपेक्ष्यैव रूपकम्॥ १९०॥

रागालप्ति

१९० ग-घ. (अ०) **सा तु रागालप्तिः** वह तो रागालप्तिः (है) **या** जो **रूपकम् अन्-अपेक्ष्य-एव** रूपक (बन्दिश) की अपेक्षा के बिना ही **स्यात्** होती है।

(सर०) कारिका में 'तु' शब्द का प्रयोग रागालप्ति की रूपकालप्ति से विशेषता दिखाने के लिये किया गया है। 'रूपक' का अर्थ प्रबन्ध है जिसे आज 'बन्दिश' कहा जाता है। ध्रुपद शैली में बन्दिश शुरू करने से पहले किया जाने वाला 'नोम्-तोम्' या तन्त्रीवाद्यों का 'आलाप-जोड़-झाला' रागालप्ति है।

शार्ङ्गदेव ने प्रबन्धाध्याय में प्रबन्ध के लिये तीन संज्ञाएँ दी हैं—प्रबन्ध, वस्तु और रूपक (४/६)। यहाँ प्रबन्ध के पर्याय के रूप में रूपक शब्द का प्रयोग हुआ है।

स्वस्थानैः सा चतुर्भिः स्यादिति गीतविदो विदुः।

१९१ क-ख. (अ०) **सा** वह **चतुर्भिः स्वस्थानैः स्यात्** चार 'स्वस्थानों' के द्वारा होती है **इति** ऐसा **गीतविदः विदुः** गीत के वेत्ता जानते हैं।

(सर०) कल्लि० ने 'स्वस्थान' का अर्थ 'राग के आलपन के विश्रान्ति स्थान' किया है। इसलिये स्वस्थान आलप्ति के खण्ड हैं। बन्दिश में आलप्ति करते समय तो धातु, अंगों या विदारियों के आधार पर स्वरों की सीमा या खण्ड स्वतः बन जाते हैं लेकिन बन्दिश के बिना राग का विस्तार करने के लिये खण्ड-विभाजन की ज़रूरत होती है। आलप्ति में किस स्वर तक सीमा निर्धारित रख कर खण्ड बनाए जायँ यानी स्वरों की ऊपरी सीमा क्या हो और खण्ड कहाँ समाप्त हो यह 'स्वस्थान' से ही सूचित होता है। चार स्वस्थानों से रागालप्ति चार खण्डों में संपन्न होती है इसीलिये यह कहा है कि रागालप्ति चार स्वस्थानों के द्वारा होती है।

यत्रोपवेश्यते रागः स्वरे स्थायी स कथ्यते॥ १९१॥

१९१ ग-घ. (अ०) **यत्र स्वरे** जिस स्वर पर **रागः उपवेश्यते** राग स्थापित होता है **सः** वह **स्थायी कथ्यते** स्थायी (स्वर) कहा जाता है।

(सर०) जो स्वर राग के स्वरूप के निर्माण का आधार होता है राग उसी से स्थापित होता है और वह राग में स्थायी रूप से रहने के कारण राग का स्थायी स्वर कहलाता है। स्थायी स्वर राग का 'अंश' स्वर ही होता है, और उसे 'जीवस्वर' भी कहा जाता है। ग्रन्थकार ने आलप्ति के निरूपण में यहाँ 'स्थायी' का और कुछ आगे चल कर 'जीवस्वर' शब्द का प्रयोग किया है।

ततश्चतुर्थो द्व्यर्धः स्यात् स्वरे तस्मादधस्तने।
चालनं मुखचालः स्यात् स्वस्थानं प्रथमं च तत्॥ १९२॥

१९२. (अ०) **ततः चतुर्थः** उस (स्थायी स्वर) से चौथा **द्व्यर्धः स्यात्** 'द्व्यर्ध' होता है। **तस्मात्** उस (द्व्यर्ध) से **अधः तने स्वरे** निचले स्वर पर (तक) **चालनं** चालन (संचार करना) **मुखचालः स्यात्** 'मुखचाल' होता है **तत् च** और वह **प्रथमं स्वस्थानं** प्रथम 'स्वस्थान' (कहा जाता है)।

(सर०) 'स्थायी' स्वर से दुगना यानी उसका आठवाँ, तार स्वर और दुगने का आधा यानी चौथा 'द्व्यर्ध' (द्वि + अर्ध)

होता है। उस चौथे से नीचे यानी तीसरे स्वर तक संचार करना 'मुखचाल' या प्रथम 'स्वस्थान' कहा जाता है।

कल्लि० के अनुसार 'द्व्यर्ध से नीचे'—इस कथन के द्वारा स्थायी से नीचे के अर्थात् मन्द्रस्थान में भी चालन करना चाहिये अन्यथा राग की 'प्रतीति' यानी स्वरूप की अनुभूति नहीं होती। चौथा स्वर कहने में लोप्य स्वर भी गिना जाता है। जैसे सारंग में गान्धार वर्जित होने पर भी सा से चौथा म ही होगा प नहीं। चालन करने का अर्थ है 'रागोचित' यानी राग के नियमानुसार स्फुरित, कम्पित आदि गमकों का प्रयोग करते हुए गान-वादन में विस्तार करना। 'मुखचाल' को कल्लि० ने अन्वर्थ संज्ञा कहा है और यह भी कहा है कि स्थायी स्वर पर समाप्त करने पर प्रथम स्वस्थान होता है। अन्य तीन स्वस्थानों में भी समापन स्थायी स्वर पर ही होता है, यह भी कल्लि० की टीका से प्रकट है।

सिंह० की टीका में कहा गया है कि द्व्यर्ध से नीचे के यानी तीसरे स्वर का पुनरुच्चारण करते हुए चालन करना मुखचाल है। उसके अनुसार वंशीवादकों में 'मुखचाल' शब्द प्रसिद्ध है। पार्श्वदेव ने स्थायी स्वर के आधार पर राग के 'आरोपण' यानी अभिव्यक्ति को 'रागवक्त्र' कहा है (सं० स० सार,३/१६)। मुखचाल और रागवक्त्र लगभग समानार्थक हैं। दोनों का तात्पर्य राग का मुख दिखाना है।

यह ध्यान रहे कि तत्कालीन संगीत में किसी राग का स्थायी स्वर षड्ज से भिन्न भी हो सकता था, आज की तरह षड्ज ही सब रागों का स्थायी स्वर नहीं होता था। इसलिये आलप्ति के स्वस्थानों में स्वरों की गिनाई षड्ज के आधार पर नहीं बल्कि जिस राग में जो स्थायी स्वर हो उसी के अनुसार होती थी।

द्व्यर्धस्वरे चालयित्वा न्यसनं तद् द्वितीयकम्।

१९३ क-ख. (अ०) **द्व्यर्धस्वरे चालयित्वा** द्व्यर्ध स्वर तक चालन करके **न्यसनं** न्यास करना **तत्** वह **द्वितीयकं** द्वितीय (स्वस्थान होता है)।

(सर०) कल्लि० के अनुसार पूर्वोक्त स्वरों के सहित स्थायी से चौथे स्वर तक चालन करके स्थायी स्वर पर न्यास करने से द्वितीय स्वस्थान होता है। सिंह० के अनुसार द्व्यर्ध स्वर पर समाप्त करने से द्वितीय स्वस्थान होता है।

स्थायिस्वरादष्टमस्तु द्विगुणः परिकीर्तितः॥ १९३॥
द्व्यर्धद्विगुणयोर्मध्ये स्थिता अर्धस्थिताः स्वराः।
अर्धस्थिते चालयित्वा न्यसनं तु तृतीयकम्॥ १९४॥

१९३ ग-१९४. (अ०) **स्थायिस्वरात्** स्थायी स्वर से **अष्टमः तु** आठवाँ (स्वर) तो **द्विगुणः परिकीर्तितः** 'द्विगुण' प्रसिद्ध है। **द्व्यर्ध-द्विगुणयोः मध्ये स्थिताः** द्व्यर्ध और द्विगुण के बीच में स्थित **अर्धस्थिताः स्वराः** 'अर्धस्थित' स्वर (होते हैं) **अर्धस्थिते चालयित्वा** 'अर्धस्थित' में चालन करके **न्यसनं तु** (स्थायी स्वर पर) न्यास करना तो **तृतीयकं** तीसरा (स्वस्थान है)।

(सर०) द्व्यर्ध और द्विगुण के बीच का अर्थ है चौथे से आठवें के बीच यानी पाँचवें से सातवें स्वर तक चालन करते हुए स्थायी स्वर पर न्यास करने से तृतीय स्वस्थान होता है, यह कल्लि० की व्याख्या में कहा गया है। सिंह० ने तीसरे स्वस्थान की समाप्ति किसी अर्धस्थित स्वर पर करना कहा है।

द्विगुणे चालयित्वा तु स्थायिन्यासाच्चतुर्थकम्।
एभिश्चतुर्भिः स्वस्थानै रागालप्तिर्मता सताम्॥ १९५॥

१९५. (अ०) **द्विगुणे चालयित्वा** 'द्विगुण' तक चालन करके **स्थायिन्यासात् तु** स्थायी स्वर पर न्यास करने से तो **चतुर्थकं** चौथा (स्वस्थान होता है)। **एभिः चतुर्भिः स्वस्थानैः** इन चार स्वस्थानों के द्वारा **सतां** विद्वानों (के मत) में **रागालप्तिः मता** 'रागालप्ति' मानी गई (है)।

(सर०) कल्लि० के अनुसार 'द्विगुण' पद से द्विगुण से आगे के स्वरों का भी ग्रहण होता है। इस प्रकार चतुर्थ स्वस्थान में राग के नियमानुसार मन्द्र-तार की पूरी सीमा में आलप्ति होने से राग का संपूर्ण स्वरूप व्यक्त होता है।

स्तोकस्तोकैस्ततः स्थायैः प्रसन्नैर्बहुभङ्गिभिः।
जीवस्वरव्याप्तिमुख्यै रागस्य स्थापना भवेत्॥ १९६॥

१९६. (अ०) ततः तब (अर्थात् ऐसा होने पर) **जीवस्वरव्याप्तिमुख्यैः** जीवस्वर (अंशस्वर) को मुख्य रूप से व्याप्त करने वाले, **प्रसन्नैः** चातुर्ययुक्त, **बहुभङ्गिभिः** अनके (प्रकार की) भंगी वाले **स्तोकः स्तोकः स्थायैः** छोटे-छोटे स्थायों के द्वारा **रागस्य** राग की **स्थापना भवेत्** स्थापना होती है।

(सर०) किसी भी राग में उसके निजी संचार और 'अन्यरागसाधारण' अर्थात् दूसरे रागों में भी प्रयुक्त हो सकने वाले संचार होते हैं। उक्त चार स्वस्थानों में राग के अपने छोटे-छोटे स्थायों के द्वारा विस्तार करने पर राग अभिव्यक्त होता है। लेकिन अन्य रागों में साधारण स्थायों के प्रयोग से स्वरूप का तिरोभाव होने पर कुछ प्रतीयमानता होती है यानी राग का रूप कुछ ढक जाने पर भी उसका अपना स्वरूप बना रहता है। कल्लि० ने लोक (दैनिक जीवन) के दो दृष्टान्तों के द्वारा उक्त तथ्य को बड़े सार्थक और रोचक ढंग से समझाया है। पहले उदाहरण का आशय यह है कि जैसे घर में एक तरह की वेशभूषा, भाषा आदि के द्वारा परिचित देवदत्त नाम का कोई व्यक्ति उक्त वेशभूषादि से अलग तरह की वेशभूषा में किसी सभा में जा बैठे तो बाहरी भिन्नता के कारण उसके स्वरूप का कुछ तिरोभाव होते हुए भी उसकी आकृति के कारण उसकी पहचान बनी रहती है। दूसरे दृष्टान्त के अनुसार अलग-अलग रंगों के मणि अगर मोती के साथ पिरो दिये जायँ तो मोती पर उनकी छाया पड़ने से उसका अपना स्वरूप पूरा-पूरा व्यक्त नहीं हो पाता। फिर भी मोती अपनी कान्ति के कारण पहचाना ही जाता है। दोनों उदाहरणों का आशय यह है कि इसी तरह राग के स्वरूप के विरोभाव की स्थिति में भी उसकी किंचित् प्रतीयमानता बनी रहती है और आविर्भाव होने पर फिर से पूरा स्वरूप व्यक्त हो जाता है।

रागालप्ति के उक्त विवरण में ये बिन्दु व्यक्त होते हैं—१. रूपक यानी बन्दिश के बिना होने के कारण इसमें सार्थक शब्द नहीं होते। २. रागालप्ति तालबद्ध नहीं होती। ३. चार खण्डों (स्वस्थानों) में विभक्त करके आलप्ति की जाती है। पहले खण्ड में स्थायी से तीसरे स्वर तक, दूसरे में चौथे स्वर तक, तीसरे में सातवें तक और चौथे में आठवें स्वर को लेते हुए। ४. सभी खण्डों की समाप्ति स्थायी स्वर पर ही की जाती है। ५. सभी में राग के नियमानुसार स्थायी से नीचे यानी मन्द्र में जाने की छूट है। ६. चौथे खण्ड में आठवें स्वर से ऊपर यानी तारस्थान में भी राग के नियमानुसार स्वर प्रयोग किया जा सकता है। ७. चारों खण्डों में लोप्य स्वरों को लेकर ही स्वरों की संख्या गिनी जाती है। ८. यह अनिबद्ध है अर्थात् पूर्वरचित नहीं है।

आज के लक्ष्य में ध्रुपद का 'नोम्-तोम्' आलाप रागालप्ति का ही रूप है लेकिन उसमें निरर्थक अक्षर जोड़ दिये गये हैं जिसे गीतकों के 'उपोहन' नामक अंग में 'वाक्करणों' (विशेष निरर्थक अक्षर) के प्रयोग की परम्परा से संबद्ध कह सकते हैं। कुछ घरानों में ख़्याल की बन्दिश गाने से पहले 'आ'कार में या निरर्थक अक्षरों के साथ किया जाने वाला राग का आलाप भी रागालप्ति के सदृश है, यद्यपि इस तरह के विस्तृत आलाप की परम्परा ख़्याल शैली से लगभग लुप्त हो गई है। तंत्री वाद्यों का आलाप-जोड़-झाला भी रागालप्ति के समकक्ष है। यद्यपि इन सभी में रागालप्ति जैसा नियत स्वर पर आधारित खण्डविभाजन नहीं किया जाता बल्कि राग की क्रमशः बढ़त में राग के स्वरूप को ध्यान में रख कर गायक-वादक अपनी इच्छानुसार विभाजन करते हैं।*

(रूपकालप्तिः)

रूपकस्थेन रागेण तालेन च विधीयते।
या सोक्ता रूपकालप्तिः सा पुनर्द्विविधा भवेत्॥ १९७॥

---

* वर्तमान भारतीय संगीत में आलप्ति के स्वरूप के संदर्भ में द्रष्टव्य 'संगीत-संचयन' में प्रकाशित लेख क्रमांक १६, १७ और १८।

प्रतिग्रहणिकैकान्या भञ्जनीत्यभिधीयते।

१९७-१९८ ख. (अ०) **या** जो (जिस आलप्ति का) **रूपकस्थेन** रूपक (बन्दिश) में स्थित **रागेण तालेन च** राग और ताल के द्वारा **विधीयते** विधान किया जाता है **सा** वह **रूपकालप्तिः उक्ता** 'रूपकालप्ति' कही गई (है)। **सा पुनः** वह फिर से **द्विविधा भवेत्** दो प्रकार से होती है—**एका प्रतिग्रहणिका** एक प्रतिग्रहणिका (और) **अन्या भञ्जनी** दूसरी 'भञ्जनी' **इति अभिधीयते** यों (इस नाम से) कही जाती है।

(सर०) 'रूपक में स्थित राग और ताल' का अर्थ है जिस राग और जिस ताल में बन्दिश की रचना हुई हो उसी राग में और उसी ताल के अनुसार जो आलप्ति की जाय वह रूपक के आधार पर, रूपक के साथ होती है इसीलिये वह 'रूपकालप्ति' है। आज के लक्ष्य में बन्दिश के साथ होने वाले आलाप, बोल आलाप, बोलतान, तान आदि विस्तार के प्रकार इसके अन्तर्गत आते हैं। इसी प्रकार वादन में 'गत' के साथ किया जाने वाला विस्तार भी रूपकालप्ति का रूप कहा जायगा।

रूपकालप्ति दो तरह की होती है—एक 'प्रतिग्रहणिका' और दूसरी 'भञ्जनी'। प्रतिग्रहणिका का शब्दार्थ है 'फिर से ग्रहण करने वाली' यानी वह प्रकार जिसमें आलप्ति करके फिर से गीत का ग्रहण किया जाय। 'भञ्जनी' का शब्दार्थ है 'तोड़ने वाली' या 'टुकड़े करने वाली'। जिसमें गीत की 'धातु' (स्वरसंचार) को खंडित करके यानी बदल-बदल कर आलप्ति की जाय वह 'भञ्जनी' है। इनके लक्षण अगले श्लोकों में दिए गए हैं।

(प्रतिग्रहणिकारूपकालप्तिः)

विधाय स्थायमालप्ते रूपकावयवो यदि॥ १९८॥
प्रतिगृह्येत सा प्रोक्ता प्रतिग्रहणिका बुधैः।

प्रतिग्रहणिका रूपकालप्ति

१९८ ग-१९९ ख. (अ०) **आलप्तेः** आलप्ति के **स्थायं विधाय** स्थाय (रागावयव) का विधान (प्रयोग) करके **यदि** अगर **रूपक-अवयवः** प्रबन्ध का अवयव (रूप एक भाग) **प्रतिगृह्येत** फिर से ग्रहण कर लिया जाय (तो) **सा** वह **बुधैः** बुद्धिमानों के द्वारा **प्रतिग्रहणिका प्रोक्ता** 'प्रतिग्रहणिका' कही गई (है)।

(सर०) आलप्ति के स्थाय का विधान करने का इंगित रागालप्ति है जो अक्षरों या शब्दों के बिना की जाती है। इसलिये राग के अवयवरूप स्थायों का 'आ'कार में गान करके गीत के एक अवयव का जिसे आज की भाषा में बन्दिश का 'मुखड़ा' कह सकते हैं, स्थायों के बाद फिर-फिर ग्रहण किया जाय तो वह 'प्रतिग्रहणिका' कही जायगी।

वर्तमान लक्ष्य में ख़्याल शैली में बन्दिश गाने के बाद शब्दों के बिना किया जाने वाला आलाप और तान प्रतिग्रहणिका के रूप ही हैं।

सिंह० ने आलप्ति के स्थाय का अर्थ रागालप्ति का 'स्वस्थान' रूप अवयव किया है। यहाँ स्वस्थान का अर्थ पूरा खण्ड विशेष नहीं बल्कि उसका अंशमात्र है। स्वस्थान की सार्थकता रागालप्ति में ही हैं क्योंकि इसमें खण्ड विभाजन स्वर के द्वारा ही करते हुए व्यवस्थित रूप से राग की स्थापना की जाती है लेकिन प्रतिग्रहणिका रूपकालप्ति में खण्ड बनाने की जरूरत नहीं होती बल्कि पदों के मान को बनाए रख कर नए-नए स्वरसंचारों से विविधता उत्पन्न की जाती है।

(भञ्जनीरूपकालप्तिः)

भञ्जनी द्विविधा ज्ञेया स्थायरूपकभञ्जनात्॥ १९९॥

भञ्जनी रूपकालप्ति

१९९ ग-घ. (अ०) स्थाय-रूपकभञ्जनात् 'स्थाय' (एक भाग) और 'रूपक' (पूरे प्रबन्ध) के भंजन (टुकड़े करने) से भञ्जनी 'भञ्जनी' द्विविधा दो प्रकार से ज्ञेया जानी गई (है)।

(सर०) इन दोनों का लक्षण अगले श्लोकों में दिया जा रहा है।

(स्थायभञ्जनी)

यदा तत्पदमानेन स्थायो रूपकसंस्थितः।
नानाप्रकारः क्रियते सा ज्ञेया स्थायभञ्जनी॥ २००॥

स्थायभञ्जनी

२००. (अ०) **यदा** जब **रूपकसंस्थितः स्थायः** रूपक में स्थित (अर्थात् प्रबन्ध के अन्तर्गत) स्थाय **तत्** उसके (रूपक के ही) **पदमानेन** पद के मान से **नानाप्रकारः क्रियते** अनेक प्रकार वाला किया जाता है **सा** वह **स्थायभञ्जनी ज्ञेया** 'स्थायभञ्जनी' जानी गई (है)।

(सर०) जैसा कल्लि० ने कहा है यहाँ 'स्थाय' का अर्थ प्रबन्ध का 'एकदेश' (एक भाग) है इसलिये प्रबन्ध के किसी एक भाग के शब्दों को लेकर किया जाने वाला विस्तार 'स्थायभञ्जनी' है। लेकिन उसमें पद के मूलमान को सुरक्षित रखना जरूरी है। पद के अक्षरों को प्रबन्ध में जितना काल (मात्रा या मात्रांश) दिया गया हो उसे बनाये रखना यहाँ अभिप्रेत है। गीत या बन्दिश के एक या ज़्यादा शब्दों को लेकर की जाने वाली, ध्रुपद शैली की बोलबाँट; ख़्याल शैली के बोल आलाप, बोलतान, बहलावे; ठुमरी शैली का बोलबनाव; तराने का 'दिर दिर' का काम आदि—रागविस्तार के ये सभी प्रकार इसके अन्तर्गत आ सकते हैं। लेकिन भंजनी आलप्ति के दोनों ही प्रकारों में गीत के शब्दों का मूलमान नहीं बदलता जब कि ऊपर कहे गए आज के सभी प्रकारों में पद के मूलमान को बनाए रखना ज़रूरी नहीं है। यह उल्लेखनीय है कि कर्णाटक संगीत में 'संगति' और 'निरवल' में स्थायभंजनी आज भी प्रयुक्त होती है क्योंकि इनमें शब्दों का मूलमान वैसा ही रहता है।

(रूपकभञ्जनी)

तैः पदैस्तेन मानेन समग्रं रूपकं यदि।
अन्यथा चान्यथा गायेदसौ रूपकभञ्जनी॥ २०१॥

रूपकभञ्जनी

२०१. (अ०) **यदि** अगर **तैः पदैः** उन्हीं (प्रबन्ध के ही) पदों से (और) **तेन मानेन** उसी (प्रबन्ध के पदों के ही) मान से **समग्रं रूपकं** पूरा प्रबन्ध **अन्यथा च अन्यथा** अलग-अलग प्रकार से (मूल 'धातु' से भिन्न करके) **गायेत्** गाया जाय (तो) **असौ** यह **रूपकभञ्जनी** 'रूपकभञ्जनी' (होती है)।

(सर०) कल्लि० ने स्पष्ट किया कि 'पदैः' का अर्थ भाषा के सुबन्त आदि (यानी सार्थक शब्द) नहीं बल्कि जैसे वाक्य में पद उसके अवयव होते हैं उसी तरह प्रबन्ध के अवयव यानी विदारीरूप खण्डों को पद समझना चाहिये। **अन्यथा** शब्द प्रबन्ध की प्रकृत धातु (यानी जिस गेय में वह रचित है उस) से भिन्न धातु का ग्रहण करने का सूचक है। **अन्यथा चान्यथा** बार-बार करना सूचित करता है इसलिये प्रयोज्य राग के अनुसार गमक आदि का प्रयोग करते हुए प्रबन्ध के स्थायों के आधार पर हर बार अलग-अलग ढंग से गाने से 'रूपकभञ्जनी' रूपकालप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि पूरे प्रबन्ध के शब्दों को उनका मान बदले बिना नया-नया स्वरसंयोजन करते हुए गाना चाहिये। ऐसा करने से पूरी स्वररचना भिन्न हो जाने पर भी राग के पहले प्रयुक्त न हुए स्थायों के प्रयोग और भंजन से प्रकटीकरण होने के कारण राग की प्रतीयमानता होती है।

कल्लि० ने इस स्थिति को स्पष्ट करने के लिये प्रकारान्तर से देवदत्त और मोती के पूर्वोक्त दृष्टान्त दोहराये हैं। जनसमाज में आकर बैठे हुए देवदत्त के, सब लोगों के बीच मिल जाने से स्वरूप की प्रतीति (पूरी-पूरी पहचान) नहीं होती, कुछ-कुछ पहचान ही हो पाती है। लेकिन अगर वह किसी काम से उठकर कहीं जाय और फिर लौटे तो उसकी अगल से पहचान हो जाने से उसके स्वरूप का आविर्भाव हो जाता है। अथवा अलग-अलग रंग के मणियों के बीच पिरोए हुए मोती की पूरी प्रतीति नहीं होती। लेकिन धागा ढीला कर देने पर मोती के सरक कर मणियों से अलग हो जाने पर उसके स्वरूप का आविर्भाव हो जाता है। उसी तरह रूपकालप्ति में भी राग का आविर्भाव-तिरोभावमूलक प्रकटीकरण समझना चाहिये।

वर्तमान लक्ष्य में उत्तर भारतीय और कर्णाटक संगीत में स्थायभञ्जनी तो कुछ परिवर्तित रूप में जीवित है लेकिन दोनों में से किसी में भी रूपकभञ्जनी का प्रयोग दिखाई नहीं देता। वह अत्यन्त कठिन है और उसके लिये विशेष प्रतिभा चाहिये। अगर रूपकालप्ति का यथावत् प्रयोग किया जाय तो विविधता, विचित्रता और नवीनता उत्पन्न करने के लिये और गायक की प्रतिभा की अभिव्यक्ति के लिये इसमें बड़ा क्षेत्र है।

कल्लि० के अनुसार गायक-वादक अपनी प्रतिभा-विशेष से स्थायभंजनी में स्थायों की नाना प्रकार से उद्‌भावना करता है। लेकिन यह ध्यान देने की बात है कि स्थायभंजनी की अपेक्षा रूपकभंजनी में ज़्यादा प्रतिभा अपेक्षित है क्योंकि जहाँ पहले प्रकार में केवल एक अंश को भिन्न-भिन्न प्रकार से गाया जाता है वहीं दूसरे में पूरा रूपक ही हर बार नया हो जाता है।

वर्णालङ्कारसंपन्ना गमकस्थायचित्रिता।
आलप्तिरुच्यते तज्ज्ञैर्भूरिभङ्गिमनोहरा॥ २०२॥

२०२. (अ०) **आलप्तिः** आलप्ति **तत्-ज्ञैः** उसके ज्ञाताओं के द्वारा **वर्ण-अलङ्कारसम्पन्ना** वर्ण (और) अलंकार से संपन्न, **गमक-स्थायचित्रिता** गमक (और) स्थाय से चित्रित (रंग-बिरंगी की गई) **भूरिभङ्गिमनोहरा** (और) अनेक भंगियों (वलनों) से मनोहर (होती है)।

(सर०) आलप्ति का भेद-प्रभेदों सहित निरूपण करने के बाद अन्त में उपसंहार करते हुए आलप्ति के सभी प्रकारों में रहने वाला सामान्य लक्षण यहाँ दिया गया है।

कारिका में सभी विशेषण स्त्रीलिंगवाची हैं क्योंकि आलप्ति शब्द स्त्रीलिंग है। कल्लि० के अनुसार इन विशेषणों से यह ध्वनित होता है कि ग्रन्थकार ने आलप्ति में स्त्रीमूर्ति की कल्पना की है। पुल्लिंग शब्द आलाप आविर्भावप्रधान होने से राग के स्वरूप को उघाड़ने वाला है और नपुंसकलिंग आलपन साम्यावस्था का द्योतक होने से विचित्रता या विविधता के अभाव का सूचक है। लेकिन राग का कभी आविर्भाव और कभी तिरोभाव कामिनी की प्रतिक्षण परिवर्तित होने वाली भंगिमाओं की तरह स्त्रीलिंग आलप्ति में ही रह सकते हैं। इसीलिये ग्रन्थकार ने आलप्ति शब्द को प्रधान रखा है। ऐसे विशिष्ट स्वरूप वाली आलप्ति, कल्लि० के शब्दों में, सहृदयों की प्रतिभा का विषय है।

आलप्ति के संदर्भ में वर्तमान लक्ष्य को देखें तो यह स्पष्ट है कि आज का आलाप राग के पूरे अनिबद्ध विस्तार का एक अंश या भाग है, यद्यपि वह सबसे प्रधान है, जब कि शार्ङ्गदेव की आलप्ति में संपूर्ण अनिबद्ध विस्तार का समावेश है।

रागाध्याय में आलाप और रूपक—आलाप के ये दो प्रकार दिये जा चुके हैं। इनमें से पहले को रागालाप कहा गया है। दूसरा भी आलाप है इसलिये उसको रूपकालाप कह सकते हैं। आलाप का आलप्ति से क्या भेद है इसे यहाँ समझना ज़रूरी है।

यह कहा जा चुका है कि रागालाप संक्षिप्त होता है, राग के लक्षणों का प्रत्यक्ष ज्ञान कराना ही उसका प्रयोजन है, उसमें खण्डविभाजन नहीं होता, तालबद्ध नहीं होता; वर्ण, अलंकार, गमक, स्थाय आदि का आलप्ति जैसा प्रयोग न होने से विविधता या विचित्रता नहीं होती और न राग का कोई व्यक्तित्व या मूर्ति बनती है। आलप्ति का एक प्रकार रागालप्ति रागालाप का ही

विस्तार है क्योंकि राग के लक्षण उसमें भी रहते हैं लेकिन उसमें शब्दों के बिना सिर्फ़ स्वरों के द्वारा राग का सम्पूर्ण स्वरूप व्यक्त होकर उसकी एक मूर्ति बनती है, ग्रन्थकार के शब्दों में राग की 'स्थापना' होती है। और यह स्वस्थानों के द्वारा व्यवस्थित रूप से किये जाने वाले क्रमिक विस्तार से संभव होता है। रूपकालप्ति, आलप्ति का दूसरा प्रकार, रूपक के साथ उसी के राग, पद और ताल से होती है इसलिये उसमें क्रमिक विस्तार तो अपेक्षित नहीं होता लेकिन उसके द्वारा प्रबन्ध की धातु (गेय या स्वरयोजना) का प्रबन्ध के पद और ताल के द्वारा विस्तार होता है, प्रबन्ध की धातु के आधार पर ही राग की विविध भंगिमाएँ प्रकट करते हुए राग की स्थापना होती है। रागालप्ति में राग के नियमों के अलावा और किसी तरह का बन्धन न रहने से पूरा अवधान स्वर पक्ष पर रहता है इसलिये मुक्त होकर सहज रूप से प्रवाहित होती है। किन्तु रूपकालप्ति में स्वर के साथ-साथ पद और ताल में भी अवधान अपेक्षित होने के कारण वह ज़्यादा प्रयत्नसाध्य है।

इस प्रकार रागालाप की तुलना में आलप्ति बहुत विस्तृत है और राग के व्यक्तित्व का निर्माण करते हुए चित्त का रंजन करती है। रागालाप का प्रयोजन राग के रूप का बोध कराना मात्र है।

रागालाप की व्याख्या में यह कहा गया कि राग के कोई अलग लक्षण नहीं कहे गए बल्कि जातिलक्षण ही ले लिये गये क्योंकि राग जातियों से ही उत्पन्न माने गए हैं। इसका प्रकट अर्थ यह है कि जाति और राग में तत्त्व या लक्षण की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। जाति के दस (शार्ङ्गदेव के अनुसार १३) लक्षण जाति के व्यापक स्वरूप का ही विश्लेषण है। यद्यपि जातियों में आलप्ति जैसे विस्तार का कोई उल्लेख उपलब्ध ग्रन्थों में प्राप्त नहीं है फिर भी यह कहा जा सकता है कि जाति में भी आलाप की संभावना थी क्योंकि जाति (या राग) का व्यापक रूप अनिबद्ध विस्तार के द्वारा ही प्रकट होता है। जातिलक्षणों में ही आलाप या आलप्ति का मूल है।

ना० शा० में नाट्य के पूर्वरंग में गेय कुछ गीतकों के शुरू में गाया जाने वाला 'उपोहन' नामक अंग आलाप जैसा ही था और वह गीतक की प्रस्तावनास्वरूप था, यद्यपि वह निबद्ध होता था, आलप्ति की तरह अनिबद्ध नहीं। इसी प्रकार नाट्य के भीतर गाई जाने वाली ध्रुवाओं में भी कभी-कभी भावी ध्रुवा के रंजन के लिये ध्रुवागीत से पहले तालरहित स्वरालाप का उल्लेख अभिनवगुप्त ने ध्रुवाध्याय की टीका में किया है (ना० शा०, ३२/३० पर अभि०)। गीतक के उपोहन की तरह ध्रुवा का आलाप भी ध्रुवा की धुन की प्रस्तावना कहा जा सकता है। रागालप्ति भी लगभग यही कार्य करती है, लेकिन विस्तार से करती है। इसलिये आलप्ति का मूल गीतक के उपोहन और ध्रुवा के स्वरालाप में भी देखा जा सकता है।

शार्ङ्गदेव के समय में देशी संगीत ही प्रचलित संगीत था, यह पहले कहा जा चुका है। उसके काल तक संख्या, स्वरूप और स्वतन्त्र व्यक्तित्व की दृष्टि से रागों का बहुत विस्तार हो चुका था। राग के पूरे स्वरूप और व्यक्तित्व की पहचान तथा गायक-वादक की कल्पना, क्षमता और प्रतिभा की अभिव्यक्ति आलप्ति के द्वारा ही होती थी, आज भी ऐसा ही है। इसीलिये शार्ङ्गदेव ने आलप्ति के निरूपण को इतना महत्त्व दिया। सं० र० में तो गान-वादन के अलावा नृत्त में भी आलप्तिगान का उल्लेख है (७/१२८६-८९)।

आलप्ति के पार्श्वदेव द्वारा किये गये निरूपण से आलप्ति पर कुछ ज़्यादा प्रकाश पड़ता है इसलिये उसकी भी संक्षिप्त चर्चा यहाँ उपयोगी होगी। पार्श्व० के अनुसार सभी गीतों और प्रबन्धों के आरंभ में आलप्ति वांछित है। आलप्ति दो प्रकार की होती है—विषमा और प्राञ्जला। इनके दो-दो प्रकार साक्षरा और अनक्षरा, फिर इनके दो-दो भेद सताल और अताल और फिर उनके दो-दो भेद शुद्ध और सालग—यों कुल मिला कर १६ प्रकार की आलप्ति होतीं हैं। इन्हें नीचे की सारिणी में देखा जा सकता है।

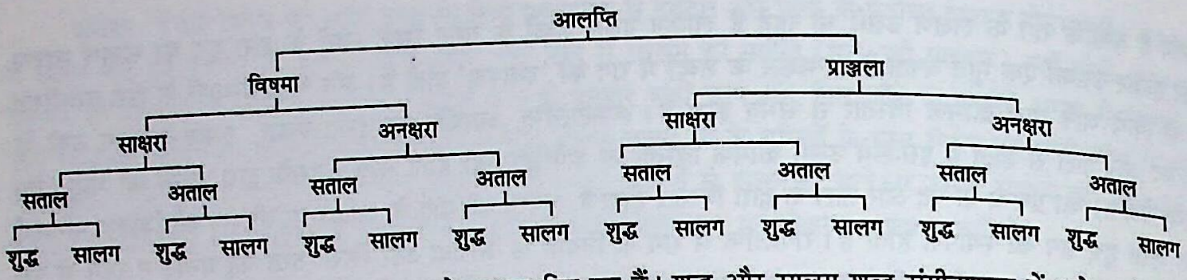

शुद्ध और सालग को प्रमुख बना कर इनके लक्षण दिए गए हैं। शुद्ध और सालग शब्द संगीतशास्त्र में अनेक संदर्भों में प्रयुक्त हुए हैं। सामान्यतः मूल और अमिश्रित रूप को शुद्ध और शुद्ध से विकसित या परस्पर मिश्रण से बने अथवा जिनमें शुद्ध की छाया हो उन्हें छायालग माना गया। छायालग का ही अपभ्रंश 'सालग' शब्द है। सं० स० सार में आलप्ति भेदों के संदर्भ में शुद्ध और सालग का अलग कोई स्पष्ट लक्षण तो नहीं दिया है लेकिन इन दोनों के अन्तर्गत विषमा-प्रांजला के लक्षणों से यह लगता है कि जिनमें तीन स्थान, चार वर्ण आदि के नियम से युक्त आलप्ति हो वह शुद्ध और इनके नियम से रहित सालग है। विषमा और प्रांजला का मुख्य भेदक लक्षण विषम प्रयोग और सरल प्रयोग है। तं, हं, शा, आ, द, न अक्षरों या मुरज के पाटाक्षरों के साथ या गीत के अक्षरों के द्वारा साक्षरा और अक्षरहीन होने पर निरक्षरा होती है। ग्रह, लय, यति, विदारी, न्यास-अपन्यास आदि से युक्त सताल और तालरहित हो तो अताल होती है (२/४६-६०)।

क्रियात्मक रूप में आलप्ति दो प्रकार की कही है—रागालप्ति और रूपकालप्ति। रागालप्ति में राग के शुद्ध रूप पर बल है और वह अताल होती है। रूपकालप्ति रूपक अर्थात् गीत या प्रबन्ध के साथ और तालयुक्त होती है। पहले स्वस्थानों से युक्त रागालप्ति गाई जाती है। उसके बाद अताल रूपक (रूपक नामक आलाप का प्रकार) गाया जाय जो लम्बा न हो। तब दो गायकों द्वारा सताल आलप्ति करते हुए रंजकतासहित रूपक (गीत या प्रबन्ध) को गाना चाहिये। जिस प्रबन्ध में जो स्थाय हों उन्हीं का अलग-अलग तरह से ग्रहण करना चाहिये। यह प्रतिग्रहण कहलाता है। जिस स्थाय का जैसा चालन हुआ हो उसी तरह उसका निवेशन और विविध भंगियों के साथ गीत का उपवेशन औचित्य के अनुसार यानी जहाँ जैसा चाहिये वैसा होना चाहिये। तदनुसार पहले रागालप्ति, उसके बाद संक्षिप्त रूपक आलाप और फिर प्रबन्ध और तब उसके अन्तर्गत आए स्थायों का विविध प्रकार से प्रयोग करते हुए रूपकालप्ति करनी चाहिये (वही, ३/२८-३२)।

पार्श्व० के इस विवरण से यह स्पष्ट है कि बन्दिश में जिन स्थायों का प्रयोग हुआ हो उन्हीं को अलग-अलग ढंग से और स्थाय के चलन के अनुसार गाने पर प्रतिग्रहणिका आलप्ति होती है।

(बृन्दलक्षणं तद्भेदाश्च)

गातृवादकसंघातो बृन्दमित्यभिधीयते।

वृन्द का लक्षण और उसके भेद

२०३ क-ख. (अ०) **गातृ-वादकसंघातः** गायक (और) वादकों का समूह **बृन्दम् इति अभिधीयते** 'बृन्द' इस प्रकार कहा जाता है।

(सर०) संस्कृत में वृन्द शब्द ही शुद्ध है लेकिन यहाँ मूल और टीकाओं में सब जगह 'बृन्द' ही पाठ दिया गया है। इससे यह समझ सकते हैं कि या तो त्रुटिवश 'वृन्द' का 'बृन्द' हुआ है अथवा ग्रन्थकार ने वृन्द के प्रचलित देशी रूप बृन्द का प्रयोग किया है। अतः हमने मूल में बृन्द रख कर अनुवाद और व्याख्या में प्रचलन के आधार पर वृन्द ही रखा है।

उत्तमं मध्यममथो कनिष्ठमिति तत् त्रिधा॥ २०३॥

२०३. ग-घ (अ०) **तत्** वह (वृन्द) **उत्तमं मध्यमम्** उत्तम, मध्यम **अथ** और **कनिष्ठम् इति त्रिधा** कनिष्ठ यों तीन प्रकार से (होता है)।

(सर०) गायकों और विभिन्न वाद्यों के वादकों की संख्या के आधार पर उत्तम आदि तीन भेद कहे हैं। सबसे ज़्यादा संख्या वाला उत्तम, उससे आधी संख्या होने पर मध्यम और उससे भी कम संख्या वाला कनिष्ठ यानी छोटा वृन्द होता है।

(गायनबृन्दम्)

चत्वारो मुख्यगातारो द्विगुणाः समगायनाः।
गायन्यो द्वादश प्रोक्ता वांशिकानां चतुष्टयम्॥ २०४॥

मार्दङ्गिकास्तु चत्वारो यत्र तद्बृन्दमुत्तमम्।

गायकवृन्द

२०४-२०५ ख. (अ०) **यत्र** जहाँ **चत्वारः मुख्यगातारः** चार मुख्य गायक, **द्विगुणाः समगायनाः** दुगने सम (सह) गायक, **द्वादश गायन्यः** बारह गायिकाएँ, **वांशिकानां चतुष्टयं** वंशीवादकों का चार का समूह (और) **मार्दङ्गिकाः तु चत्वारः** मृदंगवादक तो चार **प्रोक्ताः** कहे गए (हैं) **तत्** वह **उत्तमं बृन्दम्** उत्तम वृन्द (होता है)।

(सर०) उत्तम में ४ मुख्य गायक और ८ सहगायकों के साथ १२ गायिकाएँ भी सम्मिलित हैं। वादकों में ४ सुषिरवादक और ४ अवनद्ध वादक भी हैं। इस प्रकार ३२ गायक, गायिकाओं और वादकों से उत्तम वृन्द होता है।

मध्यमं स्यात्तदर्धेन,

२०५ ग. (अ०) **तत् अर्धेन** उस (उत्तम वृन्द) से आधे से **मध्यमं स्यात्** मध्यम (गायक वृन्द) होता है।

(सर०) आधे का अर्थ है २ मुख्य गायक, ४ सहगायक, ६ गायिकाएँ, २ वंशीवादक और २ अवनद्ध वादक— यों कुल १६ गायक, गायिकाओं और वादकों का समूह मध्यम वृन्द है।

कनिष्ठे मुख्यगायनः॥ २०५॥

एकः स्यात् समगातारस्त्रयो गायनिकाः पुनः।
चतस्रो वांशिकद्वन्द्वं तथा मार्दलिकद्वयम्॥ २०६॥

२०५ घ-२०६. (अ०) **कनिष्ठे** कनिष्ठ (वृन्द) में **मुख्यगायनः** मुख्य गायक **एकः स्यात्** एक होता है, **समगातारः त्रयः** सहगायक तीन **पुनः** और **गायनिकाः चतस्रः** गायिकाएँ चार, **वांशिकद्वन्द्वं** वंशीवादकों का जोड़ा (अर्थात दो) **तथा मार्दलिकद्वयं** और मर्दलवादक दो (होते हैं)।

(सर०) यह ध्यान देने की बात है कि मुख्य गायकों की संख्या तो क्रमशः आधी-आधी हुई है लेकिन मध्यम की अपेक्षा कनिष्ठ में सहगायक ४ से घटा कर ३ रखे गये हैं और गायिकाएँ चार हैं। साथ ही कनिष्ठ में वादक मध्यम जितने ही हैं। इस ओर भी ध्यान देना ज़रूरी है कि तीनों में से किसी में भी घनवाद्य का उल्लेख नहीं है जब कि ताल के लिये घनवाद्य का ही प्रयोग होता था। संभवतः यह प्रयोक्ता की इच्छा पर छोड़ दिया है कि वह आवश्यकता के अनुरूप घनवादकों को सम्मिलित कर ले। उसे वृन्द का अभिन्न अंग मान कर अलग से उल्लेख करना ज़रूरी नहीं समझा गया।

(गायनीबृन्दम्)

उत्तमे गायनीबृन्दे मुख्यगायनिकाद्वयम्।
दश स्युः समगायन्यो वांशिकद्वितयं तथा॥ २०७॥

भवेन्मार्दलिकद्वन्द्वं,

गायिकावृन्द

२०७-२०८ क. (अ०) **उत्तमे गायनीबृन्दे** उत्तम गायिकावृन्द में **मुख्यगायनिकाद्वयं** मुख्य गायिका दो (और) **समगायन्यः** समगायिकाएँ **दश स्युः** दस होती हैं, **वांशिकद्वितयं** दो वंशीवादक **तथा** और **मार्दलिकद्वन्द्वं भवेत्** मर्दलवादकों का जोड़ा (अर्थात् दो) होता है।

(सर०) उत्तम गायिकावृन्द में २ मुख्य गायिका, १० समगायिका, २ वंशीवादक और २ मर्दल वादक, यों कुल संख्या १६ है। गायकवृन्द की अपेक्षा आधी संख्या से ही उत्तम गायिकावृन्द कहा है।

गायकवृन्दों में मुख्य गायक और गायिकाओं में एक-तीन या चार का अनुपात रखा गया है क्योंकि गान स्त्रियों में सहज माना गया है और मधुर कण्ठ के कारण गायिकाओं के रहने से रंजकता बढ़ती है। लेकिन गायिका वृन्दों में एक भी पुरुष गायक नहीं है। उत्तम गायकवृन्द में चार मुख्यगायकों की तुलना में उत्तम गायिकावृन्द में उससे आधी यानी दो ही गायिकाएँ हैं और वादक २-२ ही हैं। समगायिकाओं की संख्या जरूर गायकवृन्द की अपेक्षा ज्यादा है।

मध्यमे मुख्यगायनी।
एका स्यात् समगायन्यश्चतस्रो वांशिकस्तथा॥ २०८॥

२०८ ख-घ. (अ०) **मध्यमे** मध्यम (गायिकावृन्द) में **मुख्यगायनी** मुख्य गायिका **एका स्यात्** एक होती है, **समगायन्यः चतस्रः** समगायिकाएँ चार **तथा** और **वांशिकः** (एक) वंशीवादक (होता है)।

(सर०) इसमें अवनद्ध वादक का उल्लेख नहीं है। कुल संख्या ६ है जिसमें १ मुख्य गायिका, ४ समगायिका और एक वंशीवादक है।

इतो न्यूनं तु हीनं स्याद्यथेष्टमथवा भवेत्।

२०९ क-ख. (अ०) **इतः न्यूनं तु** इससे कम तो **हीनं स्यात्** 'हीन' होता है **अथवा** अथवा **यथा-इष्टं भवेत्** जैसी इच्छा वैसा (अर्थात् आवश्यकतानुसार) होता है।

(सर०) मध्यम से कम संख्या होने पर 'हीन' यानी छोटा गायिकावृन्द कहा है। स्वाभाविक है कि गायिका और वंशीवादक तो एक-एक होने ही चाहियें, समगायिकाओं की संख्या ही कम की जा सकती है।

उत्तमाभ्यधिकं बृन्दं कोलाहलमितीरितम्॥ २०९॥

२०९ ग-घ. (अ०) **उत्तमाभि-अधिकं** उत्तम से ज्यादा (बड़ा) **बृन्दं** वृन्द **कोलाहलम् इति ईरितं** 'कोलाहल' यों (इस नाम से) कहा गया है।

(सर०) गायकवृन्द और गायिकावृन्द के उत्तम भेदों में क्रमशः ३२ और १६ संख्या कही गई है। इससे ज्यादा संख्या हो तो उसमें रंजकता नहीं रहती इसलिये उसे 'कोलाहल' संज्ञा दी है।

(बृन्दगुणाः)

मुख्यानुवृत्तिर्मिलनंताललीनानुवर्तनम्।
मिथस्त्रुटितनिर्वाहस्त्रिस्थानव्याप्तिशक्तिता॥ २१०॥

शब्दसादृश्यमित्येते प्रोक्ता बृन्दस्य षड् गुणाः।

वृन्द के गुण

२१०-२११ ख. (अ०) **मुख्य-अनुवृत्तिः** मुख्य (गायक अथवा गायिका) का अनुवर्तन, **मिलनं** (स्वर में) मिल जाना, **ताल-लीन-अनुवर्तनं** ताल (और) लय का अनुवर्तन (अनुसार चलना), **मिथः त्रुटितनिर्वाहः** परस्पर त्रुटियों (कमियों) को निभाना, **त्रिस्थानव्याप्तिशक्तिता** तीनों स्थानों में व्याप्ति की शक्ति होना (और) **शब्दसादृश्यं** ध्वनि की सदृशता **इति एते** इस प्रकार ये **बृन्दस्य** 'बृन्द' के **षट् गुणाः प्रोक्ताः** ६ गुण कहे गए (हैं)।

(सर०) मुख्य के अनुसार चलने का अर्थ है मुख्य गायक-गायिका जो गायें उसका अनुवर्तन अन्य लोग करें, स्वेच्छाचार न करें। 'मिलन' यानी एकरूप होना है। गायक-वादक एक दूसरे की भूलों को उघाड़ें नहीं बल्कि उन्हें ढकें—त्रुटियों के निर्वाह का यही अर्थ है। 'शब्दसादृश्य' से तात्पर्य कण्ठध्वनियों की सदृशता से है यानी बहुत भिन्न गुण वाली कण्ठध्वनि न हों, परस्पर मिलती हुई हों। लेकिन 'शब्दसादृश्य' में प्रयुक्त 'शब्द' पदरचना के शब्दों का सूचक भी हो सकता है। उस स्थिति में शब्दों का उच्चारण एक सा हो और उनमें समकालिकता हो यानी अक्षरों का उच्चारण आगे-पीछे न हो, यह समझा जा सकता है।

ग्रन्थकार ने वृन्द के जो भेद कहे हैं वे गायक-गायिकाओं की प्रमुखता के आधार पर हैं, यद्यपि उनमें विभिन्न वाद्य भी हैं। वृन्द के दो अन्य प्रकार वाद्याध्याय और नर्तनाध्याय में भी हैं। वाद्याध्याय में वांशिकवृन्द है जिसमें एक मुख्य वांशिक और चार उसके 'अनुयायी' यानी समवादक हैं।

नर्तनाध्याय में 'सम्प्रदाय' के रूप में 'पात्र' यानी नर्तक या नर्तकी के साथ गायक-वादकों का वृन्द और उसके उत्तम आदि तीन भेद कहे गए हैं। उत्तम संप्रदाय में १ मुखरी, १ प्रतिमुखरी, २ आवजधर, २ अड्डावजधर और २ करटाधर, ३२ मर्दलवादक, २ तालधर, ८ कांस्यतालधर, २ काहलावादक, ४ वंशीवादक, २ मुख्यगायक, ८ सहगायक, २ मुख्य गायिका, ८ सहगायिका और एक 'पात्र' है। लोक में इस संप्रदाय को 'कुटिल' कहा जाता था। इस प्रकार एक पात्र के अलावा ७२ गायक, गायिका और वादक उत्तम संप्रदाय में हैं। इससे आधी संख्या होने पर मध्यम और उससे भी कम हो तो कनिष्ठ संप्रदाय कहा गया है। (७/१२५३-५८)।

गायक-गायिकाओं के वृन्दों की अपेक्षा नर्तन का वृन्द बहुत बड़ा है क्योंकि वहाँ अधिकतम संख्या क्रमशः ३२ और १६ है जब कि नर्तन में संख्या ७२ है।

(कुतपम्)

आह बृन्दविशेषं तु कुतपं भरतो मुनिः॥ २११॥
ततस्य चावनद्धस्य नाट्यस्येति त्रिधा च सः।

कुतप

२११ ग-२१२ ख. (अ०) **बृन्दविशेषं तु** वृन्दविशेष को तो **भरतः मुनिः** भरत मुनि ने **कुतपं** 'कुतप' **आह** कहा **सः च** और वह **ततस्य** तत (वाद्यों) का, **अवनद्धस्य** अवनद्ध (वाद्यों) का **नाट्यस्य च** और नाट्य का **इति त्रिधा** यों तीन प्रकार से (होता है)।

(सर०) भरत ने नाट्य से संबद्ध तीन तरह के समूह कहे हैं जिनकी 'कुतप' संज्ञा है—तत कुतप, अवनद्ध कुतप और नाट्य कुतप। पहले में तत और सुषिर वाद्यों के साथ गायक और गायिकाएँ होती हैं लेकिन प्रमुखता तत वाद्यों की होती है। अभिनव के अनुसार गीत और वाद्य में साम्य (सामंजस्य) बनाए रखने के लिये तत कुतप में कांस्यतालिका आदि घन वाद्यों को सम्मिलित समझना चाहिये (ना० शा०, २८/३-५ पर अभि०)। अवनद्ध कुतप विभिन्न अवनद्ध वाद्यों का समूह है और नाट्य कुतप यानी विभिन्न प्रदेशों से संबद्ध उत्तम, मध्यम, अधम प्रकृति के पात्रों का समूह (वही, २८/४-६)।

'कुतप' शब्द की निरुक्ति अभिनव ने दो तरह से दी है—१. *कुतं शब्दं पाति* यानी जो शब्द की (कुतं) रक्षा करता है (पाति) और २. *कुं च रङ्गं तपत्युज्ज्वलयति* अर्थात् जो रंगभूमि को (रङ्गं) दीप्त करता है (तपति) या उज्ज्वल बनाता है (उज्ज्वलयति), ऐसा प्रयोग करने वाला वृन्द या समूह 'कुतप' कहा गया है (ना० शा०, २८/२ पर अभि०, पृ० २, अन्तिम पंक्ति)। इससे यह तो स्पष्ट ही है कि कुतप की परम्परा मूलतः नाटक से जुड़ी थी।

(ततकुतपम्)

ततस्य कुतपे ज्ञेयो गायनः सपरिग्रहः॥ २१२॥

वीणा घोषवती चित्रा विपञ्ची परिवादिनी।
वल्लकी कुब्जिका ज्येष्ठा नकुलोष्ठी च किन्नरी॥ २१३॥

जया कूर्मी पिनाकी च हस्तिका शततन्त्रिका।
औदुम्बरी च षट्कर्णः पौणो रावणहस्तकः॥ २१४॥

सारङ्ग्यालपनीत्यादेस्ततवाद्यस्य वादकाः।
वांशिकाः पाविकापावकाहलाशङ्खवादकाः॥ २१५॥

मुहरीशृङ्गवाद्याद्यास्तथा तालधरा वराः।

ततकुतप

२१२ ग-२१६ ख (अ०) **ततस्य कुतपे** तत (वाद्यों) के कुतप में **सपरिग्रहः गायनः** परिग्रह (गायिकाओं) सहित गायक; वीणा, घोषवती, चित्रा, विपञ्ची, परिवादिनी, वल्लकी, कुब्जिका, ज्येष्ठा, नकुलोष्ठी, किन्नरी, जया, कूर्मी, पिनाकी, हस्तिका, शततन्त्री, औदुम्बरी, षट्कर्ण, पौण, रावणहस्तक, सारङ्गी, आलपनी **इत्यादेः** इत्यादि **ततवाद्यस्य वादकाः** तत वाद्यों के वादक; वांशिक, पाविका, पाव, काहला, शङ्ख, मुहरी, शृङ्गवाद्य आदि वाद्यों के **वादकाः** वादक **तथा** और **वराः तालधराः** श्रेष्ठ तालधर **ज्ञेयाः** जाने गये (हैं)।

(सर०) यद्यपि ततकुतप में तत के अलावा सुषिर और घनवादक भी हैं लेकिन ततवाद्यों की प्रधानता के आधार पर इसे ततकुतप कहा गया है। इस कुतप में गायक-गायिका भी हैं क्योंकि स्वर या गीत मूलतः मनुष्य कंठ से उत्पन्न होता है।

कल्लि० ने यह कहा है कि वंश आदि भी गीत को उत्पन्न करते हैं (यानी वे भी स्वरप्रधान वाद्य हैं) इसलिये ततवाद्यों के साथ उनका साधर्म्य होने से सुषिरवादकों को ततकुतप में सम्मिलित किया गया है और कांस्यताल आदि गीत के उपरंजक हैं इसलिये घनवादकों का अवनद्ध कुतप में अनुप्रवेश है। यह भी कहा कि तालवाद्य तो गीतादि का मान करते हैं और तूर्यत्रय (गीत, वाद्य, नृत्य) को प्रतिष्ठा (आधार) देते हैं इसलिये उनका तो सर्वत्र अनुप्रवेश समझना चाहिये। ग्रन्थकार के अनुसार घनवाद्यों का प्रयोजन माप करना और अवनद्ध का प्रयोजन रंजन करना है (६/५)। तदनुसार घन वाद्यों का सर्वत्र ग्रहण तो समझ में आता है लेकिन घन को गीत का उपरंजक कहने में विरोध लगता है। परन्तु कल्लि० ने वाद्याध्याय के पाँचवें श्लोक की टीका में कहा है कि चारों प्रकार के वाद्य गीत के ही उपकारक (रंजकता बढ़ाने वाले) होते हैं। यों भी कांस्यताल आदि के पीतल, काँसे आदि धातुओं से बने होने और ठोस आकार के कारण घन वाद्यों की ध्वनि गीतादि को ज़्यादा रंजक बनाती है। इस दृष्टि से कल्लि० का कथन सार्थक है।

ततकुपत में जिन वाद्यों के नाम आये हैं उनमें से कुछ के लक्षण वाद्याध्याय में दिये गये हैं। इनमें दो तरह के तन्त्रीवाद्य हैं—एक तो चित्रा, विपंची जैसे स्वरमण्डल वर्ग के, जिनमें हर स्वर के लिये स्वतन्त्र तन्त्री होती है और दूसरे वे जिनमें डाँड

पर बँधे किसी एक ही तार पर, पर्दे या पर्दे के बिना, अलग-अलग स्थानों पर दबा कर अलग-अलग स्वर उत्पन्न किये जाते हैं।

(अवनद्धकुतपम्)

कुतपे त्ववनद्धस्य मुख्यो मार्दङ्गिकस्ततः॥ २१६॥

पणवो दर्दुरो डक्का मण्डिडक्का च डक्कुली।
पटहः करटा ढक्का ढवसो घडसस्तथा॥ २१७॥

हुडुक्का डमरू रुञ्जा कुडुक्का कुडुवा तथा।
निःसाणस्त्रिवली भेरी तुम्बकी बोम्बडी तथा॥ २१८॥

पट्टवाद्यं पटः कम्रा झल्लरीभाणसेल्लुकाः।
जयघण्टा कांस्यतालो घण्टा च किरिकिट्टकम्॥ २१९॥

वाद्यानामेवमादीनां पृथग्वादकसंचयः।

अवनद्ध कुतप

२१६ ग-२२० ख. (अ०) **अवनद्धस्य कुतपे तु** अवनद्ध (वाद्यों) के कुतप में तो **मार्दङ्गिकः मुख्यः** मृदंगवादक मुख्य (है)। **ततः** उसके बाद पणव, दर्दुर, डक्का, मण्डिडंक्का, डक्कुली, पटह, करटा, ढक्का, ढवस, घडस, हुडुक्का, डमरू, रुंजा, कुडुक्का, कुडुवा, निःसाण, त्रिवली, भेरी, तुम्बकी, बोम्बडी (आदि अवनद्ध वाद्य) तथा पट्टवाद्य, पट, कम्रा, झल्लरी, भाण, सेल्लुका, जयघण्टा, कांस्यताल, घण्टा, किरिकिट्टक **आदीनां वाद्यानाम् एवम्** आदि (घन) वाद्यों का ऐसा **पृथक् वादकसंचयः** अलग वादकसमूह (होता है)।

(सर०) इनमें से अनेक वाद्यों के लक्षण वाद्याध्याय में हैं।

(नाट्यकुतपम्)

वराटलाटकर्णाटगौडगुर्जरकोङ्कणैः॥ २२०॥

महाराष्ट्रान्ध्रहम्मीरचौलैर्मलयमालवैः।
अङ्गवङ्गकलिङ्गाद्यैर्नानाभिनयकोविदैः॥ २२१॥

अङ्गहारप्रयोगज्ञैर्लास्यताण्डवकोविदैः।
विचित्रस्थानकप्रौढैर्विषमेषु सुशिक्षितैः॥ २२२॥

नाट्यस्य कुतपः पात्रैरुत्तमाधममध्यमैः।

नाट्यकुतप

२२० ग-२२३ ख. (अ०) वराट, लाट, कर्णाट, गौड, गुर्जर, कोंकण, महाराष्ट्र, आन्ध्र, हम्मीर चौल, मलय, मालव,अंग वंग, कलिंग **आद्यैः** आदि **नाना-अभिनयकोविदैः** विभिन्न (प्रदेशों के) अभिनय में पारंगत, **अङ्गहार प्रयोगज्ञैः** 'अंगहारों' के प्रयोग के ज्ञाता, **लास्य-ताण्डवकोविदैः** 'लास्य' (और) 'ताण्डव' में कुशल, **विचित्र-स्थानकप्रौढैः** विचित्र 'स्थानकों' में प्रौढ,

विषमेषु सुशिक्षितैः (नृत्त के) विषम प्रकारों में अच्छी तरह शिक्षित, **उत्तम-मध्यम-अधमैः पात्रैः** उत्तम, मध्यम, अधम (प्रकृति के) पात्रों के द्वारा **नाट्यस्य कुतपः** नाट्य का कुतप (होता है)।

(सर०) यहाँ मध्यकालीन भारत के विभिन्न प्रदेशों के नाम देकर कहा है कि इन प्रदेशों के अभिनय में कुशल पात्रों के द्वारा नाट्य कुतप होता है। स्पष्ट है कि इन प्रदेशों के आंगिक, वाचिक आदि व्यवहार और वेशभूषादि में अन्तर के कारण तदनुसार अभिनय में कुशल पात्रों का होना ज़रूरी है।

कई करणों (नृत्त में हाथ और पैरों की विविध क्रियाओं की संयुक्त प्रस्तुति) की संयुक्त क्रिया 'अंगहार' है। 'लास्य' और 'ताण्डव' नृत्त के प्रकार हैं। 'स्थानक' नृत्य की स्थिर मुद्राएँ हैं। मण्डल आदि नृत्त के विषम प्रकार हैं। इन सबका निरूपण नर्तनाध्याय में हुआ हैं।

सिंह० के अनुसार उत्तम आदि पात्रों के आधार पर नाट्यकुतप तीन प्रकार का होता है अर्थात् उत्तम नाट्यकुतप, मध्यम नाट्यकुतप और अधम नाट्यकुतप। लेकिन यह व्याख्या तर्कसंगत नहीं लगती क्योंकि किसी भी नाट्य में किसी एक ही प्रकृति के पात्र नहीं होते बल्कि तीनों प्रकृति के रहते हैं।

कुतपानाममीषां तु समूहो बृन्दमुच्यते॥ २२३॥

२२३ ग-घ. (अ०) **अमीषाम्** इन (तीनों) **कुतपानां** कुतपों का **समूहः तु** समूह तो **बृन्दम् उच्यते** 'बृन्द' कहा जाता है।

(सर०) तीनों से तात्पर्य तत, अवनद्ध और नाट्यकुतप से है।

इति श्रीमदनवद्यविद्याविनोदश्रीकरणाधिपतिश्रीसोढलदेवनन्दननिःशङ्कश्रीशार्ङ्गदेवविरचिते
संगीतरत्नाकरे प्रकीर्णकाध्यायस्तृतीयः

श्रीमत् अनवद्य-विद्याविनोद श्रीकरणाधिपति श्रीसोढलदेवनन्दन
निःशङ्क श्रीशार्ङ्गदेव द्वारा रचित संगीतरत्नाकर का
तीसरा प्रकीर्णकाध्याय समाप्त

*

चतुर्थः प्रबन्धाध्यायः
चौथा प्रबन्धाध्याय

(गीतलक्षणं तद्भेदाश्च)

रञ्जकः स्वरसंदर्भो गीतमित्यभिधीयते।
गान्धर्वं गानमित्यस्य भेदद्वयमुदीरितम्॥ १॥

'गीत' का लक्षण और भेद

१. (अ०) **रञ्जकः स्वरसंदर्भः** रंजक स्वरसंदर्भ **गीतम् इति अभिधीयते** 'गीत' ऐसा कहा जाता है। **गान्धर्वं गानम् इति** गान्धर्व (और) गान ये **अस्य** इस (गीत) के **भेदद्वयम् उदीरितं** दो भेद कहे गए हैं।

(सर०) तीसरे अध्याय में वाग्गेयकार आदि का और उसके व्यापार (कर्म) के लिये अपेक्षित गमक, स्थाय, आलप्ति आदि का निरूपण किया जा चुका है। रूपकालप्ति में रूपक यानी गीत या प्रबन्ध की चर्चा भी आ चुकी है। अब चौथे अध्याय में प्रसंगप्राप्त विषय गीत (प्रबन्ध) है इसलिये उसके विशेष लक्षण और भेदों का निरूपण करने से पहले पहली कारिका में गीत का सामान्य लक्षण दिया है।

सं० र० में गीत शब्द का कोई ९० बार प्रयोग हुआ है लेकिन सब जगह एक ही अर्थ नहीं है बल्कि १५-२० अर्थों में प्रयुक्त हुआ दिखाई देता है। उनमें से कुछ प्रमुख अर्थ ये हैं—गाया गया, नादसामान्य, गायन, धुन (melody), स्वरविधाएँ, देशी संगीत का संपूर्ण स्वरपक्ष, छन्दक आदि ७ गीत, १४ प्रकरण गीत, प्रबन्ध, सालगसूड प्रबन्ध, एला शुद्धसूड प्रबन्ध, प्रबन्ध और आलप्ति, गायन-वादन-नृत्तरूप संगीत। 'संगीत' के लक्षण **गीतं वाद्यं तथा नृत्तं त्रयं संगीतमुच्यते** में संगीत के तीन घटकों में गीत शब्द आया है जहाँ वह गान अर्थात् कण्ठसंगीत का ही सूचक समझा जाता है। लेकिन संभवतः पूरे स्वरपक्ष यानी गायन के साथ स्वरोत्पादक तत और सुषिर वाद्य का भी अन्तर्भाव करता है। प्रस्तुत कारिका में रंजक स्वरसंदर्भ मात्र गीत के लक्षण में समाविष्ट है इसलिये सामान्य रूप से गीत शब्द पूरे स्वरपक्ष का सूचक भी है। इस रूप में गीत शब्द व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। लेकिन गीत के जो भेद अभी कहे जाने वाले हैं उनमें उसका क्षेत्र क्रमशः सीमित हो गया है।*

'स्वरसंदर्भ' में संदर्भ को कल्लि० ने 'गुम्फ' कहा है जिसका अर्थ है रचना। सिंह० ने इसका अर्थ 'स्वरों की रचनाविशेष' ही दिया है। लेकिन कोई भी स्वरसंदर्भ गीत नहीं कहा जा सकता, स्वरों की रंजक रचना ही गीत है इसीलिये गीतलक्षण में रञ्जक विशेषण रखा है।

रञ्जक शब्द पर कल्लि० ने यह शंका उठाई कि 'जो स्वतः श्रोता के चित्त का रंजन करे वह स्वर है'—इस निरुक्ति में स्वर में रंजकता अन्वित ही है इसलिये सिर्फ़ स्वरसंदर्भ कहने से गीत में भी तो रंजकता सिद्ध हो जाती है, फिर दुबारा रंजक

---

* 'गीत', संगीत, गान्धर्व, गान, निबद्ध और अनिबद्ध के विश्लेषण के लिये द्रष्टव्य—Musical Forms in Saṅgītaratnākara, N. Ramanathan.

विशेषण निरर्थक है। इसका उत्तर उसने यह दिया कि स्वर रंजक होते हुए भी उनका संदर्भ कभी अरंजक हो सकता है। जैसे कभी प्रयोज्य राग के नियमों के अनुसार प्रवेश-निग्रह आदि क्रियाओं का ध्यान न रखे जाने पर राग की स्थापना से पहले ही विवादी स्वर का प्रयोग हो जाने से राग की हानि होती है तब वहाँ संदर्भ अरंजक हो जाता है। इसका व्यवच्छेद करने के लिये रंजक विशेषण का प्रयोग हुआ है जो सार्थक है। इस प्रकार रंजक शब्द 'संदर्भ' का विशेषण है, स्वर का नहीं।

गीत का सामान्य लक्षण देकर ग्रन्थकार ने उसके दो भेद कहे—गान्धर्व और गान। उदीरितं के द्वारा यह प्रकट होता है कि ये भेद पहले से चले आ रहे हैं।

ऊपर कहा गया कि गीत शब्द रंजक स्वरसंदर्भमात्र के लिये प्रयुक्त होने से व्यापक अर्थ लिये हुए है। लेकिन गान्धर्व और गान के रूप में जो विशेष प्रकार पहले से चले आ रहे हैं उन्हें गीत के भेद कह कर गीत को सीमित अर्थ दिया है।

(गान्धर्वलक्षणम्)

अनादिसंप्रदायं यद्गन्धर्वैः संप्रयुज्यते।
नियतं श्रेयसो हेतुस्तद्गान्धर्वं जगुर्बुधाः॥ २॥

गान्धर्व का लक्षण

२. (अ०) **यत्** जो **अनादिसंप्रदायम्** अनादिसंप्रदाय (है), **गन्धर्वैः संप्रयुज्यते** गन्धर्वों के द्वारा संप्रयुक्त होता है, **नियतं** नियमबद्ध (और) **श्रेयसः हेतुः** श्रेयस् का हेतु (है) **तत्** वह (उसे) **बुधाः** बुधजन **गान्धर्वं जगुः** गान्धर्व कहते हैं।

(सर०) **अनादिसंप्रदायं** का अर्थ कल्लि० ने वेदों की तरह अपौरुषेय किया है यानी जो मनुष्य के द्वारा नहीं बनाया गया। सिंह० ने अनादि (काल से) गुरु-शिष्य परंपरा से जाना गया अर्थ किया है। उसके अनुसार ग्रह, अंश, मूर्छना आदि के नियमों से युक्त होने से नियत है और श्रेयस् अर्थात् लौकिक सुख, स्वर्ग और मोक्ष देने वाला है।

संगीत से संबद्ध और संगीत से भिन्न प्राचीन ग्रन्थों में गान्धर्व शब्द संगीत का सूचक है। गान्धर्व और गान का जोड़ा परवर्ती ग्रन्थों में मूलतः ना०शा० से आया है जहाँ गीत (गीत, वाद्य) के सामान्य अर्थ में इन शब्दों का प्रयोग हुआ है। लेकिन अभिनव ने ना०शा० के ३३वें अध्याय की टीका में विशेष रूप से इन दोनों में स्वर, ताल, पद—इन तीन घटकों की समानता होते हुए भी इनके अन्तर और अपने-अपने स्वरूप का विस्तार से निरूपण किया है (अभि०, खण्ड ४, पृ० ३९३-३९७)। इसके अलावा भी कई जगह अभिनव ने गान्धर्व और गान के बारे में महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं। उन सबके आधार पर यह कह सकते हैं कि इन दोनों शब्दों का प्रयोग सामान्य रूप से तो गीत, वाद्य के लिये हुआ है लेकिन विशेष रूप से गान्धर्व नाट्य की कथा शुरू होने से पहले पूर्वरंग में प्रयुक्त होने वाले, अत्यन्त नियमबद्ध, विशेष प्रकार के गीतों (गीतकों) का सूचक था और गान नाट्य के अन्तर्गत विभिन्न परिस्थितियों, रस-भाव स्थितियों और पात्रों की प्रकृति के अनुसार और अनुरूप प्रयोग किये जाने वाले रंजकताप्रधान गीत थे जिन्हें ध्रुवा कहा गया।

अभिनव ने अपनी व्याख्या में स्वरूप, फल, काल और धर्म—इन चार पक्षों के आधार पर इन दोनों में अन्तर किया है। जैसा पहले कहा गया दोनों के घटक स्वर, ताल और पद ही हैं लेकिन तीनों का स्वरूप गान्धर्व और गान में भिन्न है जो अभिनव की व्याख्या से स्पष्ट होता है। स्वरूप की दृष्टि से संक्षेप में इतना समझ लें कि गान्धर्व के स्वरपक्ष में दो ग्रामों का भेद, जाति और अंश का भेद, स्वर की लोपविधि, एक स्थान में कम से कम ५ स्वरों का प्रयोग, नियत अलंकारों का ही प्रयोग, १४ मूर्छना और ८४ शुद्धतानों की मर्यादा का नियम अनिवार्य और अपरिवर्तनीय था। लेकिन गान में रक्ति के अनुसार इन सब नियमों में ढील दी जा सकती थी। गान्धर्व में स्वर प्रधान और पद गौण है और स्वर-ताल के वाहक के रूप में पद रहता है इसलिये गान्धर्व में पद सार्थक या निरर्थक कोई भी हो सकता है। गान में अर्थबोध की दृष्टि से पद प्रधान और स्वर उसका उपरंजक होने से गौण है। तालपक्ष में गान्धर्व में हाथ की क्रियाओं पर आधारित ताल का प्रयोग और यति, लय, ग्रह, मार्ग आदि का नियत ढंग से प्रयोग का नियम अनुल्लंघनीय माना गया। लेकिन गान में विभिन्न प्रकृति के पात्रों की गति के अनुरूप ताल-

प्रयोग किया जा सकता था। पदविधि भी दोनों की भिन्न है। गान्धर्व का फल प्रधानतः अदृष्ट और प्रयोक्ता को होता है तथा गान का दृष्ट फल सामाजिक का यानी उसके चित्त का रंजन है जो तत्काल प्राप्त हो जाता है। अभिनव ने गान्धर्व में अदृष्ट फल की प्रधानता कही है लेकिन उसमें दृष्ट फल भी संभव है क्योंकि गीतवाद्य प्रयोग रंजक होने के कारण सामाजिक को आनन्द भी प्रदान करता है।

'काल' से तात्पर्य प्रयोग के अवसर से है। गान्धर्व का प्रयोग पूर्वरंग में और गान का नाट्य के भीतर होता था। 'धर्म' का संदर्भ प्राप्त अर्थ प्रयोजन है। पूर्वरंग में प्रयुक्त गान्धर्व का धर्म देवतापरितोष और गान में सामाजिक का रंजन है।

शार्ङ्गदेव का गान्धर्व का लक्षण अभिनव की व्याख्या से बहुत प्रभावित है क्योंकि अभिनव ने गान्धर्व को सामवेद से उत्पन्न होने के कारण अनादिकाल से चला आया, अपवर्ग (मोक्ष) फल देने वाला, विशेष नियमों से युक्त और गन्धर्वों को प्रिय कहा है (अभि०, खण्ड ४, पृ० ५, अन्तिम पंक्तियाँ)। सं० र० के अनादिसंप्रदाय, श्रेयस्, नियत और गन्धर्वों द्वारा प्रयुक्त—इस गान्धर्व लक्षण पर अभिनव की उक्त व्याख्या की छाप बहुत स्पष्ट है।

(गानलक्षणम्)

यत्तु वाग्गेयकारेण रचितं लक्षणान्वितम्।
देशीरागादिषु प्रोक्तं तद्गानं जनरञ्जनम्॥ ३॥

गान का लक्षण

३. (अ०) **यत्** जो **वाग्गेयकारेण** वाग्गेयकार के द्वारा **लक्षण-अन्वितं** लक्षणों से अन्वित **देशीराग-आदिषु** देशीराग आदि में **रचितं** बनाया गया (और जो) **जनरञ्जनं** लोगों का रंजन करने वाला (है) **तत् तु** वह तो **गानं प्रोक्तं** गान कहा गया।

(सर०) गान्धर्व के अपौरुषेयत्व के विपरीत गान पौरुषेय (मनुष्य द्वारा निर्मित) है क्योंकि वह वाग्गेयकार के द्वारा बनाया गया है। गान्धर्व को नियत कहा है क्योंकि उसमें नियमों का उल्लंघन नहीं हो सकता लेकिन गान नियत नहीं, केवल लक्षणों से युक्त है। इसमें कड़े नियम नहीं हैं बल्कि सामान्य लक्षण या विशेषताएँ कही गई हैं जिनके अनुसार नई रचना की जा सकती है। शार्ङ्गदेव के अनुसार गान की रचना देशीरागों और देशीतालों में होती है जो ग्रामरागों और मार्गतालों की तरह अपरिवर्तनीय नहीं हैं बल्कि उनमें परिवर्तन की छूट है। गान्धर्व का प्रयोजन श्रेयस् (सर्वोच्च या अदृष्ट फल) कहा गया है लेकिन गान श्रोता के मन का रंजन करने के लिये है।

अभिनव ने केवल नाट्य के अन्तर्गत प्रयुक्त होने वाली गीतविधाओं के लिये ही गान शब्द का प्रयोग प्रायः किया है। लेकिन शार्ङ्गदेव ने उन विधाओं को गान कहा है जो देशीसंगीत का अंग हैं और जिनका प्रयोजन जनरंजन है। अगली कारिकाओं में ग्रन्थकार गान के दो भेद निबद्ध और अनिबद्ध कहने वाले हैं। यहाँ निबद्ध यानी प्रबन्ध और अनिबद्ध यानी आलप्ति में गान को सीमित कर दिया है। देशीसंगीत में ये दो ही ऐसी विधाएँ हैं जिनमें पूरा स्वरपक्ष व्यक्त होता है और जिनका प्रयोजन रंजन ही है। देशी विधाओं में ऐसे प्रबन्ध भी हैं जो विप्रकीर्ण हैं, जिनका संबन्ध न तो नाट्य से है और न ही जिनमें राग, ताल या धातु और अंगों से संबन्धित कोई लक्षण कहे गये हैं, जो विभिन्न अवसरों, विशेष प्रसंगों या फुटकर रूप से मनोरंजन के लिये गए जाते थे। इस रूप में सं०र० का गान अभिनव के गान से बहुत भिन्न है।

सं० र० के पहले अध्याय में मार्ग और देशी की चर्चा हुई है (१/१/२२-२४ ख)। गान्धर्व और गान के रत्नाकरोक्त लक्षण के संदर्भ में मार्ग और देशी पर फिर से दृष्टिपात करना जरूरी है। ना०शा० में संगीत के दो प्रकारों के रूप में मार्ग और देशी की कोई चर्चा नहीं है। सबसे पहले बृह० में ये शब्द आये हैं। अभिनव की गान्धर्व और गान की व्याख्या मतंग की मार्ग-देशी की धारणा से बहुत प्रभावित है। शार्ङ्गदेव के मार्ग-देशी के स्वरूप और भेद के निरूपण में भरत, मतंग और अभिनव के दृष्टिकोणों का समन्वय दिखाई देता है।

शार्ङ्गदेव के अनुसार मार्ग वह संगीत (गीत, वाद्य, नृत्त) है जो ब्रह्मा द्वारा खोजा गया, भरतादि के द्वारा शम्भु के सम्मुख

प्रयुक्त किया गया, जो नियत यानी नियमबद्ध है और जो अभ्युदय देने वाला है। जो संगीत विभिन्न प्रदेशों में वहाँ के लोगों की रुचि के अनुसार प्रयुक्त होकर हृदय के लिये रंजक होता है वह देशी है।

गान्धर्व और गान का जो लक्षण दिया गया है उसके साथ मार्ग और देशी के लक्षण को मिलाकर देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि मार्ग की गान्धर्व से और देशी की गान से बहुत समानता है। लेकिन ग्रन्थकार ने गान्धर्व को मार्ग और गान को देशी या परस्पर समकक्ष नहीं कहा है। सबसे पहले कल्लि० ने साफ़ तौर पर गान्धर्व को मार्ग और गान को देशी कहा। भरत के द्वारा गान्धर्व के अन्तर्गत जिन विषयों का निरूपण हुआ, आगे चलकर, उन्हें मार्ग वर्ग में रख दिया गया और जिनका भरत ने निरूपण नहीं किया था, जो संगीत भरत के परवर्ती काल में विकसित हुआ अथवा जो सीधे गान्धर्व से संबद्ध नहीं होता था उसे देशी में रखा गया।

तत्र गान्धर्वमुक्तं प्रागधुना गानमुच्यते।

४ क-ख. (अ०) **तत्र** उनमें से **गान्धर्वं** गान्धर्व **प्राक्** **उक्तं** पहले कहा जा चुका (है) **गानं** गान **अधुना** **उच्यते** अब कहा जा रहा है।

(सर०) गान्धर्व और गान के लक्षण के संदर्भ में शार्ङ्गदेव ने मार्ग-देशी की कोई चर्चा नहीं की लेकिन प्रस्तुत कारिका में, गान्धर्व पहले कहा जा चुका—ग्रन्थकार के इस कथन पर कल्लि० ने व्याख्या यह की कि स्वरगताध्याय में जाति आदि से लेकर रागविवेकाध्याय में अन्तरभाषा (यानी ग्रामराग, राग, उपराग, भाषा, विभाषा और अन्तरभाषा) तक जो कुछ कहा जा चुका है वह गान्धर्व है और प्रस्तुत अध्याय में गानविशेष यानी प्रबन्ध का प्रतिपादन किया जा रहा है। जाति 'आदि' से कपालगान और कम्बलगान का भी ग्रहण हो जाता है क्योंकि ये दोनों भी गान्धर्व विधाएँ हैं। देशीवर्ग में रागांग, भाषांग, क्रियांग और उपांग—ये चार प्रकार के राग ही हैं (२/२/१-२)। इसीलिये कल्लि० ने अन्तरभाषा तक गान्धर्व कहा। ग्रन्थकार के कथन में यह भी संकेतित है कि जिन रागों को उन्होंने मार्ग के अन्तर्गत रखा वही गान्धर्व के विस्तार में आते हैं और जो देशीराग कहे वे गान के क्षेत्र में। शार्ङ्गदेव ने गान के लक्षण में कहा भी है कि गान देशीरागों में रचित होता है। इस प्रकार गान्धर्व और गान के अन्तर्गत यहाँ जो कुछ बताया गया वह क्रम से ग्रन्थकार के मार्ग और देशी के क्षेत्र में ही आता है।

यद्यपि ग्रन्थकार ने यह कहा कि गान्धर्व पहले कहा जा चुका। लेकिन यह ध्यान देने की बात है कि गीतक और मार्गताल, जो गान्धर्व में ही आते हैं, सं० र० में उनका निरूपण प्रस्तुत अध्याय के बाद पाँचवें अध्याय में किया गया है।

(गानस्य द्वैविध्यम्)

निबद्धमनिबद्धं तद् द्वेधा निगदितं बुधैः॥ ४॥

गान के दो भेद

४ ग-घ. (अ०) **तत्** वह (गान) **बुधैः** बुद्धिमानों के द्वारा **निबद्धम्** **अनिबद्धं** निबद्ध (और) अनिबद्ध **द्वेधा** दो प्रकार से **निगदितं** कहा गया।

(सर०) गीत के दो भेदों—गान्धर्व और गान—में से अब गान के भेद यहाँ बताये हैं जो दो हैं—निबद्ध और अनिबद्ध। निबद्ध का सामान्य अर्थ है बँधा हुआ और अनिबद्ध यानी बिना बँधा। इसका अर्थ यह भी है कि निबद्ध पूर्वरचित है लेकिन अनिबद्ध तत्कालस्फूर्त ही होता है।

निबद्ध और अनिबद्ध संज्ञाओं का प्रयोग ना०शा०, बृह० और सं०र० तीनों में हुआ है लेकिन तीनों में इनकी व्यापकता और संदर्भ कुछ भिन्न हैं। ना०शा० के ध्रुवाध्याय में पद की चर्चा में निबद्ध और अनिबद्ध शब्द आये हैं। वहाँ अक्षरमात्र को पद कहकर उसके दो भेद निबद्ध और अनिबद्ध कहे और इन्हें कई तरह से समझाया है। सार रूप में अर्थयुक्त और अर्थहीन, सताल और अताल, छन्दोबद्ध और छन्द से रहित, ब्रह्मा द्वारा गाए गए नियत संख्या और स्वरूप वाले अक्षरों से युक्त तथा मनुष्यों

(कवियों) के द्वारा निर्मित अनियत संख्या और अनियत स्वरूप वाले अक्षरों से युक्त पद को क्रमशः निबद्ध और अनिबद्ध संज्ञा दी है। यद्यपि गान्धर्व और गान में कभी-कभी इससे विपरीत भी हो सकता है, जैसे, गान्धर्व में ब्रह्मप्रोक्त निरर्थक अक्षरों को और अताल प्रयोग को निबद्ध पद कहा है। दूसरी ओर गान में अर्थहीन अक्षरप्रयोग 'अपद' और अनिबद्ध कहा है और यह अताल भी हो सकता है।

सं० र० में गान के दो भेद निबद्ध और अनिबद्ध कहे जिनके लक्षण अगले श्लोक में दिये जा रहे हैं।

(निबद्धलक्षणम्)

बद्धं धातुभिरङ्गैश्च निबद्धमभिधीयते।

निबद्ध का लक्षण

५ क-ख. (अ०) धातुभिः अङ्गैः च बद्धं धातुओं और अंगों से बँधा हुआ **निबद्धम् अभिधीयते** निबद्ध कहा जाता है।

(सर०) जो 'धातु' यानी प्रबन्ध के अवयव या खण्ड और 'अंग' अर्थात् (आगे कहे जाने वाले) पद, बिरुद, पाट आदि से बँधा हुआ है उसकी संज्ञा निबद्ध है। धातु और अंगों के लक्षण आगे दिए जाने वाले हैं।

(अनिबद्धलक्षणम्)

आलप्तिर्बन्धहीनत्वादनिबद्धमितीरिता॥ ५॥
सा चास्माभिः पुरा प्रोक्ता निबद्धं त्वधुनोच्यते।

अनिबद्ध का लक्षण

५ ग-६ ख. (अ०) बन्धहीनत्वात् बन्धनरहित होने से **आलप्तिः** आलप्ति **अनिबद्धम् इति** अनिबद्ध यों **ईरिता** कही गई (है)। **सा च** और वह **अस्माभिः** हमारे द्वारा **पुरा प्रोक्ता** पहले कही गई। **निबद्धं तु** निबद्ध तो **अधुना उच्यते** अब कहा जा रहा है।

(सर०) आलप्ति राग का मुक्त विस्तार है। उसमें राग के नियमों के आधार पर कुछ न कुछ पूर्वयोजना तो रहती है इसलिये बन्ध का कुछ रूप तो उसमें भी है लेकिन पूर्वरचित न होने से प्रयोक्ता को उसका बन्ध अपने ढंग से बनाने की स्वतंत्रता है। बन्धहीन कहने का आशय यह है कि निबद्ध की तरह धातु और अंगों का बन्ध उसमें नहीं है। सिंह० ने आलप्ति में तालादि का बन्धन न होने से उसे अनिबद्ध कहा है। लेकिन यह स्मरणीय है कि रूपकालप्ति सताल ही होती है, रागालप्ति में जरूर ताल का योग नहीं होता।

ग्रन्थकार ने रंजक स्वरसंदर्भ को गीत कहकर गीत शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया। उसी गीत के दो भेद गान्धर्व और गान और फिर गान के दो भेद निबद्ध और अनिबद्ध—इस रूप में गीत का क्षेत्र सीमित हुआ है क्योंकि यहाँ गीत शब्द प्रबन्ध और आलप्ति का ही सूचक है। आलप्ति का निरूपण तीसरे अध्याय में हो चुका है और प्रस्तुत अध्याय में प्रबन्ध का निरूपण होगा।

(निबद्धस्य संज्ञात्रयम्)

संज्ञात्रयं निबद्धस्य प्रबन्धो वस्तु रूपकम्॥ ६॥

निबद्ध की तीन संज्ञाएँ

६ ग-घ. (अ०) निबद्धस्य निबद्ध की **प्रबन्धः वस्तु रूपकं** प्रबन्ध, वस्तु (और) रूपक (ये) **संज्ञात्रयं** तीन संज्ञाएँ (हैं)।

(सर०) शार्ङ्गदेव ने निबद्ध के पर्याय के रूप में प्रबन्ध, वस्तु, रूपक संज्ञाएँ दी हैं लेकिन इन तीनों में कोई अन्तर नहीं

किया है। प्रायः पूरे अध्याय में प्रबन्ध संज्ञा का ही प्रयोग हुआ है लेकिन धातुओं के लक्षण में 'अन्तर' धातु का लक्षण देते समय **सालगसूडस्थरूपकेषु** में और अध्याय के अन्त में परिवृत्त आदि ५ भेदों के निरूपण में रूपक संज्ञा का ही प्रयोग किया है।*

इन तीन संज्ञाओं का अन्तर सबसे पहले सं० स० सार में इस प्रकार दिया गया है। चारों धातुओं और छहों अंगों से प्रबद्ध होने के कारण 'प्रबन्ध' कहा जाता है। राग आदि के आरोपण (स्थापना) में हेतु होने से 'रूपक' है और उद्ग्राह आदि चार धातुएँ और स्वर आदि ६ अंग इसमें 'वसते' हैं इसलिये 'वस्तु' संज्ञा होती है। (५/२-४)। रूपक शब्द का अर्थ आकृति या सूरत भी है। तदनुसार जिसमें राग की आकृति बनती या स्थापित होती हो उसकी रूपक संज्ञा सार्थक है।

'बँधना' अर्थ वाली 'बन्ध' धातु से 'प्र' उपसर्ग और 'घञ्' प्रत्यय लगाने पर 'प्रबन्ध' शब्द बनता है जिसका सामान्य अर्थ है 'प्रकृष्ट रूप से बद्ध'। प्रस्तुत संदर्भ में प्रकृष्ट रूप धातु और अंगों से बँधने का सूचक है। वर्तमान लक्ष्य में 'बन्दिश' प्रबन्ध का समकक्ष शब्द है। यों 'चीज़' और 'गत' भी इसकी परिधि में आते हैं।

(धातुलक्षणं तद्भेदाश्च)

प्रबन्धावयवो धातुः स चतुर्धा निरूपितः।
उद्ग्राहः प्रथमस्तत्र ततो मेलापकध्रुवौ॥ ७॥
आभोगश्चेति तेषां च क्रमाल्लक्ष्माभिदध्महे।

'धातु' का लक्षण और भेद

७-८ ख. (अ०) **प्रबन्ध-अवयवः** प्रबन्ध का अवयव (खण्ड) **धातुः** 'धातु' (है और) **सः** वह **चतुर्धा** चार प्रकार से **निरूपितः** निरूपित हुआ (है)। **तत्र** उनमें से **उद्ग्राहः प्रथमः** उद्ग्राह (पहला) है **ततः** उसके बाद **मेलापक-ध्रुवौ** मेलापक और ध्रुव **आभोगः च इति** और आभोग ये (चार प्रकार हैं)। **क्रमात्** क्रम से **तेषां** उनके **लक्ष्म** लक्षण **अभिदध्महे** कहते हैं।

(सर०) कल्लि० ने यह ध्यान दिलाया है कि वाग्गेयकार के लक्षण में भी धातु शब्द आ चुका है। (**गेयं धातुरित्यभिधीयते**, ३/२)। वहाँ गेय को धातु कहा है। यहाँ धातु से प्रबन्ध का अवयव (खण्ड) विवक्षित है। दोनों में अन्तर यह है कि वहाँ धातु पूरे प्रबन्ध में रहने वाला धर्म है और यहाँ 'एकदेशगत' यानी एक हिस्सारूप धर्म है। साधारण भाषा में यों कह सकते हैं कि धातु शब्द वाग्गेयकार के संदर्भ में पूरे प्रबन्ध की स्वरयोजना को और प्रबन्ध के संदर्भ में उस स्वररचना में बनने वाले खण्डों को सूचित करता है।

उद्ग्राह, मेलापक, ध्रुव और आभोग चार धातुएँ हैं। इनके लक्षण अगली कारिकाओं में दिये जा रहे हैं।

उदग्राहः प्रथमो भागस्ततो मेलापकः स्मृतः॥ ८॥
ध्रुवत्वाच्च ध्रुवः पश्चादाभोगस्त्वन्तिमो मतः।

८ ग-९ ख. (अ०) **उद्ग्राहः प्रथमः भागः** उद्ग्राह पहला भाग (है)। **ततः** तब **मेलापकः स्मृतः** मेलापक स्मरण किया गया (है, अर्थात् जाना गया है।) **पश्चात्** इसके बाद **ध्रुवत्वात् च ध्रुवः** ध्रुव होने से तो ध्रुव (है)। **आभोगः तु** आभोग तो **अन्तिमः मतः** अन्तिम माना गया है।

---

* प्रबन्ध के विश्लेषण और विस्तृत विवरण के लिये द्रष्टव्य—
१. भारतीय संगीत में ताल और रूपविधान,
२. Time Measure And Compositional Types in Indian Music,
३. संगीत-संचयन।

(सर०) प्रबन्ध का पहला खण्ड उद्ग्राह है। कल्लि० के अनुसार इसी से गीत का उद्ग्रहण यानी आरम्भ होता है इसलिये यह अन्वर्थ संज्ञा है। उद्ग्राह और ध्रुव का मेलनकारी (मिलाने वाला) होने से मेलापक संज्ञा को भी कल्लि० ने अन्वर्थ कहा है। मेलापक कुछ ही प्रबन्धों में है, सबमें नहीं और जिनमें है उनके लक्षणों से ऐसा लगता है कि इस खण्ड का प्रयोजन सिर्फ़ उद्ग्राह और ध्रुव को जोड़ना है इसलिये यह बहुत छोटा खण्ड है जिसमें 'प्रयोग' संज्ञक आलप्ति का छोटा सा अंश होता है।

ध्रुवत्व का अर्थ कल्लि० ने नित्यत्व किया है और कहा है कि इसे किसी भी प्रबन्ध में कभी भी छोड़ा नहीं जा सकता इसलिये इसका नित्यत्व है यानी ध्रुव अवर्ज्य, अनिवार्य है। सिंह० ने ध्रुव शब्द की व्युत्पत्ति निश्चलत्व के द्वारा देते हुए यह भी कहा कि इसे उद्ग्राह के बाद और आभोग के बाद भी गाया जाता है यानी गीत की समाप्ति अन्तिम खण्ड आभोग से नहीं बल्कि ध्रुव से होती है। इसलिये इसका ध्रुवत्व होने से ध्रुव संज्ञा भी सार्थक है।

आभोग प्रबन्ध की रचना में अन्तिम खण्ड है जो गीत में पूर्णता लाता है। इसी धातु में वाग्गेयकार का नाम अंकित होता है।

ध्रुवाभोगान्तरे जातो धातुरन्योऽन्तराभिधः॥ ९॥
स तु सालगसूडस्थरूपकेष्वेव दृश्यते।

९ ग-१० ख. (अ०) **ध्रुव-आभोग-अन्तरे** ध्रुव और आभोग के अन्तर (बीच) में **जातः** उत्पन्न हुई (अर्थात् निर्मित या प्रयुक्त) **अन्यः** एक और **अन्तर-अभिधः** 'अन्तर' नामक **धातुः** धातु (है)। **सः तु** वह तो **सालगसूडस्थरूपकेषु एव** सालगसूड (वर्ग) में स्थित रूपकों में ही **दृश्यते** दिखाई देता है।

(सर०) ध्रुव और आभोग के बीच में इस धातु के प्रयोग पर कल्लि० ने कहा कि गाते समय ध्रुव धातु की आवृत्ति करने के बाद परम आभोग कराने वाली अन्तिम आवृत्ति के अन्त में इस धातु को गाया जाय, ऐसा समझना चाहिये।

कल्लि० ने कहा कि 'दृश्यते' शब्द का प्रयोग यह सूचित करता है कि ध्रुव आदि सालगसूडों में से भी जिनमें परम्परा से अन्तर धातु दिखाई देती है सिर्फ़ उन्हीं में उसका प्रयोग करना चाहिये, अन्यों में नहीं। जैसे, मण्ठ आदि में ही यह दिखाई देती है इसलिये उनमें करना चाहिये लेकिन ध्रुव में दिखाई नहीं देती इसलिये उसमें नहीं करना चाहिये।

ग्रन्थकार ने अन्तर धातु का प्रयोग केवल सालगसूडों में कहा है। लेकिन ७ में से सिर्फ़ एक मण्ठ सालगसूड में ही इसका प्रयोग है और उसमें भी विकल्प है यानी रहे या न रहे। एकताली नामक सालगसूड में 'अन्तर' शब्द का प्रयोग दो बार हुआ है लेकिन कल्लि० ने यह कहा कि वह ध्रुव धातु के लिये प्रयुक्त हुआ है। दूसरी ओर आलिवर्ग के पञ्चतालेश्वर प्रबन्ध में ५ खण्डों में से हर खण्ड के अन्त में अन्तर धातु कही गई है। इसकी व्याख्या में कल्लि० ने इस तरफ़ ध्यान दिलाया कि हालाँकि ग्रन्थकार ने अन्तर धातु का सालगसूडस्थ रूपकों में ही प्रयोग का नियम बनाया है लेकिन पंचतालेश्वर में वचन* के सामर्थ्य से अन्तर का प्रयोग होता है।

वातपित्तकफा देहधारणाद्धातवो यथा॥ १०॥
एवमेते प्रबन्धस्य धातवो देहधारणात्।

१० ग-११ ख. (अ०) **यथा** जैसे **देहधारणात्** शरीर का धारण करने से **वातपित्तकफाः** वात, पित्त और कफ **धातवः** धातुएँ (होती हैं) **एवम्** इसी प्रकार **प्रबन्धस्य देहधारणात्** प्रबन्ध के शरीर को धारण करने से **एते धातवः** ये (उद्ग्राह आदि) धातुएँ (हैं)।

---

* 'वचन' का अर्थ विधि है और उसका लक्षण है अप्राप्त की प्राप्ति कराना। अन्तर धातु का सालगसूडों में ही प्रयोग का नियम होने से सालगसूडों के अलावा किसी प्रबन्ध में उसके प्रयोग का बाध (निषेध) हो जाता है। लेकिन पंचतालेश्वर में उसका प्रयोग होता आया है। इसलिये पूर्वोक्त नियम के कारण अन्तर धातु का निषेध होने पर भी उसमें अन्तर के प्रयोग की प्राप्ति कराना—यह 'वचन' है।

(सर०) 'धारण' अर्थ वाली 'धा' धातु से 'तुन्' प्रत्यय लगाने पर 'धातु' शब्द बनता है जिसका अर्थ है 'धारण करने वाली'। संगीतशास्त्र में इस शब्द का ग्रहण आयुर्वेद से हुआ है जहाँ वात, पित्त, कफ—इन तीन तत्त्वों को धातु कहा है क्योंकि ये शरीर को धारण करते हैं। यहाँ प्रबन्ध को ग्रन्थकार ने शरीर की उपमा दी है और आयुर्वेद के सादृश्य पर प्रबन्ध के स्थिति विधायक खण्डों को धातु कहा है। उद्ग्राह आदि खण्ड ही प्रबन्ध की स्थिति को बनाए रखते हैं इसलिये इनकी धातु संज्ञा सार्थक है।

तत्र मेलापकाभोगौ न भवेतां क्वचित्क्वचित्॥ ११॥

११ ग-घ. (अ०) तत्र उन (धातुओं) में से **मेलापक-आभोगौ** मेलापक और आभोग **क्वचित् क्वचित्** कभी-कभी **न भवेतां** नहीं होते।

(सर०) उपर्युक्त चार धातुओं में से किसी-किसी प्रबन्ध में मेलापक और आभोग नहीं होते, सिर्फ़ उद्ग्राह और ध्रुव ये दो धातुएँ ही होती हैं। इसका अर्थ यह है कि ये दो धातुएँ अनिवार्य हैं और किसी भी प्रबन्ध में छोड़ी नहीं जातीं। कल्लि० के अनुसार अगर एक धातु ही छोड़नी हो तो वह मेलापक ही हो सकती है क्योंकि सभी त्रिधातु प्रबन्धों में ऐसा ही दिखाई देता है।

बृह० ऐसा पहला ग्रन्थ है जिसमें प्रबन्धों का निरूपण प्राप्त होता है लेकिन उसमें प्रबन्धों के लक्षण में उद्ग्राह आदि संज्ञाओं का कहीं भी प्रयोग नहीं हुआ है। कारण संभवतः यह है कि मतंग ने प्रबन्धों के लक्षण खण्डों के अनुसार नहीं दिये हैं। इसी तरह मान० में भी एला, दण्डकिका (ढेंकिका), झोम्बड, लम्भ और एकताली के अलावा दूसरे प्रबन्धों के लक्षण उद्ग्राह आदि के द्वारा न देकर उनमें प्रथम, द्वितीय आदि खण्ड ही कहे हैं।

मान० से पहले भरतभाष्य में सं०र० वाले धातुनाम नहीं है, उनसे भिन्न नाम प्राप्त हैं। उसमें वैदिक साम के प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव और निबन्धन—इन पाँच 'अंगों' के समकक्ष एलादि गीतों में क्रम से उद्ग्राह, अनुद्ग्राह, संबोधन, ध्रुव और आभोग कहे हैं और सामगीतक के 'हिंकार' और 'ओंकार' के समक्ष 'प्रयोग' (यानी अक्षरवर्जित गमकालप्ति) को रखा है (भ० भाष्य, पृ० ३६५) इससे पहले प्रस्तावादि को गीतकों के मुख-प्रतिमुख के समकक्ष दिखाते हुए भी उल्लेख हुआ है (पृ० २७३)। सं०र० में भी सामगीतक के लक्षण में इन दोनों का उल्लेख हुआ है (५/२३०-२३३)।

सं०र० के वाद्याध्याय में उद्ग्राह आदि चार धातुओं के आधार पर अवनद्ध वाद्यों के प्रबन्धों में भी खण्ड-विभाजन किया गया है।

स द्विधातुस्त्रिधातुश्च चतुर्धातुरिति त्रिधा।
प्रबन्धः,

१२ क-ग. (अ०) **सः प्रबन्धः** वह प्रबन्ध **द्विधातुः त्रिधातुः** द्विधातु, त्रिधातु **चतुर्धातुः च** और चतुर्धातु **इति त्रिधा** यों तीन प्रकार से (होता है)।

(सर०) पिछली कारिका में कहा गया कि प्रबन्धों में कभी-कभी मेलापक और आभोग नहीं होते। उसी के अनुसार यहाँ प्रबन्ध के तीन भेद कहे हैं, दो धातु से द्विधातु, तीन रहने से त्रिधातु और चारों धातुएँ हों तो चतुर्धातु।

धातु की दृष्टि से वर्तमान लक्ष्य पर विचार करें तो यह कह सकते हैं कि उद्ग्राह और मेलापक लुप्त हो चुके हैं। मान० के ध्रुव धातु के लक्षण के अनुसार **पौनःपुन्यात्** (बार-बार प्रयुक्त होने) और **ध्रुवत्वात्** (ध्रुव रूप से रहने) (मान०, १६/४/४४१-४२) के कारण उत्तर भारतीय संगीत में स्थायी की पहली पंक्ति को ध्रुव के समकक्ष रख सकते हैं। आज का 'अन्तरा' शब्द तो 'अन्तर' के नज़दीक है लेकिन वह अन्वर्थ नहीं हैं क्योंकि बन्दिशों में वह दो खण्डों के बीच में नहीं होता, अधिकांश बन्दिशों में अन्तिम खण्ड होता है। इस रूप में अन्तरा आभोग का स्थान ले चुका है। चार खण्ड वाले ध्रुपदों में स्थायी, अन्तरा,

संचारी, आभोग में से संचारी धातुओं में नहीं है। संचारी और आभोग के बीच स्थायी की पहली पंक्ति दोहराई न जाने से धातुसंख्या की दृष्टि से उन्हें एक खण्ड ही माना जायगा, यद्यपि गेय रूप में दो खण्ड स्पष्टत: दिखाई देते हैं। सितार की गतों में स्थायी और अन्तरा के बीच कुछ वादक 'मंझा' नामक एक छोटा सा खण्ड बजाते थे। 'मंझा' शब्द मध्य का अपभ्रंश है इसलिये अन्तर (बीच) का सूचक समझा जा सकता है। स्थायी और अन्तरा को जोड़ना मंझा का प्रयोजन कहा जाता है। इस दृष्टि से इसे मेलापक के समकक्ष मान सकते हैं।

इस चर्चा के आधार पर यह कहना चाहिये कि आज की प्राय: सभी बन्दिशें द्विधातु हैं। मंझायुक्त गत त्रिधातु कही जा सकती है। चार खण्ड वाले ध्रुपदों में संचारी-आभोग को मिला कर एक खण्ड समझें तो त्रिधातु और दोनों को अलग खण्ड मानें तो चतुर्धातु कह सकते हैं।

(प्रबन्धाङ्गानि)

अङ्गानि षट् तस्य स्वरश्च बिरुदं पदम्॥ १२॥
तेनकः पाटतालौ च प्रबन्धपुरुषस्य ते।
भवन्त्यङ्गवदङ्गानि,

प्रबन्ध के 'अंग'

१२ ग-१३ ग. (अ०) **तस्य** उस **प्रबन्धपुरुषस्य** प्रबन्ध (रूपी) पुरुष के **स्वरः बिरुदं च** स्वर और बिरुद, **पदं तेनकः** पद, तेन **पाटतालौ च** (तथा) पाट और ताल **षट् अङ्गानि** ६ अंग (हैं)। **ते** वे **अङ्गवत्** (मनुष्य के) अंगों के समान **अङ्गानि भवन्ति** (प्रबन्धपुरुष के) अंग होते हैं।

(सर०) धातु भेद कहते समय प्रबन्ध के शरीर का उल्लेख ग्रन्थकार कर चुके हैं। उसी के अनुरूप यहाँ प्रबन्ध को पुरुष कह कर उसे एक व्यक्ति का रूप दिया है। जिस तरह व्यक्ति के शरीर में विभिन्न अंग होते हैं उसी तरह प्रबन्ध-व्यक्ति में भी ६ अंग कहे हैं—स्वर, बिरुद, पद, तेन, पाट और ताल।

मङ्गलार्थप्रकाशके॥ १३॥
तत्र तेनपदे नेत्रे स्तः पाटबिरुदे करौ।
कराभ्यामुद्भवात् कार्ये कारणत्वोपचारतः॥ १४॥
प्रबन्धगतिहेतुत्वात् पादौ तालस्वरौ मतौ।

१३ घ-१५ ख. (अ०) **तत्र** उनमें से **मङ्गल-अर्थप्रकाशके** मंगल और अर्थ के प्रकाशक **तेन-पदे** (क्रम से) तेन और पद **नेत्रे स्तः** दो नेत्र हैं। **पाट-बिरुदे** पाट और बिरुद **कराभ्याम् उद्भवात्** हाथों से उत्पन्न होने के कारण **कार्ये** कार्य में **कारणत्व-उपचारतः** कारणत्व (कारण के रूप में) के उपचार = व्यवहार (लक्षणा द्वारा ग्रहण) होने से **करौ** दो हाथ (समझने चाहियें)। **प्रबन्धगतिहेतुत्वात्** प्रबन्ध की गति के हेतु होने से **तालस्वरौ** ताल और स्वर **पादौ मतौ** दो पैर माने गए (हैं)।

(सर०) मनुष्य के शरीर में नेत्र, हाथ और पैर—इन तीन अंगों के जोड़े प्रमुख हैं। इन्हीं के समकक्ष प्रबन्ध के शरीर में भी स्वर, बिरुद आदि अंगों के तीन जोड़े बनाए हैं। जिस तरह रूप आदि अर्थ को मनुष्य की आँखें प्रकाशित (प्रकट) करती हैं उसी तरह तेन और पद मंगल और अर्थ को प्रकट करते हैं इसलिये इन्हें नेत्रों का स्थान दिया है।

हाथों के द्वारा उत्पन्न करने की क्रिया की जाती है, पाट (वाद्यों के अक्षर) भी हाथों से ही उत्पन्न किये जाते हैं। बिरुद

को हाथ क्यों कहा गया इस पर कल्लि० की टीका का आशय यह है कि वितरण (बाँटना, फैलाना) हाथ से होता है और बिरुद (स्तुति, प्रशंसा) के द्वारा भी यश फैलाया जाता है इसलिये पाट और बिरुद रूप कार्य में इनके कारणरूप हाथों का लक्षणा से ग्रहण करके इन्हें हाथों से उत्पन्न कहा है।

शरीर को पैर ही गति प्रदान करते हैं। इसी तरह प्रबन्ध को गति प्रदान करने वाले अंग स्वर और ताल हैं। इन दोनों अंगों को कल्लि० ने दो उदाहरणों के द्वारा बड़े रोचक ढंग से स्पष्ट करते हुए इनके एक महत्त्वपूर्ण पक्ष पर प्रकाश डाला है। उसने कहा कि षड्जादि स्वर पूरे प्रबन्ध में रहते हैं लेकिन उनकी अभिव्यक्ति स, रि, ग आदि अक्षरों के द्वारा ही होती है यानी इन स्वराक्षरों का उच्चारण करते हुए उन षड्जादि स्वरध्वनियों को गाया जाता है जिनके वाचक ये अक्षर हैं। इसीलिये इन्हें विशेष अंग कहा। गीत का लक्षण ही स्वरसंदर्भ है इसलिये स्वर के बिना तो प्रबन्ध हो ही नहीं सकता। इस लक्षण के संदर्भ में कल्लि० ने पूरे प्रबन्ध में स्वर की व्याप्ति कही है। उसने उदाहरण दिया कि जैसे शरीर के सभी छिद्रों में आकाश रहता है लेकिन कान से घिरे हुए आकाश के द्वारा ही शब्द (ध्वनि) का ग्रहण होता है इसलिये उसी को श्रोत्र इन्द्रिय कहा जाता है। यहाँ यह समझना ज़रूरी है कि पूरे प्रबन्ध में व्याप्त स्वर प्रबन्ध के लिये अनिवार्य है लेकिन स्वराक्षर पूरे प्रबन्ध में अनिवार्य नहीं होते बल्कि प्रबन्ध की पदरचना में रह सकते हैं। इस रूप में स्वर अनिवार्य अंग नहीं है। अंग के रूप में स्वराक्षर को ही स्वर कहना विवक्षित है। इसकी पुष्टि प्रबन्धों के लक्षणों पर कल्लि० की टीका से भी होती है क्योंकि उसने अंग की संख्या के आधार पर प्रबन्ध को द्व्यङ्ग आदि नाम देते समय स्वराक्षर को ही स्वर अंग मान कर टीका की है।

स्वर की तरह ताल भी पूरे प्रबन्ध में रह सकता है फिर भी उसे अंग कहा। इस पर कल्लि० ने उदाहरण दिया कि स्पर्श का संवेदन पूरे शरीर में होने पर भी स्पर्श को अलग इन्द्रिय कहा गया है। यह ध्यान देने की बात है कि जिस तरह प्रबन्ध के लिये षड्जादि स्वर अनिवार्य हैं उस तरह ताल प्रबन्ध में अनिवार्य नहीं है क्योंकि कुछ प्रबन्ध ऐसे हैं जो तालरहित हैं और कुछ ऐसे भी हैं जिनमें बीच-बीच में अताल भाग भी रहता है। इसलिये ताल के बारे में कल्लि० का कथन सताल प्रबन्धों पर ही लागू होता है।

दोनों उदाहरणों का कथ्य यह है कि अंग शरीर का एक भाग होता है जो शरीर में प्राय: किसी एक जगह स्थित होता है। इसलिये जो पूरे शरीर में व्याप्त हो उसे अंग नहीं कहना चाहिये। लेकिन आकाश सारे शरीर के सभी छिद्रों में और स्पर्शज्ञान पूरे शरीर में रहते हुए भी श्रोत्र और स्पर्श को अलग इन्द्रिय कहा। उसी तरह स्वर और ताल पूरे प्रबन्ध में होने पर भी उन्हें अलग से अंग कहा गया।

स्वराः षड्जादयस्तेषां वाचकाः सरिगादयः॥ १५॥

स्वराभिव्यक्तिसंयुक्ताः स्वरशब्देन कीर्तिताः।
बिरुदं गुणनाम स्यात्ततोऽन्यद्वाचकं पदम्॥ १६॥

तेनेतिशब्दस्तेनः स्यान्मङ्गलार्थप्रकाशकः।
ओं तत्सदिति निर्देशात्तत्त्वमस्यादि वाक्यतः॥ १७॥

तदिति ब्रह्म तेनायं ब्रह्मणा मङ्गलात्मना।
लक्षितस्तेन तेनेति पाटो वाद्याक्षरोत्करः॥ १८॥

तालस्तालप्रकरणे सप्रपञ्चो निरूप्यते।

१५ ग-१९ ख. (अ०) **षड्ज-आदयः स्वराः** षड्ज आदि स्वर (हैं)। **स्वर-अभिव्यक्ति संयुक्ताः** (उन) स्वरों की अभिव्यक्ति से युक्त **तेषां वाचकाः** उन (-उन स्वरों) के वाचक **स-रि-ग-आदयः** स, रि, ग आदि (अक्षर) **स्वरशब्देन कीर्तिताः** 'स्वर' शब्द से जाने गए हैं।

बिरुदं 'बिरुद' **गुणनाम स्यात्** गुण (अर्थात् विशेषणों) का नाम होता है।

ततः अन्यत् उस (बिरुद) से अन्य (भिन्न) **वाचकम्** अर्थ-बोधक (शब्द) **पदं** 'पद' (है)।

मङ्गल-अर्थ-प्रकाशकः मंगल (सूचक) अर्थ का प्रकाशक है **तेन** उस कारण से **तेनः इति शब्दः स्यात्** तेन यह शब्द होता है (अर्थात् तेन कहलाता है)। **ओं तत् सत् इति निर्देशात्** 'ओं तत् सत्' (श्रुतियों के) इस निर्देश से (और) **तत् त्वम् असि आदि वाक्यतः** 'तत् त्वम् असि' आदि वाक्य से **तत् इति ब्रह्म** 'तत्' इस (शब्द) से ब्रह्म (सूचित होता है)। **तेन** इसलिये **अयं** यह (प्रबन्ध) **तेन** उस **मङ्गल-आत्मना ब्रह्मणः** मंगल (ही) स्वरूप है जिसका (ऐसे) ब्रह्म के द्वारा **लक्षितः** लक्षित (संकेतित या लक्षण दिया गया) **इति तेन** इस प्रकार (इसलिये) 'तेन' (कहा गया)।

पाटः 'पाट' **वाद्य-अक्षर-उत्करः** वाद्य (वाद्यों से उत्पन्न) अक्षर (अक्षरों का) समूह (है)।

तालः ताल (का) **तालप्रकरणे** तालाध्याय में **सप्रपञ्चः** विस्तार सहित **निरूप्यते** विवेचन किया जाता है (अर्थात् किया जायगा)।

(सर०) **स्वराभिव्यक्तिसंयुक्ताः** का सरल अर्थ है स, रि, ग आदि अक्षरों का उच्चारण करते हुए उनके षड्जादि स्वरों को गाना। प्रबन्ध की पदरचना के जिस अंश में जो स्वराक्षर होते हैं उस अंश को उन्हीं स्वरों में गाया जाता है जैसा कि चतुरंग आदि में 'सरगम' अंश में या 'स्वरमालिका' बन्दिश में।

'बिरुद' शब्द संस्कृत 'विरुद' का अपभ्रंश रूप है जो देशी भाषाओं में 'व' के 'ब' में परिवर्तित होने का परिणाम है। पार्श्व० ने विरुद शब्द का ही प्रयोग किया है। सं० स० सार में विरुद का लक्षण सं० र० से भिन्न है। पार्श्व० ने कहा कि महाराष्ट्र में 'विरु' शब्द विरुद्ध अर्थ में प्रसिद्ध है। शत्रुओं को विरोध प्रदान करने के कारण 'विरुद' कहा गया (विरु = विरोध, दः = देने वाला)। वीररसयुक्त होने पर शत्रुओं को उद्वेग देता है लेकिन अन्य रस से युक्त पद भी विरुद कहलाता है। आशय यह है कि विरुद यानी गुणगान या प्रशंसा का पद प्रशंसित के शत्रुओं के विरोध का कारण बनता है इसलिये उसे मराठी भाषा में विरुद कहा जाता है।

विरुद और तेन के अलावा प्रबन्ध में जो सार्थक शब्द होते हैं उन्हें 'पद' कहा है।

'तेन' के लक्षण में कई बार तेन शब्द का प्रयोग हुआ है जो अलग-अलग अर्थों का सूचक है। तेन शब्द 'तत्' की तृतीया विभक्ति का एकवचन रूप है जिसका अर्थ है 'उस कारण से' या इसलिये। 'तत् त्वम् असि' और 'ओं तत् सत्' जैसे वेदवाक्यों में प्रयुक्त 'तत्' शब्द ब्रह्म का सूचक है। प्रबन्ध में भी मंगल अर्थ को प्रकट करने वाले शब्द तेन कहलाते हैं। संभवतः प्रबन्ध की पदरचना में भी तेन शब्द का प्रयोग होता था जैसा कि 'संगीतसंप्रदायप्रदर्शिनी' में वेंकटमखी द्वारा रचित प्रबन्धों के उदाहरणों में दिखाई देता है (सं० सं० प्र०, प्रथम खण्ड, पृ० १४१-४२, १९८)। पार्श्व० के तेन्नक (तेन अथवा तेनक) के लक्षण से भी ऐसा प्रकट होता है। उसके अनुसार गीत में जो 'तेन्न-तेन्न' वर्ण होते हैं वे 'तेन्नक' कहलाते है (सं० स० सार, ५/२०)।

मुख्य रूप से अवनद्ध वाद्यों के अक्षर पाट कहलाते हैं। वर्तमान चतुरंग, तराना और कभी-कभी ख़्याल की बन्दिशों में पद के साथ-साथ पखावज, तबला आदि के बोल भी रहते हैं जो पाट ही हैं।

(प्रबन्धजातयः)

मेदिन्यथानन्दिनी स्याद्दीपनी भावनी तथा॥ १९॥

तारावलीति पञ्च स्युः प्रबन्धानां तु जातयः।
अङ्गैः षडादिभिर्द्व्यन्तैः केषाञ्चन मते श्रुतिः॥ २०॥

नीतिः सेना च कविता चम्पूरित्युदितास्तु ताः।

प्रबन्ध की जातियाँ

१९ ग-२१ ख. (अ०) **षट्-आदिभिः द्विः अन्तैः अङ्गैः** ६ से शुरू करके २ से अन्त (होने वाले) अंगों के द्वारा **मेदिनी** मेदिनी **अथ आनन्दिनी** इसके बाद आनन्दिनी **स्यात्** होती है (और तब) **दीपनी-भावनी तथा तारावली** दीपनी, भावनी और तारावली **इति** ये **प्रबन्धानां तु** प्रबन्धों की तो **पञ्च जातयः स्युः** पाँच जातियाँ होती हैं। **केषाञ्चन मते** कुछ (आचार्यों) के मत में **ताः तु** वे (जातियाँ) तो (क्रम से) **श्रुतिः** श्रुति, **नीतिः** नीति, **सेना कविता चम्पूः च** सेना, कविता और चम्पू **इति उदिताः** ये कही गई (हैं)।

(सर०) प्रबन्धों के लक्षणों से यह प्रकट होता है कि स्वर आदि छहों अंग सभी प्रबन्धों में नहीं होते। कम से कम २ अंग होना अनिवार्य है। तदनुसार अंगों की संख्या के आधार पर ५ जातियाँ हो सकती हैं। इस तरह ६, ५, ४, ३ और २ अंगों के अनुसार क्रम से मेदिनी. आनन्दिनी, दीपनी, भावनी और तारावली जातियाँ कही हैं। श्रुति आदि संज्ञाओं का ६. ५. आदि संख्या के साथ संबन्ध है। ये नाम और उनका संख्यासंबन्ध सं० स० सार में इस प्रकार दिया गया है। श्रुति यानी वेद के ६ अंग होते हैं (शिक्षा, ज्योतिष, निरुक्त, निघण्टु, छन्द और व्याकरण); नीति के ५ अंग होते हैं (भेद, परीक्षा, विश्वास, वचन और मित्रकार्य); सेना ४ अंगों के कारण चतुरंगिणी कहलाती है (हाथी, घोड़े, रथ और पैदल); कविता ३ अंगों वाली होती है (शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास) और चम्पू गद्य और पद्य से युक्त होता है। तदनुसार ६ अंगों से 'श्रुति', ५ से 'नीति', ४ से 'सेना', ३ से 'कविता' और २ अंगों से 'चम्पू' प्रबन्ध की ये ५ जातियाँ सं० स० सार में हैं।

सिंह ने भी इन जातियों का उल्लेख किया है लेकिन नीति के ५ अंग सं० स० सार से भिन्न हैं। सिंह० ने सं० स० सार के बहुत उद्धरण देते हुए सं० र० की व्याख्या की है लेकिन इन जातियों के संदर्भ में सं० स० सार का उसने उल्लेख नहीं किया है।

पार्श्व० ने तारावली आदि को और शार्ङ्ग० ने श्रुति आदि को अन्यों का मत कहा है। यह ध्यान देने योग्य है कि सं० र० के किसी भी पूर्ववर्ती ग्रन्थ में श्रुति आदि नाम नहीं हैं। सं० स० सार में हैं जो सं० र० का समकालीन माना जाता है।

शार्ङ्गदेव ने धातुओं की संख्या के आधार पर द्विधातु आदि और अंगसंख्या के आधार पर षडंगादि भेद कहे लेकिन प्रबन्धों के लक्षणों में इन शब्दों का प्रयोग नहीं किया है यद्यपि अंग और धातुओं के द्वारा लक्षण दिये हैं। कल्लि० ने प्रायः सभी प्रबन्धों की टीका में प्रबन्ध की मेदिनी आदि जाति और द्विधातु आदि भेद बताये हैं।

(प्रबन्धभेदाः)

(निर्युक्तोऽनिर्युक्तश्च)

अनिर्युक्तश्च निर्युक्तः प्रबन्धो द्विविधो मतः॥ २१॥
छन्दस्तालाद्यनियमादाद्यः स्यान्नियमात् परः।

प्रबन्ध के भेद

(अ) निर्युक्त और अनिर्युक्त

२१ ग-२२ ख. (अ०) **प्रबन्धः** प्रबन्ध **अनिर्युक्तः निर्युक्तः च** अनिर्युक्त और निर्युक्त **द्विविधः मतः** (यों) दो प्रकार से माना गया (है)। **छन्दः ताल-आदि-अनियमात्** छन्द, ताल आदि के अनियम से **आद्यः** पहला (अनिर्युक्त) **नियमात् परः स्यात्** (और इनके) नियम से दूसरा (निर्युक्त) होता है।

(सर०) छन्द, ताल आदि के नियम का यह अर्थ है कि जिन प्रबन्धों में छन्दविशेष और तालविशेष नामतः कहे गए

हैं वे निर्युक्त होते हैं और जिनमें छन्द, ताल का नाम नहीं कहा गया है वे अनिर्युक्त कहलाते हैं। अंकचारिणी प्रबन्ध की टीका में कल्लि० ने बताया कि उसमें तालादि के स्वरूप का नियम नहीं है इसलिये अनिर्युक्त है। इसका आशय भी वही प्रतीत होता है।

कल्लि० ने कहा कि 'आदि' शब्द से छन्द और ताल के अलावा अंग, धातु, राग, रस भाषा का भी ग्रहण होता है यानी इनका विशेष नियम हो तो वे भी निर्युक्त कहे जायँगे। लेकिन कल्लि० की टीका में सिर्फ़ उन्हीं प्रबन्धों को निर्युक्त नहीं कहा है जिनमें विशेष छन्द या ताल का नियम है। उदाहरण के लिये वर्णस्वर प्रबन्ध के ग्रन्थोक्त लक्षण में ताल, छन्द या भाषादि का उल्लेख नहीं है फिर भी कल्लि० ने उसे निर्युक्त कहा है और स्वर, पाट, पद और तेन—इन चार ही अंगों के होते हुए भी उसे सिर्फ़ बिरुद के अभाव में पाँच अंग वाला प्रबन्ध कहा है।

ग्रन्थकार ने प्रबन्ध के लक्षण निर्युक्त-अनिर्युक्त भेदों के अनुसार नहीं दिये हैं लेकिन कल्लि० ने सभी प्रबन्धों की व्याख्या के अन्त में धातुसंख्या, अंगसंख्या और निर्युक्त आदि का उल्लेख किया है।

(सूड आलिर्विप्रकीर्णश्च)

पुनः प्रबन्धास्त्रिविधाः सूडस्था आलिसंश्रयाः॥ २२॥
विप्रकीर्णाश्च तत्रादौ सूडलक्षणमुच्यते।

(आ) सूड, आलि और विप्रकीर्ण

२२ ग-२३ ख. (अ०) **पुनः** फिर (अर्थात् इनके अलावा) **प्रबन्धाः त्रिविधाः** प्रबन्ध तीन प्रकार से (होते हैं)—**सूडस्थाः** 'सूड' में स्थित, **आलिसंश्रयाः** 'आलि' के आश्रित **विप्रकीर्णाः च** और 'विप्रकीर्ण'। **तत्र** उनमें से **आदौ** शुरू में (अर्थात् पहले) **सूडलक्षणम् उच्यते** सूड का लक्षण कहा जाता है (अर्थात् कहते हैं)।

(सर०) प्रबन्ध के तीन वर्ग हैं—सूड में स्थित प्रबन्ध, आलि के संश्रित प्रबन्ध और विप्रकीर्ण प्रबन्ध। पहले अध्याय के 'पदार्थसंग्रह' प्रकरण में चौथे अध्याय का जो विषयसंग्रह दिया है उसमें भी प्रबन्धों के ये तीन वर्ग हैं लेकिन उनका उल्लेख कुछ अलग ढंग से हुआ है। वहाँ दो प्रकार के सूड कहे हैं—शुद्ध और छायालग। सूड में स्थित आलिसंश्रित प्रबन्ध आलिक्रम होते हैं और विप्रकीर्ण प्रबन्ध छायालग सूड के आश्रित होते हैं और आलिक्रम के संबन्ध में सूड से शुद्धसूड ही अभिप्रेत है। सिंह० ने स्पष्ट किया कि एलादि शुद्ध सूड हैं और ध्रुव मण्ठ आदि छायालग सूड। प्रस्तुत अध्याय में अगली कारिकाओं में एला आदि ८ सूड प्रबन्धों के नाम देकर फिर २४ आलि प्रबन्धों के नाम देने के बाद ग्रन्थकार ने कहा है कि सूड और आलिक्रम के संबन्ध से ३२ प्रबन्ध होते हैं। हालाँकि यहाँ इन्हें सिर्फ़ सूड ही कहा है शुद्ध सूड नहीं लेकिन विप्रकीर्ण प्रबन्धों के लक्षण देने के बाद ग्रन्थकार ने स्वयं कहा कि एलादि शुद्ध सूड हैं और ध्रुवादि छायालग।

कल्लि० के अनुसार 'सूड' देशी भाषा का शब्द है जो विशेष गीतों के समूह का वाचक है। 'आलि' शब्द का अर्थ 'पंक्ति' होता है। सूडों के साथ जुड़ कर प्रबन्धों का एक क्रम या पंक्ति बनाने के कारण यह संज्ञा दी गई है। विप्रकीर्ण का अर्थ है फुटकर। यह नाम उन प्रबन्धों के वर्ग का है जो किसी के साथ जुड़ कर नहीं बल्कि स्वतन्त्र रूप से अलग-अलग अवसरों पर और विविध कार्यों के साथ गाये जाते हैं।

(प्रबन्धानामुद्देशः)

एलाकरणढेङ्कीभिर्वर्तन्या झोम्बडेन च॥ २३॥
लम्भरासैकतालीभिरष्टभिः सूड उच्यते।

प्रबन्धों का उद्देश

२३ ग-२४ ख. (अ०) **एला-करण-ढेङ्कीभिः** एला, करण और ढेंकी (प्रबन्धों) के द्वारा, **वर्तन्या झोम्बडेन च** वर्तनी और झोम्बड के द्वारा (तथा) **लम्भ-रास-एकतालीभिः** लम्भ, रास और एकताली के द्वारा **एभिः अष्टभिः**—इन आठ (प्रबन्धों) के द्वारा **सूडः उच्यते** (शुद्ध) सूड कहा जाता है।

(सर०) इन आठ प्रबन्धों का समूह सूड कहलाता है। जैसा कल्लि० ने कहा है उसके अनुसार, इन प्रबन्धों के नामों में एलादि शब्दों में से कुछ रूढ़ हैं और कुछ अन्वर्थ हैं। शायद ढेंकी, रास, एकताली प्रबन्धों में इन्हीं नामों के तालों का प्रयोग कहे जाने से इस रूप में अन्वर्थता कही है। लेकिन शुद्ध सूड प्रबन्धों की टीका में कल्लि० ने अन्वर्थता दिखाई नहीं है।

इस प्रबन्धों 'के द्वारा' कहने का तात्पर्य यह है कि इनका एक समूह है और निश्चित क्रम भी। श्लोक २७ में ग्रन्थकार ने स्वयं 'सूडक्रम' शब्द का प्रयोग करते हुए उनमें आलिप्रबन्धों के जुड़ने की बात कही है। यह बात नर्तनाध्याय में कल्लि० की टीका से भी पुष्ट होती है जहाँ नृत्त की शुद्ध पद्धति में ग्रन्थकार ने सूड प्रबन्धों को अपनी इच्छानुसार गाने की छूट दी है। कल्लि० ने व्याख्या करते हुए कहा कि सूडों को उनका क्रम छोड़ कर गा सकते हैं। इससे यह प्रकट होता है कि सूडों का निश्चित क्रम है जिसे नर्तन में छोड़ने की बात कही है (सं० र०, ७/१२६७-६८)। सं० राज से भी सूडों के क्रम की, सूड और आलिप्रबन्धों के क्रम की और विप्रकीर्ण प्रबन्धों के अकेले-अकेले गान की पुष्टि होती है (सं० राज, २/४/२/३५-३६)।

इस बारे में पार्श्व० का प्रबन्ध निरूपण बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उसमें सूड प्रबन्धों के निश्चित क्रम और उनमें आलि प्रबन्धों के तत्कालीन लक्ष्य का विवरण अतिजघन्य, जघन्य, मध्यम, उत्तम और उत्तमोत्तम—इन पाँच वर्गों के अन्तर्गत दिया गया है (सं० स० सार, ५/६१-७५)। उसमें पार्श्व० के पूर्ववर्ती जगदेकमल्ल के 'संगीतचूडामणि' का आधार भी लिया है (वही, ८१-९२)। उनसे भी सूडों के क्रम और उनके साथ आलि प्रबन्धों के संबन्ध की पुष्टि होती है।* शार्ङ्ग० ने इन दोनों वर्गों का संबन्ध तो कहा है लेकिन उनका क्रम नहीं दिया है। कारण यह प्रतीत होता है कि प्रबन्धाध्याय में सभी प्रबन्धों के स्वतन्त्र लक्षण देना ही प्रयोजन है। प्रयोग की विधि और क्रम लक्ष्य से समझ लेने के लिये छोड़ दिया है।

प्रस्तुत कारिकाओं में सूडवर्ग के ये ८ प्रबन्ध नाम हैं—एला, करण, ढेंकी, वर्तनी, झोम्बड, लम्भ, रास, एकताली।

वर्णो वर्णस्वरो गद्यं कैवाडश्चाङ्कचारिणी॥ २४॥

कन्दस्तुरगलीला च गजलीला द्विपद्यपि।
चक्रवालः क्रौञ्चपदः स्वरार्थो ध्वनिकुट्टनी॥ २५॥

आर्या गाथा द्विपथकः कलहंसश्च तोटकम्।
घटो वृत्तं मातृका च ततो रागकदम्बकः॥ २६॥

पञ्चतालेश्वरस्तालार्णव इत्येषु कश्चन।
सूडक्रमस्य मध्ये चेदसावालिक्रमो भवेत्॥ २७॥

सूडालिक्रमसंबन्धाद् द्वात्रिंशदिति कीर्तिताः।

२४ ग-२८ ख. (अ०) वर्ण, वर्णस्वर, गद्य, कैवाड, अङ्कचारिणी, कन्द, तुरगलीला, गजलीला, द्विपदी, चक्रवाल, क्रौञ्चपद, स्वरार्थ, ध्वनिकुट्टनी, आर्या, गाथा, द्विपथ, कलहंस, तोटक, घट, वृत्त, मातृका, रागकदम्ब, पञ्चतालेश्वर और तालार्णव—इति ये (आलिप्रबन्ध हैं)। **एषु कश्चन** इनमें (से) कोई **सूडक्रमस्य मध्ये चेत्** यदि सूडक्रम के बीच में (हो) **असौ** (तो) यह

---

* द्रष्टव्य—Time Measure and Compositional Types In Indian Music.

(प्रयोग) **आलिक्रमः भवेत्** आलिक्रम होता है (अर्थात् आलिक्रम कहलाता है)। **सूड-आलिक्रमसंबन्धात्** सूड और आलिक्रम के संबन्ध से (अर्थात् दोनों को मिलाने से) **द्वात्रिंशत् इति कीर्तिताः** यों बत्तीस (प्रबन्ध) प्रसिद्ध हुए हैं।

(सर०) कारिका २७ में प्रयुक्त **एषु** और **असौ** के स्थान पर सिंह० का पाठ 'तेषु' और 'सः' है। इसके अनुसार ऊपर दिये गये अर्थ के ठीक विपरीत अर्थ निकलता है। सिंह० ने कहा कि एलादि वर्ग का कोई प्रबन्ध आलिक्रम प्रबन्धों में आता है तो एलादि भी आलिक्रम में स्थित प्रबन्ध कहा जाता है। लेकिन यह अर्थ ग्रन्थकार का अभिप्रेत अर्थ नहीं है और पार्श्व० के सं० स० सार० से भी इसकी पुष्टि नहीं होती।

ततोऽन्ये विप्रकीर्णास्तान् प्रसिद्धान् कतिचिद् ब्रुवे॥ २८॥

श्रीरङ्गः श्रीविलासः स्यात् पञ्चभङ्गिरतः परम्।
पञ्चाननोमातिलकौ त्रिपदी च चतुष्पदी॥ २९॥

षट्पदी वस्तुसंज्ञश्च विजयस्त्रिपथस्तथा।
चतुर्मुखः सिंहलीलो हंसलीलोऽथ दण्डकः॥ ३०॥

झम्पटः कन्दुकः स्यात् त्रिभङ्गिर्हरविलासकः।
सुदर्शनः स्वराङ्कः श्रीवर्धनो हर्षवर्धनः॥ ३१॥

वदनं चच्चरी चर्या पद्धडी राहडी तथा।
वीरश्रीर्मङ्गलाचारो धवलो मङ्गलस्तथा॥ ३२॥

ओवी लोली ढोल्लरी च दन्ती षट्त्रिंशदित्यमी।

२८ ग-३३ ख. (अ०) **ततः अन्ये** उन (सूड और आलिक्रम प्रबन्धों) से अन्य (भिन्न) **विप्रकीर्णाः** 'विप्रकीर्ण' (होते हैं)। **तान्** उन (में से) **कतिचित् प्रसिद्धान्** कुछ प्रसिद्धो (प्रसिद्ध प्रबन्धों) को **ब्रुवे** कहता हूँ। श्रीरङ्ग, श्रीविलास, पञ्चभङ्गि, पञ्चानन, उमातिलक, त्रिपदी, चतुष्पदी, षट्पदी, वस्तु, विजय, त्रिपथ, चतुर्मुख, सिंहलील, हंसलील, दण्डक, झम्पट, कन्दुक, त्रिभङ्गि, हरविलास, सुदर्शन, स्वराङ्क, श्रीवर्धन, हर्षवर्धन, वदन, चच्चरी, चर्या, पद्धडी, राहडी, वीरश्री, मङ्गलाचार, धवल, मङ्गल, ओवी, लोली, ढोल्लरी और दन्ती **इति** यों (इन नामों से) **अमी षट्त्रिंशत्** ये छत्तीस (विप्रकीर्ण प्रबन्ध हैं)।

(सर०) 'उनसे अन्य' संभवतः इसका सूचक है कि सूडों और आलिप्रबन्धों में जो क्रम कहा गया है वह विप्रकीर्ण प्रबन्धों में नहीं होता, वे अपने में पूर्ण और स्वतन्त्र होते हैं इसलिये सूडस्थ और आलिक्रम से भिन्न होते हैं।

विप्रकीर्ण प्रबन्ध बहुत होते हैं उनमें से कुछ के लक्षण दिये गये हैं जो संभवतः शार्ङ्ग० के समय ज़्यादा प्रचलित रहे होंगे।

(प्रबन्धानां लक्षणानि)

(शुद्धसूडप्रबन्धाः)

(१. एला)

(सामान्यलक्षणम्)

अङ्घ्रौ खण्डद्वयं सानुप्रासमेकेन धातुना॥ ३३॥

ततः प्रयोगस्तदनु पल्लवाख्यं पदत्रयम्।
द्वे स्तो विलम्बिते तत्र तृतीयं द्रुतमानतः॥ ३४॥

एवं पादत्रयं गेयमुद्ग्राहे तुल्यधातुकम्।
केवलं तु तृतीयेऽङ्घ्रौ संबोधनपदान्वितः॥ ३५॥

प्रयोगोऽन्यो विधातव्यो न पल्लवपदस्थितिः।
अमुं प्रयोगं मेलापं प्राहुः सोमेश्वरादयः॥ ३६॥

स्तुत्यनामाङ्कितो मध्यविलम्बितपदत्रयः।
ध्रुवस्ततस्तत्र पूर्वमेकधातु पदद्वयम्॥ ३७॥

भिन्नधातु तृतीयं स्यादाभोगस्तदनन्तरम्।
गेयो वाग्गेयकारेण स्वाभिधानविभूषितः॥ ३८॥

पुनर्गीत्वा ध्रुवे त्यागो ग्रहस्तु विषमो भवेत्।
एलासामान्यलक्ष्मैतत् पूर्वाचार्यैरुदीरितम्॥ ३९॥

मण्ठद्वितीयकङ्कालप्रतितालेषु कश्चन।
तालोऽस्यां त्यागसौभाग्यशौर्यधैर्यादिवर्णनम्॥ ४०॥

एलानां बहवः सन्ति विशेषास्तेषु केचन।
व्युत्पत्तये निरूप्यन्ते मतङ्गादिमतोदिताः॥ ४१॥

प्रबन्धों के लक्षण

(क) शुद्ध सूड प्रबन्ध

१—एला

सामान्यलक्षण

३३ ग-४१. (अ०) **अङ्घ्रौ** (प्रथम) पाद में **स-अनुप्रासम्** अनुप्रास (अलंकार) सहित **एकेन धातुना** एक धातु से (अर्थात् एक सी स्वरयोजना वाले) **खण्डद्वयं** दो खण्ड (होते हैं)। **ततः प्रयोगः** उसके बाद 'प्रयोग', **तत्-अनु** उसके बाद **पल्लव-आख्यं पदत्रयं** 'पल्लव' नामक तीन पद (होते हैं)। **तत्र द्वे** उनमें से दो **विलम्बिते स्तः** विलम्बित (लय) में होते हैं। (और) **तृतीयं द्रुतमानतः** तीसरा द्रुतमान (अर्थात् द्रुतलय) से।

एवम् इस प्रकार **तुल्यधातुकं** समान धातु (स्वरयोजना) वाले **पादत्रयं** तीन पाद **उद्ग्राहे गेयम्** उद्ग्राह में गाने चाहियें। **केवलं** सिर्फ़ **तृतीये अङ्घ्रौ तु** तीसरे पाद में तो **संबोधनपद-अन्वितः** संबोधन पद से अन्वित **अन्यः प्रयोगः** भिन्न (अर्थात् पिछले दो पादों के 'प्रयोग' से भिन्न स्वरयोजना वाले) 'प्रयोग' का **विधातव्यः** विधान करना चाहिये। **न पल्लवपदस्थितिः** (तीसरे पाद में तीन) पल्लवपदों की स्थिति नहीं (होती अर्थात् पल्लवपद नहीं होते)। **अमुं प्रयोगम्** इस 'प्रयोग' को **सोमेश्वर-आदयः** सोमेश्वर आदि **मेलापं प्राहुः** मेलापक कहते हैं।

ततः उस (मेलापक) के बाद **स्तुत्यनाम-अङ्कितः** स्तुत्य (जिसकी स्तुति की जा रही हो उस) के नाम से अंकित **मध्य-विलम्बित-पदत्रयः** मध्य (और) विलम्बित (लय) वाले तीन पद वाला **ध्रुवः** ध्रुव (होता है)। **तत्र** उसमें **पूर्वं पदद्वयं** पहले दो पद **एकधातुः** एक (ही) धातु वाले (और) **तृतीयं भिन्नधातुः स्यात्** तीसरा भिन्न धातु वाला होता है।

तत्-अनन्तरम् उसके बाद **वाग्गेयकारेण** वाग्गेयकार के द्वारा **स्व-अभिधानविभूषितः** अपने नाम से विभूपित **आभोगः गेयः** आभोग गाना चाहिये।

पुनः गीत्वा (पूरे प्रबन्ध को) फिर से (अर्थात् दुबारा) गाकर **ध्रुवे त्यागः** ध्रुव में छोड़ना (अर्थात् समाप्त करना) चाहिये। **ग्रहः तु** ग्रह तो, **विषमः भवेत्** विषम होता है। **एतत्** यह **एलासामान्यलक्ष्म** 'एला' (प्रबन्ध) का सामान्य लक्षण **पूर्व-आचार्यैः** पूर्व आचार्यों के द्वारा **उदीरितं** कहा गया (है)।

मण्ठ-द्वितीय-कङ्काल-प्रतितालेषु मण्ठ, द्वितीय, कंकाल, प्रतिताल (में से) **कश्चन तालः** कोई ताल (होता है)। **अस्याम्** इस (एला) में **त्याग-सौभाग्य-शौर्य-धैर्य-आदिवर्णनं** त्याग, सौभाग्य, वीरता, धैर्य आदि का वर्णन (होता है)। **एलानाम्** एलाओं के **बहवः विशेषाः सन्ति** बहुत भेद होते हैं। **तेषु** उनमें से **मतङ्ग-आदिमत-उदिताः** मतंग आदि के मत में कहे गए **केचन** कुछ (एलाभेद) **व्युत्पत्तये** (स्वरूप के) ज्ञान के लिये **निरूप्यन्ते** निरूपित किये जा रहे हैं।

(सर०) ग्रन्थकार ने एला प्रबन्ध के सामान्य लक्षण बहुत संक्षेप में दिये हैं। पूरे प्रबन्ध की रचना सिंह० और कल्लि० की टीका से ही स्पष्ट होती है। उनके आधार पर एला का विवरण दिया जा रहा है।

यहाँ 'अङ्घ्रि' शब्द का अर्थ पाद है जो एला के प्रमुख और तीन बड़े खण्डों का सूचक है। 'पद' इन पादों के पद (शब्द) व स्वरयुक्त अवान्तर १२ और उनके बाद के ४ खण्डों को सूचित करता है, जो कुल मिला कर १६ हैं। 'खण्ड' हर पाद के पहले-पहले पद के दो भागों के लिये प्रयुक्त हुआ है। 'धातु' यानी स्वरयोजना है, उद्ग्राह आदि धातुरूप खण्ड नहीं। 'प्रयोग' अक्षरों से रहित गमकयुक्त आलप्ति है।

एला प्रबन्ध में तीन पाद हैं। तीनों पादों के पहले-पहले पद दो-दो खण्ड वाले हैं। पहले दो पादों में दूसरे पद के बाद के तीन पद 'पल्लव' पद कहे जाते हैं। ये १२ पद मिला कर उद्ग्राह होता है। मतान्तर से ११ पदों से उद्ग्राह और १२वें पद से मेलापक होता है। उद्ग्राह के बाद ३ पदों से ध्रुव और अन्त में एक पद से आभोग होता है। तीनों पादों के पहले-पहले पद की मातु (शब्दरचना) अनुप्रासयुक्त होती है। अनुप्रास का लक्षण है—**वर्णसाम्यमनुप्रासः** (काव्य०, ९, सूत्र १०४) अर्थात् वर्णों (अक्षरों) का साम्य (आवृत्ति) अनुप्रास है।

पहले पाद के पहले पद के दोनों खण्डों की धातु एक ही होती है। दूसरे और तीसरे पादों के पहले-पहले पद भी उसी धातु में गाए जाते हैं। लेकिन सभी खण्डों की मातु भिन्न होती है। हर पाद का दूसरा-दूसरा पद 'प्रयोग' के रूप में गाया जाता है। पहले और दूसरे पाद के 'प्रयोगों' की धातु भी एक ही होती है। लेकिन तीसरे पाद का 'प्रयोग' भिन्न धातु में गाया जाता है। इस तरह पूरे पहले पाद की धातु की दूसरे पाद में आवृत्ति होती है। और इनके पहले-पहले पदों की धातु तीसरे पाद के पहले पद में दोहराई जाती है।

पहले और दूसरे पादों के ३-३ पल्लव पदों में से पहले दो-दो पद विलम्बित लय में और तीसरे पद द्रुत लय में गाए जाते हैं।

इस प्रकार १२ पदों के उद्ग्राह के बाद ३ पद का ध्रुव होता है। इनमें से प्रथम दो पद भिन्न मातु लेकिन एक सी धातु में गाए जाते हैं। पहले दो पदों की लय मध्य और तीसरे की विलम्बित होती है।

ध्रुव के बाद एक पद का आभोग होता है।

बारहवें पद के 'प्रयोग' में संबोधनपद, ध्रुव में स्तुत्य का नाम और आभोग में वाग्गेयकार का नाम रहता है।

एला के दूसरे, सातवें और बारहवें पद 'प्रयोग' युक्त कहे गए हैं। ग्रन्थोक्त लक्षण के अनुसार 'प्रयोग' में सार्थक शब्द नहीं होते। लेकिन ग्रन्थकार ने तीसरे पाद यानी बारहवें पद के 'प्रयोग' में संबोधनपद कहा है। कल्लि० ने **केवलं** का अन्वय **संबोधनपदान्वितः** के साथ करते हुए यह कहा कि केवल संबोधनपद से अन्वित कहने का अर्थ यह है कि उसमें संबोधनरहित

पद का निषेध हो और इससे यह भी समझना चाहिये कि पहले दो पादों के 'प्रयोग' में भी संबोधनरहित एक-एक पद की स्वीकृति दी है। उसने शंका उठाई कि अन्यथा अक्षर वर्जित होने से उस 'प्रयोग' का 'पदत्व' सिद्ध नहीं होगा यानी उसे पद नहीं कहा जा सकेगा। इस शंका का कारण यह है कि व्याकरण की दृष्टि से सार्थक शब्द को ही पद माना जाता है। यहाँ सार्थक शब्दरहित 'प्रयोग' वाले भागों को भी पद कहा गया है। इस शंका का समाधान समझने से पहले कल्लि० की टीका को समझना ज़रूरी है।

उक्त अंश की कल्लि० की टीका के आड्यार संस्क० के पाठ में पहले दो पादों के 'प्रयोग' में 'संबोधनार्थ' एक-एक पद की स्वीकृति कही है। वास्तव में यहाँ कल्लि० के आशय के अनुसार 'असंबोधनार्थ' होना चाहिये जिसकी पुष्टि आगे 'समान' नामक प्राण की टीका से भी होती है जहाँ यही पाठ है। सं० र० के आनन्दाश्रम संस्क० में भी यही पाठ है (खण्ड १, पृ० २७६-७७)। इस के अनुसार पहले दो पादों के 'प्रयोग' में संबोधनरहित एक-एक पद और तीसरे 'पाद' के प्रयोग में एक संबोधनपद होना चाहिये।

हमने पहले कहा है कि एला प्रबन्ध में 'पद' शब्द पादों के स्वर और शब्दयुक्त (और संभवतः तालयुक्त भी) अवान्तर खण्डों को सूचित करता है। इस संदर्भ में पद पारिभाषिक है, केवल अर्थबोधक शब्द नहीं। दूसरे, 'प्रयोग' में सार्थक या निरर्थक शब्दों की योजना न भी हो तो भी स्वरों को गाने के लिये 'आ' जैसा कोई अक्षर होना तो अनिवार्य है क्योंकि किसी भी अक्षर के बिना तो कण्ठ से कोई ध्वनि उच्चरित ही नहीं हो सकती। इसलिये 'प्रयोग' में वह अक्षर ही पद कहा जायगा। भरत ने कहा भी है—**यत्स्यादक्षरसंबद्धं तत्सर्वं पदसंज्ञितम्** (ना० शा०, ३२/२८)। 'प्रयोग' को 'अक्षरवर्जित गमकालप्ति' कहने में ग्रन्थकार का प्रयोजन सार्थक-निरर्थक शब्दों का निषेध करना ही है।

.... संबोधनपदान्वितः। प्रयोगोऽन्यः विधातव्यः का दोनों टीकाकारों ने अलग अर्थ दिया है। कल्लि० ने **अन्यः** का अर्थ भिन्न धातु करते हुए कहा कि संबोधनपदयुक्त 'प्रयोग' की धातु पहले दोनों पादों के प्रयोग की धातु से भिन्न होनी चाहिये। यही अर्थ उसने एला के पदनामों की टीका में भी दोहराया है। सिंह० ने **अन्यः** को 'प्रयोग' के साथ अन्वित किया और यह अर्थ दिया कि संबोधनपदयुक्त 'प्रयोग' के बाद एक और 'प्रयोग' करना चाहिये। सं० र० में एला के पदों के उदाहरण नहीं हैं और न इस प्रबन्ध का गेय रूप आज प्राप्त है इसलिये यह निश्चयपूर्वक कहना संभव नहीं है कि दोनों टीकाकारों में से किसकी टीका सही है। लेकिन ग्रन्थकार के लक्षण में दो 'प्रयोगों' का स्पष्ट विधान न होने से कल्लि० की व्याख्या ज़्यादा सही लगती है।

पुनर्गीत्वा ध्रुवे त्यागः का भी दोनों टीकाकारों ने भिन्न अर्थ दिया है। कल्लि० ने सोलहों पदों को यानी पूरे प्रबन्ध को दो बार गाकर तेरहवें पद के शुरू में समाप्त करने के लिये कहा। दूसरी ओर सिंह० के सामने **ध्रुवे** के बजाय '**ध्रुवं**' पाठ है। तदनुसार उसने कहा कि आभोग के बाद ध्रुव को पुनः गाकर समाप्त करना चाहिये अर्थात् ध्रुव गाकर उसके अन्त में समाप्ति होगी। इस प्रकार कल्लि० ने ध्रुव के तेरहवें पद के शुरू में और सिंह० ने ध्रुव के अन्तिम पन्द्रहवें पद के अन्त में समाप्ति कही।

'विषम ग्रह' से तात्पर्य अतीत और अनागत ग्रहों से है। ग्रह के साथ **तु** (तो) का प्रयोग ग्रन्थकार ने यह सूचित करने के लिये किया है कि अन्य प्रबन्धों में ग्रह का नियम नहीं है लेकिन एला में है। ग्रहों के लक्षण तालाध्याय में दिए जायँगे। यहाँ इतना समझ लें कि जब ताल के ठीक साथ गीत की उठान न हो बल्कि ताल के उठने के बाद या पहले गीत उठे तो क्रम से अतीत और अनागत ग्रह होते हैं।

मण्ठताल के १० भेद हैं और उनके अलग-अलग लक्षण तालाध्याय में हैं। द्वितीयताल में दो द्रुत, एक लघु होता है। कंकाल के ४ भेद हैं। प्रतिताल का लक्षण दो लघु दो द्रुत है।

एला प्रबन्ध के लक्षण यहाँ एक सारिणी के रूप में दिये जा रहे हैं।

धातु	पादसंख्या	पदसंख्या	पद का नाम	पदों की धातु	पदों की लय	पदों की मातु	पादों की धातु
उद्ग्राह ११ पदों से अथवा मेलापक के अभाव में १२ पदों से	प्रथम	१	काम (द्विखण्ड)	दोनों खण्ड समधातुक		दोनों खण्ड भिन्नमातुक	प्रथम पाद की धातु की आवृत्ति
		२	मन्मथवत्	'प्रयोग'		अक्षररहित या अन्त में एक संबोधन पद	
		३	कान्त		विलम्बित	प्रथम पल्लवपद	
		४	जित		विलम्बित	द्वितीय पल्लवपद	
		५	मत्त		द्रुत	तृतीय पल्लवपद	
	द्वितीय	६	विकारी (द्विखण्ड)	दोनों खण्ड समधातुक		दोनों खण्ड भिन्नमातुक	द्वितीय पाद में
		७	मान्धाता	'प्रयोग'		अक्षररहित या अन्त में एक संबोधनपद	
		८	सुमति		विलम्बित	प्रथम पल्लवपद	
		९	शोभि		विलम्बित	द्वितीय पल्लवपद	
		१०	सुशोभि		द्रुत	तृतीय पल्लवपद	
	तृतीय	११	गीतक (द्विखण्ड)	दोनों खण्ड समधातुक		दोनों खण्ड भिन्नमातुक	पहले और छठे पदों की धातु की आवृत्ति
मेलापक (विकल्प से)		१२	उचित	'प्रयोग' (पहले के दोनों प्रयोगों से भिन्नमातुक)		संबोधन पद से युक्त (तीनों पाद भिन्नमातुक)	
ध्रुव		१३	विचित्र	दोनों भिन्नमातुक लेकिन समानधातुक	मध्य	स्तुत्य के नाम से अंकित	
		१४	वासव		मध्य		
		१५	मृदु		विलम्बित		
आभोग		१६	सुचित्र			वाग्गेयकार के नाम से युक्त	

ग्रन्थकार ने कहा कि ये लक्षण पूर्वाचार्यों के द्वारा बताये गये। सिंह० ने पूर्वाचार्यों से भरत आदि का ग्रहण किया है। लेकिन यह स्मरणीय है कि ना० शा० में प्रबन्धों का कोई उल्लेख नहीं है। उपलब्ध ग्रन्थों में सर्वप्रथम बृह० में ही प्रबन्ध हैं।

एला प्रबन्ध मण्ठ, द्वितीय, कंकाल और प्रतिताल में से ही किसी ताल में बद्ध होता है। ग्रन्थकार ने त्याग, सौभाग्य, शौर्य, धैर्य आदि वर्ण्य विषय भी बता दिए हैं। 'आदि' से सिंह० ने धार्मिकता आदि का ग्रहण किया है।

(एलावर्णदेवताः)

अकारे दैवतं विष्णुरिकारे कुसुमायुधः।
लक्ष्मीर्लकार एलानामिति वर्णेषु देवताः॥ ४२॥

एला के वर्णों के देवता

४२. (अ०) **अकारे** 'अ'कार में **विष्णुः दैवतं** विष्णु देवता, **इकारे** 'इ'कार में **कुसुम-आयुधः** पुष्प जिसका बाण है (अर्थात् कामदेव), **लकारे लक्ष्मीः इति** 'ल'कार में लक्ष्मी ये **एलानां वर्णेषु** एला के वर्णों में **देवताः** देवता (हैं)।

(सर०) व्याकरण के अनुसार 'अ' और 'इ' मिल कर 'ए' वर्ण बनता है और 'आ' को 'अ' में ही सम्मिलत कर लिया जाता है। एला शब्द अ + इ + ल् + आ —इन चार वर्णों से मिल कर बनता है इसलिये एला में अ, इ और ल्—इन तीन वर्णों के देवता क्रम से विष्णु, कामदेव और लक्ष्मी कहे हैं।

(एलापदनामानि)

काममन्मथवत्कान्तजितमत्तविकारिणः।
मान्धातृसुमती शोभिसुशोभी गीतकोचितौ॥ ४३॥

विचित्रो वासवमृदुसुचित्रा इति षोडश।
नामान्येलापदानां स्युः षोडशानामनुक्रमात्॥ ४४॥

एला के पदों के नाम

४३-४४. (अ०) **अनुक्रमात् षोडशानाम् एलापदानां** क्रम से सोलह एलापदों के काम, मन्मथवत्, कान्त, जित, मत्त, विकारी, मान्धाता, सुमति, शोभि, सुशोभि, गीतक, उचित, विचित्र, वासव, मृदु, सुचित्र, **इति** ये **नामानि स्युः** नाम होते हैं।

(सर०) एला प्रबन्ध में १६ पद कहे जा चुके हैं। यहाँ क्रम से उन्हीं के नाम दिए गए हैं।

(एलापददेवताः)

पद्मालया पत्रिणी च रञ्जनी सुमुखी शची।
वरेण्या वायुवेगा च वेदिनी मोहिनी जया॥ ४५॥

गौरी ब्राह्मी च मातङ्गी चण्डिका विजया तथा।
चामुण्डैलापदेष्वेताः क्रमात् षोडश देवताः॥ ४६॥

एला के पदों के देवता

४५-४६. (अ) **एलापदेषु** एला के पदों में **क्रमात्** क्रम से पद्मालया, पत्रिणी, रञ्जनी, सुमुखी, शची, वरेण्या, वायुवेगा, वेदिनी, मोहिनी, जया, गौरी, ब्राह्मी, मातङ्गी, चण्डिका, विजया और चामुण्डा **एताः षोडश देवताः** ये १६ देवता (हैं)।

(सर०) संस्कृत में देवता शब्द स्त्रीलिंग है किन्तु हिन्दी में पुल्लिंग है।

(एलापदप्राणाः)

समानो मधुरः सान्द्रः कान्तो दीप्तः समाहितः।
अग्राम्यः सुकुमारश्च प्रसन्नौजस्विनाविति॥ ४७॥

मान्धात्रादिपदेषु स्युः प्राणा दश दशस्विमे।

एला के पदों के प्राण

४७-४८ ख. (अ०) समान, मधुर, सान्द्र, कान्त, दीप्त, समाहित, अग्राम्य, सुकुमार, प्रसन्न और ओजस्वी इति यों **मान्धात्रा-आदि दशसु पदेषु** मान्धाता से आरम्भ करके दस पदों में इमे ये **दश प्राणाः स्युः** दस प्राण होते हैं।

(सर०) ग्रन्थकार ने १६ पदों में से मान्धाता से शुरू करके १० ही प्राण कहे हैं। इससे प्रथम दृष्टि में यह लगता है कि शुरू के ६ पद छोड़ दिये हैं। लेकिन कल्लि० ने कहा कि ग्रन्थकार के कथन का अभिप्राय यह है कि प्राण १० ही हैं लेकिन ये सोलहों पदों में रहते हैं क्योंकि कई पदों की धातु समान होने से उनमें प्राण भी एक ही होगा। उदाहरण देते हुए कहा कि दूसरे पाद के प्रयोगात्मक मान्धाता संज्ञा वाले दूसरे पद की धातु और पहले पाद के मन्मथवत् संज्ञा वाले प्रयोगात्मक दूसरे पद की धातु एक सी है इसलिये दोनों में 'समान' नामक एक ही प्राण है। इसी तरह दूसरे पाद के सुमति, शोभि और सुशोभि नामक पल्लवपदों की धातु पहले पाद के कान्त, जित और मत्त संज्ञक पल्लवपदों जैसी ही है इसलिये क्रम से दोनों के एक-एक पदों में मधुर, सान्द्र और कान्त—ये तीन प्राण हैं। उसी तरह तीसरे पाद में दो खण्ड वाले पहले पद (गीतक) और पहले तथा दूसरे पादों के द्विखण्ड पहले-पहले पद (काम और विकारी)—ये तीनों समधातु वाले हैं इसलिये तीनों में दीप्त संज्ञक प्राण है। इस तरह शुरू के ११ पदों में समान, मधुर, सान्द्र कान्त और दीप्त—ये ५ प्राण हुए। १२वें से १६वें तक ५ पदों में शेष ५ प्राण यानी समाहित, अग्राम्य, सुकुमार, प्रसन्न और ओजस्वी होंगे। कल्लि० ने साथ ही यह भी कह दिया कि इस प्रकार ही (यानी ऊपर कही गई विधि से ही) १२वें पद में समाहित प्राण होता है, साधारण क्रम से नहीं अर्थात् पहले पद से शुरू करके समान आदि प्राण समझें तो १२वें पद में समाहित प्राण नहीं हो सकता।

कल्लि० की उक्त व्याख्या से यह समझ में आता है कि एला के १६ पदों में धातु के आधार पर १० प्रकार के ही पद (खण्ड) बनते हैं इसलिये १० ही प्राण कहे हैं। ग्रन्थकार के अनुसार मान्धाता से 'समान' प्राण शुरू करने पर १२वें पद में समाहित प्राण ही संबद्ध होता है और कल्लि० की टीका के अनुसार भी १२वें पद का प्राण समाहित ही होता है। नीचे दो सारिणी दी जा रही हैं जिनमें से पहली में ग्रन्थोक्त लक्षण के अनुसार मान्धाता से शुरू किया है और दूसरी में कल्लि० के अनुसार जोड़े बना कर दिखाए हैं। दोनों में 'उचित' नामक १२वें पद में समाहित प्राण है।

सारिणी—१

पदसंख्या	पदनाम	प्राणनाम
७	मान्धाता	समान
८	सुमति	मधुर
९	शोभि	सान्द्र
१०	सुशोभि	कान्त
११	गीतक	दीप्त
१२	उचित	समाहित
१३	विचित्र	अग्राम्य
१४	वासव	सुकुमार
१५	मृदु	प्रसन्न
१६	सुचित्र	ओजस्वी

सारिणी—२

प्राणनाम	पदनाम	पादसंख्या	पदसंख्या	कुल पद
१. समान	मन्मथवत्	प्रथम	दूसरा	२
	मान्धाता	द्वितीय	दूसरा	
२. मधुर	कान्त	प्रथम	तीसरा	२
	सुमति	द्वितीय	तीसरा	
३. सान्द्र	जित	प्रथम	चौथा	२
	शोभि	द्वितीय	चौथा	
४. कान्त	मत्त	प्रथम	पाँचवाँ	२
	सुशोभि	द्वितीय	पाँचवाँ	
५. दीप्त	काम	प्रथम	पहला	३
	विकारी	द्वितीय	पहला	
	गीतक	तृतीय	पहला	
६. समाहित	उचित	तृतीय	दूसरा	१
७. अग्राम्य	विचित्र	ध्रुव	पहला	१
८. सुकुमार	वासव	ध्रुव	दूसरा	१
९. प्रसन्न	मृदु	ध्रुव	तीसरा	१
१०. ओजस्वी	सुचित्र	आभोग	पहला	१

'प्राण' शब्द के प्रयोग की सार्थकता दिखाते हुए सिंह० ने कहा कि प्राणों को पदों के जीवन का हेतु समझना चाहिये क्योंकि उनके बिना पद निर्जीव होते हैं, अलक्षण (अशुभ) होते हैं।

समानोऽल्पाक्षरध्वानो मधुरः स्वल्पनादया॥ ४८॥

अल्पमूर्छनया युक्तः सान्द्रस्तु निबिडाक्षरः।
अल्पध्वनिस्तारगतिः कान्तः कान्तध्वनिर्मतः॥ ४९॥

दीप्तस्तु दीप्तनादः स्यात् स्थायिस्थस्तु समाहितः।
अग्राम्योऽक्षरनादानामावृत्त्या समुदाहृतः॥ ५०॥

सुकुमारो वर्णनादमूर्छनाकोमलत्वतः।
प्रसन्नः स्यात् पदस्थानस्वरादीनां प्रसादतः॥ ५१॥

ओजोबहुल ओजस्वीत्येभिः सर्वगुणैर्युताः।
एलाः श्रोतुः प्रयोक्तुश्च धर्मकामार्थसिद्धिदाः॥ ५२॥

४८ ग-५२. (अ०) **समानः** 'समान' (नामक प्राण) **अल्प-अक्षर-ध्वानः** अल्प अक्षर और (अल्प) ध्वनि वाला (है)। **मधुरः** 'मधुर' **स्वल्पनादया** अल्प नाद के द्वारा (और) **अल्पमूर्छनया युक्तः** अल्प मूर्छना से युक्त (होता है)। **सान्द्रः तु** 'सान्द्र' तो **निबिड-अक्षरः** अक्षरों की घनता **अल्पध्वनिः** अल्प ध्वनि (और) **तारगतिः** तार में चलन वाला (होता है)। **कान्तः** 'कान्त' **कान्तध्वनिः मतः** कान्त नाद (ध्वनि की अतिशय रंजकता) वाला **मतः** माना गया (है)। **दीप्तः तु** 'दीप्त' तो **दीप्तनादः स्यात्** दीप्त नाद वाला होता है। **स्थायिस्थः तु** स्थायी (वर्ण) में स्थित तो **समाहितः** 'समाहित' (होता है)। **अक्षर-नादानाम्-आवृत्त्या** अक्षरों और नादों की आवृत्ति से **अग्राम्यः समुदाहृतः** 'अग्राम्य' कहा गया (है)। **वर्ण-नाद-मूर्छना-कोमलत्वतः** वर्ण (अक्षर), नाद (स्वर), मूर्छना (तान) की कोमलता से **सुकुमारः** 'सुकुमार' (होता है)। **पद-स्थान-स्वर-आदीनां** पद (शब्द), स्थान (मन्द्र आदि) और स्वरों आदि के **प्रसादतः** आनन्द से **प्रसन्नः स्यात्** प्रसन्न होता है। **ओजः बहुलः** ओज (अर्थात समास) की बहुलता वाला **ओजस्वी** 'ओजस्वी' **इति** यों **एभिः सर्वगुणैः युताः** इन सब गुणों से युक्त **एलाः** एलाएँ (अर्थात् एला के सब प्रकार) **श्रोतुः प्रयोक्तुः च** श्रोता और प्रयोक्ता के लिये **धर्म-काम-अर्थसिद्धिदाः** धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि देने वाली हैं।

(सर०) इन प्राणों को कल्लि० के आधार पर इस प्रकार समझ सकते हैं। 'समान' में अक्षर और स्वर दोनों कम होते हैं। प्रथम दो पादों के मन्मथवत् और मान्धाता संज्ञक दूसरे और सातवें प्रयोगात्मक पदों में केवल एक-एक संबोधन या असंबोधन पद होने से अल्पाक्षर कहा जायगा। 'प्रयोग' में गमकें होने से स्वरों में पूर्णत्व का अभाव होने के कारण अल्पध्वनि कहलायेगी।

'मधुर' में नाद के साथ-साथ मूर्छना भी अल्प होती है जो 'तानीकरण' से होती है। यहाँ सप्तस्वर मूर्छना (स्वरावली) में से स्वर कम करना अभिप्रेत है जो आरोह या अवरोह गति में पहले स्वर का उच्चारण करके बीच के स्वरों का केवल स्पर्श करते हुए अन्तिम स्वर का उच्चारण करने से होता है। आज के लक्ष्य में मींड या घसीट के द्वारा होने वाले प्रयोग के रूप में इस क्रिया को समझ सकते हैं। पहले और दूसरे पादों के विलम्बित लय में गाए जाने वाले कान्त और सुमति नाम वाले तीसरे और आठवें पल्लवपदों में 'मधुर' प्राण होता है।

'सान्द्र' का अर्थ घन है। स्वर कम और अक्षरों की घनता तथा तारगामी प्रवृत्ति होने पर 'सान्द्र' प्राण होता है। इस तरह यह संज्ञा अन्वर्थ है। पहले-दूसरे पादों के पल्लवपदों में जित और शोभिसंज्ञक चौथे और नवें पदों को विलम्बित लय में पिछले पदों की अपेक्षा ऊँचे स्वरों में गाया जाता है तब 'सान्द्र' प्राण रहता है।

'कान्त' प्रथम दो पादों के मत्त और सुशोभि नामक अन्तिम पल्लवपदों में होता है जो द्रुतलय में गाए जाते हैं। कान्त

का अर्थ रमणीय या अत्यन्त रंजक नाद है। तार स्वरों में प्रयोग और पूर्णस्वरता के कारण 'दीप्त' होता है जो तीनों पादों के द्विखण्डात्मक काम, विकारी और गीतक संज्ञा वाले प्रथम पदों में रहता है।

स्थायी वर्ण में स्थित (स्थायि+स्थः) 'स्थायिस्थ' होता है। तीसरे पाद के उचित नामक बारहवें पद को स्थायी वर्ण के स्वरों में अक्षरवर्जित गमकालप्ति के द्वारा प्रयुक्त करने पर 'समाहित' प्राण होता है।

'अग्राम्य' में पदों के अन्तिम २-३ अक्षरों को अगले पदों के शुरू में जोड़ते हुए उन अक्षरों के स्वरों में ही गाने से पद और स्वर दोनों की आवृत्ति होती है। इस आवृत्ति से निष्पन्न होने वाला अग्राम्य प्राण ध्रुव के मध्यलय युक्त विचित्र नामक पहले पद में रहता है। अक्षर और तान की कोमलता से 'सुकुमार' होता है जो ध्रुवखण्ड के मध्यलय वाले वासव नामक दूसरे पद में होता है। शब्दों के अर्थ के तुरन्त प्रकट होने, स्थानों की अलग-अलग स्पष्ट अभिव्यक्ति, स्वरों के स्पष्ट प्रयोग और तान, गमक आदि से आनन्द देने वाला 'प्रसन्न' है जो ध्रुवखण्ड के विलम्बित लय में गाए जाने वाले मृदु नामक तीसरे पद में रहता है।

ओज का प्रसंगप्राप्त अर्थ है समासों की बहुलता जिनसे पदों में उत्कटता आती है। गीत में तान और तानरहित दोनों प्रकार के पदों में और बड़े-बड़े स्वरसंनिवेशों के द्वारा भी ऐसा प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है। ओज से युक्त 'ओजस्वी' प्राण होता है जो आभोगरूप सुचित्र संज्ञक सोलहवें पद में रहता है।

इनमें से सान्द्र, कान्त, दीप्त, सुकुमार, प्रसन्न और ओजस्वी संज्ञाएँ अन्वर्थ हैं तथा शेष पारिभाषिक।

गीत के तीन पक्ष होते हैं—गीत की रचना, प्रस्तुति यानी गीत को गाने का ढंग और कण्ठ। प्राण इन तीनों से संबद्ध हैं। ओजस्वी रचना से संबन्धित है; मधुर, दीप्त, समाहित, अग्राम्य प्रस्तुति से; समान, सान्द्र और प्रसन्न रचना और प्रस्तुति से; कान्त कण्ठ और प्रस्तुति से तथा सुकुमार रचना, प्रस्तुति और कण्ठ तीनों से संबन्धित कहे जा सकते हैं।

ऐसे स्वरूप वाली एला श्रोता और गाता दोनों को धर्म, अर्थ और काम—ये तीन पुरुषार्थ देने वाली मानी गई है। अकेले एला प्रबन्ध में गीत के सब गुण आ गए हैं इसलिये रा० गो० सं० सार में एला सर्वोपरि, उत्तम, महाकठिन प्रबन्ध माना है और उसकी महिमा ब्रह्म के समान कही है। यही कारण है कि एला का भेद-प्रभेदों सहित बड़े विस्तार से निरूपण किया गया है।

(एलाया मुख्यभेदाः)

गणमात्रावर्णदेशविशिष्टास्ताश्चतुर्विधाः।
गणः समूहः स द्वेधा वर्णमात्राविशेषणात्॥ ५३॥

गुरुर्लघुरिति द्वेधा वर्णोऽनुस्वारसंयुतः।
सविसर्गो व्यञ्जनान्तो दीर्घो युक्तपरो गुरुः॥ ५४॥

वा पदान्ते त्वसौ वक्रो द्विमात्रो मात्रिको लघुः।
ऋजुर्लिपौ भ्रे ᳵके ᳶपे च रहोर्योगे स वा लघुः॥ ५५॥

ए ओ इं हिं पदान्ते वा प्राकृते लघवो मताः।
पदमध्येऽप्यपभ्रंशे हुं हे ऊ ए इमित्यमी॥ ५६॥

एला के मुख्य भेद

५३-५६. (अ०) ताः वे (एलाएँ) गण-मात्रा-वर्ण-देशविशिष्टाः गण, मात्रा, वर्ण (और) देश से विशिष्ट हुई (अर्थात् गणैला, मात्रैला, वर्णैला और देशैला) चतुर्विधाः चार प्रकार से होती है।

गणः समूहः गण समूह (है)। **सः** वह **वर्ण-मात्राविशेषणात्** वर्ण (और) मात्रा के विशेषण से (अर्थात् वर्णगण और मात्रागण) **द्वेधा** दो प्रकार से (होता है)।

गुरुः लघुः इति गुरु (और) लघु यों **वर्णः द्वेधा** वर्ण दो प्रकार से (होता है)। **अनुस्वारसंयुतः** अनुस्वार से युक्त, **सविसर्गः** विसर्ग सहित, **व्यञ्जन-अन्तः** व्यंजन से अन्त होने वाला, **दीर्घः** दीर्घ (स्वर वाला), **युक्तपरः** संयुक्त (है जिसका) पर (बाद वाला वर्ण ऐसा अर्थात् संयुक्ताक्षर) वाला **पद-अन्ते वा** अथवा (जो) पद के अन्त में (हो वह) **गुरुः** गुरु होता है। **असौ तु** यह (गुरु) तो **द्विमात्रः** दो मात्रा वाला (और) **वक्रः** वक्र (ऽ चिह्न वाला है)। **मात्रिकः लघुः** एक मात्रा वाला लघु (है)। **लिपौ** लिपि में **ऋजुः** सीधा (अर्थात् सीधी खड़ी रेखा यानी। के चिह्न वाला है)। **भ्रे** भ्र, **ᳵके** जिह्वामूलीय, **ᳶपे** उपध्मानीय, **र-होः योगे वा** रेफयुक्त हकार में विकल्प से **सः** वह (वर्ण) **लघुः** लघु होता है। **प्राकृते** प्राकृत में **ए ओ इं हिं** ए, ओ, इं, हिं (और) **पद-अन्ते वा** पद के अन्त में विकल्प से **लघवः मताः** लघु माने गए (हैं)। **अपभ्रंशे** अपभ्रंश में **पदमध्ये अपि** पद के बीच में भी **हुं हे ऊ ए इं** हुं, हे, ऊ, ए, इं **इति अमी** यों ये (लघु होते हैं)।

(सर०) यहाँ से एला के भेदों का निरूपण किया जा रहा है। मुख्य ४ भेद हैं—गणैला (गण-एला), मात्रैला (मात्रा-एला), **वर्णैला** (वर्ण-एला) और देशैला (देश-एला)। गणैला में गणों की संख्या और क्रम, मात्रैला में मात्रासंख्या, वर्णैला में अक्षरसंख्या और देशैला में भाषा नियत हैं। वर्णगण और मात्रागण का विवरण अगली कारिकाओं में दिया जाने वाला है।

'गण' का अर्थ समूह है जो दो प्रकार का होता है—वर्णगण और मात्रागण। वर्ण का क्रम और मात्रा वर्ण के प्रकार यानी लघु, गुरु अक्षर पर आधारित होता है इसलिये किस अक्षर को लघु और किसे गुरु समझा जाय, सबसे पहले इसका विवरण संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के अनुसार ग्रन्थकार ने दिया है। संस्कृत में पद का अन्तिम लघु छन्द के अनुरोध से कभी-कभी गुरु मान लिया जाता है। प्राकृत और अपभ्रंश में कुछ विशेष वर्ण, संस्कृत के अनुसार गुरु होते हुए भी, लघु मान लिए जाते हैं जिनका विवरण ऊपर दिया गया है।

संस्कृत में तीन प्रकार के छन्द होते हैं—वर्णगण पर आधारित वार्णिक छन्द, मात्रासंख्या पर आधारित मात्रिक छन्द और अक्षरों की संख्या पर आधारित दण्डक (या मुक्तक) छन्द। गणैला वार्णिक छन्दों में, मात्रैला मात्रिक छन्दों में और वर्णैला दण्डक वर्ग के छन्दों में बद्ध होती है।

(वर्णगणाः)

तत्र वर्णगणो वर्णैस्त्रिभिरष्टविधश्च सः।
मस्त्रिगुः पूर्वलो यः स्यान्मध्यलो रोऽन्तगुस्तु सः॥ ५७॥

तोऽन्तलो मध्यगो जः स्याद्गादिर्भस्त्रिलघुस्तु नः।

वर्णगण

५७-५८ ख. (अ०) **तत्र** उन (गणों) में से **त्रिभिः वर्णैः** तीन वर्णों के द्वारा **वर्णगणः** वर्णगण (होता है) **सः च** और वह **अष्टविधः** आठ प्रकार से (होता है)। **मः त्रिगुः** म(गण) तीन गुरु वाला, **पूर्व-लः यः** आरम्भ में लघु वाला य(गण) **स्यात्** होता है। **मध्य-लः रः** मध्य लघु वाला र(गण), **अन्तः गुः तु** अन्तिम गुरु वाला तो **सः** स(गण), **अन्त-लः तः** अन्तिम लघु वाला त(गण), **मध्य-गः जः** मध्य गुरु वाला ज(गण), **ग-आदिः भः** शुरू में गुरु वाला भ(गण) (और) **त्रि लघुः तु** तीनों लघु वाला तो **नः स्यात्** न(गण) होता है।

(सर०) वर्णगण ३-३ अक्षरों के ऐसे समूह हैं जिनमें लघु-गुरु का क्रम नियत होता है। अक्षरों की संख्या तीन होने पर उक्त आधार पर ८ समूह ही बन सकते हैं इसलिये आठ ही वर्णगण बने जिनके संकेत के लिये म, य, र, स, त, ज, भ और न—ये अक्षर चुन लिये गये। इनमें नगण सर्वलघु है और मगण सर्वगुरु। शेष में लघु-गुरु दोनों हैं। गणों के नाम और उनके लघु-गुरु क्रम इस प्रकार हैं—

१.	मगण	ऽऽऽ
२.	यगण	।ऽऽ
३.	रगण	ऽ।ऽ
४.	सगण	।।ऽ
५.	तगण	ऽऽ।
६.	जगण	।ऽ।
७.	भगण	ऽ।।
८.	नगण	।।।

कारिका में गणों को उनके पहले-पहले अक्षरों से सूचित किया गया है, जैसे—म, य, र आदि।

वर्णगणदेवताः तत्फलानि च

एतेषां देवता भूमिजलाग्निमरुतोऽम्बरम्॥ ५८॥

सूर्यचन्द्रसुराधीशाः क्रमात् कुर्युः फलानि ते।
श्रीवृद्धिनिधनस्थानभ्रंशनिर्धनतारुजः॥ ५९॥

कीर्तिमायुश्च वर्ण्यस्य श्लोकगीतादियोगतः।

वर्णगणों के देवता और फल

५८ ग-६० ख. (अ०) **क्रमात्** क्रम से **भूमि-जल-अग्नि-मरुतः** पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु, **अम्बरम्** आकाश, **सूर्य-चन्द्र-सुराधीशाः** सूर्य, चन्द्र और इन्द्र **एतेषां देवताः** इन (गणों) के देवता (हैं और) **ते** वे **श्लोक-गीत-आदियोगतः** श्लोक (अथवा) गीत के योग से **वर्ण्यस्य** वर्ण्य की **श्री-वृद्धि-निधन-स्थानभ्रंश-निर्धनता-रुजः कीर्तिम् आयुः च** श्री (लक्ष्मी), समृद्धि, निधन, पदच्युति, निर्धनता, रोग, कीर्ति और आयु **फलानि कुर्युः** फल करते (देते) हैं।

(सर०) कल्लि० के अनुसार आरम्भ में श्लोक या गीत के द्वारा उन गणों का प्रयोग करने से गणों के फल प्राप्त होते हैं।

वर्णगणों के देवता और फल क्रम से ये हैं—

गण	देवता	फल
मगण	पृथ्वी	श्री
यगण	जल	वृद्धि
रगण	अग्नि	निधन
सगण	वायु	स्थानभ्रंश
तगण	आकाश	निर्धनता
जगण	सूर्य	रोग
भगण	चन्द्र	कीर्ति
नगण	इन्द्र	आयु

वर्णवर्गदेवताः तत्फलानि च

सोमो भौमो बुधो जीवः शुक्रः सौरी रविस्तम॥ ६०॥

क्रमादकचटानां तपयशानां च देवताः।
वर्गाणां स्युः फलान्येषामायुः कीर्तिरसद्यशः॥ ६१॥

संपत् सुभगता कीर्तिमान्द्यं मृत्युश्च शून्यता।
प्रयोगे श्लोकगीतादौ स्तुत्यस्योक्तानि सूरिभिः॥ ६२॥

वर्णवर्गों के देवता और फल

६० ग-६२. (अ०) **सोमः** चन्द्रमा, **भौमः** मंगल (ग्रह), **बुधः** बुध (ग्रह), **जीवः** बृहस्पति (ग्रह), **शुक्रः** शुक्र (ग्रह), **सौरी** शनि, **रविः** सूर्य, **तमः** राहु/तम **क्रमात्** क्रम से **अ-क-च-टानां** अ, क, च और ट के, **त-प-य-शानां च वर्गाणाम्** (तथा) त, प, य, श वर्गों के **देवताः स्युः** देवता होते हैं। **श्लोक-गीत-आदौ प्रयोगे** आरम्भ में श्लोक (अथवा) गीत के प्रयोग से **कीर्तिः** कीर्ति, **असत् यशः** अपयश **संपत्** संपत्ति, **सुभगता** सौभाग्य, **कीर्तिमान्द्यं** कीर्ति की मन्दता (कम होना), **मृत्युः शून्यता च** मृत्यु और मोह **स्तुत्यस्य** स्तुत्य के **एषां फलानि** ये फल **सूरिभिः उक्तानि** विद्वानों के द्वारा कहे गये (हैं)।

(सर०) अ, क, च आदि से शुरू होने वाले ८ वर्ग और उनमें वर्ण ये हैं—

अवर्ग	अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ लृ, लॄ, ए, ऐ, ओ, औ
कवर्ग	क, ख, ग, घ, ङ
चवर्ग	च, छ, ज, झ, ञ
टवर्ग	ट, ठ, ड, ढ, ण
तवर्ग	त, थ, द, ध, न
पवर्ग	प, फ, ब, भ, म
यवर्ग	य, र, ल, व
शवर्ग	श, ष, स, ह

(मात्रागणाः)

मात्रा कला लघुर्लः स्यात्तद्गणाश्छपचास्तदौ।
स्युः षट्पञ्चचतुस्त्रिद्विसंख्यमात्रायुताः क्रमात्॥ ६३॥

यथा—ऽऽऽ इति छगणः, ऽऽ। इति पगणः, ऽऽ इति चगणः, ऽ। इति तगणः, ऽ इति दगणः। इति पञ्च मात्रागणाः॥

मात्रागण

६३. (अ०) **मात्रा** मात्रा **कला लघुः लः स्यात्** कला, लघु और 'ल' होती है। **क्रमात्** क्रम से **षट्-पञ्च-चतुः-त्रि-द्विसंख्यमात्रायुताः** छ, पाँच, चार, तीन (और) दो संख्या वाली मात्राओं से युक्त **तत्** वे **छ-प-चाः** छ, प और च (तथा) **त-दौ**

त और द गणाः स्युः गण होते हैं। यथा जैसे—ऽऽऽ इति छगणः ऽऽऽ यह छगण; ऽऽ। इति पगणः ऽऽ। यह पगण; ऽऽ इति चगणः ऽऽ यह चगण; ऽ। इति तगणः ऽ। यह तगण; ऽ इति दगणः ऽ यह दगण। इति पञ्च मात्रागणाः ये पाँच मात्रागण (हैं)।

(सर०) मात्रागणों में मात्रासंख्या के आधार पर २ से ६ मात्रा तक के ५ गण बनाए हैं और मात्रासूचक शब्दों के पहले-पहले अक्षर उनके संकेत बना दिए हैं, जैसे—'द्वि' का 'द' त्रि का 'त', चतुः का 'च', पञ्च का 'प'। केवल षट् का संकेत 'ष' के बजाय 'छ' है जो प्राकृत में 'ष' के 'छ' में परिवर्तन का परिणाम है। इन पाँचों गणों में मात्रासंख्या के आधार पर बनने वाले भेद नीचे दिये हैं—

दगण	||, ऽ	२ भेद
तगण	|||, |ऽ, ऽ|	३ भेद
चगण	||||, ||ऽ, ऽऽ, ऽ||, |ऽ|	५ भेद
पगण	|||||, |||ऽ, |ऽऽ, ऽ|ऽ, ऽ|||, |ऽ||, ||ऽ|, ऽऽ|	८ भेद
छगण	||||||, ||||ऽ, |||ऽ|, ||ऽ||, |ऽ|||, ऽ||||, ||ऽऽ, |ऽ|ऽ, ऽ||ऽ, ऽ|ऽ|, ऽऽ||, |ऽऽ|, ऽऽऽ	१३ भेद

अत्युक्तायास्तु चत्वारो भेदा रतिगणा मताः।
किन्तु तत्र लपूर्वा ये तेष्वादावधिको लघुः॥ ६४॥
एवं मध्याभवा भेदा अष्टौ कामगणाः स्मृताः।
तद्वद्बाणगणा भेदाः प्रतिष्ठायास्तु षोडश॥ ६५॥

यथा—ऽऽ, |ऽ, ऽ|, ||, इति रतिगणाः॥

यथा—ऽऽऽ, |ऽऽ, ऽ|ऽ, ||ऽ, ऽऽ|, |ऽ|, ऽ||, |||, इति कामगणाः॥

यथा—ऽऽऽऽ, |ऽऽऽ, ऽ|ऽऽ, ||ऽऽ, ऽऽ|ऽ, |ऽ|ऽ, ऽ||ऽ, |||ऽ, ऽऽऽ|, |ऽऽ|, ऽ|ऽ|, ||ऽ|, ऽऽ||, |ऽ||, ऽ|||, ||||, इति बाणगणाः॥

६४-६५. (अ०) **अत्युक्तायाः तु** अत्युक्ता के तो **चत्वारः भेदाः** चार भेद **रतिगणाः मताः** रतिगण माने गए (हैं)। **किन्तु** लेकिन **तत्र** उनमें से **ये ल-पूर्वाः** जो लघु पूर्व वाले (हैं) **तेषु** उनमें **आदौ** शुरू में **लघुः अधिकः** एक लघु अधिक है। **एवं** इस प्रकार (इसी विधि से) **मध्याभवाः** मध्या में होने वाले **अष्टौ भेदाः** आठ भेद **कामगणाः स्मृताः** कामगण जाने गए (हैं)। **तद्वत्** उसी प्रकार **प्रतिष्ठायाः तु** प्रतिष्ठा के तो **षोडश भेदाः** सोलह भेद **बाणगणाः** बाणगण (माने गए हैं)।

यथा जैसे—ऽऽ, |ऽ, ऽ|, || **इति रतिगणाः** ये रतिगण (हैं)।

यथा जैसे—ऽऽऽ, |ऽऽ, ऽ|ऽ, ||ऽ, ऽऽ|, |ऽ|, ऽ||, ||| **इति** ये **कामगणाः** कामगण (हैं)।

यथा जैसे—ऽऽऽऽ, |ऽऽऽ, ऽ|ऽऽ, ||ऽऽ, ऽऽ|ऽ, |ऽ|ऽ, ऽ||ऽ, |||ऽ, ऽऽऽ|, |ऽऽ|, ऽ|ऽ|, ||ऽ|, ऽऽ||, |ऽ||, ऽ|||, |||| **इति** ये **बाणगणाः** बाणगण (हैं)।

(सर०) अत्युक्ता हर पाद में दो अक्षर वाली, मध्या तीन अक्षर वाली और प्रतिष्ठा चार अक्षर वाली छन्दजाति है। छन्दशास्त्र के अनुसार इनमें प्रस्तार बनाने से अत्युक्ता में ४, मध्या में ८ और प्रतिष्ठा में १६ भेद बनते हैं। यहाँ इन्हीं को क्रम से रतिगण, कामगण और बाणगण कहा गया है।

ग्रन्थकार ने कहा है कि अत्युक्ता के लघु से शुरू होने वाले भेदों में शुरू में एक लघु अधिक करना चाहिये। लघु से शुरू होने वाले भेद दो ही हैं लेकिन ग्रन्थकार ने बहुवचन शब्दों का प्रयोग किया है। यह शंका उठा कर कल्लि० ने यह समाधान किया कि मध्या और प्रतिष्ठा के लघु पूर्व वाले भेदों में भी ऐसा ही करना है, इसे ध्यान में रख कर ग्रन्थकार ने बहुवचन प्रयोग किया है इसलिये यहाँ कोई दोष नहीं है।

उक्त विधि से तीनों गणों में ये भेद बनेंगे। यहाँ केवल वही भेद दिये हैं जिनमे एक लघु जोड़ा है।

रतिगण	।।S, ।।।
कामगण	।।SS, ।।।S, ।।S।, ।।।।
बाणगण	।।SSS, ।।।SS, ।।S।S, ।।।।S, ।।SS।, ।।।S।, ।।S।।, ।।।।।

इनमें एक लघु जोड़ने से मूल भेदों की अपेक्षा एक-एक मात्रा, या यों कहें कि, एक-एक अक्षर ज़्यादा हो जाता है, जैसे— रतिगण का त्रिमात्रिक ।S भेद ।।S यों चतुर्मात्रिक हो गया और द्विमात्रिक ।। भेद त्रिमात्रिक ।।। हो गया।

कामगण के मूल ८ भेदों के बारे में कल्लि० ने यह ध्यान दिलाया कि तीन लघु-गुरु वाले आठ ही गण बनते हैं जिन्हें पहले म, य, र, स, त, ज, भ, न संकेतों से सूचित किया गया है।

(गणैला)

तत्र वर्णगणैर्जाता गणैला परिकीर्तिता।
सा भवेत् त्रिविधा शुद्धा संकीर्णा विकृता तथा॥ ६६॥

शुद्धा चतुर्विधा नादावती हंसावती तथा।
नन्दावती च भद्रावत्यथासां लक्ष्म कथ्यते॥ ६७॥

गणादिनियमस्त्वासामङ्घ्रिखण्डद्वयाश्रयः।

(१) गणैला

६६-६८ ख. (अ०) तत्र उन (वर्णगणों और मात्रागणों) में से वर्णगणैः जाता वर्णगणों से उत्पन्न गणैला परिकीर्तिता गणैला कही गई (है)। सा वह शुद्धा विकृता तथा संकीर्णा शुद्धा, विकृता और संकीर्णा त्रिविधा भवेत् (यों) तीन प्रकार से होती है। शुद्धा शुद्धा नादावती तथा हंसावती (१) नादावती और (२) हंसावती, नन्दावती भद्रावती च, नन्दावती और भद्रावती इति यों चतुर्विधा चार प्रकार से (होती है)। अथ अब आसाम् इनके लक्ष्म कथ्यते लक्षण कहे जा रहे हैं। आसाम् इनमें गण-आदिनियमः तु गण आदि का नियम तो अङ्घ्रिखण्डद्वय-आश्रयः पाद के दो खण्डों के आश्रित होता है।

(सर०) शुद्धा, विकृता और संकीर्णा—गणैला के इन प्रभेदों में से शुद्धा के ४ उपभेद हैं नादावती, हंसावती, नन्दावती और भद्रावती। इनमें गण आदि का नियम पाद के शुरू के दो खण्ड वाले पहले पद में ही होता है, शेष में स्वेच्छानुसार पदयोजना हो सकती है। यह नियम संभवतः तीनों पादों के पहले-पहले द्विखण्ड पदों में समझना चाहिये।

(शुद्धगणैलाभेदाः)

(नादावती)

नादावती पञ्चभिर्भैर्नान्तैः स्याट्टक्कमण्ठयोः॥ ६८॥

ऋग्वेदोत्था सिता विप्रा कैशिकीं वृत्तिमाश्रिता।
पाञ्चालरीतिर्भारत्याः प्रीत्यै शृङ्गारवर्धनी॥ ६९॥

शुद्ध गणैला के भेद

(अ) नादावती

६८ ग-६९. (अ०) **नादावती** नादावती **न-अन्तैः पञ्चभिः भैः** नगण (।।।) से अन्त होने वाले पाँच भगणों (ऽ।।) **से स्यात्** होती है। **टक्क-मण्ठयोः** टक्क (ग्रामराग) और मण्ठ (ताल) में (गाई जाती है)। **ऋग्वेद-उत्था** ऋग्वेद से उत्पन्न, **सिता** श्वेत वर्ण वाली, **विप्रा** ब्राह्मणी, **कैशिकीं वृत्तिम् आश्रिता** कैशिकी वृत्ति के आश्रित, **पाञ्चाल-रीतिः** पांचाली रीति वाली, **भारत्याः प्रीत्यै** सरस्वती की प्रसन्नता के लिये (और) **शृङ्गारवर्धनी** शृंगार (रस) बढ़ाने वाली (है)।

(सर०) नादावती के द्विखण्ड पदों में ५ भगण और अन्त में एक नगण के द्वारा पदरचना होती है। इसे टक्क नामक ग्रामराग में गाया जाता है जिसका लक्षण दूसरे अध्याय में (२/२/९०-९२) दिया जा चुका है। मण्ठ देशीताल है और उसका लक्षण तालाध्याय में है।

वृत्ति नाट्य में वाचिक, आंगिक और सात्त्विक चेष्टा की सूचक है जो चार प्रकार की होती है—कैशिकी, आरभटी, सात्त्वती और भारती। कैशिकी सुकुमार, आरभटी उद्धत, सात्त्वती सात्त्विक और भारती वाक्प्रधान चेष्टा वाली होती है। कल्लि० ने ग्रन्थकार द्वारा नर्तनाध्याय में दिया गया वृत्ति का सामान्य लक्षण उद्धृत किया है जिसमें वृत्ति को पुरुषार्थों के उपयोगी वाक्, मन और काय की चेष्टा कहा है (७/११११)। इनके लक्षण भी उद्धृत किये हैं जिसमें भारती को ईषत् मृदु अर्थवाली और सात्त्वती को ईषत् प्रौढ़ अर्थ वाली कहा है।

काव्य में गुणयुक्त पदसंघटना को रीति कहा जाता है। वह भी चार प्रकार की है—पाञ्चाली, लाटी, गौडी और वैदर्भी। इनमें से लाटी समासबहुल और अनुप्रासयुक्त, गौडी ओज व कान्ति गुणों से युक्त, वैदर्भी कठोर बन्ध से रहित, कठिन शब्दों से वर्जित और दीर्घसमास के बिना होती है तथा पाञ्चाली वैदर्भी और गौडी की उभयात्मिका है।

इन चार वृत्तियों और चार रीतियों की गणैला के चार उपभेदों में योजना होती है। नादावती में कैशिकी वृत्ति और पांचाली रीति का प्रयोग कहा है।

(हंसावती)

रगणैः पञ्चभिः सान्तैः प्रोक्ता हंसावती बुधैः।
द्वितीयताले हिन्दोले क्षत्रिया यजुरुद्भवा॥ ७०॥

लोहितारभटीं वृत्तिं लाटीं रीतिं च संश्रिता।
रौद्रे रसे चण्डिकायाः प्रीतये विनियुज्यते॥ ७१॥

(आ) हंसावती

७०-७१. (अ०) **बुधैः** बुद्धिमानों के द्वारा **स-अन्तैः पञ्चभिः रगणैः** सगण से अन्त होने वाले पाँच रगणों से **हंसावती प्रोक्ता** हंसावती कही गई (है)। **द्वितीयताले** द्वितीय ताल में, **हिन्दोले** हिन्दोल (राग) में, **क्षत्रिया** क्षत्रिय (वर्ण वाली) **यजुः उद्भवा** यजुर्वेद से उत्पन्न होने वाली, **लोहिता** लाल (रंग वाली), **आरभटीं वृत्तिम्** आरभटी वृत्ति **लाटीं रीतिं च** और लाटी रीति के **संश्रिता** संश्रित, **रौद्रे रसे** रौद्र रस में, **चण्डिकायाः प्रीतये** चंडिका की प्रसन्नता के लिये **विनियुज्यते** विनियुक्त की जाती है।

(सर०) नादावती की तरह द्विखण्ड पदों में गणयोजना होती है। क्षत्रिय वर्ण होने के कारण लाल रंग कहा गया है। आरभटी वृत्ति यानी उद्धत चेष्टा होती है और लाटी रीति यानी बहुत समास और अनुप्रास वाली पदरचना से युक्त होती है।

(नन्दावती)

पञ्चभिस्तगणैर्जान्तैरेला नन्दावती मता।
प्रतितालेन सा गेया रागे मालवकैशिके॥ ७२॥

सामवेदोद्भवा पीता वैश्या सात्त्वतवृत्तिजा।
गौडी च रीतिरिन्द्राण्याः प्रीत्यै वीररसाश्रया॥ ७३॥

(इ) नन्दावती

७२-७३. (अ०) **ज-अन्तैः पञ्चभिः तगणैः** जगण (।ऽ।) से अन्त होने वाले पाँच तगणों (ऽऽ।) से **नन्दावती एला मता** नन्दावती एला मानी गई (है)। **सा** वह **प्रतितालेन** प्रतिताल से **मालवकैशिके रागे गेया** मालवकैशिक राग में गाई जानी चाहिये। **सामवेद-उद्भवा** (वह) सामवेद से उत्पन्न होने वाली, **पीता** पीले रंग वाली, **वैश्या** वैश्य (वर्ण) वाली, **सात्त्वतवृत्तिजा** सात्त्वती वृत्ति से उत्पन्न होने वाली **गौडी च रीतिः** और गौडी रीति (युक्त) **इन्द्राण्याः प्रीत्यै** इन्द्राणी की प्रीति के लिये **वीररस-आश्रया** वीर रस के आश्रय वाली (है)।

(सर०) नन्दावती के भी द्विखण्ड पदों में गणयोजना रहती है। सात्त्वती वृत्ति यानी सात्त्विक चेष्टायुक्त और गौडी रीति यानी ओज और कान्ति गुणयुक्त पदरचना वाली होती है।

(भद्रावती)

भद्रावती पञ्चभिर्मैर्यान्तैः कङ्कालतालतः।
ककुभेऽथर्ववेदोत्था कृष्णा शूद्रा च भारतीम्॥ ७४॥

वृत्तिं वैदर्भरीतिं च श्रिता बीभत्ससंभृता।
वाराहीदेवताप्रीत्यै शार्ङ्गदेवेन कीर्तिता॥ ७५॥

(ई) भद्रावती

७४-७५. (अ०) **भद्रावती** भद्रावती **य-अन्तैः पञ्चभिः मैः** यगण (।ऽऽ) से अन्त होने वाले पाँच मगणों (ऽऽऽ) से, **कङ्कालतालतः** कंकाल ताल से, **ककुभे** ककुभ (राग) में, **अथर्ववेद-उत्था** अथर्ववेद से उत्पन्न, **कृष्णा** काले रंग वाली **शूद्रा च** और शूद्र (वर्ण वाली), **भारतीं वृत्तिं** भारती वृत्ति **वैदर्भरीतिं च श्रिता** और वैदर्भी रीति के आश्रित, **बीभत्ससंभृता** बीभत्स (रस) से परिपूर्ण, **वाराहीदेवता प्रीत्यै** वाराही देवता की प्रसन्नता के लिये **शार्ङ्गदेवेन कीर्तिता** शार्ङ्गदेव के द्वारा कही गई (है)।

(सर०) पूर्वोक्त प्रकार से द्विखण्ड पदों में गणयोजना, भारती वृत्ति अर्थात् वाक्‌प्रधान चेष्टा वाली और वैदर्भी रीति यानी कठोर शब्द और कठोर बन्ध तथा बड़े समासों से रहित होती है।

ये चार प्रकार की शुद्ध गणैला हुईं।

(संकीर्णागणैलाः)

बहुधा संकरादासां संकीर्णा बहुधा मताः।
अप्रसिद्धास्तु ता लक्ष्ये तेन नेह प्रपञ्चिताः॥ ७६॥

संकीर्णा गणैला

७६. (अ०) **आसाम्** इन (शुद्धा गणैलाओं) के **बहुधा संकरात्** बहुत प्रकार के मिश्रण से **संकीर्णा** संकीर्णा (एला) **बहुधा मताः** अनेक प्रकार की मानी गई (हैं)। **ताः** वे **लक्ष्ये तु** लक्ष्य में तो **अप्रसिद्धाः** अप्रसिद्ध (हैं) **तेन** इस कारण से **इह** यहाँ **न प्रपञ्चिताः** (उनका) विस्तार नहीं किया (है)।

(विकृतागणैलाः)

शुद्धाः स्युर्विकृतास्तिस्र आद्या गणविकारतः।
वासवी संगता त्रेता चतुरा बाणसंज्ञिका॥ ७७॥

एकद्वित्रिचतुष्पञ्चविकारात् पञ्चधेति ताः।
प्रत्येकं,

विकृता गणैला

७७-७८ ग. (अ०) **आद्याः तिस्रः शुद्धाः** शुरू की तीन शुद्धा (गणैला) **गणविकारतः** गण के विकार से **विकृताः स्युः** विकृता होती हैं। **ताः प्रत्येकं** वे सभी **एक-द्वि-त्रि-चतुः-पञ्चविकारात्** एक, दो, तीन, चार, पाँच (गणों के) विकार से (क्रमशः) **वासवी संगता त्रेता चतुरा बाणसंज्ञिका** (१) वासवी, (२) संगता, (३) त्रेता, (४) चतुरा (और) (५) बाण संज्ञा वाली **इति पञ्चधा** यों पाँच प्रकार से (होती हैं)।

(सर०) शुद्धा गणैला के प्रथम तीन भेद यानी नादावती, हंसावती और नन्दावती में गणों के विकार से हरेक के ५-५ भेद बनते हैं—एक गण के विकार से 'वासवी', दो से 'संगता', तीन से 'त्रेता', चार से 'चतुरा' और पाँच से 'बाणा'। अन्तिम तीन संज्ञाएँ संख्यासूचक हैं।

गणों के विकार का अर्थ स्पष्ट करते हुए कल्लि० ने कहा कि शुद्धावस्था के अपने-अपने गणों के लघु-गुरु के क्रम में परिवर्तन से अन्य गण की प्राप्ति करना विकार है। नादावती में भगण (ऽ।।) के लघु-गुरु क्रम को बदलने से जगण (।ऽ।) या सगण (।।ऽ) होता है। हंसावती के रगण (ऽ।ऽ) में क्रम परिवर्तन से तगण (ऽऽ।) या यगण (।ऽऽ) होता है। इसी तरह नन्दावती में तगण (ऽऽ।) के विकार से यगण या रगण होता है। भद्रावती में मगण (ऽऽऽ) होने से उसमें विकार संभव नहीं है इसलिये उसमें गणविकार से भेद नहीं कहे।

एक से लेकर ५ गण तक विकार, कल्लि० के अनुसार, इस तरह होते हैं—नादावती में एक भगण के परिवर्तन से वासवी, दो भगण विकार से संगता, तीन भगण विकार से त्रेता, चार भगण विकार से चतुरा और पाँचों भगणों में विकार से बाण संज्ञा वाली विकृता गणैला होती है। इसी तरह हंसावती और नन्दावती के अपने-अपने गणों में परिवर्तन से ५-५ भेद बनते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि अन्तिम गण में परिवर्तन नहीं होता।

(वासवी)

वासवी पञ्चविधा रामा मनोरमा॥ ७८॥

उन्नता शान्तिसंज्ञा च नागरेत्युच्यते बुधैः।
गणानां प्रथमादीनां विकारात् पञ्चमावधि॥ ७९॥

(अ) वासवी

७८ ग-७९. (अ०) **प्रथम-आदीनां** प्रथम (गण) से शुरू करके **पञ्चम-अवधि** पाँचवें तक **गणानां विकारात्** गणों के विकार से **बुधैः** बुद्धिमानों के द्वारा **वासवी** वासवी (विकृता गणैला) **रामा मनोरमा उन्नता शान्तिसंज्ञा नागरा च** (१) रामा, (२) मनोरमा, (३) उन्नता, (४) शान्ति संज्ञा वाली और (५) नागरा **इति** यों **पञ्चविधा उच्यते** पाँच प्रकार से कही जाती है।

(सर०) पहले गण के विकार से 'रामा', दूसरे के विकार से 'मनोरमा', तीसरे से 'उन्नता', चौथे से 'शान्ति' और पाँचवें से 'नागरा' होती है। कल्लि० के अनुसार **पञ्चमावधि** के द्वारा अन्तिम यानी छठे गण में विकार का निषेध समझना चाहिये क्योंकि उसमें विकार होने पर नादावती आदि की प्रत्यभिज्ञा (पहचान) ही नहीं रहेगी यानी किस मूल गणैला का भेद है यह पहचानना संभव नहीं होगा। इस संदर्भ में कल्लि० ने जातिलक्षण की याद दिलाते हुए कहा कि यह जो नियम पहले कहा जा चुका है कि न्यास को छोड़ कर शेष लक्षणों से रहित होने पर विकृता जाति होती है (सं० र०,१/७/३); यहाँ भी उसका अनुसन्धान करना चाहिये यानी उसके अनुसार यह समझना चाहिये कि अन्तिम गण को छोड़ कर शेष गणों में ही विकार होता है।

कल्लि० ने यह भी कहा कि नादावती का अन्तिम गण नगण है जिसमें तीनों वर्ण लघु (।।।) होने के कारण गण में विकार की संभावना ही नहीं है लेकिन हंसावती में अन्तिम सगण और नन्दावती में अन्तिम जगण में क्रम परिवर्तन संभव है, इसका निषेध करने के लिए सामान्य रूप से पाँचवें गण तक विकार कहा, ऐसा समझना चाहिये।

वासवी के ये सारे भेद सिर्फ़ एक गण में विकार से बनते हैं।

(संगता)

रमणीया च विषमा समा लक्ष्मीश्च कौमुदी।
कामोत्सवा नन्दिनी च गौरी सौम्या ततः परम्॥ ८०॥

रतिदेहेति दशधा संगता गदिता बुधैः।
आद्यस्य स्युर्द्वितीयादिसहितस्य विकारतः॥ ८१॥

चतस्रस्ता द्वितीयस्य तृतीयादियुजस्त्रयम्।
विकारेण तृतीयस्य चतुर्थादियुजो द्वयम्॥ ८२॥

तुर्यपञ्चमयोस्त्वेका लक्ष्म तासां क्रमादिति।

(आ) संगता

८०-८३ ख. (अ०) **बुधैः** बुद्धिमानों के द्वारा **रमणीया विषमा च** (१) रमणीया और (२) विषमा, **समा लक्ष्मीः च** (३) समा और (४) लक्ष्मी, **कौमुदी कामोत्सवा नन्दिनी गौरी सौम्या च** (५) कौमुदी, (६) कामोत्सवा, (७) नन्दिनी, (८) गौरी और (९) सौम्या **ततः परम्** उसके बाद **रतिदेहा** (१०) रतिदेहा **इति** ये **दशधा** दस प्रकार से **संगता गदिता** संगता कही गई (है)। **द्वितीय-आदिसहितस्य** द्वितीय आदि के सहित **आद्यस्य विकारतः** प्रथम (गण) के विकार से **ताः चतस्रः** वे चार **तृतीय-आदियुजः** तीसरे आदि से युक्त **द्वितीयस्य** दूसरे (गण) के (विकार से) **त्रयं** तीन, **चतुर्थ-आदियुजः** चौथे आदि के सहित **तृतीयस्य विकारेण** तीसरे (गण) के विकार से **द्वयं** दो (तथा) **तुर्य-पञ्चमयोः तु** चौथे और पाँचवें से तो **एका** एक (भेद वाली) **स्युः** होती हैं—**इति** ये **क्रमात्** क्रम से **तासां लक्ष्म** उनके लक्षण (हैं)।

(सर०) पहले गण के साथ क्रम से दूसरे, तीसरे, चौथे और पाँचवें गण में परिवर्तन से ४ भेद; दूसरे गण के साथ तीसरे चौथे और पाँचवें गणविकार से ३ भेद; तीसरे गण के साथ चौथे और पाँचवें गण के विकार से २ भेद और चौथे के साथ पाँचवें

में परिवर्तन से १भेद—यों रमणीया आदि १० भेद बन सकते हैं। इस प्रकार संगता के १० भेद २-२ गणों के विकार से बनते हैं।

(त्रेता)

त्रेता दशविधा प्रोक्ता मङ्गला रतिमङ्गला॥ ८३॥

कलिका तनुमध्या च वीरश्रीर्जयमङ्गला।
विजया रत्नमाला च गुरुमध्या रतिप्रभा॥ ८४॥

आद्याक्षरेण ग्रहणं प्रथमादेरिहेष्यते।
प्रद्वित्रिणां प्रद्विचानां प्रद्विपानां प्रचत्रिणाम्॥ ८५॥

प्रत्रिपानां प्रचपानां द्वित्रिचानां द्विपत्रिणाम्।
चद्विपानां चत्रिपाणां विकृतेः स्युः क्रमादिमाः॥ ८६॥

(इ) त्रेता

८३ ग-८६. (अ०) त्रेता त्रेता दशविधा प्रोक्ता दस प्रकार से कही गई (है)—(१) मङ्गला, (२) रतिमङ्गला, (३) कलिका, (४) तनुमध्या, (५) वीरश्री, (६) जयमङ्गला, (७) विजया, (८) रत्नमाला, (९) गुरुमध्या और (१०) रतिप्रभा। आद्य-अक्षरेण प्रथम अक्षर से प्रथम आदेः प्रथम आदि (गणों) का ग्रहणं ग्रहण इह इष्यते यहाँ इष्ट है। क्रमात् क्रम से प्र-द्वि-त्रिणां प्रथम, द्वितीय और तृतीय (गण) की, प्र-द्वि-चानां प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ की, प्र-द्वि-पानां प्रथम, द्वितीय, पंचम की, प्र-च-त्रिणां प्रथम, तृतीय, चतुर्थ की, प्र-त्रि-पानां प्रथम, तृतीय, पंचम की, प्र-च-पानां प्रथम, चतुर्थ, पंचम की, द्वि-त्रि-चानां द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ की, द्वि-प-त्रिणां द्वितीय, तृतीय, पंचम की, च-द्वि-पानां द्वितीय, चतुर्थ, पंचम की (और) च-त्रि-पाणां तृतीय, चतुर्थ, पंचम (गणों) की विकृतेः विकृति से इमाः स्युः ये (दस प्रकार की त्रेता) होती हैं।

(सर०) त्रेता के भेद तीन-तीन गणों में परिवर्तन से बनते हैं। 'प्र', 'द्वि', 'त्रि', 'च', 'प' का क्रम से प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम के संकेताक्षर के रूप में ग्रहण किया गया है।

(चतुरा)

त्यक्त्वैकैकं गणं त्वाद्याच्चतुर्णां स्याद्विकारतः।
चतुरा पञ्चधा तत्र प्रथमा तूत्सवप्रिया॥ ८७॥

महानन्दाथ लहरी जया च कुसुमावती।

(ई) चतुरा

८७-८८ ख. (अ०) एक-एक गणं त्यक्त्वा तु एक-एक गण छोड़ कर तो आद्यात् चतुर्णां विकारतः पहले (गण) से (शुरू करके) चार(-चार) गणों के विकार से चतुरा 'चतुरा' पञ्चधा स्यात् पाँच प्रकार से होती है। तत्र उनमें से प्रथमा तु उत्सवप्रिया पहली तो (१) उत्सवप्रिया (होती है और शेष चार) महानन्दा (२) महानन्दा अथ लहरी इसके बाद (३) लहरी, जया कुसुमावती च (४) जया और (५) कुसुमावती (हैं)।

(सर०) एक-एक गण को छोड़ कर का अर्थ है एक-एक गण में विकार लाए बिना अर्थात् सिर्फ़ चार गणों में परिवर्तन से चतुरा के ५ भेद होते हैं। इसके अनुसार पहला गण छोड़ कर दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें के विकार से उत्सवप्रिया, दूसरा

छोड़ कर पहले, तीसरे, चौथे, पाँचवें से महानन्दा, तीसरा छोड़ कर पहले, दूसरे, चौथे, पाँचवें से लहरी, चौथा छोड़ कर पहले, दूसरे, तीसरे, पाँचवें से जया और पाँचवाँ छोड़ कर पहले, दूसरे, तीसरे, चौथे से कुसुमावती होती है।

(बाणा)

आद्यात् पञ्चविकारेण बाणा स्यात् पार्वतीप्रिया॥ ८८॥

(उ) बाणा

८८ ग-घ. (अ०) **आद्यात्** पहले से **पञ्चविकारेण** पाँचों (गणों) के विकार से **पार्वतीप्रिया बाणा स्यात्** पार्वतीप्रिया 'बाणा' होती है।

प्रत्येकमेकत्रिंशत्ते नादावत्यादिषु स्थिताः।
भेदास्त्रिनवतिर्युक्ता,

८९ क-ग. (अ०) **ते** वे (ऊपर कहे गए) **एकत्रिंशत्** इकत्तीस **नादावती-आदिषु प्रत्येकं** नादावती आदि हरेक में **स्थिताः** स्थित **त्रिनवतिः युक्ताः** तिरानवे युक्त **भेदाः** भेद (होते हैं)।

(सर०) 'नादावती आदि' से नादावती, हंसावती और नन्दावती समझना चाहिये क्योंकि जैसा पहले कहा जा चुका है भद्रावती में मगण होने से उसमें गणविकार संभव नहीं है।

नादावती गणैला के ५ विकृत भेद क्रमशः १,२,३,४ और ५ भगणों के विकार से बने। इन पाँचों में से हरेक में यानी वासवी में १ गण के विकार से ५, संगता में २ गणों से १०, त्रेता में ३ गणों से १०, चतुरा में ४ गणों से ५ और बाणा में ५ गणों के विकार से १, कुल (५ + १० + १० + ५ + १ =) ३१ भेद हुए। इसी तरह रगण के विकार से हंसावती और तगण के विकार से नन्दावती में भी भेद बनेंगे। इस प्रकार तीनों में कुल (३१ × ३ =) ९३ भेद गणैला में होते हैं।

(अन्यभेदाः)

अन्ये पञ्चदश त्विमे॥ ८९॥

सावित्री पावनी वातसावित्री त्रिविधा मता।
संगता सवितुः क्षिप्ते पवनस्य गणे क्रमात्॥ ९०॥

द्वितीये चाद्यभेदाभ्यां द्विविधा वासवी मता।
नादावत्यामिमे भेदा हंसावत्यामपि त्रिधा॥ ९१॥

व्योमजा वारुणी व्योमवारुणी चेति संगता।
तद्दैवत्यगणोपेता तदा स्याद्वासवी द्विधा॥ ९२॥

नन्दावत्यां वह्निजा च वारुणी वह्निवारुणी।
तद्गणैः संगता त्रेधा तथा द्वेधा च वासवी॥ ९३॥

इत्येते विकृता भेदा अष्टोत्तरशतं मताः।

(ऊ) अन्यभेद

८९ घ-९४ ख. (अ०) **अन्ये तु** अन्य तो **इमे पञ्चदश ये** पन्द्रह (भेद होते हैं)—**सवितुः** सूर्य (देवता) के, **पवनस्य गणे** वायु (देवता) के दो(-दो) गण **द्वितीये च क्रमात्** और क्रम से दोनों **क्षिप्ते** डालने पर **संगता** संगता **सावित्री पावनी वातसावित्री** (१) सावित्री, (२) पावनी (और) (३) वातसावित्री (यों) **त्रिविधा मता** तीन प्रकार से मानी गई (है)। **आद्यभेदाभ्यां** शुरू के दो भेदों (सावित्री, पावनी) से **वासवी** वासवी **द्विविधा मता** दो प्रकार से मानी गई (है)। **नादावत्याम् इमे भेदाः** नादावती के ये भेद (होते हैं)।

हंसावत्याम् अपि हंसावती में भी **व्योमजा वारुणी व्योमवारुणी च इति** (१) व्योमजा, (२) वारुणी और (३) व्योमवारुणी ये **तत् दैवत्यगण-उपेता** उस(-उस) देवता के गण से युक्त **त्रिधा संगता** तीन प्रकार से संगता (होती है)। **तदा** तब **वासवी** वासवी **द्विधा स्यात्** दो प्रकार से होती है।

नन्दावत्यां नन्दावती के **वह्निजा वारुणी वह्निवारुणी च** (१) वह्निजा, (२) वारुणी और (३) वह्निवारुणी **तत् गणैः** उन(-उन) गणों से **संगता त्रेधा** संगता तीन प्रकार से **तथा** और **द्वेधा च वासवी** दो प्रकार से वासवी (भेद होते हैं)।

इति एते इस प्रकार (अर्थात् इन १५ भेदों को मिला कर) ये **विकृताः भेदाः** विकृत भेद **अष्टोत्तरशतं मताः** एक सौ आठ माने गए (हैं)।

(सर०) नादावती, हंसावती और नन्दावती—इन तीन गणैलाओं में से प्रत्येक में भिन्न प्रकार से ५-५ कुल १५ अन्य भेद भी होते हैं। ये भेद पूर्वोक्त वासवी और संगता संज्ञा वाली विकृता गणैलाओं में बनते हैं—संगता में ३-३ और वासवी में २-२। ऊपर कारिकाओं में प्रयुक्त देवताओं के नाम उनके गणों के सूचक हैं। सविता यानी सूर्य जगण के, पवन सगण के, व्योम अर्थात् आकाश तगण के, वरुण यगण के, वह्नि अर्थात् अग्नि रगण के देवता हैं इसलिये देवताओं से उनके गण समझने चाहियें। संगता २ गणों और वासवी एक गण के विकार से बनती है इसलिये उन्हीं विकृत गणों के स्थान पर दूसरा गण डाल कर विकार होता है।

नादावती के ५ भेद इस तरह बनेंगे। संगता के दो भगणों के स्थान पर उनके विकाररूप दो जगण डालने से सावित्री, दो सगण डालने से पावनी और एक भगण के स्थान पर जगण और दूसरे भगण के स्थान पर एक सगण डालने से वातसावित्री बनती है। वासवी के एक भगण के स्थान पर जगण से सावित्री और सगण से पावनी हो जाती है।

हंसावती में संगता के दो रगणों के स्थान पर तगण डालने से व्योमजा, यगण से वारुणी और एक तगण व एक यगण डालने से व्योमवारुणी बनती है। वासवी में एक तगण डालने से व्योमजा और एक यगण से वारुणी बनती है।

नन्दावती के संगता में दो तगणों के स्थान पर दो रगण डालने से वह्निजा, दो यगण से वारुणी और एक रगण तथा दूसरा यगण डालने से वह्निवारुणी कहलाती है।

पूर्वोक्त ९३ विकृता गणैलाओं के साथ ये १५ भेद मिला देने से १०८ प्रकार की विकृता गणैला होती हैं।

कारिका ९१ में प्रयुक्त **द्वितीये च** का अर्थ 'द्वितीय में' हैं। तदनुसार कारिका ९० के अन्त में कहे गए पवन गण यानी सगण के साथ इसका अन्वय किया जाय तो वातसावित्री में क्रम से पहले जगण और फिर सगण समझना चाहिये। कल्लि० ने पहले सगण और फिर जगण कहा है। सिंह० ने निश्चित क्रम न कह कर दोनों गणों में वातसावित्री भेद कहा है।

(मात्रैला)

मात्रागणैस्तु मात्रैला सा च ज्ञेया चतुर्विधा॥ ९४॥

रतिलेखा कामलेखा बाणलेखा तथापरा।
चन्द्रलेखेति,

(२) मात्रैला

९४ ग-९५ ग. (अ०) **मात्रागणैः तु** मात्रागणों से तो **मात्रैला** मात्रैला (होती है) **सा च** और वह **रतिलेखा कामलेखा बाणलेखा** (१) रतिलेखा, (२) कामलेखा, (३) बाणलेखा तथा **अपरा** और अन्य **चन्द्रलेखा इति** (४) चन्द्रलेखा—यों **चतुर्विधा ज्ञेया** चार प्रकार से जानी गई है।

(सर०) पूर्वोक्त छगण, पगण, चगण, तगण और दगण—इन मात्रागणों से यहाँ तात्पर्य है।

(रतिलेखा)

तत्राद्ये पादे रुद्राः कला यदि॥ ९५॥

द्वितीये च तृतीये तु मात्रा दश तथा भवेत्।
रतिलेखा रतिगणैः,

(अ) रतिलेखा

९५ ग-९६ ग. (अ०) **तत्र** उनमें से **आद्ये द्वितीये च पादे** पहले और दूसरे पाद में **यदि रुद्राः कलाः** अगर रुद्र (ग्यारह) मात्राएँ, **तृतीये तु** तीसरे में तो **दश मात्राः** दस मात्रा (हों) **तथा** वैसा होने से **रतिगणैः** रतिगणों से **रतिलेखा भवेत्** 'रतिलेखा' होती है।

(सर०) रतिलेखा आदि चारों मात्रैलाओं में एला के उद्ग्राह नामक अवयव के पहले और दूसरे पादों के द्विखण्ड पदों में से हरेक में ११-११ और तीसरे पाद के दो खण्ड वाले पद में से हर खण्ड में १०-१० मात्राओं की शब्दरचना होती है। रुद्र ११ होते हैं इसलिये यहाँ ११ की संख्या के लिये रुद्र शब्द का प्रयोग किया है। इस प्रकार तीनों पादों के द्विखण्ड पदों में २२, २२ और २० मात्रा होती हैं। छन्द के हर चरण में दो-दो अक्षरों की योजना से रतिगण होता है। रतिगण के चार प्रकार मात्रागणों में कहे जा चुके हैं।

कल्लि० ने आगे श्लोक १०४-०५ की टीका में कहा है कि मात्रैला के सभी २० भेदों में मात्रागणों का नियम तीनों पादों के द्विखण्ड युक्त काम, विकारी और गीतक नामक पदों में ही होता है। तदनुसार ग्रन्थकार द्वारा बताया गया गणनियम इन दो खण्डों में ही समझना चाहिए।

(कामलेखा)

कामलेखा तु मान्मथैः॥ ९६॥

द्विगुणाभिः कलाभिः स्यात्,

(आ) कामलेखा

९६ घ-९७ क. (अ०) **कामलेखा तु** 'कामलेखा' तो **द्विगुणाभिः कलाभिः** दुगनी मात्राओं से **मान्मथैः स्यात्** मन्मथों (कामगणों) से होती है।

(सर०) रतिलेखा से दुगनी मात्रा होने पर यानी पहले और दूसरे पादों के द्विखण्ड पदों में से हरेक में २२-२२ तथा तीसरे पाद में २०-२०, कुल ४४, ४४, ४० मात्रा वाले द्विखण्ड पद हों तो रतिलेखा होती है। पदयोजना प्रतिपाद ३-३ अक्षर वाली मध्या छन्दजाति में कामगणों से होनी चाहिये।

(बाणलेखा)

मात्रा त्रैगुण्यतो भवेत्।

बाणलेखा बाणगणैः,

(इ) बाणलेखा

९७ ख-ग. (अ०) **मात्रात्रैगुण्यतः** मात्रा तिगुनी होने से **बाणगणैः** बाणगणों से **बाणलेखा भवेत्** 'बाणलेखा' होती है।

(सर०) रतिलेखा से तीन गुनी मात्रा यानी पहले दो पादों के द्विखण्ड पदों में से हरेक में ३३-३३ और तीसरे पाद में ३०-३०, कुल ६६-६६, ६० मात्रा वाले द्विखण्ड पद हों और प्रतिष्ठा जाति यानी ४ अक्षर प्रति चरण में बाणगणों से पदरचना हो तो बाणलेखा होती है।

(चन्द्रलेखा)

चन्द्रलेखा तु मिश्रितैः ॥ ९७॥

गणैश्चतुर्गुणकलाः,

(ई) चन्द्रलेखा

९७ घ-९८ क. (अ०) **चन्द्रलेखा तु** 'चन्द्रलेखा' तो **मिश्रितैः गणैः** मिश्रित गणों से **चतुर्गुणकलाः** चौगुनी कलाओं वाली (होती है)।

(सर०) चन्द्रलेखा में गणविशेष का नियम नहीं है बल्कि गणों के मिश्रण से होती है। लेकिन मात्राएँ रतिलेखा से चौगुनी होती हैं यानी पहले दो पादों के द्विखण्ड पदों में से हरेक में ४४-४४ और तीसरे पाद के द्विखण्ड पद के हरेक खण्ड में ४०-४० कुल ८८, ८८ और ८० मात्रा वाले द्विखण्ड पद होते हैं।

(अन्यभेदाः)

चतस्त्रोऽन्या ब्रुवेऽधुना।
आद्येन्दुमत्यथो ज्योतिष्मती पश्चान्नभस्वती॥ ९८॥

वसुमत्यपि,

अन्य भेद

९८ ख-९९ क. (अ०) **अधुना** अब **अन्याः चतस्त्रः** अन्य चार (मात्रैला) **ब्रुवे** कहता हूँ—**आद्या इन्दुमती** पहली (१) 'इन्दुमती' **अथ** इसके बाद **ज्योतिष्मती** (२) 'ज्योतिष्मती' **पश्चात्** फिर **नभस्वती** (३)'नभस्वती' **वसुमती इति अपि** और (४) 'वसुमती' भी।

(सर०) कल्लि० के अनुसार ये ४ भेद नन्दिमत के अनुसार हैं।

(इन्दुमती)

तत्रेन्दुमती छैः पञ्चभिः सतैः।

(अ) इन्दुमती

९९ क-ख. (अ०) **तत्र** उनमें से **स-तैः पञ्चभिः छैः** (अन्त में) तगण सहित पाँच छगणों से **इन्दुमती** 'इन्दुमती' (होती है)।

(सर०) इन्दुमती में ५ छगण और अन्त में एक तगण होता है। सिंह० के अनुसार इनमें गणयोजना पादों के शुरू के दो खण्डों में होती है। कल्लि० ने यही बात मात्रैला के सभी भेदों के लिये कही है जिसकी चर्चा रतिलेखा की व्याख्या में की जा चुकी है। तदनुसार द्विखण्ड पदों में से हरेक में (६ × ५ = ३० + ३ =) ३३ मात्रा होती हैं।

(ज्योतिष्मती)

पञ्चभिः पैः सचगणैराहुर्ज्योतिष्मतीं बुधाः॥ ९९॥

(आ) ज्योतिष्मती

९९ ग-घ. (अ०) **बुधाः** बुद्धिमान् **स-चगणैः** चगण सहित **पञ्चभिः पैः** पाँच पगणों से **ज्योतिष्मतीम् आहुः** 'ज्योतिष्मती' को कहते हैं।

(सर०) कल्लि० के अनुसार 'बुद्धिमान्' मतंग आदि के लिये कहा है। लेकिन बृह० के उपलब्ध पाठ में ज्योतिष्मती आदि मात्रैला भेद नहीं हैं। ज्योतिष्मती में पाँच पगण और अन्त में, एक चगण होता है। इसके अनुसार (५ × ५ = २५ + ४ =) २९-२९ मात्राएँ द्विखण्ड पदों के हर खण्ड में होती हैं।

(नभस्वती)

त्रिभिश्चैः पगणेनापि छाद्यन्ता स्यान्नभस्वती।

(इ) नभस्वती

१०० क-ख. (अ०) **त्रिभिः चैः** तीन चगणों से **प-गणेन अपि** और एक पगण से (तथा) **छ-आदि-अन्ता** शुरू में और अन्त में छगण, वाली **नभस्वती स्यात्** 'नभस्वती' होती है।

(सर०) एक छगण, तीन चगण, एक पगण और एक छगण—इस क्रम में गणयोजना युक्त पदयोजना वाली नभस्वती होती है। तदनुसार इसके द्विखण्ड पदों के हर खण्ड में (६ + १२ + ५ + ६ =) २९-२९ मात्राएँ होती हैं।

(वसुमती)

सा स्याद्वसुमती यस्यां दपचाः पत्रयं छतौ॥ १००॥

(ई) वसुमती

१०० ग-घ. (अ०) **यस्यां** जिसमें **द-प-चाः** (एक-एक) दगण, पगण और चगण, **प-त्रयं** तीन पगण, **छ-तौ** (एक-एक) छगण और तगण (हों) **सा** वह **वसुमती स्यात्** 'वसुमती' होती है।

(सर०) दगण, पगण, चगण, ३ पगण, छगण, तगण के क्रम से द्विखण्ड पदों में (२ + ५ + ४ + १५ + ६ + ३ =) ३५-३५ मात्रा वाली वसुमती होती है।

(पुनरन्यभेदाः)

नादावत्यादयो मात्राश्चाद्यैः स्वगणभङ्गजैः।
गणाः पञ्च त्रिमात्रोऽन्ते गणाः सप्तान्तिमो लघुः॥ १०१॥

गणाः सप्त लघुश्चान्ते त्रिमात्रोऽन्ते गणाष्टकः।
लक्ष्माणीति क्रमात्तासामित्यूचे सव्यसाचिना॥ १०२॥

पुनः अन्य भेद

१०१-१०२. (अ०) नादावती-आदयः नादावती आदि (चारों गणैला) **स्वगणभङ्गजैः** अपने(-अपने) गणों के भंग से उत्पन्न (और) **च-आद्यैः** चगण से आरम्भ करने से **मात्राः** मात्रैला (नादावती आदि होती हैं)।

(नादावती मात्रैला) **पञ्च गणाः** पाँच (चतुर्मात्रिक) गण (और) **अन्ते** अन्त में **त्रिमात्रः** तीन मात्रा वाला (गण), (हंसावती मात्रैला) **सप्त गणाः** सात (चतुर्मात्रिक) गण (और) **अन्तिमः लघुः** अन्तिम एक लघु, (नन्दावती मात्रैला) **सप्त गणाः** सात (चतुर्मात्रिक) गण **अन्ते लघुः च** और अन्त में लघु, (भद्रावती मात्रैला) **गण-अष्टकः** आठ (चतुर्मात्रिक) गण **अन्ते त्रिमात्रः** अन्त में तीन मात्रा वाला **इति क्रमात्** इस क्रम से **इति तासां लक्ष्माणि** उनके ये लक्षण **सव्यसाचिना** अर्जुन के द्वारा **ऊचे** कहे गये (हैं)।

(सर०) पूर्वोक्त नादावती आदि गणैलाएँ ही प्रकारान्तर से मात्रैला हो जाती हैं। उनके वर्णगणों का भंग करके यानी हर गुरु को दो लघु में परिवर्तित करके ४-४ मात्राओं के गण बना कर प्रयोग करने से गणैला के ४ भेद ही अर्जुन मत में मात्रैला कहलाती हैं। इसके अनुसार नादावती के ५ भगणों का भंग करके अन्तिम नगण की मात्राओं से युक्त यानी (२० + ३ =) २३ मात्राओं में ४-४ मात्रा के ५ गण और अन्त में ३ लघु होंगे। हंसावती में ५ रगण (ऽ।ऽ) और १ सगण (।।ऽ) के अनुसार (५ × ५ = २५ + ४ =) २९ मात्रा होंगी। इनमें ४ मात्रा वाले ७ गण और अन्त में एक लघु रखने पर मात्रैला हंसावती कहलाती है। नन्दावती ५ तगण (ऽऽ।) और १ जगण (।ऽ।) युक्त होती है। कुल २९ मात्राओं में ७ चगण और अन्त में १ लघु से मात्रैला नन्दावती होती है। भद्रावती के ५ मगण (ऽऽऽ) और १ यगण (।ऽऽ) की कुल ३५ मात्राओं में ८ चगण और अन्त में ३ लघु रखने से भद्रावती मात्रैला होती है।

इन मात्रैलाओं में ४-४ मात्राओं के खण्ड पदरचना में स्पष्ट रूप में दिखाई देने चाहियें। कल्लि० के अनुसार नादावती और भद्रावती में अन्त में ३ लघु ही होने चाहियें, एक प्लुत नहीं।

(विचित्रमात्रैला)

एकद्वित्रिचतुष्पञ्चमात्रावृद्धिर्यदाङ्घ्रिषु।
तदा विचित्रमात्रैलास्ता जगाद धनञ्जयः॥ १०३॥

विचित्र मात्रैला

१०३. (अ०) यदा जब **अङ्घ्रिषु** (इन नादावती आदि मात्रैलाओं के) पादों में **एक-द्वि-त्रि-चतुः-पञ्चमात्रावृद्धिः** एक, दो, तीन, चार (अथवा) पाँच मात्रा की वृद्धि (हो) **तदा** तब **ताः** उनको **धनञ्जयः** अर्जुन ने **विचित्रमात्रैलाः जगाद** विचित्र मात्रैलाएँ कहा।

(सर०) नादावती मात्रैला आदि चार मात्रैलाओं के पादों के द्विखण्ड पदों में इच्छानुसार १ से ५ मात्रा तक की वृद्धि कर देने से धनंजय के मत से ४ अन्य प्रकार की मात्रैला कहलाती हैं।

(अपरे भेदाः)

नन्दिनी चित्रिणी चित्रा विचित्रेत्यभिधानतः।
रतिलेखादयः प्रोक्ताः क्रमादनियतैर्गणैः॥ १०४॥

एलयोराद्ययोरङ्घ्री व्यत्यस्तावयुजाविह।

अन्य भेद

१०४-१०५ ख. (अ०) **अनियतैः गणैः** अनियत गणों से (अर्थात् गणनियम को छोड़ कर) **रतिलेखा-आदयः** रतिलेखा आदि **क्रमात्** क्रम से **नन्दिनी चित्रिणी चित्रा विचित्रा इति अभिधानतः** (१) नन्दिनी, (२) चित्रिणी, (३) चित्रा, (४) विचित्रा—इन नामों से **प्रोक्ताः** कही गई हैं। **इह** यहाँ **आद्ययोः एलयोः** शुरू की दो एलाओं (रतिलेखा और कामलेखा) में **अयुजौ अङ्घ्री** विषम (अर्थात् पहले और तीसरे) पाद **व्यत्यस्तौ** व्यत्यस्त (उलटे हुए क्रम वाले होते हैं)।

(सर०) रतिलेखा आदि ४ प्रकार की मात्रैला पहले कही गईं जो क्रम से २, ३, ४ और मिश्र मात्रा वाले मात्रिक गणों पर आधारित हैं। उनका गणनियम छोड़ कर सिर्फ़ उनकी मात्रासंख्या से युक्त होने से क्रम से नन्दिनी, चित्रिणी, चित्रा और विचित्रा होती हैं। विशेष यह है कि शुरू की दो यानी रतिलेखा और कामलेखा में पहले और तीसरे पादों मे मात्रासंख्या उलट दी जाती हैं। रतिलेखा के पहले पाद के द्विखण्ड पद के हर पद में २२-२२ मात्रा और तीसरे पाद के द्विखण्ड पद के हर पद में २० मात्रा कही गई हैं। इसलिये नन्दिनी में पहले पाद के द्विखण्ड पदों में २०-२० और तीसरे पाद के द्विखण्ड पदों में २२-२२ मात्राएँ होगी। कामलेखा के पहले पाद के द्विखण्ड पद के हर खण्ड में ४४-४४ और तीसरे पाद में ४०-४० मात्राएँ होती हैं। इसलिये चित्रिणी में इस क्रम को उलट कर पहले पाद के द्विखण्ड पदों में ४०-४० और तीसरे पाद के द्विखण्ड पदों में ४४-४४ मात्राएँ होंगी।

सिंह० ने **व्यत्यस्त** का अर्थ 'विपर्यय से गाना' किया है यानी तीसरा पाद पहले गाना चाहिये और पहला पाद तीसरे पाद के स्थान पर गाना चाहिये।

इस प्रकार कुल मिला कर मात्रैला के २० भेद कहे गए।

(वर्णैला)

गणमात्राद्यनियता वर्णैला वर्णसंख्यया॥ १०५॥

षडक्षरादङ्घ्रिखण्डादेकोनत्रिंशदक्षरम्।
यावदेकैकवृद्ध्यैलाश्चतुर्विंशतिरीरिताः॥ १०६॥

(३) वर्णैला

१०५ ग-१०६. (अ०) **गण-मात्रादि-अनियता** गण, मात्रा आदि के नियम से रहित **वर्णसंख्यया** (केवल) वर्णों की संख्या से **वर्णैला** 'वर्णैला' (होती है)। **षट्-अक्षरात् अङ्घ्रिखण्डात्** ६ अक्षर वाले पादखण्ड से (शुरू करके) **एकोनत्रिंशत्-अक्षरं यावत्** २९ अक्षर तक **एक-एकवृद्ध्या** एक-एक (अक्षर) बढ़ाने से **चतुर्विंशतिः एलाः ईरिताः** चौबीस (प्रकार की वर्ण-) एलाएँ कही गई (हैं)।

(सर०) वर्णैला प्रति चरण में अक्षरों की नियत संख्या के आधार पर बनती हैं। इनमें वर्णगण या मात्रागण या मात्रासंख्या आदि का नियम नहीं होता। छन्दों में वार्णिक, मात्रिक और दण्डक वर्ग के छन्दों की तरह एला प्रबन्ध में भी गणैला, मात्रैला और वर्णैला की रचना होती है। वर्णैला दण्डक छन्दों के समान है।

वर्णैला में प्रति चरण ६ अक्षर से शुरू करके पहला भेद कहा है और फिर १-१ अक्षर बढ़ा कर २९ अक्षर तक शेष २३, कुल २४ भेद वर्णैला में होते हैं।

प्रथमा मघुकर्युक्ता सुस्वरा करणी ततः।
चतुर्थी सुरसा प्रोक्ता पञ्चमी तु प्रभञ्जनी॥ १०७॥

षष्ठी मदनवत्युक्ता शशिनी च प्रभावती।
मालती ललिताख्या च मता भोगवती ततः॥ १०८॥

ततः कुसुमवत्याख्या कान्तिमत्यपरा भवेत्।
ततः कुमुदिनी ख्याता कलिका कमला तथा॥ १०९॥

विमला नलिनीसंज्ञा कालिन्दी विपुला ततः।
विद्युल्लता विशाला च सरला तरलेति ताः॥ ११०॥

तत्रान्त्या वर्णमात्रैला द्वादशेत्यपरे जगुः।

१०७-१११ ख. (अ०) **प्रथमा मधुकरी उक्ता** (इनमें से) पहली (१) मधुकरी कही गई (है)। **ततः** तब **सुस्वरा करणी** (२) सुस्वरा, (३) करणी **चतुर्थी सुरसा प्रोक्ता** चौथी (४) सुरसा कही गई है। **पञ्चमी तु प्रभञ्जनी** पाँचवीं तो (५) प्रभञ्जनी, **षष्ठी मदनवती उक्ता** छठी (६) मदनवती कही गई (है)। **शशिनी प्रभावती च** (७) शशिनी और (८) प्रभावती, **मालती ललिता-आख्या च** (९) मालती और (१०) ललिता नामक **मताः** मानी गई (हैं)। **ततः भोगवती** तब (११) भोगवती **ततः कुसुमवती-आख्या** तब (१२) कुसुमवती नामक, **अपरा कान्तिमती इति** अन्य (१३) कान्तिमती—यह **भवेत्** होती है। **ततः** तब **कुमुदिनी ख्याता** (१४) कुमुदिनी जानी गई (है)। **कलिका कमला तथा विमला नलिनीसंज्ञा** (१५) कलिका, (१६) कमला तथा (१७) विमला, (१८) नलिनि संज्ञा वाली, **कालिन्दी विपुला** (१९) कालिन्दी, (२०) विपुला **ततः** तब **विद्युल्लता विशाला च** (२१) विद्युल्लता और (२२) विशाला, **सरला तरला इति ताः** (२३) सरला, (२४) तरला ये वे (चौबीस वर्णैला होती हैं)। **तत्र** उनमें से **अन्त्या द्वादश** अन्तिम बारह **वर्णमात्रैला इति** वर्णमात्रैला (हैं) इस प्रकार (अर्थात् ऐसा) **अपरे जगुः** अन्य (आचार्य) कहते हैं।

(सर०) ७ अक्षर वाली वर्णैला को स्वरों की ७ संख्या के आधार पर 'सुस्वरा' नाम दिया गया लगता है। सिंह० के अनुसार १८ से २९ अक्षर वाली १२ वर्णैला मात्रैलाओं से बनती हैं इसलिये कुछ लोग उन्हें 'वर्णमात्रैला' कहते हैं।

मण्ठद्वितीयकङ्कालप्रतितालेषु कश्चन॥ १११॥
तालस्तासु विधातव्यो रागादिनियमो न तु।

१११ ग-११२ ख. (अ०) **तासु** उनमें **मण्ठ-द्वितीय-कङ्काल-प्रतितालेषु** मण्ठ, द्वितीय, कंकाल, प्रतिताल में (से) **कश्चन तालः** किसी ताल का **विधातव्यः** विधान करना चाहिये। **राग-आदिनियमः तु न** राग आदि का नियम तो नहीं (है)।

(सर०) मण्ठ, द्वितीय, कंकाल और प्रतिताल में से ही किसी ताल का प्रयोग वर्णैलाओं में होता है। इन तालों के लक्षण तालाध्याय में दिये गये हैं। कल्लि० के अनुसार रागादि का नियम न होने का आशय यह है कि नादावती आदि शुद्ध गणैलाओं में कहा गया राग, रस, रीति, वृत्ति, देवता का नियम वर्णैलाओं में नहीं होता। लेकिन यह निषेध सिर्फ़ वर्णैला के लिये ही है, विकृता गणैलाओं, रतिलेखा आदि मात्रैला आदि अन्य सब प्रकारों में इन नियमों का पालन करना चाहिये। इनमें भेद तो गण और मात्राओं के विकार से ही होता है।

(मतङ्गमतेन वर्णैलाभेदाः)

रमणी चन्द्रिका लक्ष्मीः पद्मिनी रञ्जनी तथा॥ ११२॥
मालती मोहिनी सप्त मतङ्गेन प्रकीर्तिताः।
यतिमात्रेण भिन्नास्ता इत्यस्माभिर्न दर्शिताः॥ ११३॥

मतंग के मत से वर्णैला के भेद

११२ ग-११३. (अ०) **मतङ्गेन** मतंग के द्वारा **रमणी चन्द्रिका लक्ष्मीः** (१) रमणी, (२) चन्द्रिका, (३) लक्ष्मी, **पद्मिनी रञ्जनी मालती तथा मोहिनी** (४) पद्मिनी, (५) रंजनी, (६) मालती और (७) मोहिनी **सप्त कीर्तिताः** सात (मात्रैला) कही गई (हैं)। **ताः** वे **यतिमात्रेण भिन्नाः** केवल यति के द्वारा भिन्न (हैं) **इति** इसलिये **अस्माभिः न दर्शिताः** हमारे द्वारा नहीं दिखाई गई (हैं)।

(सर०) कल्लि० ने यति का अर्थ पदविच्छेद किया है जो छन्द से संबन्धित है। लेकिन मंतग ने जो उक्त ७ भेद कहे हैं वे स्पष्टतः समा, स्रोतोगता और गोपुच्छा तालयतियों पर आधारित हैं (बृह०, ५/४५९-६६), छन्दयति पर नहीं। इसलिये कल्लि० ने यति का जो अर्थ दिया है वह सही नहीं है।

(देशैला)

कर्णाटलाटगौडान्ध्रद्राविडानां तु भाषया।
देशाख्यैला बुधैः पञ्च प्रोक्ता मण्ठादितालतः॥ ११४॥

(४) देशैला

११४. (अ०) **मण्ठ-आदितालतः** मण्ठ आदि ताल से **कर्णाट-लाट-गौड-आन्ध्र-द्राविडानां भाषया तु** कर्णाट, लाट, गौड, आन्ध्र और द्राविड (प्रदेशों) की भाषा से तो **बुधैः** बुद्धिमानों के द्वारा **पञ्च** पाँच **देश-आख्या-एला प्रोक्ता** देश नामक एला 'देशैला' कही गई (है)।

(सर०) मण्ठ 'आदि' से तात्पर्य पहले कहे गए मण्ठ, द्वितीय, कंकाल और प्रतिताल में से ही किसी ताल से है। वर्तमान मैसूर, कुर्ग, कनारा मिला कर कर्णाट; खानदेश सहित वर्तमान दक्षिण गुजरात लाट; वर्तमान संपूर्ण बंगाल गौड; वर्तमान आन्ध्र; और मद्रास से श्रीरंगपट्टन और कन्याकुमारी द्राविड प्रदेश समझा जाता है।

(कर्णाटैला)

कर्णाटैलादिमध्यान्तवर्त्यनुप्रासभूषिता।
नादावत्यादिका एव कर्णाटीरपरे विदुः॥ ११५॥
षट्प्रकारत्वमेतासां वक्ष्यमाणैर्विशेषणैः।

(अ) कर्णाटी एला

११५-११६ ख. (अ०) **कर्णाटैला** कर्णाटैला **आदि-मध्य-अन्तवर्ती-अनुप्रासभूषिता** आदि, मध्य और अन्त में रहने वाले अनुप्रास से भूषित (होती है)। **नादावती-आदिका एव** नादावती आदि (को) ही **अपरे** अन्य लोग **कर्णाटीः विदुः** कर्णाटी (के रूप में) जानते हैं। **वक्ष्यमाणैः विशेषणैः** आगे कहे जाने वाले विशेषणों से **एतासाम्** इनकी **षट्प्रकारत्वं** ६ प्रकारता (होती है, अर्थात् ६ प्रकार होते हैं)।

(सर०) कणर्टैला में पदरचना के शुरू में, मध्य में और अन्त में अनुप्रास रहता है। यह इसका सामान्य लक्षण है, विशेष लक्षणों से इसके ६ भेद होते हैं।

अन्य आचार्य नादावती आदि को ही कर्णाटी मानते हैं। इस पर कल्लि० ने कहा कि शुद्धा नादावती आदि ही अपने-अपने लक्षणों से युक्त रहते हुए केवल कर्णाटी भाषा का प्रयोग होने से कणर्टैला हो जाती हैं। उसके अनुसार यही कणर्टैला का पहला प्रकार है। तदनुरूप कर्णाट भाषा में बद्ध होने पर कर्णाटी नादावती, कर्णाटी हंसावती, कर्णाटी नन्दावती और कर्णाटी भद्रावती कही जाती हैं।

ब्रह्मणः पूर्ववदनाज्जन्म शम्भुर्गणाधिपः॥ ११६॥

आद्याङ्घ्री आद्यनुप्रासौ रत्यन्तं मदनद्वयम्।
प्रत्येकं च तयोरादिमध्यप्रासस्तृतीयकः॥ ११७॥

चतुष्कामो रतिप्रान्तः सुलेखा स्यात्तदादिमा।

११६ ग-११८ ख. (अ०) **ब्रह्मणः** ब्रह्मा के **पूर्ववदनात्** जन्म पूर्व (दिशा वाले) मुख से उत्पन्न, **शम्भुः गण-अधिपः** शम्भु (शिव) गणदेवता, **आद्य-अङ्घ्री** आरम्भ के दो पाद **तयोः च प्रत्येकम्** और उनमें से हरेक **आद्य-अनुप्रासौ** शुरू में अनुप्रास वाले, **मदनद्वयं** दो कामगण, **रति-अन्तम्** अन्त में रतिगण (हो); **तृतीयकः आदि-मध्य-प्रासः** तीसरा पाद शुरू (और) मध्य (में) प्रास वाला, **चतुः कामः** चार कामगण **रतिप्रान्तः** अन्त में रतिगण वाला (हो तो) **तत्** वह **आदिमा** पहली (नादावती) **सुलेखा स्यात्** सुलेखा होती है।

(सर०) ११६ से १२३वीं कारिकाओं में कणर्टैला का दूसरा प्रकार है। इसमें लक्षणभेद से नादावती आदि के ही कर्णाटी भाषा में सुलेखा, कामलेखा, स्वरलेखा और भद्रलेखा—ये ४ भेद कहे हैं जिनकी उत्पत्ति ब्रह्मा के चार मुखों से मानी गई है।

तीन पादों में से पहले दो पादों के शुरू में अनुप्रास और तीसरे पाद के शुरू और मध्य में प्रास रहता है। इन लक्षणों से युक्त नादावती ही सुलेखा कहलाती है। कल्लि० ने सुलेखा को रतिलेखा कहा है।

दक्षिणास्याज्जनुर्यस्याः सावित्री देवता हरिः॥ ११८॥
गणाधिपश्चतुष्कामं प्रत्येकं चरणद्वयम्।
आदिमध्यस्थितप्रासं त्रिप्रासोऽङ्घ्रिस्तृतीयकः॥ ११९॥

अष्टौ कामाः कामलेखा प्रोक्ता हंसावती च सा।

११८ ग-१२० ख. (अ०) **दक्षिण-आस्यात्** (ब्रह्मा के) दक्षिण (दिशा वाले) मुख से **यस्याः जनुः** जिसका जन्म (हो), **सावित्री देवता** सावित्री देवता (हो), **हरिः गण-अधिपः** विष्णु गणदेवता, **प्रत्येकं चरणद्वयं** (शुरू के) दो पादों में से हरेक **चतुः कामं** चार कामगण (और) **आदि-मध्यस्थित-प्रासम्** आदि (तथा) मध्य में स्थित प्रास वाला, **तृतीयकः अङ्घ्रिः** तीसरा पाद **त्रिप्रासः** (आदि, मध्य और अन्त) तीनों प्रास वाला, **अष्टौ कामाः** आठ कामगण (वाला हो) **सा च** तो वह हंसावती **कामलेखा प्रोक्ता** हंसावती कामलेखा कही गई (है)।

पश्चिमाद्वदनाज्जन्म ब्रह्मा यस्या गणाधिपः॥ १२०॥

गायत्री देवताप्यादिमध्यप्रासास्त्रयोऽङ्घ्रयः।
पृथक्चतुःस्मरा नन्दावती सा स्वरलेखिका॥ १२१॥

१२० ग-१२१. (अ०) **पश्चिम-वदनात् जन्म** (ब्रह्मा के) पश्चिम (दिशा वाले) मुख से जन्म (है) **गायत्री अपि देवता** और गायत्री देवता, **ब्रह्मा ब्रह्मा यस्या गण-अधिपः** जिसका गणदेवता (है), **त्रयः अङ्घ्रयः आदि-मध्यप्रासाः** तीनों पाद शुरू (और) मध्य प्रास वाले **पृथक्चतुःस्मराः** प्रत्येक (पाद) चार-चार कामगण वाले (हों तो) **सा** वह **नन्दावती स्वरलेखिका** नन्दावती स्वरलेखिका (होती है)।

जन्मोत्तरास्याद्गन्धर्वो गणेशः षट् च मान्मथाः।
बाणान्ताः पादयोर्यस्याः प्रत्येकं स्युस्तृतीयके॥ १२२॥

अष्टौ कामा आदिमध्यप्रान्तप्रासास्त्रयोऽङ्घ्रयः।
भद्रावती भद्रलेखा सा स्यात् कर्णाटसंमता॥ १२३॥

१२२-१२३. (अ०) **जन्म-उत्तर-आस्यात्** उत्तर (दिशा वाले) मुख से जन्म, **गन्धर्वः** गन्धर्व (देवता), **गणेशः** गणेश (गणदेवता), **यस्याः** जिसके **पादयोः प्रत्येकं** दो पादों में से हरेक **षट् मान्मथाः** ६ कामगण **बाण-अन्ताः च** और बाणगण से अन्त वाले, **तृतीयके** तीसरे (पाद) में **अष्टौ** आठ **कामाः स्युः** कामगण (होते हैं), **आदि-मध्य-प्रान्तप्रासाः** आदि, मध्य और अन्त प्रास वाले **त्रयः अङ्घ्रयः** तीनों पाद (हों) **सा** वह **कर्णाटसंमता** कर्णाटी (भाषा) युक्त **भद्रावती भद्रलेखा** भद्रावती भद्रलेखा (होती है)।

पञ्च कामा रतिश्चैका कामोऽन्ते चरणत्रये।
प्रत्येकं तासु चेदेताश्छन्दस्वत्योऽखिला मताः॥ १२४॥

१२४. (अ०) **तासु प्रत्येकं** उनमें से हरेक में **चरणत्रये** तीनों पादों में **पञ्च कामाः** पाँच कामगण **एका रतिः च** और एक रतिगण, **चेत् अन्ते** यदि अन्त में **कामः** कामगण (हो तो) **एताः अखिलाः** ये सभी **छन्दस्वत्यः मताः** छन्दस्वती (कणटैलाएँ) मानी गई (हैं)।

(सर०) कणटैला का यह तीसरा भेद है। ऊपर कही गई सुलेखा आदि ही उक्त गणों से युक्त हों तो सुलेखा आदि चारों छन्दस्वती कहलाती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जो गणयोजना सुलेखा आदि में कही गई है उसके बजाय पाँच कामगण, एक रतिगण और अन्त में एक कामगण रख कर शेष लक्षण वही रहें जो सुलेखा आदि के हैं तो उन्हें छन्दस्वती सुलेखा, छन्दस्वती कामलेखा, छन्दस्वती स्वरलेखा और छन्दस्वती भद्रलेखा कहा जाता है।

गणादेर्न्यूनताधिक्यादेलाभासा इमा मताः।

१२५ क-ख. (अ०) **गण-आदेः** गण आदि की **न्यूनता-आधिक्यात्** कमी या अधिकता से **इमाः** ये (सभी छन्दस्वती) **एला-आभासाः** 'एलाभासा' **मताः** मानी गई (है)।

(सर०) कणटैला का यह चौथा प्रकार है जिसमें छन्दस्वती भेदों में कहे गए गणों की संख्या कम या ज़्यादा करने पर बनने वाले नए भेदों में एला का आभास होता है इसलिये इन्हें 'एलाभासा' कणटैला नाम दिया गया है।

कल्लि० ने इस अंश की व्याख्या शुरू करते हुए कहा कि यहाँ ग्रन्थकार ने चौथे और पाँचवें प्रकारों की विशेषताएँ एक साथ मिला कर कही हैं। तदनुसार कारिका १२५ क-ख में चौथा प्रकार और उसके बाद पाँचवाँ प्रकार है।

यदेकस्य द्वयोरङ्घ्र्योस्त्रयाणां चान्ततः कृतम्॥ १२५॥

अङ्घ्रिपूर्त्यै तदन्यच्चेत्तृतीयाङ्घ्रिमितं पदम्।
शिखापदं तत्तृतीये त्वङ्घ्रौ मेलापकादयः॥ १२६॥

१२५ ग-१२६ (अ०) **एकस्य द्वयोः त्रयाणां अङ्घ्र्योः च** एक, दो और तीनों पाद **अन्ततः कृतम्** अन्त तक करके **चेत् अङ्घ्रिपूर्त्यै** यदि पाद की पूर्ति के लिये **तत्** वह **तृतीय-अङ्घ्रिमितं** तीसरे पाद के माप का **यत् अन्यत् पदं** जो अन्य पद (होता है) **तत् शिखापदं तु** वह 'शिखापद' तो **तृतीये अङ्घ्रौ** तीसरे पाद (के अन्त) में (होता है और उसके बाद) **मेलापक-आदयः** मेलापक आदि (होते हैं)।

(सर०) कणटैला का यह पाँचवाँ प्रकार है। छन्दस्वती एलाओं में ही गणों की संख्या घटा या बढ़ा कर अन्यत्व (भिन्नता) करके पहले, दूसरे या तीसरे पाद के बाद एक अन्य पद तीसरे पाद के नाप का जोड़ देने से यह प्रकार बनता है। इसमें जोड़ा गया पद 'शिखापद' कहलाता है और उसके तुरन्त बाद मेलापक आदि गाए जाते हैं। कल्लि० के अनुसार 'आदि' से मेलापक के बाद ध्रुव और आभोग समझने चाहियें। इस भेद में मेलापक आदि में पूर्वोक्त प्रकारों से भाषा भेद के अलावा और कोई भेद नहीं होता।

कणटैला का छठा प्रकार 'वस्त्वेला' ग्रन्थकार ने यहाँ न देकर देशैला के सारे भेदों का निरूपण करने के बाद दिया है क्योंकि वह सभी देशैलाओं में होता है।

(लाटी एला)

प्रान्तप्रासा तु लाटी स्याद्भूयो रसविराजिता।

(आ) लाटी एला

१२७ क-ख. (अ०) **भूयः रसविराजिता** अनेक रसों से शोभित (और) **प्रान्तप्रासा तु** अन्त-प्रास वाली तो **लाटी स्यात्** लाटी (लाट्येला अथवा लाटैला) होती है।

(सर०) यहाँ से लाटी आदि एलाओं के सामान्य लक्षण कहे जा रहे हैं। लाटी रसों से सिक्त और अन्त में प्रासयुक्त होती है।

(गौडी एला)

गमकप्रासनिर्मुक्ता गौडी त्वेकरसा मत॥ १२७॥

(इ) गौडी एला

१२७ ग-घ. (अ०) **गौडी तु** गौडी (गौड्येला) तो **गमक-प्रासनिर्मुक्ता** गमक (और) प्रास से रहित (और) **एकरसा मता** एक रस वाली मानी गई (है)।

(सर०) गौडी एला केवल एक ही रस से युक्त तथा गमक और प्रास के प्रयोग से रहित होती है।

(आन्ध्री एला)

नानाप्रयोगरागांशरसभावोत्कटान्ध्रिका।

(ई) आन्ध्री एला

१२८ क-ख. (अ०) **आन्ध्रिका** आन्ध्र्येला **नानाप्रयोग-रागांश-रस-भाव-उत्कटा** अनेक प्रकार के 'प्रयोग', रागांश, रस (और) भाव से उत्कटता वाली (होती है)।

(सर०) आन्ध्री एला में अन्य एलाओं की तुलना में विविधता बहुत है इसलिये अत्यन्त उत्कर्ष वाली होती है। सिंह० के अनुसार 'प्रयोग' का अर्थ गमक है।

'रागांश' स्थाय और उसके भेदों का निरूपण तीसरे अध्याय में (श्लोक १३३-१४०) किया जा चुका है।

(द्राविडी एला)

भूरिभावरसोत्कर्षा द्राविडी प्रासवर्जिता॥ १२८॥

(उ) द्राविडी एला

१२८ ग-घ. (अ०) द्राविडी द्राविड्येला भूरिभाव-रस-उत्कर्षा अनेक भावों (और) रसों के उत्कर्ष वाली (किन्तु) प्रासवर्जिता प्रासरहित (होती है)।

तत्तल्लक्ष्मयुतस्तासु पादस्तुर्यो निबध्यते।
तदैता गदिताः सर्वाश्छन्दस्वत्यः पुरातनैः॥ १२९॥

१२९. (अ०) तासु उन (देशैलाओं) में तत्-तत्लक्ष्मयुतः उन-उनके लक्षणों से युक्त तुर्यः पादः निबध्यते (यदि) चौथा पाद निबद्ध किया जाता है तदा तब एताः सर्वाः ये सभी पुरातनैः प्राचीनों (अर्थात् प्राचीन आचार्यों) के द्वारा छन्दस्वत्यः गदिताः छन्दस्वती कही गई (हैं)।

(सर०) देशैलाओं के भेदों के जो लक्षण कहे गए उनकी योजना चौथे पाद यानी 'शिखापद' में करने पर सभी भेद छन्दस्वती कहे जाते हैं। इस तरह कर्णाटी एला में जो २० भेद कहे वे लाटी आदि शेष चार एलाओं में भी होते हैं।

द्वावङ्घ्री प्रासहीनौ स्तस्तृतीयः प्राससंयुतः।
ध्रुवाभोगौ च तेषु स्युश्चतस्रो यतयः पृथक्॥ १३०॥
वर्णैलावत् परं यस्यां सा वस्त्वेला निरूपिता।

१३०-१३१ ख. (अ०) द्वौ अङ्घ्री दो पाद प्रासहीनौ स्तः प्रासरहित होते हैं, तृतीयः प्राससंयुतः तीसरा प्रासयुक्त ध्रुव-आभोगौ च ध्रुव और आभोग भी (प्रासयुक्त हों), तेषु उन (पादों) में पृथक् हरेक में चतस्रः यतयः स्युः चार यतियाँ होती हैं, यस्यां जिसमें परम् अन्य (सब) वर्णैलावत् वर्णैला के समान (होता है) सा वह वस्त्वेला निरूपिता 'वस्त्वेला' (वस्तु-एला) निरूपित हुई (है)।

(सर०) कणटैला का छठा प्रकार, जो वहाँ नहीं कहा गया था, यहाँ कहा गया है। कल्लि० के अनुसार छन्दस्वती आदि में जो चौथा पाद (शिखापद) कहा गया है वह यहाँ भी समझना चाहिये और वह भी प्रासयुक्त होता है। इन चारों पादों में से हरेक में चार-चार यतियाँ (विच्छेद) होनी चाहियें। वर्णैला के समान 'अन्य सब' कहने का अर्थ है कि जैसे वर्णैला में राग, रस, रीति, वृत्ति, देवताओं का नियम नहीं होता उसी तरह यहाँ भी उनका नियम नहीं होता। ऐसी विशेषता वाली 'वस्त्वेला' होती है।

वस्त्वेला भेद का दुगना कर देने पर ५ प्रकार की एलाओं में से हरेक के पहले कहे गए २०-२० भेद (२० × २ =) ४० होते हैं। इन सभी एलाओं के कुल मिला कर (५ × ४० =) २०० भेद हुए।

षट्पञ्चाशद्युतं प्रोक्तमित्येलानां शतत्रयम्॥ १३१॥
अनन्तत्वात्तु संकीर्णा न संख्याति हरप्रियः।

१३१ ग-१३२ ख. (अ०) एलानां एलाओं के (भेदों को) षट्पञ्चाशत्-युतं शतत्रयं छप्पन युक्त तीन सौ (३५६) प्रोक्तं कहा गया (है)। अनन्तत्वात् तु अनन्तता होने से तो हरप्रियः शिव का प्रिय (शार्ङ्गदेव) संकीर्णाः न संख्याति संकीर्ण (भेद) नहीं गिनाता है (अर्थात् शार्ङ्गदेव ने नहीं कहे)।

(सर०) एलाभेदों की ३५६ संख्या दोनों टीकाकारों ने अलग-अलग तरह से गिनाई है।

सिंह० के अनुसार—

शुद्धा एला		४
विकृता एला		१०८
मात्रैला		२०
वर्णैला		२४
वर्णमात्रैला		१२
देशैला		१०
कर्णाटैला	६	
अन्य देशैला	४	
कुल		१७८
सभी के २-२ छन्दस्वती भेद		१७८ × २ = ३५६

कल्लि० के अनुसार—

शुद्धा गणैला		४
विकृता गणैला		१०८
मात्रैला		२०
वर्णैला		२४
देशैला—		२००
कर्णाटी	४०	
लाटी	४०	
गौडी	४०	
आन्ध्री	४०	
द्राविडी	४०	
कुल		३५६

मिश्र (संकीर्ण) भेद अनन्त हो सकते हैं इसलिये उनकी संख्या नहीं दी जा सकती।

कल्लि० ने निर्युक्त आदि, धातुसंख्या और अंगसंख्या के अनुसार भी एला का विवरण दिया है। एला में ताल आदि का नियम होने से निर्युक्त प्रबन्ध है। मेलापक हो तो चतुर्धातु और न हो तो त्रिधातु तथा ताल और पद—इन दो अंगों से बँधा हाने से तारावली जाति का है।

नाट्य की तरह एला में रस, रीति, वृत्ति, देवता आदि के विनियोग और पुरुषार्थों से संबन्ध से इस प्रबन्ध के नाट्य के साथ कुछ संबन्ध का संकेत मिलता है लेकिन ग्रन्थकार ने ऐसा कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। इसमें गण, मात्रा और वर्ण आदि और प्रास आदि का कड़ा नियम, धातु संबन्धी निर्देश तथा ताल-लय-ग्रह आदि का नियम इसके स्वरूप को विशेषता प्रदान करता है। दूसरे प्रबन्धों की तुलना में यह काफ़ी बड़ा और कठिन प्रबन्ध है। प्रबन्धों में इसका सबसे पहले और इतने विस्तार से निरूपण इस बात का सूचक है कि यह सर्वोपरि प्रबन्ध था। प्रबन्धाध्याय की कुल ३८० में से ९९ कारिकाओं में अकेले एला प्रबन्ध का भेद-प्रभेदों सहित निरूपण इसका प्रमाण है।

कल्लि० के आधार पर एला के भेद-प्रभेद सारिणी के रूप में यहाँ दिये जा रहे हैं।

एला के भेद-प्रभेद

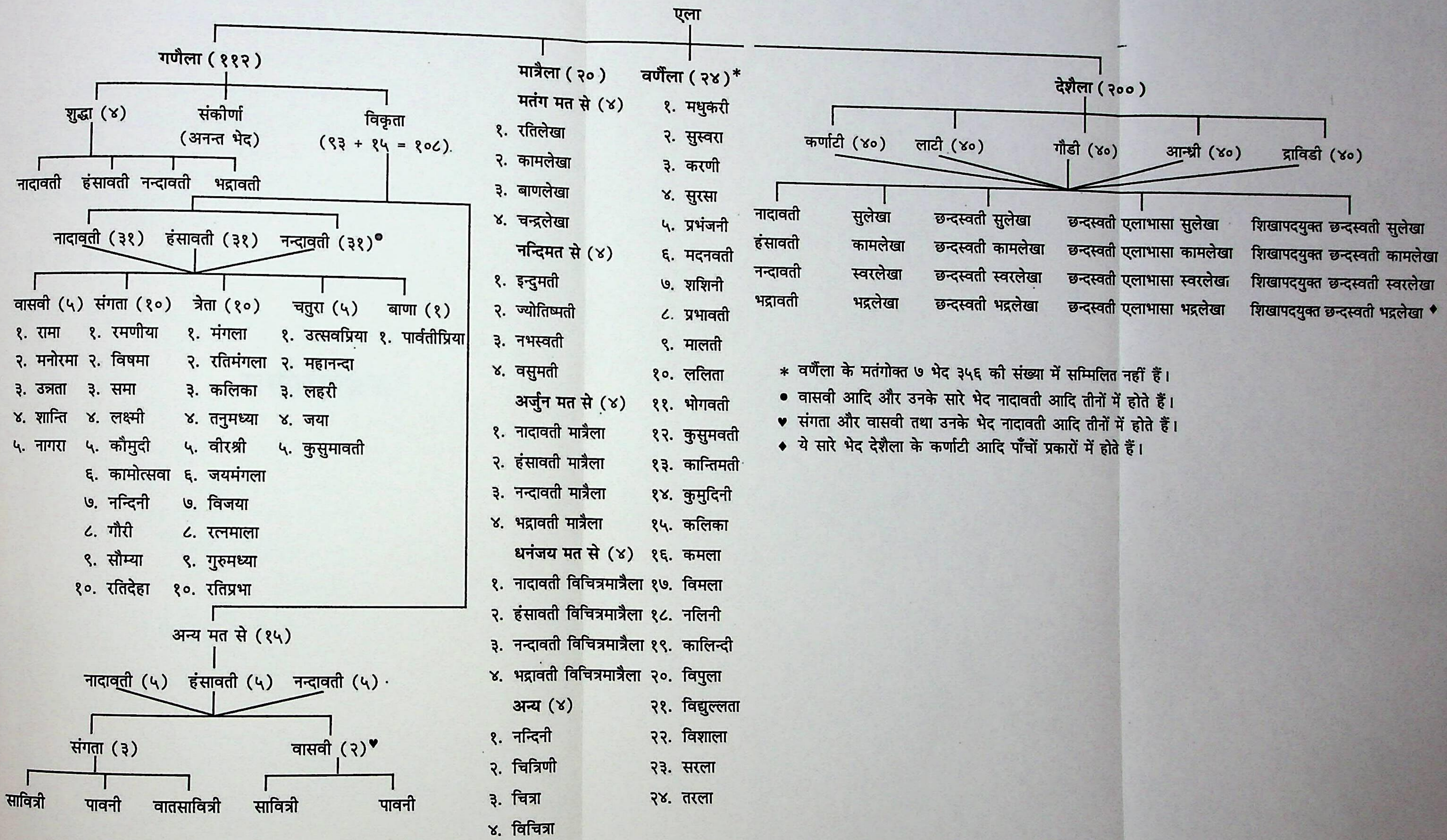

एला

- गणैला (११२)
  - शुद्धा (४)
    - नादावती
    - हंसावती
    - नन्दावती
    - भद्रावती
  - संकीर्णा (अनन्त भेद)
  - विकृता (९३ + १५ = १०८).
    - नादावती (३१) हंसावती (३१) नन्दावती (३१)●
      - वासवी (५)
        - १. रामा
        - २. मनोरमा
        - ३. उन्नता
        - ४. शान्ति
        - ५. नागरा
      - संगता (१०)
        - १. रमणीया
        - २. विषमा
        - ३. समा
        - ४. लक्ष्मी
        - ५. कौमुदी
        - ६. कामोत्सवा
        - ७. नन्दिनी
        - ८. गौरी
        - ९. सौम्या
        - १०. रतिदेहा
      - त्रेता (१०)
        - १. मंगला
        - २. रतिमंगला
        - ३. कलिका
        - ४. तनुमध्या
        - ५. वीरश्री
        - ६. जयमंगला
        - ७. विजया
        - ८. रत्नमाला
        - ९. गुरुमध्या
        - १०. रतिप्रभा
      - चतुरा (५)
        - १. उत्सवप्रिया
        - २. महानन्दा
        - ३. लहरी
        - ४. जया
        - ५. कुसुमावती
      - बाणा (१)
        - १. पार्वतीप्रिया
    - अन्य मत से (१५)
      - नादावती (५) हंसावती (५) नन्दावती (५)
        - संगता (३)
          - सावित्री
          - पावनी
          - वातसावित्री
        - वासवी (२)♥
          - सावित्री
          - पावनी
- मात्रैला (२०)
  - मतंग मत से (४)
    - १. रतिलेखा
    - २. कामलेखा
    - ३. बाणलेखा
    - ४. चन्द्रलेखा
  - नन्दिमत से (४)
    - १. इन्दुमती
    - २. ज्योतिष्मती
    - ३. नभस्वती
    - ४. वसुमती
  - अर्जुन मत से (४)
    - १. नादावती मात्रैला
    - २. हंसावती मात्रैला
    - ३. नन्दावती मात्रैला
    - ४. भद्रावती मात्रैला
  - धनंजय मत से (४)
    - १. नादावती विचित्रमात्रैला
    - २. हंसावती विचित्रमात्रैला
    - ३. नन्दावती विचित्रमात्रैला
    - ४. भद्रावती विचित्रमात्रैला
  - अन्य (४)
    - १. नन्दिनी
    - २. चित्रिणी
    - ३. चित्रा
    - ४. विचित्रा
- वर्णैला (२४)*
  - १. मधुकरी
  - २. सुस्वरा
  - ३. करणी
  - ४. सुरसा
  - ५. प्रभंजनी
  - ६. मदनवती
  - ७. शशिनी
  - ८. प्रभावती
  - ९. मालती
  - १०. ललिता
  - ११. भोगवती
  - १२. कुसुमवती
  - १३. कान्तिमती
  - १४. कुमुदिनी
  - १५. कलिका
  - १६. कमला
  - १७. विमला
  - १८. नलिनी
  - १९. कालिन्दी
  - २०. विपुला
  - २१. विद्युल्लता
  - २२. विशाला
  - २३. सरला
  - २४. तरला
- देशैला (२००)
  - कर्णाटी (४०) लाटी (४०) गौडी (४०) आन्ध्री (४०) द्राविडी (४०)
    - नादावती
    - हंसावती
    - नन्दावती
    - भद्रावती
    - सुलेखा
    - कामलेखा
    - स्वरलेखा
    - भद्रलेखा
    - छन्दस्वती सुलेखा
    - छन्दस्वती कामलेखा
    - छन्दस्वती स्वरलेखा
    - छन्दस्वती भद्रलेखा
    - छन्दस्वती एलाभासा सुलेखा
    - छन्दस्वती एलाभासा कामलेखा
    - छन्दस्वती एलाभासा स्वरलेखा
    - छन्दस्वती एलाभासा भद्रलेखा
    - शिखापदयुक्त छन्दस्वती सुलेखा
    - शिखापदयुक्त छन्दस्वती कामलेखा
    - शिखापदयुक्त छन्दस्वती स्वरलेखा
    - शिखापदयुक्त छन्दस्वती भद्रलेखा ◆

* वर्णैला के मतंगोक्त ७ भेद ३५६ की संख्या में सम्मिलित नहीं हैं।

● वासवी आदि और उनके सारे भेद नादावती आदि तीनों में होते हैं।

♥ संगता और वासवी तथा उनके भेद नादावती आदि तीनों में होते हैं।

◆ ये सारे भेद देशैला के कर्णाटी आदि पाँचों प्रकारों में होते हैं।

संगीतरत्नाकर

(२. करणम्)

अष्टधा करणं तत्र स्वराद्यं पाटपूर्वकम्॥ १३२॥

बन्धादिमं पदाद्यं च तेनाद्यं बिरुदादिमम्।
चित्राद्यं मिश्रकरणमित्येषां लक्ष्म कथ्यते॥ १३३॥

२-करण

१३२ ग-१३३. (अ०) **करणम् अष्टधा** 'करण' (प्रबन्ध) आठ प्रकार से (होता है)। **तत्र** उनमें से **स्वर-आद्यं** (१) 'स्वर' से शुरू होने वाला, **पाटपूर्वकं** (२) 'पाट' पूर्व वाला, **बन्ध-आदिमम्** (३) आदि में 'बन्ध' वाला, **पद-आद्यं** (४) पहले 'पद' वाला, **तेन-आद्यं** (५) शुरू में 'तेन' वाला, **बिरुद-आदिमम्** (६) आदि में 'बिरुद' वाला, **चित्र-आद्यं** (७) 'चित्र' से शुरू होने वाला (और) **मिश्रकरणम् इति** (८) 'मिश्रकरण' ये (८ करण हैं)। **एषां लक्ष्म** इनके लक्षण **कथ्यते** कहे जा रहे हैं।

(सर०) दूसरे अध्याय में (२/२६) करण और वर्तनी प्रबन्धों की कुछ चर्चा की जा चुकी है। वहाँ सिर्फ़ स्वरकरण आया है। यहाँ सारे भेदों सहित करण प्रबन्ध का लक्षण-निरूपण किया जा रहा है।

आठ करण ये हैं—स्वरकरण, पाटकरण, बन्धकरण, पदकरण, तेनकरण, बिरुदकरण, चित्रकरण और मिश्रकरण। इनमें प्रबन्धों के स्वर, पद आदि ६ अंगों में से ताल को छोड़ कर ५ अंगों के द्वारा ५ भेद हैं।

(स्वरकरणम्)

यत्रोद्ग्राहध्रुवौ सान्द्रस्वरबद्धौ पदैः पुनः।
आभोगस्तत्र नाम स्याद्गातृनेत्रोर्ग्रहः पुनः॥ १३४॥

इष्टस्वरेंऽशे न्यासः स्याद्रासस्तालो द्रुतो लयः।
करणं स्वरपूर्वं तत् तद्वदन्यान्यपि स्फुटम्॥ १३५॥

किन्तु तेषां स्वरस्थाने भेदकानि प्रचक्ष्महे।

(१) स्वरकरण

१३४-१३६ ख. (अ०) **यत्र** जहाँ **उद्ग्राह-ध्रुवौ** उद्ग्राह और ध्रुव **सान्द्रस्वरबद्धौ** घन स्वरों से बद्ध (हों), **पुनः** फिर **पदैः आभोगः** पदों से आभोग (हो), **तत्र** उस (आभोग) में **गातृ-नेत्रोः** वाग्गेयकार और नेता (वर्ण्य नायक) का **नाम स्यात्** नाम होता है **पुनः** और **ग्रहः** ग्रहण (गीत की 'उठान') **इष्टस्वरे** इच्छित स्वर पर (हो), **अंशे** अंश (स्वर) पर **न्यासः स्यात्** न्यास (गीत की समाप्ति) हो, **रासः तालः** रास ताल, **द्रुतः लयः** द्रुत लय (हो) **तत्** वह **स्वरपूर्वं करणं** स्वरपूर्व करण ('स्वरकरण', होता है)।

तद्वत् उसी के समान **अन्यानि अपि** अन्य (भेद) भी **स्फुटं** स्पष्ट (हैं)। **किन्तु** लेकिन **तेषाम्** उन (उद्ग्राह और ध्रुव) के **स्वरस्थाने** स्वर के स्थान पर **भेदकानि** भेद **प्रचक्ष्महे** कहते हैं।

(सर०) करण के आठ प्रकारों में उद्ग्राह और ध्रुव की पदरचना भिन्न होती है, बाक़ी सारे लक्षण एकसे होते हैं। स्वरकरण का उद्ग्राह और ध्रुव 'स्वर' नामक अंग से बद्ध होता है।

आदिताल ही रासताल कहलाता है जिसमें एक लघु होता है।

(पाटकरणम्)

स्वरैः सहस्तपाटैस्तु स्यात् पाटकरणं ध्रुवम्॥ १३६॥
क्रमव्यत्यासभेदेन तद् द्विधा परिकीर्तितम्।

(२) पाटकरण

१३६ ग-१३७ ख. (अ०) **स्वरैः** स्वरों से (उद्ग्राह और) **स-हस्तपाटैः तु ध्रुवं** हस्तपाटों के सहित ध्रुव होने से तो **पाटकरणं स्यात्** 'पाटकरण' होता है। **क्रमव्यत्यासभेदेन** क्रम और व्यत्यास के भेद से **तत्** वह (पाटकरण) **द्विधा** दो प्रकार से **परिकीर्तितं** जाना गया (है)।

(सर०) पाटकरण का उद्ग्राह तो स्वरकरण की तरह स्वर अंग से युक्त होता है लेकिन ध्रुव हस्तपाटों के रूप में पाट अंग से युक्त होता है। इनका क्रम बदल कर यानी उद्ग्राह में हस्तपाट और ध्रुव में स्वर का प्रयोग करने से पाटकरण दो प्रकार का होता है। सिंह० ने इन प्रकारों को क्रमपाटकरण और व्यत्यस्तपाटकरण कहा है।

हस्तपाट अवनद्ध वाद्यों पर हाथों से उत्पन्न किए जाने वाले अक्षरसमूह हैं जिनका निरूपण वाद्याध्याय में होगा।

(बन्धकरणम्)

स्वरैर्मुरजपाटैर्यत् तद्बन्धकरणं मतम्॥ १३७॥

(३) बन्धकरण

१३७ ग-घ. (अ०) **यत्** जो **स्वरैः** स्वरों से (और) **मुरजपाटैः** मुरज के पाटों से (बद्ध हो) **तत्** वह **बन्धकरणं मतं** 'बन्धकरण' माना गया (है)।

(सर०) उद्ग्राह स्वर अंग से और ध्रुव मुरज नामक अवनद्ध वाद्य के पाटों से बद्ध होने पर 'बन्धकरण' कहलाता है।

(पदकरणम्)

स्वरैः पदैश्च बद्धं यत् करणं तत् पदादिमम्।

(४) पदकरण

१३८ क-ख. (अ०) **यत्** जो **स्वरैः पदैः च बद्धं** स्वरों और पदों से बद्ध (हो) **तत्** वह **पद-आदिमं करणं** पद से आरम्म होने वाला करण ('पदकरण', होता है)।

(सर०) उद्ग्राह स्वरों से और ध्रुव पदों (सार्थक शब्दों) से रचित हो तो 'पदकरण' कहलाता है।

(बिरुदकरणम्)

यत् स्वरैर्बिरुदैर्बद्धं करणं बिरुदादि तत्॥ १३८॥

(५) बिरुदकरण

१३८ ग-घ. (अ०) **यत्** जो **स्वरैः बिरुदैः बद्धं** स्वरों (और) बिरुदों से बँधा (हो) **तत्** वह **बिरुद-आदिकरणं** बिरुद से आरम्भ होने वाला करण ('बिरुदकरण', होता है)।

(सर०) उद्गाह स्वरों से और ध्रुव बिरुदों से बद्ध होने पर 'बिरुदकरण' होता है।

(तेनकरणम्)

स्वैः सतेनकैर्यत्तु तत् तेनकरणं मतम्।

(६) तेनकरण

१३९ क-ख. (अ०) **यत्** जो **स्वैः सतेनकैः** स्वरों से और तेनकों के सहित (हो) **तत् तु** वह तो **तेनकरणं मतं** 'तेनकरण' माना गया (है)।

(सर०) अन्य प्रकारों की तरह उद्ग्राह स्वरों से हो और ध्रुव तेनकों से युक्त हो तो 'तेनकरण' होता है।

(चित्रकरणम्)

स्वैः सकरपाटैर्यन्निबद्धं मुरजाक्षरैः॥ १३९॥
पदैस्तच्चित्रकरणमभिधत्ते हरप्रियः।

(७) चित्रकरण

१३९ ग-१४० ख. (अ०) **यत्** जो **स्वैः** स्वरों से **स-करपाटैः मुरजाक्षरैः** हस्तपाटों के सहित मुरज के अक्षरों से (और) **पदैः निबद्धं** पदों से निबद्ध (हो) **तत्** वह (उसे) **हरप्रियः** शिव का प्रिय (शार्ङ्गदेव) **चित्रकरणं अभिधत्ते** चित्रकरण कहता है।

(सर०) उद्ग्राह स्वर और हस्तपाटों से तथा ध्रुव मुरज के अक्षरों और पदों से बँधा होने पर 'चित्रकरण' कहलाता है।

(मिश्रकरणम्)

स्यान्मिश्रकरणं बद्धं स्वैः पाटैः सतेनकैः॥ १४०॥

(८) मिश्रकरण

१४० ग-घ. (अ०) **मिश्रकरणं** 'मिश्रकरण' **स्वैः पाटैः सतेनकैः** स्वरों, पाटों (और) तेनकों से **बद्धं स्यात्** बद्ध होता है।

(सर०) उद्ग्राह और ध्रुव दोनों स्वर, पाट और तेनकों से रचित हों तो 'मिश्रकरण' होता है।

कल्लि० ने ध्रुव की रचना के आधार पर करणभेदों में अन्तर किया है जब कि सिंह० ने ऐसा अन्तर नहीं कहा है। जैसे कल्लि० ने तेनकरण में उद्ग्राह स्वर से ही कहा है लेकिन ध्रुव तेनकों से बद्ध कहा; सिंह० ने सामान्य रूप से स्वर और तेनकों से बद्ध कहा है।

कल्लि० ने 'तिलतण्डुल' और 'क्षीरनीर' न्यायों के द्वारा चित्रकरण और मिश्रकरण में अन्तर दिखाया है। संकर अथवा मिश्रण इन दोनों प्रकारों से हो सकता है। एक में मिश्र वस्तुओं का अलग-अलग स्वरूप बना रहता है जैसे तिल और चावल मिला देने पर भी अलग-अलग दिखाई देते हैं। दूसरे प्रकार के मिश्रण में मिश्रित वस्तुओं का स्वरूप अलग-अलग नहीं रहता, वे मिल कर एकरूप हो जाती हैं, जैसे दूध और पानी। कल्लि० ने चित्रकरण में पहले प्रकार का और मिश्रकरण में दूसरे प्रकार का मिश्रण कहा है। हालाँकि आशय बहुत स्पष्ट नहीं है क्योंकि स्वर, हस्तपाट, मुरजपाट और तेनक एक दूसरे से इतने भिन्न हैं कि दूध और पानी की तरह का मिश्रण उनमें संभव नहीं है। शायद कल्लि० का आशय यह है कि चित्रकरण में स्वर आदि अंग मिले-जुले नहीं होते, अलग-अलग रहते हैं और मिश्रकरण में स्पष्टतः अलग-अलग न रह कर मिले-जुले होते हैं।

मङ्गलारम्भ आनन्दवर्धनं कीर्तिपूर्विका।
लहरीति त्रिधा तानि प्रत्येकं गानभेदतः॥ १४१॥

१४१. (अ०) **तानि प्रत्येकं** वे (उनमें से) हरेक **गानभेदतः** गाने के भेद से **मङ्गलारम्भः आनन्दवर्धनं** मंगलारम्भ, आनन्दवर्धन (और) **कीर्तिपूर्विका लहरी** कीर्तिपूर्वक लहरी (अर्थात् कीर्तिलहरी) **इति त्रिधा** यों तीन प्रकार से (होते हैं)।

(सर०) उद्ग्राह, ध्रुव और आभोग को गाने में भिन्नता से आठों करणों के मंगलारम्भ, आनन्दवर्धन और कीर्तिलहरी—ये ३-३ भेद होते हैं।

करण के आठ प्रकारों में रचना का और इन तीन प्रकारों में गाने का भेद है।

(मङ्गलारम्भः)

द्विरुद्ग्राहं ध्रुवाभोगौ सकृद्गीत्वा पुनः सकृत्।
गीयेते चेद्ध्रुवोद्ग्राहौ मङ्गलारम्भकस्तदा॥ १४२॥

(अ) मंगलारम्भ

१४२. (अ०) **उद्ग्राहं द्विः** उद्ग्राह दो बार, **ध्रुव-आभोगौ सकृत् गीत्वा** ध्रुव और आभोग एक बार गाकर **पुनः** फिर से **चेत् ध्रुव-उद्ग्राहौ** यदि ध्रुव और उद्ग्राह **सकृत्** एक बार **गीयेते** गाया जाता है **तदा** तो **मङ्गलारम्भकः** 'मंगलारम्भ' (होता है)।

(आनन्दवर्धनः)

उद्ग्राहध्रुवकौ प्राग्वद्ध्रुवार्धं पश्चिमं ततः।
आभोगध्रुवकोद्ग्राहाः सकृदानन्दवर्धने॥ १४३॥

(आ) आनन्दवर्धन

१४३. (अ०) **आनन्दवर्धने** 'आनन्दवर्धन' में **उद्ग्राह-ध्रुवकौ प्राक्वत्** उद्ग्राह और ध्रुव पहले की तरह (अर्थात् उद्ग्राह दो बार और ध्रुव एक बार) **ततः** तब **ध्रुव-अर्धं पश्चिमं** ध्रुव का बाद का आधा (उत्तरार्ध), **आभोग-ध्रुवक-उद्ग्राहाः सकृत्** आभोग, ध्रुव और उद्ग्राह एक(-एक) बार (गाए जाते हैं)।

(कीर्तिलहरी)

उद्ग्राहस्य द्वितीयार्धं ध्रुवार्धस्थानगं यदि।
इतरत् पूर्ववत् कीर्तिलहरी कीर्तिता तदा॥ १४४॥

(इ) कीर्तिलहरी

१४४. (अ०) **यदि** अगर **ध्रुव-अर्धस्थानगं** ध्रुव के (उत्तर) अर्ध के स्थान पर **उद्ग्राहस्य द्वितीय-अर्धं** उद्ग्राह का दूसरा (उत्तर) अर्ध (हो और) **इतरत् पूर्ववत्** शेष सब पूर्ववत् (हो) **तदा** तो **कीर्तिलहरी कीर्तिता** कीर्तिलहरी प्रसिद्ध हुई (है)।

(सर०) इसके अनुसार उद्ग्राह दो बार, ध्रुव एक बार, फिर उद्ग्राह का द्वितीयार्ध, आभोग, ध्रुव और उद्ग्राह एक-एक बार गाने से कीर्तिलहरी होती है।

करण में मेलापक न होने से त्रिधातु प्रबन्ध है। तालादि का नियम होने से निर्युक्त है। स्वर आदि छहों अंगों से बद्ध होने से मेदिनी जाति वाला है।

(३. ढेङ्की)

द्विर्गीत्वोद्ग्राहपूर्वार्धमुत्तरार्धं सकृत् ततः।
मेलापकः प्रयोगात्मा न वा स्यात्तावुभावपि॥ १४५॥

अतालौ ढेङ्किकाताले कङ्काले वा विलम्बिते।
लयान्तरेऽन्यतालेन ध्रुवाभोगौ ध्रुवस्त्विह॥ १४६॥

त्रिखण्डस्तत्र खण्डे द्वे गीयेते समधातुनी।
तृतीयमुच्चमेष द्विराभोगस्तु सकृत् ततः॥ १४७॥

पुनर्गीत्वा ध्रुवे न्यासो यस्यां सा ढेङ्किका मता।

३-ढेङ्की

१४५-१४८ ख. (अ०) **उद्ग्राहपूर्वार्धं द्विः गीत्वा** उद्ग्राह का पूर्वार्ध दो बार गाकर **उत्तरार्धं सकृत्** उत्तरार्ध एक बार, **ततः** तब **प्रयोगात्मा मेलापकः** 'प्रयोग' रूप मेलापक **न वा** हो या न हो, **तौ उभौ अपि** वे दोनों ही (उद्ग्राह और मेलापक हो तो वह) **अतालौ** तालरहित (अथवा) **विलम्बिते ढेङ्किकाताले कङ्काले वा** विलंबित ढेंकी अथवा कंकाल ताल में **स्यात्** होता है। **लयान्तरे अन्यतालेन** अन्य लय में अन्य ताल से **ध्रुव-आभोगौ** ध्रुव और आभोग (हों), **इह** यहाँ **ध्रुवः तु** ध्रुव तो **त्रिखण्डः** तीन खण्ड वाला (होता है)। **तत्र** उनमें से **द्वे खण्डे** दो खण्ड **समधातुनी** समान (एक सी) धातु (स्वरयोजना) वाले (और) **तृतीयम् उच्चं** तीसरा ऊँची (धातु में) **एषः द्विः** यह (पूरा ध्रुव) दो बार, **ततः** तब **आभोगः तु सकृत्** आभोग तो एक बार, **पुनः गीत्वा** (पूरा प्रबन्ध) दुबारा गाकर **यस्यां** जिसमें **ध्रुवे न्यासः** ध्रुव में समाप्ति (हो) **सा** वह **ढेङ्किका मता** 'ढेंकी' मानी गई (है)।

(सर०) ढेंकी में मेलापक 'प्रयोग' वाला यानी गमकालप्ति रूप होता है और वह विकल्प से होता है। कल्लि० का पाठ **ध्रुवे न्यासः** है और उसने यह अर्थ किया है कि पूरा प्रबन्ध दुबारा गाकर ध्रुवखण्ड के शुरू में समाप्त करना चाहिये। सिंह० ने 'ध्रुवं न्यासः' पाठ के आधार पर यह व्याख्या की है कि ध्रुव को फिर से गाकर समाप्त करना चाहिये। दोनों टीकाओं में अन्तर यह है कि कल्लि० के अनुसार आभोग तक पूरा प्रबन्ध दो बार गाकर ध्रुव के शुरू में समाप्त होगा और सिंह० के आधार पर आभोग तक पूरा प्रबन्ध सिर्फ़ एक बार गाकर फिर ध्रुव को दो बार गाकर ध्रुव के अन्त में समाप्ति होनी चाहिये।

ढेंकी ताल गुरु, लघु, गुरु से होता है।

चतुर्धा ढेङ्किका मुक्तावली स्याद् वृत्तबन्धिनी॥ १४८॥

युग्मिनी वृत्तमाला च तासां लक्ष्माण्यमून्यथ।
अभावश्छन्दसां वृत्तं वृत्ते वृत्तानि च क्रमात्॥ १४९॥

त्रिधा तिस्रो द्वितीयाद्या वर्णिका गणिका तथा।
मात्रिका वर्णजैर्वृत्तैर्गणजैर्मात्रिकैरपि॥ १५०॥

१४८ ग-१५०. (अ०) **ढेङ्किका** ढेंकी **चतुर्धा स्यात्** चार प्रकार से होती है—**मुक्तावली वृत्तबन्धिनी युग्मिनी वृत्तमाला च** मुक्तावली, वृत्तबन्धिनी, युग्मिनी और वृत्तमाला। **अथ** अब **तासां च** उनके तो **अमूनि लक्ष्माणि** ये लक्षण (हैं)— **क्रमात्** क्रम से **छन्दसाम् अभावः** छन्दों का अभाव (अर्थात् छन्दरहित), **वृत्तं** एक छन्द, **वृत्ते** दो छन्दों **वृत्तानि च** और कई छन्दों वाली। **द्वितीय-आद्याः तिस्रः** दूसरी से शुरू करके तीन (अर्थात् वृत्तबन्धिनी, युग्मिनी और वृत्तमाला) **वर्णजः** वर्णों से उत्पन्न,

गणजैः वृत्तैः गणों से उत्पन्न वृत्तों से **मात्रिकैः अपि** और मात्रिक (वृत्तों) से **वर्णिका गणिका तथा मात्रिका** वर्णिका, गणिका और मात्रिका (यों) **त्रिधा** तीन प्रकार से (होती हैं)।

(सर०) चारों भेदों के नाम अन्वर्थ हैं। 'मुक्त' यानी छन्दरहित, 'वृत्तबन्धिनी' एक वृत्त में बँधी, 'युग्मिनी' जोड़े से यानी दो छन्दों से और 'वृत्तमाला' वृत्तों की लड़ी यानी कई वृत्तों से।

वृत्तमाला के अलावा तीनों ३-३ प्रकार की होती हैं। वर्णसंख्या पर आधारित 'वर्णजा', वर्णगणों से निबद्ध 'गणिका' और केवल मात्रासंख्या पर आधारित 'मात्रिका' कहलाती हैं। कल्लि० ने तीनों प्रकार के एक-एक छन्द के लक्षण उद्धृत किये हैं।

इस तरह मुक्तावली और ऊपर कहे गए ९ भेदों को मिला कर १० प्रकार की ढेंकी हुई।

दशापि स्युः पुनस्त्रेधा समालङ्करणा तथा।
विषमालङ्कृतिश्चित्रालङ्कृतिर्लक्षणानि तु॥ १५१॥
समालङ्कारसंख्या च विषमा मिश्रिता क्रमात्।

१५१-१५२ ख. (अ०) **दश-अपि** दसों **पुनः त्रेधा स्युः** फिर से तीन प्रकार की होती हैं—**समालङ्करणा विषमालङ्कृतिः तथा चित्रालङ्कृतिः** समालंकरणा, विषमालंकृति और चित्रालंकृति। **लक्षणानि तु** लक्षण तो **क्रमात्** क्रम से **समा विषमा मिश्रिता च** सम, विषम और मिश्रित **अलङ्कारसंख्या** अलंकारों की संख्या (है)।

(सर०) ये अंवान्तर भेद प्रासादि और उपमादि अलंकारों की संख्या के आधार पर बनाए गए हैं। सम यानी २ और उसकी गुणित संख्या, विषम यांनी ३ और उसकी गुणित संख्या तथा मिश्र यानी उक्त दोनों का मिश्रण होने से यानी कहीं सम और कहीं विषम संख्या में छन्द होने पर—यों क्रम से समालंकरणा, विषमालंकृति और चित्रालंकृति भेद होते हैं। पूर्वोक्त १० को ३ से गुणा करने से ढेंकी के कुल ३० भेद बनते हैं।

कल्लि० ने ढेंकी को छन्द, ताल आदि का नियम होने से निर्युक्त, मेलापक में विकल्प होने से चतुर्धातु या त्रिधातु और पद, ताल से बद्ध होने से द्वयंग तारावली जाति का प्रबन्ध कहा है।

(४. वर्तनी)

स्वराद्यकरणस्येव वर्तन्या लक्ष्म किन्त्विह॥ १५२॥

रासकादन्यतालः स्याल्लयो ज्ञेयो विलम्बितः।
द्विरुद्ग्राहो ध्रुवाभोगौ सकृन्मोक्षो ध्रुवे भवेत्॥ १५३॥

४-वर्तनी

१५२ ग-१५३. (अ०) **स्वर-आदिकरणस्य इव** स्वरकरण के समान **वर्तन्याः लक्ष्म** वर्तनी के लक्षण (होते हैं)। **किन्तु इह** लेकिन यहाँ (वर्तनी में) **रासकात् अन्य तालः स्यात्** रासक से भिन्न (कोई) ताल होता है, **लयः विलम्बितः ज्ञेयः** लय विलंबित जानी जाती है, **द्विः उद्ग्राहः** दो बार उद्ग्राह, **ध्रुव-आभोगौ सकृत्** ध्रुव और आभोग एक बार (गाकर) **ध्रुवे** ध्रुव में **मोक्षः भवेत्** समाप्ति होती है।

(सर०) स्वरकरण प्रबन्ध में उद्ग्राह और ध्रुव स्वरबद्ध और आभोग पदबद्ध—ये जो लक्षण कहे गए वे वर्तनी में भी होते हैं। अन्य लक्षणों में जो भिन्नता होती है वह कारिका में कही गई है।

कङ्काले प्रतिताले च कुडुक्के द्रुतमण्ठके।
रचिता चेत् तदा ज्ञेया वर्तन्येव विवर्तनी॥ १५४॥

१५४. (अ०) कङ्काले प्रतिताले कुडुक्के द्रुतमण्ठके च कंकाल, प्रतिताल, कुडुक्क और द्रुत मण्ठ में (से किसी एक में) **रचिता चेत्** यदि रचित (हो) **तदा** तो **वर्तनी एव** वर्तनी ही **विवर्तनी** विवर्तनी **ज्ञेया** जानी गई है।

(सर०) कुडुक्क ताल में दो द्रुत और दो लघु होते हैं। द्रुतमण्ठ मण्ठताल का एक भेद है।

वर्तनी ताल आदि के नियम से युक्त होने से निर्युक्त, मेलापक न होने से त्रिधातु और स्वर, पद, ताल—इन तीन अंगों से बद्ध भावनी जाति का प्रबन्ध है।

(५. झोम्बडः)

द्विर्यत्रोद्ग्राहपूर्वार्धमुत्तरार्धं सकृत् ततः।
मेलापकः प्रयोगाद्यः स वा स्याद् द्विस्ततो ध्रुवः॥ १५५॥
आभोगं तु सकृद्गीत्वा ध्रुवे न्यासः स झोम्बडः।

५-झोम्बड

१५५-१५६ ख. (अ०) यत्र जिसमें **उद्ग्राहपूर्वार्धं द्विः** उद्ग्राह का पूर्वार्ध दो बार, **उत्तरार्धं सकृत्** उत्तरार्ध एक बार, **ततः** तब **प्रयोग-आद्यः मेलापकः** 'प्रयोग' से संपन्न मेलापक, **स वा** वह हो या न हो, **ततः** तब **ध्रुवः द्विः स्यात्** ध्रुव दो बार होता है, **आभोगं तु** आभोग तो **सकृत् गीत्वा** एक बार गाकर **ध्रुवे न्यासः** ध्रुव में समाप्त (होता है) **सः झोम्बडः** वह 'झोम्बड' (है)।

(सर०) झोम्बड में उद्ग्राह दो खण्ड वाला होता है जिसमें से पूर्वार्ध को दो बार और उत्तरार्ध को एक बार गाया जाता है।

निःसारुकः कुडुक्कश्च त्रिपुटप्रतिमण्ठकौ॥ १५६॥

द्वितीयो गारुगी रासयतिलग्नाड्डुतालिकाः।
एकतालीत्यमी ताला झोम्बडे नियता दश॥ १५७॥

केचिन्मण्ठमपीच्छन्ति नैष लक्ष्येषु लक्ष्यते।

१५६ ग-१५८ ख. (अ०) निःसारुकः कुडुक्कः च निःसारु और कुडुक्क, **त्रिपुट-प्रतिमण्ठकौ** त्रिपुट और प्रतिमण्ठ, **द्वितीयः गारुगिः** द्वितीय, गारुगि, **रास-यतिलग्न-अड्डुतालिकाः** रास, यतिलग्न और अड्डुताली, **एकताली** एकताली **इति अमी दश तालाः** इस प्रकार ये दस ताल **झोम्बडे नियताः** झोम्बड में नियत हैं। **केचित्** कुछ (आचार्य) **मण्ठम् अपि इच्छन्ति** मण्ठ की भी इच्छा करते हैं (किन्तु) **एष** यह **लक्ष्येषु** लक्ष्यों में **न लक्ष्यते** दिखाई नहीं देता।

(सर०) उक्त १० तालों में से किसी एक ताल में 'झोम्बड' निबद्ध होता है।

निःसारुक ताल में दो लघुओं में से दूसरा 'विराम' युक्त होता है। त्रिपुट में दो द्रुत, दो लघु होते हैं। प्रतिमण्ठ में सगण (।।ऽ) या भगण (ऽ।।) होता है। गारुगि में चार द्रुत, अन्तिम विरामयुक्त है। यतिलग्न में द्रुत, लघु होता है। त्रिपुट ही अड्डुताली होता है। एकताली एक द्रुत वाला ताल है।

तारजोऽतारजश्चेति झोम्बडो द्विविधो मतः॥ १५८॥

तारो ध्वनिस्थानकं स्यात् तद्युक्तस्तारजो मतः।
स चतुर्धा स्थानकस्योद्ग्राहादिषु निवेशने॥ १५९॥

अतारजस्तारहीनः सर्वोऽप्येष द्विधा मतः।
त्रिधातुश्च चतुर्धातुरिति भूयो भवेद् द्विधा॥ १६०॥
प्रभूतगमकः स्तोकगमकश्चेत्यमी स्फुटाः।

१५८ ग-१६१ ख. (अ०) **तारजः अतारजः च इति** तारज और अतारज यों **झोम्बडः** झोम्बड **द्विविधः मतः** दो प्रकार से माना गया (है)। **तारः** 'तार' **ध्वनिस्थानकं स्यात्** ध्वनि का स्थान(-विशेष) होता है। **तत्-युक्तः** उस (तार ध्वनिस्थान) से युक्त **तारजः मतः** तारज माना गया (है)। **स्थानकस्य** (तार)स्थान का **उद्ग्राह-आदिषु** उद्ग्राह आदि में **निवेशने** निवेश करने पर **सः चतुर्धा** वह (तारज) चार प्रकार से (होता है)। **तारहीनः अतारजः** तारस्थान से रहित अतारज (होता है)। **एषः सर्वः अपि** यह सभी (प्रकार का झोम्बड) **त्रिधातुः चतुर्धातुः च** त्रिधातु और चतुर्धातु **इति द्विधा मतः** यों दो प्रकार से माना गया (है)। **भूयः** (सबको) मिला कर (अर्थात् सब) **प्रभूतगमकः** बहुत गमक वाला **स्तोकगमकः च** और कम गमक वाला **इति अमी** इस प्रकार ये **द्विधा स्फुटाः** दो प्रकार से स्पष्ट (हैं)।

(सर०) उद्ग्राह, मेलापक, ध्रुव और आभोग में से एक-एक का तारस्थान में प्रयोग होने से तारज झोम्बड चार प्रकार का होता है। अतारज तार प्रयोग के बिना होता है इसलिये एक प्रकार का ही होता है। इस तरह ५ चतुर्धातु भेद हुए। मेलापक न हो तो तीन प्रकार का त्रिधातुक तारज और एक प्रकार का त्रिधातुक अतारज—ये ४ भेद त्रिधातुक हुए। कुल मिला कर ९ प्रकार का झोम्बड हुआ। ज्यादा और कम गमक प्रयोग के द्वारा ये सभी २-२ प्रकार के—इस तरह १८ भेद हुए।

कल्लि० ने कहा कि त्रिधातुक भेदों में मेलापक का अभाव होने पर भी उद्ग्राह और ध्रुव में अन्तर्भूत 'प्रयोग' के रूप में प्रभूत गमक दिखाई देती हैं इसलिये त्रिधातु और चतुर्धातु भेद कहने के द्वारा त्रिधातु झोम्बडों में भी 'प्रयोग' का विधान करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि मेलापक के रूप में अलग से 'प्रयोग' खण्ड न रहे लेकिन उद्ग्राह और ध्रुव का अंग होकर गमकों के द्वारा 'प्रयोग' का विधान होने से ही प्रभूतगमक वाला त्रिधातु भेद बनेगा।

प्रायोगिकः क्रमाख्यश्च ततः क्रमविलासकः॥ १६१॥
चित्रो विचित्रलीलश्चेत्यमी स्युः पञ्चधा पृथक्।
चतुराद्यष्टपर्यन्तं गणनिष्पादिताः क्रमात्॥ १६२॥

१६१ ग-१६२. (अ०) **चतुः आदि-अष्टपर्यन्तं** चार से शुरू करके आठ तक **गणनिष्पादिताः** गणों से निष्पादित **क्रमात्** क्रम से **प्रायोगिकः क्रम-आख्यः च** प्रायोगिक और क्रम नामक, **ततः** तब **क्रमविलासकः चित्रः विचित्रलीलः च** क्रमविलास, चित्र और विचित्रलील **इति अमी**—इस प्रकार ये **पृथक्** हरेक **पञ्चधा स्युः** पाँच प्रकार से होते हैं।

(सर०) ऊपर कहे गए १८ प्रकार के झोम्बडों में से हरेक गणों की संख्या के आधार पर फिर ५-५ प्रकार के होते हैं—४ गणों से 'प्रायोगिक', ५ गणों से 'क्रम', ६ से 'क्रमविलास', ७ से 'चित्र' और ८ से 'विचित्रलील'। इस प्रकार १८ × ५ = ९० झोम्बड भेद हुए।

यहाँ 'गण' से ग्रन्थकार को कौन से गण अभिप्रेत हैं इस पर दोनों टीकाकार मौन हैं। कुम्भा भी संगीतराज में मौन हैं।

मातृकः श्रीपतिस्तद्वत् सोमो रुचिरसंगतौ।
ते लक्ष्येष्वप्रवृत्तत्वादस्माभिर्न प्रपञ्चिताः॥ १६३॥

१६३. (अ०) **मातृकः श्रीपतिः** मातृक, श्रीपति **तद्वत्** उसी प्रकार **सोमः** सोम, **रुचिर-संगतौ** रुचिर और संगत **ते** वे (पाँच) **लक्ष्येषु** लक्ष्यों में **अप्रवृत्तत्वात्** प्रयुक्त न होने से **अस्माभिः** हमारे द्वारा **न प्रपञ्चिताः** निरूपित नहीं हुए।

विनियोगवशादेषां त्रयोदश भिदाः पृथक्।
उपमारूपकश्लेषैर्ब्रह्मा वीरविलासयोः॥ १६४॥

विष्णुश्चक्रेश्वरो वीरे बीभत्से चण्डिकेश्वरः।
नरसिंहोऽद्भुतरसे भैरवस्तु भयानके॥ १६५॥

हास्यशृङ्गारयोर्हंसः सिंहो वीरभयानके।
विप्रलम्भे तु सारङ्गः शेखरः करुणे रसे॥ १६६॥

सशृङ्गारे पुष्पसारः शृङ्गारे परिकीर्तितः।
रौद्रे प्रचण्डो नन्दीशः शान्ते धीरैरुदीरितः॥ १६७॥

१६४-१६७. (अ०) **विनियोगवशात्** (अलंकार और रसों के) विनियोग के वश से (अर्थात् विनियोग होने से) **एषाम्** इन (९० भेदों) के **पृथक् त्रयोदश भिदाः** अलग-अलग (अर्थात् हरेक के) तेरह भेद (होते हैं)। **धीरैः** धीरों के द्वारा **उपमा-रूपक-श्लेषैः ब्रह्मा** उपमा, रूपक और श्लेष (अलंकारों) के द्वारा ब्रह्मा, **वीर-विलासयोः विष्णुः** वीर और विलास (संभोग शृंगार) से विष्णु, **वीरे चक्रेश्वरः** वीर में चक्रेश्वर, **बीभत्से चण्डिकेश्वरः** बीभत्स में चण्डिकेश्वर, **अद्भुतरसे नरसिंहः** अद्भुत रस में नरसिंह, **भैरवः तु भयानके** भैरव तो भयानक में, **हास्य-शृङ्गारयोः हंसः** हास्य और शृंगार में हंस, **वीर-भयानके सिंहः** वीर और भयानक में सिंह, **विप्रलम्भे तु सारङ्गः** विप्रलम्भ (शृंगार) में तो सारंग, **सशृङ्गारे करुणे रसे शेखरः** शृंगारसहित करुण रस में शेखर, **शृङ्गारे पुष्पसारः प्रकीर्तितः** शृंगार में पुष्पसार जाना गया (है)। **रौद्रे प्रचण्डः** रौद्र में प्रचण्ड (और) **शान्ते नन्दीशः** शान्त में नन्दीश **उदीरितः** कहा गया (है)।

(सर०) उपमा और रूपक अर्थालंकार हैं और श्लेष शब्दालंकार। इनके लक्षण ये हैं। उपमा— *साधर्म्यमुपमा भेदे* (का० प्र०, १०, सूत्र १२५) अर्थात् उपमान और उपमेय का भेद होने पर उनके साधर्म्य (सादृश्य) का वर्णन उपमा है। जैसे—चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख। रूपक— *तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः* (वही, सूत्र १३९) अर्थात् उपमान और उपमेय का अभेद वर्णन रूपक है। जैसे—मुख ही चन्द्र है। श्लेष— *श्लेषः स वाक्ये एकस्मिन् यत्रानेकार्थता भवेत्* (वही, १०/९६, सूत्र १४७) अर्थात् जहाँ एक ही शब्द के कई अर्थ व्यक्त होते हैं वह श्लेष है। जैसे—राजा शब्द जो चन्द्र और राजा दोनों का वाचक है।

शृंगार आदि रसों का निरूपण नर्तनाध्याय में किया जायगा।

पहले कहे कए ९० भेदों में से हरेक को १३ से गुणा करने पर ११७० भेद झोम्बड के हुए।

गद्यजाः पद्यजा गद्यपद्यजा इति ते त्रिधा।
झोम्बडा इति संख्याता वियच्चन्द्रशराग्नयः॥ १६८॥

१६८. (अ०) **ते** वे (११७० भेद) **गद्यजाः** गद्यज, **पद्यजाः** पद्यज (और) **गद्यपद्यजाः इति त्रिधा** गद्यपद्यज यों तीन प्रकार से (होते हैं)। **इति** इस प्रकार **वियत्-चन्द्र-शर-अगनयः** (दाहिनी ओर से) शून्य, एक, पाँच और तीन **संख्याताः झोम्बडाः** संख्या वाले (अर्थात् ३५१०) झोम्बड (होते हैं)।

(सर०) सभी ११७० भेदों के फिर तीन-तीन भेद होते हैं—गद्य में रचित गद्यज, पद्यरचित पद्यज और गद्य-पद्य दोनों में रचित गद्यपद्यज। कुल मिला कर बनने वाले ११७० × ३ = ३५१० भेदों की संख्या **वियच्चन्द्रशराग्नयः** के द्वारा सूचित की गई है। 'वियत्' यानी शून्य, 'चन्द्र' १ संख्या का सूचक है, कामदेव के ५ बाण (शर) माने गए हैं इसलिये 'शर' ५ संख्या का सूचक है और याज्ञिकों में अग्नि तीन तरह की मानी जाती है इसलिये अग्नि ३ संख्या की सूचक है। सिंह० ने स्मरण दिलाया है कि अंकों की गति बाईं ओर से होती है इसलिये इन अंकों को बाईं और से लिखने पर ३५१० संख्या होती है।

कल्लि० के अनुसार झोम्बड ताल के नियम से युक्त होने से निर्युक्त, मेलापक में विकल्प होने से चतुर्धातु या त्रिधातु और पद तथा ताल—इन दो अंगों से बद्ध तारावली जाति का प्रबन्ध है।

(६. लम्भः)

उद्ग्राहो द्विः सकृद्वैकखण्डो द्विशकलोऽथवा।
यत्र ध्रुवो द्विर्वाभोगो ध्रुवे मुक्तिः स लम्भकः॥ १६९॥

६-लम्भ

१६९. (अ०) यत्र जिसमें **एकखण्डः अथवा द्विशकलः उद्ग्राहः** एक या दो खण्ड वाला उद्ग्राह **द्विः सकृत् वा** दो या एक बार, **ध्रुवः द्विः** ध्रुव दो बार, **वा आभोगः** आभोग विकल्प से (हो), **ध्रुवे मुक्तिः** ध्रुव में समाप्ति (हो) **सः लम्भकः** वह 'लम्भ' (प्रबन्ध है)।

(सर०) लम्भ में उद्ग्राह एक या दो खण्ड वाला हो सकता है और दोनों को दो या एक बार गाया जा सकता है। कल्लि० के अनुसार ध्रुव दो बार गाया जाता है, आभोग विकल्प से होता है और ध्रुव खण्ड के शुरू में समाप्त किया जाता है। सिंह० के अनुसार ध्रुव और आभोग एक या दो बार गाए जाते हैं और ध्रुव में समाप्ति होती है। इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि ध्रुव के शुरू में समाप्त होता है या अन्त में।

भागोऽस्मिञ्झोम्बडेऽप्यूर्ध्वं ध्रुवादुद्ग्राहसंनिभः।
ध्रुवाभोगध्रुवा गेयास्तत इत्यूचिरे परे॥ १७०॥

१७०. (अ०) **अस्मिन्** इस (लम्भ) में (और) **झोम्बडे अपि** झोम्बड में भी **ध्रुवात् ऊर्ध्वं** ध्रुव के बाद **उद्ग्राहसंनिभः भागः** उद्ग्राह जैसा एक अवयव, **ततः** तब **ध्रुव-आभोग-ध्रुवाः** ध्रुव, आभोग और ध्रुव **गेयाः** गाए जाने चाहियें **इति** ऐसा **परे ऊचिरें** अन्य (आचार्य) कहते हैं।

(सर०) इस कारिका का अर्थ सिंह० के अनुसार दिया है। कल्लि० की टीका कुछ भिन्न है। उसके अनुसार **ध्रुवात् ऊर्ध्वं** का अर्थ ध्रुव का द्वितीय भाग और **उद्ग्राहसंनिभः** का अर्थ उद्ग्राह के तुल्य धातु वाला है। तदनुसार ध्रुव का उत्तरार्ध उद्ग्राह जैसी धातु में गाना चाहिये। लेकिन **ध्रुवात् ऊर्ध्वम् उद्ग्राहसंनिभः भागः** की सिंह० की व्याख्या ज्यादा सही लगती है। इस प्रकार अन्य मत के अनुसार यह कहा गया है कि लम्भ और झोम्बड दोनों में ध्रुव के बाद उद्ग्राह जैसा ही एक और खण्ड गाना चाहिये।

उदग्राहस्तालशून्यश्चेत् स स्यादालापलम्भकः।
स प्रलम्भो ध्रुवस्थाने यत्रोद्ग्राहोऽन्यधातुकः॥ १७१॥

१७१. (अ०) **उद्ग्राहः** उद्ग्राह **चेत् तालशून्यः** यदि तालरहित (हो तो) **सः** वह **आलापलम्भकः स्यात्** आलापलम्भ होता है। **यत्र** जिसमें **ध्रुवस्थाने** ध्रुव के स्थान पर **अन्यधातुकः उद्ग्राहः** भिन्न धातु (स्वरयोजना) वाला उद्ग्राह (हो) **सः प्रलम्भः** वह प्रलम्भ (होता है)।

(सर०) यहाँ से लम्भ प्रबन्ध के ७ भेदों के लक्षण दिये हैं। ये भेद इस प्रकार हैं—आलापलम्भ, प्रलम्भ, भागलम्भ, लम्भपद, अनुलम्भ, उपलम्भ और विलम्भ। ताल न रहने पर रागालाप से समानता होने के कारण पहले भेद को आलापलम्भ कहा है।

उद्ग्राह गाने के बाद ध्रुव न गाकर उद्ग्राह को जिस मातु (शब्दरचना) से गाया गया उसी मातु को दुबारा भिन्न धातु से गाया जाय तो प्रलम्भ कहलाता है।

यत्र भागो भवेल्लम्भे भागलम्भः स भण्यते।
त्रिश्चतुष्पञ्चवारं वा भिन्नोद्ग्राहसमन्वितः॥ १७२॥

ध्रुवको गीयते यत्र स लम्भपदमुच्यते।

१७२-१७३ ख. (अ०) **यत्र लम्भे** जिस लम्भ में **भागः भवेत्** भाग होता है **सः** वह **भागलम्भः भण्यते** भागलम्भ कहा जाता है। **यत्र** जिसमें **भिन्न-उद्ग्राहसमन्वित ध्रुवकः** भिन्न उद्ग्राह से युक्त ध्रुव **त्रिः चतुः पञ्चवारं वा गीयते** तीन, चार या पाँच बार गाया जाता है **सः** वह **लम्भपदम् उच्यते** लम्भपद कहा जाता है।

(सर०) भागलम्भ पर दोनों टीकाकारों की व्याख्या भिन्न है। कल्लि० के अनुसार उद्ग्राह का पहला भाग गाकर उसके दूसरे भाग में ध्रुव का दूसरा भाग गाया जाता है इसलिये भागलम्भ संज्ञा अन्वर्थ है। सिंह० के अनुसार ऊपर मतान्तर से कहा गया 'भाग' जिसमें निबद्ध किया जाय वह भागलम्भ होता है।

एक ही ध्रुव तीन, चार या पाँच बार हर बार भिन्न उद्ग्राह के साथ गाने पर लम्भपद कहलाता है। भिन्न उद्ग्राह से उसी मातु को अलग-अलग धातु से गाना अभिप्रेत है, यह समझना चाहिये।

ध्रुवभेदेऽनुलम्भोऽसौ द्विभेदे तूपलम्भकः॥ १७३॥

एते त्रयोऽप्यनाभोगा विलम्भस्तु स उच्यते।
उद्ग्राहा बहवो यस्मिन् ध्रुवाभोगविवर्जिताः॥ १७४॥

एते सालगसूडस्थैस्तालैराकलिता मताः।

१७३ ग-१७५ ख. (अ०) **ध्रुवभेदे** ध्रुव भिन्न होने पर **असौ** यह **अनुलम्भः** अनुलम्भ (कहलाता है)। **द्विभेदे तु** (उद्ग्राह और ध्रुव) दोनों भिन्न होने पर तो **उपलम्भकः** उपलम्भ (होता है)। **एते त्रयः अपि** ये तीनों ही (अर्थात् लम्भपद, अनुलम्भ और उपलम्भ) **अन्-आभोगाः** बिना आभोग वाले (होते हैं)। **विलम्भः तु** विलम्भ तो **सः उच्यते** वह कहा जाता है **यस्मिन्** जिसमें **ध्रुव-आभोग-विवर्जिताः** ध्रुव और आभोग रहित **बहवः उद्ग्राहाः** बहुत से उद्ग्राह (हों)। **एते** ये **सालगसूडस्थैः तालैः** सालगसूड (प्रबन्धों) में स्थित तालों के द्वारा **आकलिताः मताः** बने हुए माने गए (हैं)।

(सर०) लम्भपद के विपरीत अनुलम्भ में ध्रुव भिन्न होते हैं, उद्ग्राह वही रहता है। उद्ग्राह और ध्रुव दोनों अलग-अलग तरह से गाए जाते हैं तो उपलम्भ कहलाता है। कल्लि० के अनुसार 'अन्तिम तीनों में उद्ग्राह नहीं होता' यह कहने का आशय यह है कि पूर्वोक्त प्रकारों में आभोग होता है। विलम्भ में अनेक उद्ग्राह से यह समझना चाहिये कि हर बार मातु का विषय अलग होगा लेकिन धातु वही रहेगी। पद का विषय बदल जाने से अलग-अलग और अनेक उद्ग्राहों की अनुभूति होगी। कल्लि० ने कहा कि लम्भ के इस एक भेद में ध्रुव के न रहने पर भी दूसरे भेदों में ध्रुव के रहने से ध्रुव के नित्यत्व की हानि नहीं होती। इस स्पष्टीकरण के मूल में शंका यह है कि ध्रुव खण्ड सभी प्रबन्धों में नित्य रहना चाहिये क्योंकि ग्रन्थकार ने पहले कहा है कि ध्रुवत्व के कारण यह खण्ड ध्रुव कहलाता है (अर्थात् यह स्थायी या नित्य रूप से रहता है) और केवल मेलापक और आभोग को ही छोड़ने के लिये कहा है, उद्ग्राह और ध्रुव को नहीं। विलम्भ को ध्रुवरहित कहने से ध्रुव का नित्यत्व खण्डित हो जाता है।

कल्लि० की दृष्टि से **ध्रुवाभोगविवर्जिताः** से ऐसा लगता है कि इस भेद में एक ही धातु है इसलिये इसमें एक धातुत्व प्रतीत होता है। वास्तव में ऐसा नहीं है क्योंकि अनेक उद्ग्राह कहने से उद्ग्राह ही ध्रुव के प्रतिनिधि के रूप में प्रयुक्त होता है। अगर उद्ग्राह एक या दो बार प्रयुक्त करके छोड़ दिया जाता तो एकधातुत्व दोष होता। यहाँ कई बार प्रयुक्त होने से यह दोष नहीं है।

सालगसूडों का निरूपण आगे किया जाने वाला है।

नियत ताल आदि का नियम न होने से अनिर्युक्त है, आभोग के विकल्प से त्रिधातु या द्विधातु है, पद-ताल बद्ध होने से तारावली जाति का प्रबन्ध है।

अन्य मत से कहे गए भेद को मिला कर कुल ८ भेद होते हैं।

(७. रासकः)

यो झोम्बडगतं लक्ष्म गमकस्थानकैर्विना॥ १७५॥
भजते रासकः सोऽयं रासतालेन गीयते।

७-रासक

१७५ ग-१७६ ख. (अ०) **गमकस्थानकैः विना** गमक स्थान को छोड़ कर **यः** जो **झोम्बडगतं लक्ष्म भजते** झोम्बड के लक्षणों का पालन करता है **सः अयं** वह यह **रासकः** 'रासक' (प्रबन्ध) **रासतालेन गीयते** रासताल से गाया जाता है।

(सर०) 'गमकस्थान' से आशय मेलापक से है क्योंकि झोम्बड में गमकालप्ति मेलापक में ही होती है, उसी का निषेध रासक प्रबन्ध में किया है। इसके अलावा इसका झोम्बड से यह अन्तर है कि झोम्बड में त्रिपुट आदि जिन १० तालों का प्रयोग कहा गया है उनमें से सिर्फ़ रासताल का ही रासक में प्रयोग होता है।

गणैर्वर्णैश्च मात्राभिः केचिदेनं त्रिधा जगुः॥ १७६॥

स्याद्रासवलयो हंसतिलको रतिरङ्गकः।
चतुर्थस्तत्र मदनावतारश्छगणादिजाः॥ १७७॥

षडक्षराङ्घ्रितस्त्रिंशदक्षरावधिवर्णजाः।
पञ्चविंशतिराख्याताश्चरणादष्टमात्रिकात्॥ १७८॥

षष्टिमात्रावधिप्रोक्तास्त्रिपञ्चाशत्तु मात्रिकाः।
लक्ष्ये प्रसिद्धिवैधुर्यात्तेष्वस्माकमनादरः॥ १७९॥

१७६ ग-१७९. (अ०) **एनम्** इसको **केचित्** कुछ (आचार्य) **गणैः वर्णैः मात्राभिः च** गणों, वर्णों और मात्राओं से **त्रिधा जगुः** तीन प्रकार से कहते हैं। **तत्र** उनमें से **रासवलयः स्यात्** (पहला) रासवलय होता है (फिर) **हंसतिलकः रतिरङ्गकः** हंसतिलक, रतिरंग **चतुर्थः** (और) चौथा **मदनावतारः** मदनावतार **छगण-आदिजाः** छगण आदि से उत्पन्न (होते हैं)।

षट्-अक्षर-अङ्घ्रितः ६ अक्षर (हर) चरण से (शुरू करके) **त्रिंशत्-अक्षर-अवधिवर्णजाः** तीस अक्षर तक वर्णज (भेद) **पञ्चविंशतिः आख्याताः** पच्चीस कहे गए हैं। **अष्टमात्रिकात् चरणात्** आठ मात्राओं के चरण से (शुरू करके) **षष्टिमात्रा-अवधिप्रोक्ताः** साठ मात्रा तक कहे गये **त्रिपञ्चाशत् तु** त्रेपन तो **मात्रिकाः** मात्रिक (होते हैं)। **लक्ष्ये** लक्ष्य में **प्रसिद्धिवैधुर्यात्** प्रसिद्ध न होने से **तेषु** उनके प्रति **अस्माकम् अनादरः** हमारा आदर नहीं है।

(सर०) इस अंश पर दोनों टीकाकारों की व्याख्या अलग है। कल्लि० के अनुसार रासवलय आदि ४ भेद छगण आदि से युक्त होते हैं यानी छगण से रासवलय, पगण से हंसतिलक, चगण से रतिरंग और तगण से मदनावतार। ६ अक्षर से ३० अक्षर तक १-१ अक्षर प्रति चरण बढ़ाने से २५ भेद वर्णज होते हैं। इसी तरह ८ मात्रा से ६० मात्रा तक हर चरण में १-१ मात्रा बढ़ाने पर ५३ मात्रिक भेद होते हैं। यों कुल ४ + २५ + ५३ = ८२ प्रकार के रासक प्रबन्ध होते हैं।

सिंह० ने रासक के पहले चार भेद मतान्तर से बताये हैं। उसके अनुसार गणों से बद्ध रासवलय, वर्णों से बद्ध हंसतिलक और मात्राओं से बद्ध रतिरंग होता है। उसने कारिका १७७ में **छगणादिजाः** के स्थान पर 'छगणाधिकाः' पाठ रख कर छगण अधिक होने पर मदनावतार होता है—यह अर्थ दिया है। कारिका १७९ ग-घ की टीका में सिंह० के कथन के अनुसार रासक के जो भेद कहे गये उनके अलावा भी भेद हैं जो लक्ष्य में अप्रसिद्ध हैं इसलिये ग्रन्थकार ने उन्हें नहीं कहा।

कल्लि० के अनुसार ताल का नियम होने से रासक निर्युक्त है, मेलापक के अभाव से त्रिधातु है और पद-ताल बद्ध होने से तारावली जाति का प्रबन्ध है।

(८. एकताली)

द्विरुद्ग्राहो ध्रुवोऽपि द्विराभोगध्रुवकौ ततः।
गीत्वा न्यासो यत्र सा स्यादेकताल्येकतालिका॥ १८०॥

अस्यामालापमात्रेण केचिदुद्ग्राहमूचिरे।

८-एकताली

१८०-१८१ ख. (अ) **यत्र** जहाँ **द्विः उद्ग्राहः** दो बार उद्ग्राह, **ध्रुवः अपि द्विः** ध्रुव भी दो बार, **ततः** तब **आभोग-ध्रुवकौ गीत्वा** आभोग और ध्रुव (एक-एक बार) गाकर **न्यासः** समाप्त (हो) **सा** वह **एकताल्या एकतालिका स्यात्** एकताली (ताल) से 'एकताली' होती है। **अस्याम्** इसमें **केचित्** कुछ (आचार्य) **आलापमात्रेण** केवल आलाप से **उद्ग्राहम् ऊचिरे** उद्ग्राह कहते हैं।

(सर०) कल्लि० के अनुसार कहाँ समाप्त करें इसका कोई निश्चित निर्देश न होने से 'संनिहित' अर्थात् निकटवर्ती ध्रुव में न्यास समझना चाहिये। 'आलापमात्र' के अनुसार वाचक पदों के बिना केवल आलाप से उद्ग्राह करना चाहिये ऐसा अन्य मत है। इसका अर्थ यह है कि ग्रन्थकार के मत से वाचक पदों का उद्ग्राह में प्रयोग होना चाहिये।

सिंह० का **यत्र** के स्थान पर 'अन्यत्र' पाठ है इसलिये उसने आभोग और ध्रुव से अन्यत्र उद्ग्राह में समाप्ति कही है।

कल्लि० ने एकताली को तालनियम के कारण निर्युक्त, मेलापकरहित होने से त्रिधातु और पद, ताल बद्ध होने से द्व्यंग तारावली जाति का प्रबन्ध कहा है।

(आलिप्रबन्धनिरूपणम्)

(१. वर्णः)

बिरुदैर्वर्णतालेन वर्णः कर्णाटभाषया॥ १८१॥
तालत्रैविध्यतस्तस्य त्रैविध्यं गदितं बुधैः।

(ख) आलि प्रबन्धों का निरूपण

१-वर्ण

१८१ ग-१८२ ख. (अ०) **बिरुदैः** बिरुदों से **वर्णतालेन** वर्णताल से (और) **कर्णाटभाषया** कर्णाट भाषा से **वर्णः** 'वर्ण' (प्रबन्ध होता है)। **तालत्रैविध्यतः** ताल की त्रिविधता से **बुधैः** बुद्धिमानों के द्वारा **तस्य त्रैविध्यम्** उसका त्रैविध्य (त्रिविधता) **गदितं** कहा गया है।

(सर०) यहाँ से आलि प्रबन्धों का निरूपण किया जा रहा है। तालाध्याय में कहे जाने वाले वर्णताल के चतुरश्र, त्र्यश्र और मिश्र भेदों का प्रयोग होने से वर्ण प्रबन्ध तीन प्रकार का होता है। कल्लि० ने यह स्पष्ट किया कि यहाँ उद्ग्राह आदि के बारे में कुछ नहीं कहा है फिर भी उद्ग्राह और ध्रुव सभी प्रबन्धों में नियत रूप में होने से यहाँ भी वे दोनों बिरुदों से बद्ध करके अवश्य प्रयुक्त करने चाहियें। साथ ही ग्रन्थकार द्वारा यह विधान किया जाने वाला है कि जहाँ आभोग की वस्तु कही न गई हो वहाँ पदों के द्वारा आभोग की रचना कर लेनी चाहिये—इसके अनुसार वर्ण प्रबन्ध में भी पदों से आभोग का प्रयोग किया जाना चाहिये।

इस प्रकार यह त्रिधातु है, ताल और भाषा के नियम से निर्युक्त है तथा बिरुद, ताल, पद—इन तीन अंगों से बद्ध त्र्यंग भावनी जाति का प्रबन्ध है।

(२. वर्णस्वरः)

स्वरैः पाटैः पदैस्तेनै रचना वाञ्छितक्रमात्॥ १८२॥

यस्य स्यात्तेनकैर्न्यासः स वर्णस्वर उच्यते।
स्वरादेरादिविन्यासभेदादेष चतुर्विधः॥ १८३॥

२-वर्णस्वर

१८२ ग-१८३. (अ०) **यस्य** रचना जिसकी रचना **स्वरैः पाटैः पदैः तेनैः** स्वर, पाट, पद और तेनकों के द्वारा **वाञ्छितक्रमात्** इच्छित क्रम से (और) **न्यासः तेनकैः स्यात्** समापन तेनकों से होता है **सः** वह **वर्णस्वरः उच्यते** 'वर्णस्वर' कहा जाता है। **स्वर-आदेः** स्वर आदि (अर्थात् स्वर, पाट, पद, तेन) के **आदिविन्यासभेदात्** शुरू में रखने के भेद से **एषः चतुर्विधः** यह चार प्रकार का (होता है)।

(सर०) वर्णस्वर के सभी भेदों में समाप्ति तेनकों से ही होती है लेकिन शुरू में स्वर या पाट या पद अथवा तेन रख कर शेष अंगों को इच्छानुसार क्रम में रखने से चार प्रकार का वर्णस्वर प्रबन्ध होता है। कल्लि० के अनुसार दो अंगों से उद्ग्राह, दो से ध्रुव और पदों से आभोग बद्ध करना चाहिये। इस तरह यह त्रिधातु प्रबन्ध है। तालनियम होने से कल्लि० ने निर्युक्त और सिर्फ़ बिरुद का अभाव होने से पाँच अंगों वाली आनन्दिनी जाति कही है। लेकिन इस प्रबन्ध में ग्रन्थकार ने ताल का नियम नहीं कहा है।

वर्तमान लक्ष्य में चतुरंग अथवा चतरंग प्रबन्ध की इस प्रबन्ध से बहुत समानता है। चतरंग भी स्वराक्षर, पद, पाटाक्षर और त, न आदि निरर्थक अक्षरों (तेनकों) से युक्त और तालबद्ध होता है। लेकिन इसमें कभी-कभी पाटों के स्थान पर श्लोक या 'शेर' (उर्दू, फ़ारसी आदि भाषाओं का छन्द) रख दिया जाता है।

(३. गद्यम्)

गद्यं निगद्यते छन्दोहीनं पदकदम्बकम्।
तत् षोढोत्कलिका चूर्णं ललितं वृत्तगन्धि च॥ १८४॥

खण्डं चित्रं च तेषां च प्रभवः सामवेदतः।

३-गद्य

१८४-१८५ ख. (अ०) **छन्दोहीनं पदकदम्बकं** छन्दरहित पदों का कदम्ब (गुच्छ या समूह) **गद्यं निगद्यते** गद्य कहा जाता है। **तत्** वह **षोढा** ६ प्रकार का (होता है)—**उत्कलिका चूर्णं ललितं वृत्तगन्धि च** उत्कलिका, चूर्ण, ललित और वृत्तगन्धि, **खण्डं चित्रं च** खण्ड और चित्र **तेषां च प्रभवः** और उनका जन्म **सामवेदतः** सामवेद से (होता है)।

(सर०) कल्लि० का पाठ 'षोढा कलिका' है इसलिये उसने टीका में 'कलिका' का ही प्रयोग किया है।

(उत्कलिका)

गातव्योत्कलिका वीरे रक्ता रुद्राधिदेवता॥ १८५॥
गौडीयरीतिरुचिरा वृत्तिमारभटीं श्रिता।

(अ) उत्कलिका

१८५ ग-१८६ ख. (अ०) **उत्कलिका वीरे गातव्या** उत्कलिका वीर (रस) में गाई जानी चाहिये। **रक्ता** लाल (रंग वाली), **रुद्र-अधिदेवता** रुद्र देवता, **गौडीयरीति-रुचिरा** गौडी रीति से शोभित (और) **आरभटीं वृत्तिं श्रिता** आरभटी वृत्ति के आश्रित (है)।

(चूर्णम्)

चूर्णं शान्ते रसे पीतं गातव्यं ब्रह्मदैवतम्॥ १८६॥
वैदर्भरीतिसंपन्नं सात्त्वतीं वृत्तिमाश्रितम्।

(आ) चूर्ण

१८६ ग-१८७ ख. (अ०) **चूर्णं** चूर्ण **शान्ते रसे गातव्यं** शान्त रस में गाना चाहिये। **पीतं** पीला (रंग), **ब्रह्मदैवतं** ब्रह्मा देवता, **वैदर्भरीतिसंपन्नं** वैदर्भी रीति से संपन्न, **सात्त्वतीं वृत्तिम् आश्रितं** सात्त्वती वृत्ति के आश्रित (है)।

(ललितम्)

सितं मदनदैवत्यं शृङ्गाररसरञ्जितम्॥ १८७॥
ललितं कैशिकीं वृत्तिं पाञ्चालीं रीतिमाश्रितम्।

(इ) ललित

१८७ ग-१८८ ख. (अ०) **सितं** श्वेत (रंग), **मदनदैवत्यं** कामदेव देवता, **शृङ्गाररसरञ्जितं** शृंगार रस से रंजित, **कैशिकीं वृत्तिं** कैशिकी वृत्ति (और) **पाञ्चालीं रीतिम् आश्रितं** पांचाली रीति के आश्रित **ललितं** ललित (भेद है)।

(वृत्तगन्धि)

वृत्तगन्धि रसे शान्ते पीतं च मुनिदैवतम्॥ १८८॥
पाञ्चालरीतौ भारत्यां पद्यभागविमिश्रितम्।

(ई) वृत्तगन्धि

१८८ ग-१८९ ख. (अ०) **वृत्तगन्धि** वृत्तगन्धि **शान्ते रसे** शान्त रस में (गाना चाहिये)। **पीतं** पीला (रंग) **मुनिदैवतं च** और मुनि देवता **पाञ्चालरीतौ** पांचाली रीति में **भारत्यां** भारती (वृत्ति) में **पद्यभाग-विमिश्रितं** (और) पद्य अंश से मिश्रित (होता है)।

(सर०) इसका नाम सार्थक है। जिसमें वृत्त की गन्ध आये वह 'वृत्तगन्धि' और यह गन्ध इसमें पद्य भाग के मिश्रण से आती है।

(खण्डम्)

खण्डं गणेशदैवत्यं सात्त्वतीं वृत्तिमाश्रितम्॥ १८९॥
श्वेतं हास्यकृदारब्धं वैदर्भीभङ्गिसंभवम्।

(उ) खण्ड

१८९ ग-१९० ख. (अ०) **खण्डं** खण्ड **गणेशदैवत्यं** गणेश देवता वाला, **सात्त्वतीं वृत्तिम् आश्रितं** सात्त्वती वृत्ति के आश्रित, **श्वेतं** श्वेत (रंग), **हास्यकृत्-आरब्धं** हास्य (रस) से आरम्भ होने वाला (और) **वैदर्भीभङ्गिसंभवं** वैदर्भी (रीति) की भंगी से उत्पन्न (होता है)।

(चित्रम्)

शृङ्गारे वैष्णवं चित्रं चित्रकैशिकवृत्तिजम्॥ १९०॥
वैदर्भ्या रचितं रीत्या नानारीतिविचित्रया।

(ऊ) चित्र

१९० ग-१९१ ख. (अ०) **चित्रं** चित्र **शृङ्गारे** शृंगार (रस) में, **वैष्णवं** विष्णु देवता (वाला), **चित्रकैशिकवृत्तिजं** विचित्र कैशिकी वृति से उत्पन्न, **नानारीतिविचित्रया** अनेक रीतियों की (के मिश्रण से उत्पन्न) विचित्रता से (युक्त और) **वैदर्भ्या रचितं** वैदर्भी (रीति) से रचित (होता है)।

वेणी मिश्रमिति प्राहुरन्ये भेदद्वयं परम्॥ १९१॥
वेणी सर्वैः कृता मिश्रं चूर्णकैर्वृत्तगन्धिभिः।

१९१ ग-१९२ ख. (अ०) **अन्ये** अन्य (मत) में **वेणी मिश्रम् इति** वेणी और मिश्र **परं भेदद्वयम्** अन्य दो भेद **प्राहुः** कहते हैं। **वेणी** वेणी **सर्वैः कृता** सब (छहों भेदों) के द्वारा (और) **मिश्रं** मिश्र **चूर्णकैः वृत्तगन्धिभिः** चूर्ण (और) वृत्तगन्धि (गद्यों) के द्वारा (होता है)।

द्रुता विलम्बिता मध्या द्रुतमध्या तथा परा॥ १९२॥

गतिर्द्रुतविलम्बा स्यात् षष्ठी मध्यविलम्बिता
इति गद्यस्य षट् प्रोक्ता गतयः पूर्वसूरिभिः॥ १९३॥

१९२ ग-१९३. (अ०) **द्रुता विलम्बिता** द्रुता, विलम्बिता, **मध्या द्रुतमध्या** मध्या, द्रुतमध्या **तथा परा** और अन्य **द्रुतविलम्बा** द्रुतविलम्बा (और) **षष्ठी** छठी **मध्यविलम्बिता गतिः स्यात्** मध्यविलम्बिता गति होती है। **पूर्वसूरिभिः** पूर्वाचार्यों के द्वारा **इति** ये **गद्यस्य** गद्य (प्रबन्ध) की **षट् गतयः प्रोक्ताः** ६ गतियाँ कही गई (हैं)।

(सर०) सिंह० ने क्रम से उत्कलिका के साथ द्रुता, चूर्ण से विलम्बिता, ललित से मध्या, वृत्तगन्धि से द्रुतमध्या, खण्ड से द्रुतविलम्बिता और चित्र से मध्यविलम्बा गति को जोड़ा है। लेकिन आगे ग्रन्थकार ने गद्य के ६ भेदों में से हरेक के ६ गतियों के द्वारा ३६ भेद कहे हैं। सिंह० द्वारा एक-एक भेद के साथ एक-एक गति नियम कर देने से ३६ भेद नहीं बन सकते इसलिये उसकी यह व्याख्या संगत नहीं है।

लघुभिर्बहुलैरल्पैः समैराद्यत्रयं क्रमात्।
पृथग्लगत्वे मिश्रैस्तु लगैस्तद्वत् परं त्रयम्॥ १९४॥

प्रत्येकं गतिषट्केन षट्त्रिंशद्गद्यजा भिदाः।

१९४-१९५ ख. (अ०) **पृथक् ल-गत्वे** लघु गुरु के पृथक् होने पर **आद्यत्रयं** प्रथम तीन (अर्थात् द्रुता, विलम्बिता और मध्या) **क्रमात्** क्रम से **बहुलैः अल्पैः समैः लघुभिः** बहुल (लघु), अल्प (लघु), समान लघुओं (अर्थात् समान लघु, गुरु) से (होती हैं)। **तद्वत्** उसी तरह **मिश्रैः ल-गैः तु** लघु, गुरुओं के मिश्रणों से (अर्थात् पृथक्ता न होने पर) **परं त्रयं** बाद की तीन (अर्थात् द्रुतमध्या, द्रुतविलम्बिता और मध्यविलम्बिता) (होती हैं)। **प्रत्येकं** हरेक (अर्थात् छहों भेद) **गतिषट्केन** ६ गतिसमूहों के द्वारा **षट्त्रिंशत् गद्यजा भिदाः** ३६ गद्यज भेद (होते हैं)।

(सर०) छहों गतियों के लक्षण यहाँ दिए गए हैं। बहुल लघु कम गुरु होने पर द्रुता, अल्प लघु बहुल गुरु से विलम्बिता, लघु-गुरु समान होने पर मध्या लय होती हैं। इसमें लघु, गुरु पृथक् रहते हैं। शेष तीन में विशेष प्रकार से मिश्रण होता है जिसे कल्लि० ने स्पष्ट किया है। प्रबन्ध के प्रथमार्ध में केवल लघु और द्वितीयार्ध में लघु, गुरु का समभाव होने पर द्रुतमध्या होती है। प्रथमार्ध में सिर्फ़ लघु और द्वितीयार्ध में गुरु होने से द्रुतविलम्बिता होती है। प्रथमार्ध में लघु-गुरु मिश्रण समान और द्वितीयार्ध में सिर्फ़ गुरु होने से मध्यविलम्बिता गति होती है। इन छहों गतियों का गद्य के छहों भेदों में प्रयोग होने पर ३६ भेद हो जाते हैं।

सिंह० ने गतियों की तरह ही इन लक्षणों को भी क्रम से गद्य के ६ भेदों के साथ जोड़ दिया है।

(गद्यस्य गानप्रकारः)

प्रणवाद्यमतालं च गमकैरखिलैर्युतम्॥ १९५॥

वर्णैश्चातालशब्दानां स्वैरैरन्तेऽन्तरान्तरा।
प्रबन्धाङ्कं सतालं च पदद्वन्द्वं पृथक् ततः॥ १९६॥

द्विर्गीत्वा गीयते यत्र प्रयोगोऽपि विलम्बितः।
गातृनाम सतालं च सतालं वर्ण्यनाम च॥ १९७॥

विलम्बितेन मानेन पुनरप्यविलम्बितम्।
गीत्वा विलम्बितालेन न्यासो गद्यं तदिष्यते॥ १९८॥

गद्य का गानप्रकार

१९५ ग-१९८. (अ०) **आद्यम्** आरम्भ में **अतालं च प्रणवं** ताल के बिना ही प्रणव (ओङ्कार) **अखिलैः गमकैः युतं** सभी गमकों से युक्त **वर्णैः च** और वर्णों से **अताल शब्दानाम् अन्ते** तालरहित शब्दों के अन्त में (अर्थात् अन्तिम शब्दों में) **अन्तरा-अन्तरा** (शब्दों के) बीच-बीच में **स्वरैः** स्वरों (के वाचक स, रि, ग आदि अक्षरों) के द्वारा, **ततः प्रबन्ध-अङ्कं** तब प्रबन्ध (के नाम) से अंकित **सतालं च** और (किसी भी) तालसहित **पदद्वन्द्वं** दो पद **पृथक् द्विः गीत्वा** (एक ही ताल से लेकिन) अलग-अलग दो(-दो) बार गाकर **यत्र** जिसमें **प्रयोगः अपि** प्रयोग भी **विलम्बितः गीयते** विलम्बित (लय में) गाया जाता है, **गातृनाम च सतालं** वाग्गेयकार का नाम भी तालसहित, **वर्ण्यनाम च सतालं** (और) वर्ण्य का नाम भी सताल **विलम्बितेन मानेन** विलंबित लय से **पुनः अपि** दुबारा **अविलम्बितं गीत्वा** अविलम्बित (अर्थात् द्रुत लय में) गाकर **विलम्बितालेन न्यासः** विलंबित (लय से युक्त) ताल से समाप्ति (हो) **तत्** वह **गद्यम् इष्यते** 'गद्य' (प्रबन्ध) इच्छित होता है।

(सर०) पूरे प्रबन्ध को गाने की विधि इन कारिकाओं में बताई गई हैं। गद्य प्रबन्ध का आरंभ ताल के बिना 'ओङ्कार' को गाकर होता है। सभी तरह की गमकों का प्रयोग करते हुए यह प्रबन्ध गाया जाता है। ओंकार के बाद ताल के बिना शब्दों के अन्तिम हिस्से में शब्दों के बीच-बीच में स, रि, ग आदि अक्षरों के द्वारा स्वर गाए जाते हैं। कल्लि० ने यह स्पष्ट किया

कि 'दो पद' का यह अर्थ है कि दोनों के शब्द भिन्न हों लेकिन हरेक पद एक ही विभक्ति से अन्त होने वाले शब्दों और सिर्फ़ एक क्रियापद से युक्त हो। ऐसे दोनों पद अलग-अलग दो-दो बार गाने चाहिएँ। दोनों में से किसी एक में प्रबन्ध का नाम रहना चाहिये और एक ही ताल से दोनों को गाना चाहिए। कल्लि० के अनुसार **प्रयोगः** के साथ **अपि** शब्द समुच्चय का सूचक है इसलिये 'प्रयोग' में भी दो पदों में प्रयुक्त ताल का ही प्रयोग करना चाहिये और विलम्बित लय का नियम दोनों पदों के लिये समझना चाहिये। गातृनाम के साथ फिर से सताल विशेषण यह सूचित करता है कि 'प्रयोग' में जो ताल हो उससे भिन्न ताल होना चाहिये या ताल वही रहे लेकिन लय भिन्न हो। **पुनः अपि विलम्बितं** में अविलम्बित से मध्य लय का ग्रहण भी किया जा सकता है। लेकिन अविलम्बित से तुरन्त द्रुत की प्रतीति होती है इसलिये यहाँ द्रुत लय अभिप्रेत है। **पुनः** से यह समझना चाहिये कि उक्त क्रम से पूरा प्रबन्ध दुबारा गाया जाय क्योंकि 'पुनः' किसी विशेष गेयांश के लिये नहीं कहा है। **विलम्बितालेन न्यासः** की व्याख्या करते हुए कल्लि० ने कहा कि पहले दो पदों में विलंबित लय में जिस ताल का प्रयोग किया जाय उसी ताल को एक बार प्रयुक्त करके पहले पद के शुरू में समाप्त करना चाहिये।

कल्लि० ने कहा कि यद्यपि ग्रन्थकार द्वारा उद्ग्राह आदि विभाग नहीं कहे गये लेकिन गद्य प्रबन्ध के शुरू के तालरहित भाग को उद्ग्राह, दो-दो बार आवृत्त होने वाले सताल दो पद वाले भाग को ध्रुव, 'प्रयोग' युक्त अन्तिम सताल भाग को आभोग समझना चाहिये। इस प्रकार यह त्रिधातुक है, ताल आदि के अनियम से अनिर्युक्त और पद, स्वर, तालबद्ध होने से त्र्यंग भावनी जाति का प्रबन्ध है। इसमें नियत ताल नहीं कहा इसलिये कल्लि० ने इसे अनिर्युक्त कहा है।

सिंह० के सामने **प्रबन्धाङ्कं** के बजाय 'प्रबन्धकं' पाठ है इसलिये उसने **आद्यं** का अर्थ उद्ग्राह किया है। 'प्रयोग' को ग्रन्थकार की परिभाषा के आधार पर 'गमकसंदर्भ' कहा है। उसने अन्तिम भाग में सिर्फ़ गायक और नायक (वर्ण्य) के नामों को दुबारा गाकर समाप्त करने के लिये कहा है।

आलि वर्ग के प्रबन्धों में गद्य प्रबन्ध सबसे ज़्यादा महत्त्व का है इसीलिये ग्रन्थकार ने इस वर्ग के दूसरे प्रबन्धों की तुलना में इसका काफ़ी विस्तार से निरूपण किया है। एला की तरह इसमें भी देवता, रंग, रस, रीति, वृत्ति, आदि का विनियोग कहा है और इसके गान की विधि भी विशेष है।

(४. कैवाडः)

पाटैः स्यातां ध्रुवोद्ग्राहौ कैवाडे न्यसनं ग्रहे।
सार्थकैरर्थहीनैश्च पाटैः स द्विविधो मतः॥ १९९॥

स शुद्धैर्मिश्रितैः पाटैः शुद्धो मिश्र इति द्विधा।

४-कैवाड

१९९-२०० ख. (अ०) कैवाडे 'कैवाड' (प्रबन्ध) में **ध्रुव-उद्ग्राहौ** उद्ग्राह और ध्रुव **पाटैः स्यातां** पाटों से होते हैं। **न्यसनं ग्रहे** समाप्ति उद्ग्राह में (होती है)। **सार्थकैः अर्थहीनैः च पाटैः** सार्थक और निरर्थक पाटों से **सः** वह **द्विविधः मतः** दो प्रकार से माना गया (है)। **शुद्धैः मिश्रितैः पाटैः** शुद्ध और मिश्रित पाटों से **सः** वह **शुद्धः मिश्रः इति द्विधा** शुद्ध (और) मिश्र यों (फिर से) दो प्रकार से (होता है)।

(सर०) कारिका में ध्रुव उद्ग्राह से पहले आया है। कल्लि० के अनुसार ऐसा छन्द के अनुरोध से हुआ है लेकिन उद्ग्राह से पहले ध्रुव संभव नहीं है इसलिये क्रम उद्ग्राह और ध्रुव का ही समझना चाहिये।

इस प्रबन्ध में क़रपाटों की प्रधानता है। कल्लि० ने उल्लेख किया है कि 'करपाट' शब्द का ही अपभ्रंश रूप 'कैवाड' हो गया। पाट हाथों से उत्पन्न होते हैं इसलिये करपाट कहा है। ये अर्थहीन होते हैं। लेकिन उनका संयोजन इस प्रकार किया जाय जिससे अर्थ भी उत्पन्न हो तो वे सार्थक कहलाते हैं। इन्हीं दो प्रकारों के आधार पर कैवाड के दो भेद कहे गये हैं।

कैवाड के शुद्ध और मिश्र भेद भी हैं जो शुद्ध पाटों और मिश्र पाटों से युक्त होते हैं। कल्लि० के अनुसार मुखवाद्य यानी मुँह से बोले जाने वाले अक्षरों का जिनमें मिश्रण न हो वे शुद्ध पाट होते हैं। इनका मिश्रण होने से मिश्रत्व हो जाता है। तात्पर्य यह है कि सिर्फ़ करपाट होने से शुद्ध कैवाड होता है और करपाटों के साथ मुखवाद्य भी हों तो वह मिश्र कहलाता है।

इस प्रकार कल्लि० ने कैवाड के ४ भेद कहे—सार्थक शुद्ध कैवाड, अर्थहीन शुद्ध कैवाड, सार्थक मिश्र कैवाड और अर्थहीन मिश्र कैवाड। लेकिन सिंह० ने अर्थहीन कैवाड के ही दो भेद शुद्ध और मिश्र कहे हैं। उसके अनुसार जिसकी रचना केवल पाटों से हो वह शुद्ध कैवाड और जिसमें स्वर आदि दूसरे अंगों का मिश्रण हो वह मिश्र भेद होता है।

कल्लि० ने कहा कि वाग्गेयकार और प्रबन्ध के नाम से अंकित आभोग गाना चाहिये। इस प्रकार यह त्रिधातु होता है, ताल आदि का नियम न होने से अनिर्युक्त और पाट, पद, तालबद्ध होने से भावनी जाति का प्रबन्ध है।

(५. अङ्कचारिणी)

वीररौद्राश्रितैर्बद्धा बिरुदैरङ्कचारिणी॥ २००॥
वर्ण्यनामाङ्किताभोगा तालेनेष्टेन गीयते।

५-अंकचारिणी

२०० ग-२०१ ख. (अ०) अङ्कचारिणी 'अंकचारिणी' वीर-रौद्र-आश्रितैः बिरुदैः बद्धा वीर और रौद्र रस के आश्रित बिरुदों से बद्ध (होती है)। वर्ण्यनाम-अङ्कित-आभोगा वर्ण्य के नाम से अंकित आभोग वाली इष्टेन तालेन गीयते इच्छित ताल से गाई जाती है।

(सर०) कल्लि० ने कहा कि केवल वीर और रौद्र रसों के बिरुदों से युक्त होना चाहिये, दूसरे किसी रस के नहीं। यह अन्वित है कि बिरुदों से उद्ग्राह और ध्रुव बद्ध होने चाहियें। वर्ण्यनाम के साथ वाग्गेयकार और प्रबन्ध का नाम भी आभोग में ग्राह्य है।

वासवी कलिका वृत्ता ततो वीरवती भवेत्॥ २०१॥

वेदोत्तरा जातिमती षट्प्रकारेति सा मता।
एकद्वित्रिचतुष्पञ्च तालाः स्युर्बिरुदानि तु॥ २०२॥

अष्टौ षोडश तद्वच्च द्वात्रिंशद् द्व्यधिका क्रमात्।
पञ्चाशच्च चतुर्युक्तं शतमाद्यासु पञ्चसु॥ २०३॥

नियमो जातिमत्यां तु न तालबिरुदाश्रयः।

२०१ ग-२०४ ख. (अ०) सा वह (अंकचारिणी) वासवी कलिका वृत्ता वासवी, कलिका, वृत्ता ततः उसके बाद वीरवती भवेत् वीरवती होती है (तथा) वेदोत्तरा जातिमती वेदोत्तरा (और) जातिमती इति यों षट्प्रकारा मता ६ प्रकार वाली मानी गई (है)। एक-द्वि-त्रि-चतुः-पञ्च (इनमें क्रम से) एक, दो, तीन, चार (और) पाँच तालाः स्युः ताल होते हैं। आद्यासु पञ्चसु आरम्भ की पाँच में क्रमात् क्रम से बिरुदानि तु बिरुद तो अष्टौ आठ, षोडश सोलह तद्वत् च और उसी प्रकार द्वात्रिंशत् बत्तीस, द्व्यधिका पञ्चाशत् च पचास और दो अधिक (अर्थात् बावन), चतुः युक्तं शतं चार युक्त सौ (अर्थात् एक सौ चार, होते हैं)। जातिमत्यां तु जातिमती में तो ताल-बिरुद-आश्रयः नियमः न ताल (और) बिरुद के आश्रय वाला नियम नहीं (होता)।

(सर०) एक ताल और ८ बिरुदों से वासवी, दो ताल और १६ बिरुदों से कलिका, ३ ताल और ३२ बिरुदों से वृत्ता, ४ ताल और ५२ बिरुदों से वीरवती तथा ५ ताल और १०४ बिरुदों से वेदोत्तरा भेद होते हैं। छठी जातिमती में इनका कोई नियम

नहीं है। शुरू की पाँच में भी ताल की संख्या का ही नियम है, ताल के स्वरूप का नियम नहीं है इसलिये यह अनिर्युक्त प्रबन्ध है। मेलापक न होने से त्रिधातुक है और बिरुद, पद, तालयुक्त त्र्यंग भावनी जाति का है।

(६. कन्दः)

कर्णाटादिपदैः पाटैर्बिरुदैस्तालवर्जितः॥ २०४॥
आर्यागीतौ रसे वीरे कन्दः स्यात् पाटमुक्तिकः।

६-कन्द

२०४ ग-२०५ ख. (अ०) **कर्णाट-आदिपदैः** कर्णाट आदि (देशी भाषाओं) के पदों से, **पाटैः बिरुदैः** पाट और बिरुदों से, **तालवर्जितः** ताल के बिना, **आर्यागीतौ** आर्या गीति में, **वीरे रसे** वीर रस में **पाटमुक्तिकः** पाट से समाप्त होने वाला **कन्दः स्यात्** 'कन्द' (प्रबन्ध) होता है।

(सर०) कर्णाट के साथ प्रयुक्त 'आदि' शब्द से अभिप्राय संस्कृत को छोड़ कर अन्य देशी भाषाओं के पदों से है। आर्यागीति में दो 'दल' (पाद) होते हैं और दोनों में ३०-३० मात्रा होती हैं। कल्लि० के अनुसार प्रथमार्ध यानी पहले दल को उद्ग्राह और द्वितीयार्ध (दूसरे दल) को ध्रुव बना कर उद्ग्राह को पदों से तथा ध्रुव को पाट और बिरुदों से गाना चाहिये। इसी ध्रुव के शुरू में पाट गाकर समाप्त किया जाता है। आभोग पदों से युक्त होता है। **तालवर्जितः** पर कल्लि० की टीका के अनुसार यह प्रबन्ध ताल के स्वरूप से शून्य है, तालनियम से शून्य नहीं। लेकिन उसने इन दोनों का भेद स्पष्ट नहीं किया है। सिंह० ने कन्द को तालरहित ही कहा है।

पवनो रविसंज्ञश्च धनदो हव्यवाहनः॥ २०५॥

सुरनाथः समुद्रश्च वरुणः शशिशैलकौ।
मधुमाधवनामानौ ततोऽपि मकरध्वजः॥ २०६॥

जयन्तो मधुपश्चाथ शुकसारसकेकिनः।
हरिश्च हरिणो हस्ती कादम्बः कूमर्को नयः॥ २०७॥

विनयो विक्रमोत्साहौ धर्मार्थौ काम इत्यमी।
एकोनत्रिंशदाख्याताः कन्दभेदाः पुरातनैः॥ २०८॥

त्रिंशाद् गुरोरा द्विगुरोः क्रमादेकैकभङ्गतः।

२०५ ग-२०९ ख. (अ०) **पुरातनैः** प्राचीन (आचार्यों) के द्वारा **पवनः रविसंज्ञः च** पवन और रवि संज्ञा वाला, **धनदः हव्यवाहनः** धनद, हव्यवाहन, **सुरनाथः समुद्रः च** सुरनाथ और समुद्र, **वरुणः शशि-शैलकौ** वरुण, शशि और शैल, **मधु-माधवनामानौ** मधु और माधव नाम वाले, **ततः मकरध्वजः अपि** उसके बाद मकरध्वज भी, **जयन्तः मधुपः च** जयन्त और मधुप, **अथ** इसके बाद **शुक-सारस-केकिनः** शुक, सारस और केकी, **हरिः हरिणः च** हरि और हरिण, **हस्ती कादम्बः कूर्मकः नयः** हस्ती, कादम्ब, कूर्मक, नय, **विनयः विक्रम-उत्साहौ** विनय, विक्रम और उत्साह, **धर्म-अर्थौ कामः इति** धर्म और अर्थ (तथा) काम—इस प्रकार **अमी** ये **त्रिंशाद् गुरोः** तीस गुरु से (शुरू करके) **आ द्विगुरोः** दो गुरुओं तक **क्रमात्** क्रम से **एक-एक-भङ्गतः** एक-एक (गुरु का) भंग करके **एक-ऊनत्रिंशत् कन्दभेदाः** उन्तीस कन्दभेद **आख्याताः** कहे गए हैं।

(सर०) भंग करने का अर्थ है एक गुरु के स्थान पर दो लघु रखना। क्रम से तीसवें गुरु से केवल एक-एक गुरु का

भंग करते हुए दूसरे गुरु तक भंग करने पर कन्द के उक्त २९ भेद होते हैं। पहले गुरु का भंग नहीं किया जाता। हर भेद में एक गुरु का भंग करके शेष गुरु ही रहते हैं।

कल्लि० के अनुसार छन्द से बद्ध होने से निर्युक्त है, मेलापक के अभाव के कारण त्रिधातुक है और पद, पाट, बिरुद से बद्ध होने से त्र्यंग भावनी जाति का प्रबन्ध है।

(७. हयलीला)

हयलीलेन तालेन हयलीला द्विधा च सा॥ २०९॥

गद्यजा पद्यजा चेति पद्यजा तु चतुर्विधा।
पूर्वार्धमुत्तरार्धं वा द्वे वा तालयुतं यदि॥ २१०॥

आर्यायाः स्युस्तदा तिस्रश्चतुर्थी त्वादिमे दले।
स्वरैः पदैस्तु बिरुदैः सताले रचिता मता॥ २११॥

केचित्तु हयलीलेन छन्दसां तां विदुर्बुधाः।

७-हयलीला

२०९ ग-२१२ ख. (अ०) **हयलीलेन तालेन** हयलीला ताल से **हयलीला** 'हयलीला' (होती है) **सा च** और वह गद्यजा **पद्यजा च इति** गद्यजा और पद्यजा यों **द्विधा** दो प्रकार से होती है। **पद्यजा तु चतुर्विधा** पद्यजा तो चार प्रकार से (होती है)— **यदि** अगर **आर्यायाः** आर्या के **पूर्वार्धम् उत्तरार्धं वा** पूर्वार्ध अथवा उत्तरार्ध **द्वे वा** अथवा दोनों **तालयुतं** तालयुक्त (हों) **तदा तिस्रः स्युः** तब तीन (प्रकार की) होती हैं। **चतुर्थी तु** चौथी तो **आदिमे दले** पहले दल में **स्वरैः पदैः बिरुदैः सतालैः तु** स्वरों, पदों, बिरुदों (और) तालों से तो **रचिता मता** रचित मानी गई (है)। **केचित् बुधाः** कुछ बुधजन तो **तां** उसे (हयलीला को) **हयलीलेन छन्दसा विदुः** हयलील छन्द से जानते हैं।

(सर०) हयलीला ताल से गाया जाने वाला हयलीला प्रबन्ध है। यह आर्या छन्द में रचित होता है और कुछ आचार्यों के मत से हयलीला छन्द में।

भट्टकेदार के 'वृत्तरत्नाकर' में दिए गए आर्या के लक्षण के अनुसार दो दलों में से पहले में ७ चतुर्मात्रिक गण और अन्त में १ गुरु तथा दूसरे दल में ५ चतुर्मात्रिक गण, १ लघु, १ चतुर्मात्रिक गण और अन्त में १ गुरु के द्वारा दो दलों में क्रम से ३० और २७ मात्रा होती हैं (वृ० र०, २/१-२)।

हयलीला के लिये छन्द के ग्रन्थों में अश्वलीला संज्ञा भी है जिसके हर चरण में क्रम से नगण, जगण, भगण, जगण, भगण, जगण, भगण, लघु और गुरु तथा ११ और १२ मात्राओं पर यति होती है।

सं० र० के तालाध्याय में हयलील का तुरगलील नाम से विरामान्त दो द्रुत और दो द्रुत लक्षण दिया गया है। हय, तुरग और अश्व पर्याय हैं।

आर्या छन्द में बद्ध होने से इस प्रबन्ध में दो दल होते हैं। प्रबन्ध के पहले भेद में पहला दल तालयुक्त और दूसरा तालरहित होता है। दूसरे भेद का दूसरा दल सताल और पहला अताल होता है। तीसरे भेद के दोनों दल तालसहित होते हैं और चौथे भेद का पहला दल स्वर, पद और बिरुदों से तालसहित होता है। चतुर्थी तु में तु शब्द यह सूचित करता है कि शुरू के तीन भेदों की रचना सिर्फ़ पदों से होती है। ये आर्याबद्ध पद्यजा (पादबद्ध) हयलीला के ४ भेद हैं। अन्य मत से इसी तरह ४ भेद आर्या के बजाय हयलील छन्द का प्रयोग करने से बनते हैं। गद्यजा को मिला कर कुल ९ भेद इस प्रबन्ध के होते हैं और सभी में हयलील ताल का प्रयोग होता है।

गद्यज और पद्यज दोनों प्रकारों का पूर्वार्ध उद्ग्राह कहलाता है और उत्तरार्ध ध्रुव। आभोग अनुक्त होने (कहा न जाने) से वाग्गेयकार, वर्ण्य और प्रबन्ध के नाम से अंकित पदों से बद्ध कर लेना चाहिये। इस तरह त्रिधातुक है तथा छन्द और ताल का नियम होने से निर्युक्त है। कल्लि० ने यह उल्लेख किया है कि यह प्रबन्ध जब स्वर, पद, बिरुद और ताल—इन चार अंगों से बँधा होता है तो दीपनी जाति का माना जाता है और जब पद और ताल से ही बद्ध होता है तो तारावली जाति का माना जाता है।

सिंह० के अनुसार चौथे भेद का पूर्वार्ध स्वरों से और उत्तरार्ध 'समान' बिरुदों से रचित होता है। लेकिन समान बिरुदों से आशय क्या है यह स्पष्ट नहीं है।

(८. गजलीला)

तालेन गजलीलेन गजलीला निगद्यते॥ २१२॥
छन्दोहीनेतरल्लक्ष्म हयलीलागतं मतम्।

८-गजलीला

२१२ ग-२१३ ख. (अ०) **गजलीलेन तालेन** गजलील ताल से **गजलीला निगद्यते** 'गजलीला' (प्रबन्ध) कहा जाता है। **छन्दोहीन-इतरत्-लक्ष्म** छन्द को छोड़ कर अन्य लक्षण **हयलीलागतं मतं** हयलीला के (ही) माने गए (हैं)।

(सर०) गजलीला ताल का लक्षण तालाध्याय में चार लघु अन्तिम विरामयुक्त कहा गया है। हयलीला प्रबन्ध में जो हयलीला छन्द कहा गया है उसे छोड़ कर बाक़ी लक्षण उसी के जैसे हैं। इसलिये गजलीला प्रबन्ध सिर्फ़ आर्या छन्द में ही बद्ध होता है। दो मुख्य भेद गद्यज और पद्यज हैं, हयलीला की तरह पद्यज के ४ भेद—यों कुल ५ भेद होते हैं। निर्युक्त आदि भी हयलीला के समान समझने चाहियें।

(९. द्विपदी)

शुद्धा खण्डा च मात्रादिः संपूर्णेति चतुर्विधा॥ २१३॥
द्विपदी करुणाख्येन तालेन परिगीयते।

९-द्विपदी

२१३ ग-२१४ ख. (अ०) **शुद्धा खण्डा च** शुद्धा और खण्डा **मात्रा-आदिः** मात्रा आदि में है जिसके (अर्थात् मात्रा द्विपदी) **संपूर्णा इति** संपूर्णा—यों **चतुर्विधा द्विपदी** चार प्रकार की 'द्विपदी' **करुण-आख्येन तालेन** करुण नामक ताल से **परिगीयते** गाई जाती है।

(सर०) द्विपदी प्रबन्ध के ४ भेद हैं जो करुण ताल से गाए जाते हैं। इस ताल का लक्षण तालाध्याय में एक गुरु दिया है।

पादे छः पञ्च भा गोऽन्ते जौ स्तः षष्ठद्वितीयकौ॥ २१४॥

चतुर्भिरीदृशैः पादैः शुद्धा द्विपदिकोच्यते।
अर्धान्तेऽन्ये स्वरानाहुः,

२१४ ग-२१५ ग. (अ०) **पादे** हर चरण में **छः** एक छगण (६ मात्रा वाला मात्रागण), **पञ्च भाः** पाँच भगण, **अन्ते गः** अन्त में गुरु, **षष्ठ-द्वितीयकौ** दूसरा और छठा **जौ स्तः** जगण (वाले) होते हैं। **ईदृशैः** ऐसे **चतुर्भिः पादैः** चार पादों से **शुद्धा द्विपदिका उच्यते** शुद्धा द्विपदी कही जाती है। **अन्ये** अन्य (आचार्य) **अर्ध-अन्ते** अर्धान्त में **स्वरान् आहुः** स्वरों को (अर्थात् स्वर) कहते हैं।

(सर०) उक्त लक्षण के अनुसार १ छगण, १ जगण, ५ भगण, १ जगण और अन्त में एक गुरु वाले चार पादों से शुद्धा द्विपदी होती है। अन्य मत से आधे के अन्त यानी दूसरे पाद के अन्त में स्वर गाए जाते हैं।

खण्डा स्याच्छुद्धयार्धया॥ २१५॥

षष्ठेनैकेन गुरुणा मात्राद्विपदिका मता।
ज्ञेया शुद्धैव संपूर्णा गुरुणान्तेऽधिकेन तु॥ २१६॥

२१५ घ-२१६. (अ०) **अर्धया शुद्धया** आधी शुद्धा के द्वारा **खण्डा स्यात्** खण्डा (द्विपदी) होती है। **षष्ठेन एकेन गुरुणा** छठे (गण) के (स्थान पर) केवल एक गुरु से **मात्राद्विपदिका मता** मात्राद्विपदी मानी गई (है)। **शुद्धा एव** शुद्धा ही **अन्ते** अन्त में **गुरुणा अधिकेन तु** एक गुरु अधिक से तो **संपूर्णा ज्ञेया** संपूर्णा (द्विपदी) जानी गई (है)।

(सर०) सिंह० के अनुसार सिर्फ़ आधी शुद्धा द्विपदी हो यानी शुद्धा के केवल दो ही पाद हों तो खण्डा कहलाती है। कल्लि० के अनुसार ४ पादों में से शुरू के दो पादों में नियत लक्षण हों और बाद के दो पाद अनियत लक्षणों से हों तो खण्डा होती है। सिंह० की व्याख्या के अनुसार शुद्धा का सिर्फ़ एक खण्ड रहने से खण्डा होती है जब कि कल्लि० के अनुसार पहला आधा खण्ड शुद्धा जैसा और दूसरा आधा उससे भिन्न होता है।

शुद्धा द्विपदी के सभी पादों का छठा गण जगण कहा गया है। उसके बजाय सिर्फ़ गुरु रखने से मात्राद्विपदी होती है। शुद्धा के पादों के अन्त में १ गुरु होता है। उसके बाद १ गुरु और जोड़ देने से वही संपूर्णा द्विपदी हो जाती है।

पुनश्चतुर्धा द्विपदी मानवी चन्द्रिका धृतिः।
तारेति मानवी छेन तद्वयेन कृताङ्घ्रिका॥ २१७॥

पद्वयं तगणश्चान्ते लगौ चेच्चन्द्रिका मता।

२१७-२१८ ख. (अ०) **मानवी चन्द्रिका धृतिः तारा इति** मानवी, चन्द्रिका, धृति (और) तारा यों **द्विपदी पुनः चतुर्धा** द्विपदी फिर चार प्रकार से (होती है)। **छेन** छगण (और) **त-द्वयेन** दो तगणों से **कृत-अङ्घ्रिका** की गई (अर्थात् रचित) अङ्घ्रि (पाद) वाली **मानवी** मानवी (होती है) **चेत् प-द्वयं** यदि दो पगण **तगणः च** और एक तगण, **अन्ते ल-गौ** अन्त में (एक) लघु और (एक) गुरु (हो तो) **चन्द्रिका मता** चन्द्रिका मानी गई (है)।

(सर०) मानवी में 'तद्वय' और चन्द्रिका में 'तगण' दोनों ही वर्णगण तगण (ऽऽ।) को सूचित करते हैं।

छगणेन चतुर्मात्रैस्त्रिभिश्च धृतिरुच्यते॥ २१८॥
तारा छेन चतुर्भिश्च यगणैरन्तिमे गुरौ।

२१८ ग-२१९ ख. (अ०) **छगणेन** एक छगण **त्रिभिः चतुर्मात्रैः च** और तीन चतुर्मात्राओं से **धृतिः उच्यते** धृति कही जाती है। **छेन** एक छगण **चतुर्भिः च यगणैः** और चार यगणों (।ऽऽ) से (तथा) **अन्तिमे गुरौ** अन्तिम गुरु होने पर **तारा** तारा (होती है)।

(सर०) धृति में **चतुर्मात्रैः** को सिंह० ने चतुर्मात्रागण ही कहा है जिससे मात्रिक गणों में ४ मात्रा वाला चगण समझना चाहिये। लेकिन कल्लि० ने वर्णगणों में से ४ मात्रा वाला भगण (ऽ।।) या जगण (।ऽ।) कहा है। ध्यान देने योग्य है कि वर्णगणों में सगण (।।ऽ) भी चार मात्रा वाला है, कल्लि० ने उसे छोड़ दिया है।

कल्लि० की व्याख्या में कहा गया है कि इस प्रबन्ध में कुल चार पाद होते हैं लेकिन दो-दो पादों के अर्ध को भी पाद कहा जाता है इसीलिये इसे द्विपदी (दो पाद वाली) कहा जाता है। पूर्वार्ध उद्ग्राह, उत्तरार्ध ध्रुव और गाता, नेता तथा प्रबन्ध

के नाम से अंकित पदों के द्वारा पृथक् आभोग होने से त्रिधातुक है, ताल का नियम होने से निर्युक्त है और पद तथा ताल दो अंगों से युक्त तारावली जाति का प्रबन्ध है। मतान्तर से स्वर होने पर त्र्यंग भावनी जाति का कहलायेगा।

(१०. चक्रवालः)

पूर्वपूर्वाक्षरव्राते योऽन्त्यो वर्णचयः स चेत्॥ २१९॥
उत्तरोत्तरसंघादौ चक्रवालस्तदोच्यते।
गद्यपद्यप्रभेदेन स द्विधा गदितो बुधैः॥ २२०॥

१०-चक्रवाल

२१९ ग-२२०. (अ०) **पूर्व-पूर्व-अक्षरव्राते** पिछले-पिछले अक्षरों के समूह (अर्थात् पद) में **यः** जो **अन्त्यः वर्णचयः** अन्तिम वर्णसमुदाय **सः** वह **चेत्** यदि **उत्तर-उत्तरसङ्घ-आदौ** अगले-अगले (अक्षर) समूह के शुरू में (हो) **तदा** तो **चक्रवालः उच्यते** 'चक्रवाल' (प्रबन्ध) कहा जाता है। **गद्यपद्यप्रभेदेन** गद्य (और) पद्य (के) भेद से **सः** वह **बुधैः** बुद्धिमानों के द्वारा **द्विधा** दो प्रकार से (कहा गया है)।

(सर०) पिछले-पिछले शब्दों के अन्तिम-अन्तिम २ या ३ अक्षरों को अगले-अगले शब्दों के शुरू में जोड़ते जाने से चक्रवाल प्रबन्ध होता है।

वर्णों की आवृत्ति के नियम का पालन उद्ग्राह और ध्रुव में जरूर होना चाहिये, आभोग के लिये संप्रदाय में ऐसा नियम नहीं है।

यह प्रबन्ध त्रिधातु है, ताल आदि का नियम न होने से अनिर्युक्त है और पद-ताल बद्ध होने से तारावली जाति का है।

(११. क्रौञ्चपदः)

पदैः स्वरैः क्रौञ्चपदः प्रतितालेन गीयते।
स्वरन्यासः स तन्नाम्ना छन्दसा मुक्तकोऽथवा॥ २२१॥

११-क्रौञ्चपद

२२१. (अ०) **क्रौञ्चपदः** 'क्रौञ्चपद' **पदैः स्वरैः** पदों (और) स्वरों से **प्रतितालेन गीयते** प्रतिताल से गाया जाता (है)। **सः** वह **स्वरन्यासः** स्वर से समाप्ति वाला, **तत् नाम्ना छन्दसा** उसी नाम के (अर्थात् क्रौञ्चपद) छन्द के द्वारा **अथवा मुक्तकः** अथवा छन्दरहित (होता है)।

(सर०) कल्लि० के अनुसार स्वरों से उद्ग्राह और पदों से ध्रुव होता है। स्वर से समाप्ति का आशय है ध्रुव के बाद फिर से उद्ग्राह के शुरू में समाप्त करना। दोनों टीकाकारों ने 'मुक्तक' का अर्थ छन्दोहीन ही दिया है।

क्रौञ्चपद छन्द में भगण, मगण, सगण, भगण, ४ नगण और अन्त में एक गुरु होता है तथा ५, ५, ८ और ७ अक्षरों पर यति होती है।

प्रतिताल में २ लघु और दो द्रुत होते हैं।

उद्ग्राह और ध्रुव के बाद पदों से आभोग बद्ध करने से त्रिधातु है, तालादि के नियम से निर्युक्त है और स्वर, पद, ताल तीन अंग रहने से भावनी जाति का प्रबन्ध है।

(१२. स्वरार्थः)

यत्र स्वराक्षरैरेव वाञ्छितोऽर्थोऽभिधीयते।
स स्वरार्थो द्विधा शुद्धो मिश्रस्तैः शुद्धमिश्रितैः॥ २२२॥

ग्रहन्यासोऽस्य भूयोऽसौ सप्तधैकादिकैः स्वरैः।
क्रमोत्क्रमाभ्यां बहुशो भिद्यन्ते द्विस्वरादयः॥ २२३॥

१२-स्वरार्थ

२२२-२२३. (अ०) **यत्र** जहाँ **स्वराक्षरैः एव** (स, रि, ग आदि) स्वराक्षरों के द्वारा ही **वाञ्छित अर्थः** इष्ट अर्थ **अभिधीयते** कहा जाता है **सः** वह **स्वरार्थः** 'स्वरार्थ' (प्रबन्ध) **तैः शुद्धमिश्रितैः** उन शुद्ध (और) मिश्रित (स्वराक्षरों) के द्वारा **शुद्धः मिश्रः** शुद्ध और मिश्र (यों) **द्विधा** दो प्रकार से (होता है)। **अस्य** इसकी **ग्रह-न्यासः** ग्रह में समाप्ति (होती है)। **असौ** यह (स्वरार्थ प्रबन्ध) **एक-आदिकैः सप्तधा स्वरैः** एक से (लेकर) सात तक स्वरों के द्वारा **भूयः** बहुत प्रकार का (होता है)। **क्रम-उत्क्रमाभ्यां** क्रम और व्युत्क्रम से **द्विस्वर-आदयः** द्विस्वर आदि (वाले) **बहुशः भिद्यन्ते** बहुत भेद होते हैं।

(सर०) प्रबन्ध की 'स्वरार्थ' संज्ञा अन्वर्थ है क्योंकि जहाँ स्वराक्षर ही अर्थ के वाचक हों वह स्वरार्थ होता है। जैसे— 'गगरी सिर पर धरी' आदि के लिये गगरि सरि परि धरि आदि स्वराक्षरों से गीत बनाया जाय।

जिसमें सिर्फ़ स्वराक्षरों का ही प्रयोग हो वह शुद्ध स्वरार्थ होता है और जिसमें स्वराक्षरों के साथ दूसरे वर्णों का भी प्रयोग हो वह मिश्र स्वरार्थ कहलाता है। **ग्रहन्यासः** का कल्लि० ने ग्रह में न्यास अर्थ किया है लेकिन अन्यत्र 'ग्रह' को उसने उद्ग्राह कहा है। सिंह० ने 'ग्रहन्यासः' को शुद्ध और मिश्र के साथ जोड़ कर अर्थ यह किया है कि ग्रह और न्यास में शुद्ध स्वरों से शुद्ध भेद और मिश्रित स्वरों से बद्ध मिश्र भेद होता है।

'एक से सात स्वरों के द्वारा' का आशय यह है कि एक स्वर हो और एक अर्थ का वाचक पद हो और इसी तरह २, ३, ४, ५, ६ या ७ स्वर हों और एक-एक अर्थ वाचक पद हो तो ७ शुद्ध भेद होते हैं। इसी तरह मिश्र के भी ये भेद बनेंगे। भूयः से शुद्ध और मिश्र दोनों में ही ये ७-७ भेद सूचित होते हैं।

दो स्वर आदि से क्रम और व्युत्क्रम के द्वारा दोनों भेदों के ६-६, कुल १२ प्रकार होते हैं। एक स्वर में व्युत्क्रम (उलटना) संभव नहीं है इसलिये 'दो स्वर आदि' कहा है। व्युत्क्रम होने पर अनन्त भेद हो सकते हैं इसलिये बहुशः का प्रयोग किया है।

कल्लि० के अनुसार स्वरों के वाचक वर्ण यहाँ स्वर (अंग) नहीं रह जाते बल्कि उन्हें ही सार्थक पद बना दिया जाता है इसलिये पद और ताल दो ही अंग रहते हैं अतः स्वर को तीसरा अंग नहीं मानना चाहिये।

इस प्रकार नियम के अनुसार यानी स्वराक्षरों से उद्ग्राह और ध्रुव गाकर अन्य पदों से आभोग गाना चाहिये। तदनुसार त्रिधातुक है, तालादि का नियम न होने से अनिर्युक्त और स्वर, पद से बद्ध होने के कारण तारावली जाति का प्रबन्ध है।

(१३. ध्वनिकुट्टनी)

ध्रुवोद्ग्राहौ भिन्नतालौ मण्ठकङ्कालवर्जितौ।
यस्यां समासु मात्रासु यतिर्मेलापको न च॥ २२४॥

तालद्वयेन सा गेया ढेङ्कीवद् ध्वनिकुट्टनी।

१३-ध्वनिकुट्टनी

२२४-२२५ ख. (अ०) **यस्यां** जिसमें **मण्ठ-कङ्कालवर्जितौ** मण्ठ और कंकाल को छोड़ कर **भिन्नतालौ** दो भिन्न तालों वाले **ध्रुव-उद्ग्राहौ** उद्ग्राह और ध्रुव (हों), **समासु मात्रासु यतिः** सम मात्राओं पर यति (हो) **मेलापकः न च** और मेलापक न हो **सा ध्वनिकुट्टनी** वह 'ध्वनिकुट्टनी' **ढेङ्कीवत्** ढेंकी (प्रबन्ध) के समान **तालद्वयेन गेया** दो तालों से गाई जानी चाहिये।

(सर०) मंठ और कंकाल तालों का इसमें प्रयोग नहीं होता तथा ढेंकी प्रबन्ध की तरह उद्ग्राह और ध्रुव दो अलग-अलग तालों में अलग-अलग लयों में गाए जाते हैं। यति यानी पदों के बीच विच्छेद समान संख्या की मात्राओं पर किया जाता है। सिंह० ने यति को यतिताल समझा है। ढेंकी में मेलापक के लिये विकल्प है, यहाँ उसका निषेध किया है।

कल्लि० के आधार पर यह त्रिधातु प्रबन्ध है, तालनियम होने से निर्युक्त है और पद, ताल दो अंगों से बँधा तारावली जाति का है। यह विचारणीय है कि यहाँ तालविशेष का नाम न होते हुए भी कल्लि० ने तालनियम कह कर निर्युक्त कहा है जब कि अन्यत्र ऐसी स्थिति में प्रबन्ध को अनिर्युक्त माना है।

(१४. आर्या)

अर्धान्ते चरणान्ते वा स्वरान् न्यस्यार्धमादिमम्॥ २२५॥

द्विरार्याछन्दसो गीतं सकृद्गीतं दलान्तरम्।
यत्राभोगे गातृनाम सार्या स्याद् ग्रहमुक्तिका॥ २२६॥

१४-आर्या

२२५ ग-२२६. (अ०) **आर्या छन्दसः अर्ध-अन्ते** आर्या छन्द के अर्धान्त (अर्थात् पहले दल के अन्त) में **चरण-अन्ते वा** या चरणान्त (यानी चार चरण मानने पर पहले और तीसरे चरण के अन्त) में **स्वरान् न्यस्य** स्वरों को न्यस्त करके (रख कर उनसे समाप्त करके) **आदिमम् अर्धं** पहला अर्ध (अर्थात् प्रथम दल) **द्विः** दो बार **गीतं** गाया गया (हो और) **दल-अन्तरं** दूसरा दल **सकृत् गीतम्** एक बार गाया गया (हो), **यत्र** जिसमें **आभोगे गातृनाम** आभोग में गाता का नाम (हो) **सा** वह **ग्रहमुक्तिका** ग्रह (उद्ग्राह) में समाप्त होने वाली **आर्या स्यात्** 'आर्या' होती है।

(सर०) आर्या छन्द में दो दल होते हैं और उनके दो-दो भाग करके चार चरण भी माने जाते हैं। आर्या प्रबन्ध में या तो पहले दल के अन्त में या चरण के अन्त में स्वर गाकर समाप्त किया जाता है। दोनों ही व्याख्याकारों ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि **चरणान्ते** से कौनसा चरण समझना चाहिये। पहला दल उद्ग्राह और दूसरा दल ध्रुव कहलाता है। इसलिये पहला अर्ध यानी उद्ग्राह दो बार और दूसरा अर्ध यानी ध्रुव एक बार गाया जाता है।

सिंह० ने **सकृत् गीतं** का भिन्न अर्थ दिया है। उसके अनुसार दूसरा दल अन्य गीति जैसी धातु को आधा करके अर्थात् 'सार्ध' (डेढ़) गीति का होना चाहिये। लेकिन इसका आशय स्पष्ट नहीं है।

लक्ष्मीः स्याद् वृद्धिबुद्धी च लीला लज्जा क्षमा तथा।
दीर्घा गौरी ततो राजी ज्योत्स्ना छाया च कान्तिका॥ २२७॥

मही मतिस्ततः कीर्तिरथ ज्ञेया मनोरमा।
स्याद्रोहिणी विशाला च वसुधा शिवया सह॥ २२८॥

हरिणी चाथ चक्राख्या सारसी कुररी तथा।
हंसी वधूरिति प्रोक्ता आर्याः षड्विंशतिः क्रमात्॥ २२९॥

षष्ठादन्यैर्गणैः सर्वगुरुभिः प्रथमा पराः।
एकादिगुरुभङ्गेण क्रमाल्लक्ष्माण्यमूनि तु॥ २३०॥

छन्दोलक्षणतो ज्ञेयाः शेषा भूरितरा भिदाः।

२२७-२३१ ख. (अ०) **लक्ष्मीः स्यात्** (पहली आर्या) लक्ष्मी होती है, **वृद्धि-बुद्धी च** वृद्धि और बुद्धि, **लीला लज्जा तथा क्षमा** लीला, लज्जा और क्षमा, **दीर्घा गौरी** दीर्घा, गौरी **ततः** तब **राजी ज्योत्स्ना** राजी, ज्योत्स्ना, **छाया कान्तिका च** छाया और कान्तिका, **मही मतिः** मही, मति, **ततः कीर्तिः** उसके बाद कीर्ति **अथ मनोरमा ज्ञेया** अब मनोरमा जानी गई (है) तथा **रोहिणी विशाला च स्यात्** रोहिणी और विशाला होती है। **शिवया सह वसुधा** शिवा के साथ वसुधा **हरिणी च** और हरिणी, **अथ** अब **चक्रा-आख्या** चक्रा नामक, **सारसी तथा कुररी** सारसी और कुररी, **हंसी वधूः** हंसी (और) वधू **क्रमात्** क्रम से **इति ये षट्-विंशतिः आर्याः** छब्बीस आर्या **प्रोक्ताः** कही गई (हैं)। **सर्वगुरुभिः प्रथमा** सारे गुरुओं से पहली (लक्ष्मी) **षष्ठात् अन्यैः गणैः** (और) छठे के अतिरिक्त गणों के द्वारा **क्रमात्** क्रम से **एक-आदि-गुरुभङ्गेण** पहले आदि (से शुरू करके) गुरु का भंग करने से **पराः** अन्य (आर्या) **अमूनि तु** ये तो (इनके) **लक्ष्माणि** लक्षण (हैं)। **शेषाः भूरितराः भिदाः** शेष अनेक भेद **छन्दः लक्षणतः ज्ञेयाः** छन्दःशास्त्र से जानने चाहियें।

(सर०) आर्या छन्द के प्रथमार्ध में ७ गण होते हैं और अन्त में एक गुरु होता है और सभी गण चतुर्मात्रिक होते हैं। चतुर्मात्रिक गण ५ होते हैं—ऽऽ, ऽ।।, ।ऽ।, ।।ऽ, ।।।। । आर्या के दोनों दलों में छठा गण नगण और १ लघु अर्थात् चारों लघु वाला होता है। कभी-कभी इसके स्थान पर जगण (।ऽ।) भी होता है। यह स्थायी नियम छठे गण के बारे में ही है, अन्य गणों में परिवर्तन करके अनेक भेद बनते हैं। इसीलिये आर्या प्रबन्ध में भी छठे गण को छोड़ कर अन्य गणों में गुरु का भंग करने के लिये कहा है।

हर दल में ७ गण और अन्त में गुरु है। इनमें से छठे को छोड़ देने पर ६ चतुर्मात्रिक गण और १ गुरु—यों कुल १३ गुरु एक दल में और इसी तरह दूसरे दल में १३ मिला कर २६ गुरु होते हैं।

आर्या प्रबन्ध का पहला भेद सर्वगुरु वाला होता है। फिर पहले गुरु से शुरू करके क्रम से अगले १-१ गुरु को जोड़कर उनका भंग करके अन्य भेद बनते हैं। जोड़ने का अर्थ है पहले एक, फिर दो, फिर तीन और इसी तरह १-१ बढ़ा कर पच्चीस गुरुओं का भंग करके यानी एक गुरु के स्थान पर दो लघु रख कर ये भेद बनते हैं। आर्या के अन्तिम गुरु का भंग नहीं होता इसलिये २६ गुरुओं में से २५ का भंग करके २५ भेद और पहला सर्वगुरु वाला भेद मिला कर २६ भेद हुए। इसी क्रम से गुरुओं का भंग करके क्रम से कारिकाओं में कहे गए २६ भेद बनते हैं।

आर्या छन्द के बहुत भेद होते हैं जिनके लक्षण छन्दःशास्त्र में दिए गए हैं। उनके आधार पर आर्या प्रबन्ध भी अनेक प्रकार का हो सकता है।

अनेक प्रबन्ध लक्षणों में ग्रन्थकार ने मेलापक हो या न हो इस बारे में कोई स्पष्ट विधान नहीं किया है। कल्लि० ने उनमें से अनेक की टीका में कहा है कि अनुक्त होते हुए भी गाता, नेता और प्रबन्ध के नाम से अंकित पदों से आभोग गाना चाहिये। लेकिन आर्या में कल्लि० ने मेलापक ग्रन्थकार द्वारा अनुक्त होने से इस प्रबन्ध को त्रिधातु ही कहा है। इससे यह प्रकट होता है कि संभवतः तत्कालीन लक्ष्य में इन प्रबन्धों का जो स्वरूप रहा होगा उसके अनुसार कल्लि० ने व्याख्या में कुछ प्रबन्धों में अनुक्त खण्ड का ग्रहण किया है।

कल्लि० के अनुसार आर्या त्रिधातु प्रबन्ध है, छन्द नियम होने से निर्युक्त है और स्वर, पद, तालबद्ध भावनी जाति का है।

(१५. गाथा)

आर्यैव प्राकृते गेया स्यात् पञ्चचरणाथवा॥ २३१॥
त्रिपदी षट्पदी गाथेत्यपरे सूरयो जगुः।

१५-गाथा

२३१ ग-२३२ ख. (अ०) **आर्या एव** आर्या ही **प्राकृते** प्राकृत (भाषा) में **अथवा पञ्चचरणा** अथवा पाँच चरण वाली **गेया स्यात्** गाई जाती है (तो 'गाथा' होती है)। **अपरे सूरयः** अन्य आचार्य **त्रिपदी षट्पदी** त्रिपदी (या) षट्पदी **गाथा** गाथा (होती है) **इति जगुः** ऐसा कहते हैं।

(सर०) आर्या को ही प्राकृत भाषा में गाने से वह 'गाथा' हो जाती है। कल्लि० ने कहा कि इससे यह सूचित होता है कि आर्या संस्कृत में रचित पद वाली ही होती है। अन्य सभी लक्षण गाथा में आर्या के ही रहते हैं। उसके अनुसार कुछ लोगों के मत से गाथा ४ के स्थान पर ३, ५ या ६ चरण वाली होती है और आर्या प्रबन्ध से इसका भेद भाषा के द्वारा नहीं चरण कम-ज़्यादा होने से होता है।

सिंह० का पाठ 'पञ्चचरणा' के स्थान पर 'पञ्चगणा' है। तदनुसार उसने गाथा को प्राकृत भाषा से अथवा पाँच चगण वाली मात्राओं से रचित कहा है और मतान्तर से तीन पाद वाली और ६ पाद वाली—ये दो भेद कहे।

(१६. द्विपथः)

छन्दसा द्विपथेन स्याद् द्विपथः स्वरमुक्तिकः॥ २३२॥
तालहीनः सतालो वा,

१६-द्विपथ

२३२ ग-२३३ क. (अ०) **द्विपथः** द्विपथ (प्रबन्ध) **द्विपथेन छन्दसा** द्विपथ छन्द से, **सतालः तालहीनः वा** तालयुक्त अथवा तालरहित (और) **स्वरमुक्तिकः** स्वर से समाप्ति वाला होता है।

(सर०) कल्लि० ने कहा कि द्विपथ और दोधक पर्याय हैं। दोधक में ३ भगण और अन्त में २ गुरु होते हैं (वृ० र०, ३/३३)। सताल द्विपथ किसी भी एक ताल से युक्त हो सकता है।

स च ज्ञेयश्चतुर्विधः।
स्वैरेकोऽन्यः प्रयोगैः सोभयानुभयौ परौ॥ २३३॥

२३३ ख-घ. (अ०) **सः च** और वह (द्विपथ प्रबन्ध) **चतुर्विधः ज्ञेयः** चार प्रकार का जाना गया (है)—**एकः स्वैः** एक स्वरों से, **अन्यः प्रयोगैः** दूसरा 'प्रयोगों' से **परौ** अन्य दो (तीसरा और चौथा) **स-उभय-अन्-उभयौ** (क्रम से) दोनों से और दोनों के बिना।

(सर०) द्विपथ का प्रथमार्ध उद्ग्राह और द्वितीयार्ध ध्रुव होता है। पहले भेद में उद्ग्राह और ध्रुव दोनों केवल स्वरों से गाए जाते हैं, दूसरे में दोनों में केवल प्रयोग यानी गमकालप्ति होती है, तीसरे में उद्ग्राह स्वरों से और ध्रुव 'प्रयोग' से गाया जाता है और चौथे में स्वर और प्रयोग दोनों ही नहीं होते, सिर्फ़ पद होते हैं क्योंकि सामान्य नियम के अनुसार स्वर और प्रयोग के अभाव तथा पाटादि का उल्लेख न होने की स्थिति में पद का ही ग्रहण होता है। इन सभी भेदों में पदों से आभोग रहता है।

इन भेदों में से दूसरे और चौथे भेद जिनमें सिर्फ़ प्रयोग होता है या स्वर और प्रयोग दोनों ही नहीं होते वे ताल के बिना नहीं हो सकते क्योंकि प्रयोग प्रबन्ध के ६ अंगों में नहीं है इसलिये सिर्फ़ प्रयोग-युक्त भेद में आभोग में केवल एक अंग पद रहता है और चौथे भेद में स्वर और प्रयोग दोनों के न होने से उसमें भी केवल पद होता है। इस तरह इनमें एक ही अंग रहता है जो विहित नहीं है इसलिये द्विपथ प्रबन्ध के पहले और तीसरे भेद ही तालरहित हो सकते हैं जिनमें स्वर अंग भी होता है।

स्वरमुक्तिकः द्विपथ प्रबन्ध का सामान्य लक्षण है लेकिन दो भेदों में ही स्वर होते हैं। उस स्थिति में यह लक्षण कैसे

उपपन्न होगा—कल्लि० ने ऐसी शंका उठा कर समाधान यह दिया कि दो भेदों में तो उद्ग्राह स्वरबद्ध होता ही है, जिन दो भेदों में स्वर का अभाव होता है उनमें भी स्वर के द्वारा उद्ग्राह उपलक्षित होता है अर्थात् उनमें समाप्ति उद्ग्राह से करनी चाहिये, ऐसा अभिप्राय है इसलिये (लक्षण में) कोई दोष नहीं है।

प्राकृते दोहसंज्ञोऽसौ तस्य भेदा नव त्विमे।
सारसो भ्रमरो हंसः कुररश्चन्द्रलेखकः॥ २३४॥

कुञ्जरस्तिलको हंसक्रीडोऽप्यथ मयूरकः।

२३४-२३५ ख. (अ०) प्राकृते प्राकृत में असौ यह (द्विपथ) दोहसंज्ञः 'दोह' संज्ञा वाला (है)। तस्य तु उसके तो इमे नव भेदाः ये नौ भेद (हैं)—सारस, भ्रमर, हंस, कुरर, चन्द्रलेख, कुञ्जर, तिलक, हंसक्रीड और मयूर।

(सर०) द्विपथ जब प्राकृत में रचित होता है तो उसकी दोह संज्ञा होती है, संस्कृत में द्विपथ या दोधक कहा जाता है।

त्रयोदशायुजि समे मात्रा द्वादश सारसे॥ २३५॥

ओजेऽङ्घ्रौ मनवो मात्रा भ्रमरे रवयः समे।
मात्राः पञ्चदशायुग्मे हंसे युग्मे त्रयोदश॥ २३६॥

त्रयोदशायुजि कलाः कुररे मनवो युजि।
ओजे कलाश्चन्द्रलेखे तिथयो रवयः समे॥ २३७॥

त्रयोदशायुजि कलाः कुञ्जरे तिथयः समे।
मात्राः पञ्चदशायुग्मे तिलके मनवः समे॥ २३८॥

त्रयोदशासमे हंसक्रीडे युग्मे कलाः कलाः।
यद्येषामर्धयोरन्ते पञ्चादिलघुभिः शिखा॥ २३९॥

तं शिखाद्विपथं प्राहुर्मयूरमपि सूरयः।
एतेषु व्यत्ययेनापि चरणानां स्थितिर्भवेत्॥ २४०॥

२३५ ग-२४०. (अ०) सारसे सारस में अयुजि विषम (चरणों) में त्रयोदश तेरह (और) समे सम (चरणों) में द्वादश मात्राः बारह मात्राएँ (होती हैं)। भ्रमरे भ्रमर में ओजे अङ्घ्रौ दोनों विषम चरणों में मनवः चौदह (तथा) समे सम (चरणों) में रवयः बारह मात्राः मात्राएँ (होती हैं)। हंसे हंस में अयुग्मे विषम (चरणों) में पञ्चदश पन्द्रह (और) युग्मे सम (चरणों) में त्रयोदश मात्राः तेरह मात्राएँ (होती हैं)। कुररे कुरर में अयुजि विषम (चरणों) में त्रयोदश तेरह, युजि सम (चरणों) में मनवः कलाः चौदह मात्राएँ (होती हैं)। चन्द्रलेखे चन्द्रलेख में ओजे विषम (चरणों) में तिथयः पन्द्रह, समे सम में रवयः कलाः बारह मात्राएँ (होती है)। कुञ्जरे कुञ्जर में अयुजि त्रयोदश विषम में तेरह, समे तिथयः कलाः सम (चरणों) में पन्द्रह कलाएँ (होती हैं)। तिलके तिलक में अयुग्मे पञ्चदश विषम में पन्द्रह, समे सम (चरणों) में मनवः चौदह (मात्राएँ होती हैं)। हंसक्रीडे हंसक्रीड में असमे त्रयोदश विषम में तेरह (और) युग्मे सम (चरणों) में कलाः सोलह कलाः मात्राएँ (होती हैं)। यदि यदि एषाम् अर्धयोः अन्ते इन (भेदों) में आधे के अन्त में पञ्च-आदिलघुभिः पाँच आदि (कम से कम पाँच) लघुओं से शिखा 'शिखा' (हो तो) तं शिखाद्विपथम् उस शिखाद्विपथ को सूरयः विद्वान् मयूरम् अपि मयूर भी प्राहुः कहते हैं। एतेषु इनमें व्यत्ययेन अपि (मात्राओं के) क्रम परिवर्तन से भी चरणानां चरणों की स्थितिः भवेत् स्थिति होती है।

(सर०) द्विपथ में चरणों की मात्रासंख्या के अन्तर से ये ९ भेद बने हैं। मनु चौदह माने गए हैं इसलिये मनु से १४ संख्या सूचित की जाती है। रवि (सूर्य) बारह माने गए हैं इसलिये रवि १२ संख्या का वाचक है। तिथियाँ १५ होती हैं तदनुसार तिथि १५ संख्या की सूचक है। चन्द्रमा की कलाएँ १६ होती हैं इसलिये कला के द्वारा १६ संख्या सूचित होती है।

शिखा (शिखापद) का उल्लेख कणटैला (कारिका १२६) में हो चुका है। कल्लि० के अनुसार शिखा चरणों के बीच में या अन्त में हो सकती है लेकिन कम से कम ५ लघु या पाद की कुल मात्राओं की पूर्ति तक ६ या ७ लघुओं के द्वारा होती है। इसे 'शिखाद्विपथ' या 'मयूरद्विपथ' कहा जाता है। पूर्वोक्त सभी चार भेदों में इन ९ भेदों की योजना होती है।

शिखापद वाले द्विपथ में मात्रासंख्या का चरणों में क्रम परिवर्तन करके यानी विषम चरणों में सम और सम चरणों में विषम की मात्रासंख्या की योजना भी की जा सकती है।

अर्धयोरन्ते का अर्थ कल्लि० के अनुसार अर्धों में अर्थात् बीच-बीच में या पादान्त में है। लेकिन सिंह० ने अर्धों के अन्त में अर्थ किया है जो, मूल में कल्लि० जैसा विकल्प न होने से, ज्यादा सही लगता है।

भवन्त्येकादिपादानां सकृद्द्विर्गानभेदतः।
द्विपथा भूरिभेदास्ते लक्ष्या लक्ष्येषु सूरिभिः॥ २४१॥

२४१. (अ०) **एक-आदिपादानाम्** एक आदि (अर्थात् एक से शुरु करके) चरणों को **सकृत् द्विः गानभेदतः** एक (और) दो बार गाने के भेद से **द्विपथाः** द्विपथ (प्रबन्ध) **भूरिभेदाः भवन्ति** बहुत भेदों वाले होते हैं। ते वे **सूरिभिः** विद्वानों के द्वारा **लक्ष्येषु** लक्ष्यों में **लक्ष्याः** लक्षित होते हैं (अर्थात् देख लेने चाहियें)।

(सर०) एकादिपादों के एक या द्विर्गानभेद का अर्थ यह है कि पहले प्रथम पाद का एक बार गान और अन्य पादों का दो बार, फिर पहले-दूसरे का एक बार और अन्यों का दो बार, फिर प्रथम तीन का एक बार और चौथे का दो बार और इसी तरह गाने से अन्य बहुत से भेद उत्पन्न होते हैं। उनके नाम आदि न देकर ग्रन्थकार ने यह कह दिया है कि विद्वानों के द्वारा उन भेदों को लक्ष्य के द्वारा समझ लेना चाहिये।

मेलापक न होने से यह प्रबन्ध त्रिधातु, छन्द नियम से निर्युक्त, स्वर-पद-तालबद्धता के कारण भावनी जाति का और स्वर न हो तो तारावली जाति का है।

(१७. कलहंसः)

छन्दसः कलहंसस्य पादैरन्ते स्वरान्वितैः।
कलहंसः स्वरे न्यासो गेयो झम्पादितालतः॥ २४२॥

वर्णजो मात्रिकश्चेति कलहंसो द्विधा मतः।
गद्यात्मा चेत् स्वरान् गीत्वा ततः पदनिवेशनम्॥ २४३॥

१७-कलहंस

२४२-२४३. (अ०) **कलहंसस्य छन्दसः** कलहंस छन्द से, **अन्ते** अन्त में **स्वर-अन्वितैः पादैः** स्वर से अन्वित पादों से, **स्वरे न्यासः** स्वर में न्यास वाला **कलहंसः** 'कलहंस' (प्रबन्ध) **झम्पा-आदितालतः गेयः** झम्पा आदि ताल से गाया जाना चाहिये। **वर्णजः मात्रिकः च इति** वर्णज और मात्रिक यों **कलहंसः द्विधा मतः** कलहंस दो प्रकार से माना गया (है)। **स्वरान् गीत्वा चेत्** यदि स्वरों को गाकर **ततः** उसके बाद **पदनिवेशनं** पदों का निवेश (हो तो) **गद्यात्मा** गद्यात्मा (होता है)।

(सर०) कलहंस छन्द का लक्षण विभिन्न ग्रन्थों में अलग-अलग है। कल्लि० ने हंस नामक छन्द को ही कलहंस कहते

हुए ना० शा० से जो लक्षण और उदाहरण उद्धृत किया है उसके अनुसार १२ अक्षर प्रति चरण वाली जगती जाति के हंस में २, ४, ६, ७, १० और १२ संख्यक अक्षर गुरु होते हैं। लेकिन ना० शा० के बड़ौदा संस्क० में हंसास्य नाम से जो लक्षण और उदाहरण प्राप्त है उसमें दूसरे के स्थान पर तीसरा गुरु है। इस श्लोक की टीका में अभिनव द्वारा किसी ग्रन्थ से उद्धृत अंश में दिया गया लक्षण भी ना० शा० के इस लक्षण की ही पुष्टि करता है (ना० शा, ३२/२९०-९१ और अभि०)।

इस प्रबन्ध में हर पाद के अन्त में स्वर प्रयुक्त होते हैं। स्वर से न्यास करने का अर्थ कल्लि० के आधार पर यह है कि प्रथम पाद के अन्त में प्रयुक्त स्वरों के शुरू के कुछ स्वर गाकर समाप्त करना चाहिये। झम्प के साथ 'आदि' के द्वारा यह सूचित होता है कि झम्पा ताल में जितनी मात्रा होती हैं उतनी ही मात्रा के किसी दूसरे देशीताल का प्रयोग भी किया जा सकता है। तालाध्याय में झम्पाताल का लक्षण विरामान्त दो द्रुत और एक लघु है।

सिंह० के अनुसार वर्णगणों से निर्मित भेद वर्णज और मात्रागणों से रचित मात्रिक होता है। लेकिन कल्लि० ने वर्णज को पद्यरूप और मात्रिक को गद्यरूप कहा है। उसके अनुसार नियत गणों से बद्ध होने के कारण वर्णज पद्यरूप होता है और मात्रिक अनियत गणों के कारण गद्यरूप होता है। लेकिन दोनों में मात्रासंख्या समान होती हैं अन्यथा कलहंस की प्रकृति का ही अभाव हो जायगा।

जब यह प्रबन्ध गद्यरूप होता है तो हर पाद के शुरू में पहले स्वर प्रयुक्त होते हैं और फिर पद। पहला अर्ध उद्ग्राह और उत्तरार्ध ध्रुव होता है, आभोग अलग से करना चाहिये। इस प्रकार त्रिधातुक है, छन्द और ताल आदि के नियम से निर्युक्त है तथा स्वर, पद और तालयुक्त होने से त्र्यंग भावनी जाति का है।

(१८. तोटकः)

तोटकच्छन्दसा न्यस्तस्वरोऽङ्घ्र्यन्ते तु तोटकः।

१८-तोटक

२४४ क-ख. (अ०) **तोटकच्छन्दसा** तोटक छन्द के द्वारा **अङ्घ्र्यन्ते तु** पादों के अन्त में तो **न्यस्तस्वरः** स्वरों से समाप्ति वाला **तोटकः** 'तोटक' (प्रबन्ध) होता है।

(सर०) तोटक छन्द जगती जाति में प्रतिचरण १२ अक्षर वाला और हर चरण चार सगणों से युक्त होता है। तोटक छन्द से बद्ध और हर पाद के अन्त में स्वर से समाप्ति हो तो वह तोटक प्रबन्ध कहा जाता है।

ननु वृत्ते वक्ष्यमाणे पुनरुक्तोऽत्र तोटकः॥ २४४॥

सत्यं किन्तु मते येषां वृत्तं वृत्ताख्यवृत्ततः।
तन्मते तोटकस्येह नैवास्ति पुनरुक्तता॥ २४५॥

२४४ ग-२४५. (अ०) **ननु** शंका है कि **वक्ष्यमाणे वृत्ते** आगे कहे जाने वाले वृत्त (नामक प्रबन्ध) में (किसी भी छन्द से—इस लक्षण के कारण) **तोटकः** तोटक **अत्र** यहाँ **पुनरुक्तः** पुनरुक्त (है)। **सत्यं** सत्य (है)। **किन्तु** लेकिन **येषां मते** जिनके मत में **वृत्त-आख्यवृत्ततः** वृत्त नामक वृत्त से **वृत्तं** वृत्त (प्रबन्ध होता है) **तत् मते** उस मत में **तोटकस्य** तोटक (प्रबन्ध) की **इह** यहाँ **पुनरुक्तता** पुनरुक्ति **न एव अस्ति** नहीं ही (बिल्कुल नहीं) है।

(सर०) कुछ आगे चल कर (२४६ ग-२४८ ख) वृत्त प्रबन्ध किसी भी छन्द से कहा गया है। 'किसी भी' कहने से उसमें तोटक भी आ जाता है इसलिये यहाँ अलग से तोटक छन्द से तोटक प्रबन्ध कहने में पुनरुक्ति दोष आ जाता है—यही शंका ग्रन्थकार ने यहाँ उठाई है और उसे आधा स्वीकार करके आधे का इस तरह समाधान किया है। अगर वृत्तं नामक छन्द

से वृत्त प्रबन्ध वाले मत को स्वीकार किया जाय तो इस शंका का निवारण हो जाता है क्योंकि उस स्थिति में वृत्त प्रबन्ध वृत्त के अलावा किसी दूसरे छन्द में बद्ध नहीं होता।

कल्लि० ने यह स्पष्ट किया कि यहाँ तोटक की ही पुनरुक्ति कहना उपलक्षण है। इससे पहले कहे गए कन्द, तुरगलील, गंजलील, क्रौञ्चपद, आर्या, गाथा, द्विपथ, कलहंस आदि छन्दों का भी वृत्त में अन्तर्भाव होने से उनकी भी पुनरुक्ति समझ लेनी चाहिये। इस कारण ग्रन्थकार ने आधा स्वीकार करके वृत्त प्रबन्ध में वृत्त छन्द वाले मत के आधार पर शेष आधे का और इसी तर्क से पूर्वोक्त कन्द आदि की पुनरुक्ति का भी परिहार कर दिया है।

कल्लि० ने तोटक के पूर्वार्ध को उद्ग्राह, उत्तरार्ध को ध्रुव और पदों से आभोग कहा है। इस प्रकार यह त्रिधातु प्रबन्ध है, छन्द के नियम से निर्युक्त है और स्वर, पद, तालबद्ध होने से भावनी जाति का है।

(१९. घटः)

तेनैरर्धं द्विपद्यर्धं घटस्तेनकमुक्तिकः।

१९-घट

२४६ क-ख. (अ०) **अर्धं तेनैः** (द्विपदी का) आधा तेनकों के द्वारा (और) **द्विपदी अर्धम्** आधा द्विपदी का (तथा) **तेनकमुक्तिकः** तेनक में समाप्ति वाला **घटः** घट (प्रबन्ध होता है)।

(सर०) द्विपदी प्रबन्ध का निरूपण पहले किया जा चुका है। जितनी मात्राओं से उसका आधा हो जाय उतनी मात्राओं में उद्ग्राहसंज्ञक पूर्वार्ध को तेनकों के द्वारा और शेष आधे (उत्तरार्ध) को ध्रुव बना कर पदों से बद्ध करके उसकी समाप्ति तेन से यानी उद्ग्राह में की जाय तो 'घट' प्रबन्ध होता है।

द्विपदी के उत्तरार्ध को अन्य मत से स्वरयुक्त कहा गया है। इसके अनुसार घट के ध्रुव में पदों के स्थान पर विकल्प से स्वरों का प्रयोग होगा।

उद्ग्राह और ध्रुव के अलावा पदों से आभोग होने से त्रिधातुक, छन्दोबद्धता से निर्युक्त और तेन, पद, ताल के द्वारा भावनी जाति का तथा चौथा अंग स्वर भी हो तो दीपनी जाति का प्रबन्ध है।

कल्लि० ने ध्यान दिलाया है कि आलिक्रम प्रबन्धों में कोई निश्चित क्रम नहीं होता यह दिखाने के लिये ग्रन्थकार ने क्रम का उल्लंघन करके पहले घट प्रबन्ध का निरूपण किया है। संभवतः आलिक्रम प्रबन्धों के उद्देश में २६वें श्लोक के कल्लि० के पाठ में घट और वृत्त के स्थान पर वृत्त और घट का क्रम रहा होगा इसीलिये यहाँ क्रम के उल्लंघन की चर्चा की है।

(२०. वृत्तम्)

छन्दसा येन केनापि तालेनेष्टेन गीयते॥ २४६॥

वृत्तं तस्य च पादान्ते वृत्तान्ते वा स्वरान् क्षिपेत्।
स्वरहीनं तदित्यन्ये वृत्तच्छन्दसि चापरे॥ २४७॥

छन्दश्चित्यां विचेतव्याश्छन्दसां बहवो भिदाः।

२०-वृत्त

२४६ ग-२४८ ख. (अ०) **येन केन-अपि छन्दसा** जिस किसी भी छन्द से **इष्टेन तालेन** इच्छित ताल से **वृत्तं गीयते** 'वृत्त' (प्रबन्ध) गाया जाता है **तस्य च** और उस (प्रबन्ध) के **पाद-अन्ते** चरण के अन्त में **वृत्त-अन्ते वा** अथवा (पूरे) वृत्त (प्रबन्ध) के अन्त में **स्वरान् क्षिपेत्** स्वरों को डालना चाहिये। **तत्** वह (वृत्त प्रबन्ध) **स्वरहीनम् इति अन्ये** स्वरहीन (होता है) ऐसा अन्य (मत) में (कहते हैं) **अपरे च** और (उससे) अन्य (मत) में **वृत्तच्छन्दसि** वृत्त (नामक) छन्द में (रचित कहते हैं)। **छन्दसां** छन्दों के **बहवः भिदाः** बहुत (से अन्य) भेद **छन्दःचित्यां विचेतव्याः** छन्दश्चिति (नामक ग्रन्थविशेष अथवा छन्दःशास्त्र) में देख लेने चाहियें।

(सर०) इच्छानुसार किसी भी छन्द और किसी भी ताल में 'वृत्त' प्रबन्ध रचित किया जा सकता है और उसमें या तो चरणों के अन्त में या फिर पूरे प्रबन्ध के अन्त में स्वर नामक अंग प्रयुक्त होता है। मतान्तर से वृत्त प्रबन्ध स्वर के बिना गाया जाता है और एक अन्य मत से यह वृत्त नामक छन्द में ही गाया जाता है। २० अक्षर वाली कृति जाति के वृत्त छन्द में १० बार लघु-गुरु के क्रम से अक्षर योजना होती है (हेमचन्द्र का छन्दोऽनुशासन, २/३३५)।

कारिका २४७ में मुद्रित पाठ **वृत्तं छन्दसि** है। सिंह० की व्याख्या में **वृत्तं** का अर्थ 'छन्दोविशेष' दिया है जो तोटक प्रबन्ध के लक्षण में ग्रन्थकार द्वारा उठाई गई शंका और उसके समाधान से पुष्ट होता है। लेकिन **वृत्तं छन्दसि** से 'वृत्त नामक छन्द में'—यह अर्थ उपपन्न नहीं होता इसलिये उसके बजाय **वृत्तच्छन्दसि** पाठ बनाया है।

दोनों टीकाकारों ने कारिका में कहे गए 'छन्दोचिति' ग्रन्थ का नाम 'छन्दोविचिति' दिया है। सिंह० ने व्याख्या करते हुए कहा—'छन्दोविचितिनाम्नि मदीये ग्रन्थे विलोकनीयाः' अर्थात् छन्दोविचिति नामक मेरे ग्रन्थ में देख लेने चाहियें। स्पष्ट है कि 'मदीय' शब्द ग्रन्थकार के लिये प्रयुक्त किया गया है क्योंकि कारिका में इस ग्रन्थ का नाम आया है। इसका तात्पर्य यह है कि यह ग्रन्थ स्वयं शार्ङ्गदेव द्वारा रचित होना चाहिये। लेकिन शार्ङ्गदेव का इस नाम का कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं हैं। छन्दोचिति और छन्दोविचिति शब्दों का सामान्य रूप से छन्दःशास्त्र के लिये भी प्रयोग किया जाता है।

छन्दोविचिति में छन्दों के अनेक भेदों के लक्षण देख कर 'किसी भी वृत्त से वृत्त प्रबन्ध'—इस लक्षण के अनुसार वृत्त प्रबन्ध के भी अनेक भेद समझ लेने चाहियें, यह तात्पर्य है।

(२१. मातृका)

एकैकमातृकावर्णपूर्वकाणि पदानि चेत्॥ २४८॥
क्रमेण परिगीयन्ते मातृका,

२१-मातृका

२४८ ग-२४९ ख. (अ०) **क्रमेण चेत्** यदि क्रम से **एक-एक मातृकावर्णपूर्वकानि** एक-एक मातृकावर्ण से आरम्भ (होने) वाले **पदानि** पद (शब्द) (हों तो इस प्रकार) **मातृका परिगीयन्ते** 'मातृका' गाई जाती है।

(सर०) मातृका अर्थात् मन्त्र और 'मातृकावर्ण' यानी मन्त्रों में स्थित वर्ण। क्रम से उनमें से हर वर्ण से पद शुरू करके यानी 'अ' से पहला, 'आ' से दूसरा , 'इ' से तीसरा—इस तरह रचित पद गाने पर 'मातृका' प्रबन्ध होता है।

कल्लि० के अनुसार यहाँ 'अ' से 'क्ष' तक के वर्णों से आशय है। प्रबन्ध के उद्ग्राह आदि विभाग बताते समय उसने यह भी कहा कि 'अ'कार आदि १६ से उद्ग्राह और 'क'कार आदि ३५ से ध्रुव गाना चाहिये। इस प्रकार अक्षरों की कुल संख्या ५१ होती है। दूसरी ओर सिंह० ने संख्या ५२ बताई है।

वर्ण दो तरह के होते हैं—१. स्वर और २. व्यंजन। अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, -ं, : = ये १६ स्वरवर्ण हैं। कवर्ग (क, ख, ग, घ, ङ) और इसी तरह चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और पवर्ग के २५, अन्तस्थ (य, र, ल, व) ४, ऊष्म (श, ष, स, ह) ४ और 'क्ष'— यों ३४ व्यंजन वर्ण होते हैं। किसी-किसी मत से (ळ) को भी अलग वर्ण माना गया है। उस स्थिति में व्यंजन ३५ हो जाने से स्वर और व्यंजनों को मिला कर वर्णों की कुल संख्या ५१ होती है। लेकिन ५२ फिर भी नहीं होती। वर्णों की संख्या के बारे में आचार्यों में मतान्तर है।*

सा त्रिधा मता।
दिव्या च मानुषी दिव्यमानुषी चेति तत्र तु॥ २४९॥

दिव्या संस्कृतया वाचा मार्गतालैश्च गीयते।
मानुषी प्राकृतगिरा देशीतालैश्च निर्मिता॥ २५०॥

उभयोर्मिश्रणादुक्ता मातृका दिव्यमानुषी।

२४९ ख-२५१ ख. (अ०) **सा च** और वह (मातृका) **दिव्या मानुषी दिव्यमानुषी च इति** दिव्या, मानुषी और दिव्यमानुषी यों **त्रिधा मता** तीन प्रकार से मानी गई (है)। **तत्र तु** उनमें तो **दिव्या** दिव्या **संस्कृतया वाचा** संस्कृत भाषा से **मार्गतालैः च गीयते** और मार्गतालों से गाई जाती है। **मानुषी** मानुषी **प्राकृतगिरा** प्राकृत भाषा वाली **देशीतालैः च निर्मिता** और देशीतालों से रचित (होती है)। **उभयोः मिश्रणात्** (इन) दोनों के मिश्रण से **दिव्यमानुषी मातृका उक्ता** दिव्यमानुषी मातृका कही गई (है)।

(सर०) संस्कृत देवताओं की भाषा मानी गई है और मार्गतालों का प्रयोग ब्रह्मादि द्वारा खोजे गए अनादि मार्गसंगीत में होने से संस्कृत भाषा और मार्गताल द्वारा रचित भेद को दिव्या नाम दिया है। प्राकृत भाषा और देशीताल मनुष्यों के द्वारा निर्मित हैं इसलिये इनसे युक्त मातृका को मानुषी कहा। दोनों का मिश्रण होने से दिव्यमानुषी संज्ञा हुई। कल्लि० ने मिश्रण दो तरह से बताया है। एक में एक चरण संस्कृत भाषा और मार्गताल से तथा दूसरा प्राकृत भाषा और देशीताल से तथा इसी क्रम से अन्य चरण होते हैं। दूसरे में उद्ग्राह संस्कृत भाषा और मार्गताल से तथा ध्रुव प्राकृत भाषा और देशीताल से होगा।

संस्कृत से ही विकसित और उसी के परिवर्तित रूप में प्राकृत एक विशिष्ट भाषा की संज्ञा भी है और संस्कृत से विकसित दूसरी देशीभाषाएँ भी प्राकृत कही जाती हैं। कल्लि० ने यहाँ प्राकृत शब्द का विशिष्ट भाषा के रूप में प्रयोग किया है जबकि सिंह० द्वारा देशभाषा शब्द का प्रयोग सभी देशी भाषाओं का सूचक है।

अनिबद्धा निबद्धा च द्विधा सा गद्यपद्यजा॥ २५१॥

२५१ ग-घ. (अ०) **सा** वह (मातृका) **गद्य-पद्यजा** गद्य (और) पद्य से उत्पन्न (अर्थात् रचित) **अनिबद्धा निबद्धा च** अनिबद्धा और निबद्धा **द्विधा** दो प्रकार से (कही गई है)।

(सर०) छन्द से रहित यानी गद्य में रचित मातृका गद्यजा होती है और छन्दोबद्ध पद्यजा।

सर्वमन्त्रमयी ह्येषा सर्वसिद्धिप्रदायिनी।
गातव्या नियतैर्नित्यं गीर्वाणगणवल्लभा॥ २५२॥

---

* 'मातृकाचक्रविवेक' और भास्करराय के मतानुसार 'ळ' को मातृकाओं में गिना जाता है, 'स्वच्छन्दतन्त्र' और 'तन्त्रालोक' में ५० वर्णों का ही निर्देश है। (मन्त्र और मातृकाओं का रहस्य, पृ० १०६।)

२५२. (अ०) **सर्वमन्त्रमयी** सारे मन्त्रों (की शक्ति) वाली, **सर्वसिद्धिप्रदायिनी** सारी सिद्धियाँ देने वाली, **गीर्वाणगणवल्लभा** देवगणों को प्रिय **एषा हि** यह निःसंदेह **नियतैः** नियतों (पवित्र और सावधान मन वालों) के द्वारा **नित्यं गातव्या** नित्य गाई जानी चाहिये।

(सर०) सिंह० ने **नियतैः** का अर्थ 'शुचि और सावधानों के द्वारा' किया है क्योंकि अन्यथा गान में दोष आ सकता है। उसने मातृका को सारे प्रबन्धों में प्रशस्त कहा है।

कल्लि० ने दिव्यादि भेद के अनुसार नियत वर्णपूर्वक और संस्कृत आदि भाषा के पदों से आभोग की योजना कही है अतः यह त्रिधातुक है, तालादि के नियम से निर्युक्त है और पद, तालबद्ध होने से तारावली जाति का प्रबन्ध है।

(२२. रागकदम्बः)

नन्द्यावर्तः स्वस्तिकश्च द्विधा रागकदम्बकः।
चतुर्वृत्तश्चतुस्तालो रागराजिविराजितः॥ २५३॥

नन्द्यावर्तो भवेत्तस्य तालमानद्वयेन वा।
उद्ग्राहेणाथवा न्यासो गद्येनैनं परे जगुः॥ २५४॥

तालेनैकेन केचित्तु,

२२-रागकदम्ब

२५३-२५५ क. (अ०) **नन्द्यावर्तः स्वस्तिकः च** नन्द्यावर्त और स्वस्तिक—**द्विधा रागकदम्बकः** दो प्रकार से 'रागकदम्ब' (प्रबंन्ध होता है)। **नन्द्यावर्तः** नन्द्यावर्त **चतुः वृत्तः चतुः तालः** चार वृत्त (छन्द), चार ताल (और) **रागराजिविराजितः भवेत्** रागों के समूह से शोभायमान होता है। **तालमानद्वयेन वा** या (तो) ताल के दो मानों (आवृत्तियों) से अथवा **उद्ग्राहेण** या उद्ग्राह से **तस्य न्यासः** उसकी समाप्ति (होती है)। **परे** अन्य (आचार्य) **एनम्** इसे **गद्येन जगुः** गद्य से कहते हैं **केचित् तु** (और) कुछ तो **एकेन तालेन** एक (ही) ताल से (कहते हैं)।

(सर०) नन्द्यांवर्त में ४ छन्द और ४ ताल संबन्धी लक्षण पर कल्लि० ने स्पष्ट किया कि हर वृत्त में भिन्न ताल होता है और रागों के समूह से हर पाद में या हर अर्ध में या हर वृत्त में रागभेद किया जा सकता है। संख्या का नियम वृत्त और ताल के लिये ही है, राग के लिये नहीं।

जिस वृत्त में जिस ताल का प्रयोग हो उस ताल की दो आवृत्तियों से उस वृत्त की समाप्ति होती है या उद्ग्राह में समाप्ति होती है। कल्लि० ने यह स्पष्टीकरण दिया कि झम्पा जैसे किसी कम मात्रा वाले ताल का प्रयोग होने पर तो दो आवृत्तियों से न्यास किया जा सकता है लेकिन सिंहनन्दन जैसा अधिक मात्रा वाला ताल हो तो ऐसा करना उपयुक्त नहीं है इसलिये ग्रन्थकार ने उद्ग्राह में न्यास कहा है जो दोनों स्थितियों में संभव है।

एनं से दोनों टीकाकारों ने रागकदम्ब प्रबन्ध का ग्रहण किया है। इस व्याख्या के अनुसार एक मत से यह प्रबन्ध वृत्तों के स्थान पर सिर्फ़ गद्य में रचित होता है और अन्य मत से भिन्न तालों के बजाय एक ही ताल से बद्ध होता है।

स्वस्तिको द्विगुणस्ततः।
अब्जपत्रोऽब्जगर्भश्च भ्रमराम्रेडिते मते॥ २५५॥

केषाञ्चित् पूर्वपूर्वस्मात् द्विगुणः स्यात् परः परः।

२५५ ख-२५६ ख. (अ०) **स्वस्तिकः** स्वस्तिक **ततः** उस (नन्द्यावर्त) से **द्विगुणः** दुगना (होता है)। **केषाञ्चित् मते** कुछ (आचार्यों) के मत में **अब्जपत्रः अब्जगर्भः च** अब्जपत्र और अब्जगर्भ **भ्रमर-आम्रेडिते** (तथा) भ्रमर और आम्रेडित **पूर्व-पूर्वस्मात्** पिछले-पिछले (भेद) से **परः परः** बाद-बाद वाला (भेद) **द्विगुणः स्यात्** दुगना होता है।

(सर०) इस अंश की दोनों टीकाएँ भिन्न हैं। सिंह० ने मतान्तर से दो भेद कहे हैं जिनमें से एक में अब्जपत्र और उसी के अन्तर्गत अब्जगर्भ कहा है और दूसरे में भ्रमर और आम्रेडित। उसके अनुसार स्वस्तिक में ८ वृत्त और ८ ताल कहे हैं और उसकी अपेक्षा पहले दो में यानी अब्जपत्र और अब्जगर्भ में १६ वृत्त, १६ ताल तथा इनकी अपेक्षा भ्रमर और आम्रेडित में दुगने यानी ३२ वृत्त और ३२ ताल कहे हैं।

कल्लि० ने कहा कि कुछ लोगों के मत में स्वस्तिक को ही अब्जपत्र कहते हैं यानी ८ वृत्त, ८ ताल और ८ राग से अब्जपत्र होता है। अब्जगर्भ, भ्रमर और आम्रेडित इससे दुगने-दुगने होते हैं। तदनुसार १६ वृत्त, १६ ताल और कम से कम १६ राग वाला अब्जगर्भ; इसी तरह ३२ वृत्त, ३२ ताल और ३२ रागों से युक्त भ्रमर तथा ६४ वृत्त, ६४ ताल और ६४ राग वाला आम्रेडित होता है। मतान्तर से ये सभी भेद गद्यरूप हो सकते हैं।

कारिका के साथ दोनों ही टीकाओं की संगति नहीं बैठती। कारिका से तो यही लगता है कि ये चारों स्वस्तिक के भेद हैं और उनमें वृत्त आदि पूर्ववर्ती भेद से दुगने हो जाते हैं।

कल्लि० ने उद्ग्राह आदि का विभाजन इस प्रकार किया है। हर ताल और हर राग के पद्य अथवा गद्यांश का पूर्वार्ध उद्ग्राह और उत्तरार्ध ध्रुव होता है इसलिये इसे द्विधातुक कहा है। इन दोनों धातुओं को रागकदम्ब प्रबन्ध का अवयव (अंग) कह कर उसकी पुष्टि दर्शन के सिद्धान्त के द्वारा की है। साथ ही यह भी कहा कि आभोग न होने से इस प्रबन्ध के अन्तिम राग वाले भाग के पद को गाता, नेता और प्रबन्ध के नाम से अंकित करना चाहिये। साथ ही उद्ग्राह और ध्रुव में स्वर आदि अंगों का नियम न कहे जाने से वाग्गेयकार के द्वारा अपनी इच्छानुसार उनकी योजना कर लेना भी लक्ष्यसम्मत है। इसकी पुष्टि में उसने गोपाल नायक द्वारा रचित रागकदम्ब प्रबन्धों के कुछ उदाहरण भी दिये हैं जिनमें रचयिता ने इच्छानुसार २ से ६ अंगों का प्रयोग किया है। उस स्थिति में अंगों की संख्या के अनुसार प्रबन्ध की जाति का निर्देश किया जाता है। छन्द, ताल आदि का नियम न होने से यह अनिर्युक्त प्रबन्ध है।

इसमें वृत्त, ताल और राग तीनों का बाहुल्य है फिर भी इसका नाम रागकदम्ब है, तालकदम्ब या वृत्तकदम्ब नहीं, ऐसी शंका हो सकती है। इसे ध्यान में रख कर कल्लि० ने ग्रन्थकार द्वारा दिए गए इस प्रबन्ध के लक्षण के आधार पर ही इस शंका का निराकरण किया है। ४ वृत्त और ४ ताल के साथ 'रागराजि' से यह सूचित होता है कि वृत्त और तालों की संख्या ४, ८, १६ नियत रहती है लेकिन हर वृत्त, हर अर्ध या हर पाद में रागों की संख्या इससे ज़्यादा भी हो सकती है। 'रागराजि' के द्वारा इस प्रबन्ध में रागों को प्रमुखता दी गई है इसीलिये प्रबन्ध का नाम 'रागकदम्ब' (रागों का समूह) रखा गया है।

(२३. पञ्चतालेश्वरः)

आलापः प्रागतालः स्यात् पृथग्द्विः पदपञ्चकम्॥ २५६॥

चच्चत्पुटेन तेनैव स्वराः पाटास्ततः परम्।
द्विचच्चत्पुटमानेन पाटैः पटहसंभवैः॥ २५७॥
कार्योऽन्तरः,

३२-पञ्चतालेश्वर

२५६ ग-२५८ क. (अ०) (पंचतालेश्वर में) **प्राक्** पहले (शुरू में) **अतालः आलापः स्यात्** तालरहित आलाप होता है। (फिर) **चच्चत्पुटेन** चच्चत्पुट (ताल) से **पृथक्** (आलाप से) भिन्न (धातु में) **पदपञ्चकं द्विः** पाँच पदों का समूह दो बार, **तेन एव** उसी (चच्चत्पुट) से **स्वराः पाटाः** स्वर (और) पाट, **ततः परम्** उससे आगे **द्वि-चच्चत्पुटमानेन** चच्चत्पुट के दो मानों से **पटहसंभवैः पाटैः** पटह से उत्पन्न पाटों से **अन्तरः कार्यः** अन्तर (नामक धातु) करनी चाहिये।

(सर०) पंचतालेश्वर बड़ा प्रबन्ध है जिसमें ५ खण्ड हैं और हर खण्ड एक-एक अलग मार्गताल में बद्ध रहता है। हर खण्ड में ५ या ६ पद हैं। ५ मार्गतालों से युक्त होने से इस प्रबन्ध को पवित्र मान कर 'पञ्चतालेश्वर' नाम दिया गया है। कल्लि० ने इसे 'महाप्रबन्ध' कहा है।

प्रस्तुत कारिकाओं में पहले खण्ड का लक्षण है। इसमें सबसे पहले ताल के बिना रागालाप होता है। सिंह० ने कहा कि 'आलाप' शब्द से भी अतालत्व की प्राप्ति होती है यानी ताल का निषेध हो जाता है फिर भी यहाँ (पहले खण्ड में) विहित ताल की प्राप्ति हो जाती है उसका निरास करने के लिये ही अताल विशेषण का प्रयोग हुआ है। कल्लि० ने इसे अलग तरह से समझाते हुए कहा कि यहाँ आलाप से रागालाप समझना चाहिये, गमकालप्ति नहीं क्योंकि 'आलाप' शब्द में गमकालप्ति भी वाच्य है जो सताल हो सकती है। लेकिन रागालाप अताल ही होता है। उसी का ग्रहण हो इसलिये 'आलाप' कहा है।

'पृथक् द्विः पदपञ्चकं' से यह सूचित होता है पाँच पदों के पूरे समूह को दो बार गाना है, हर पद को अलग-अलग दो-दो बार नहीं। **'पृथक्'** का आशय आलाप की धातु (स्वरयोजना) से भिन्न धातु है यानी पदों का गेय आलाप से अलग होना चाहिये। पदों को इस तरह गाना चाहिये। आलाप के बाद एक पद गाकर उसके अन्त में स्वर और पाट गाने चाहियें। इसी तरह शेष पद भी गाए जायँगे जिनकी धातु भिन्न-भिन्न होनी चाहिये। इस प्रकार ५ पद अलग-अलग होते हुए भी उनका एक समूह बनता है। इस पूरे समूह को दो बार गाया जाता है। स्वर और पाट के क्रम का कोई नियम नहीं है इसलिये पहले पाट भी गाए जा सकते हैं। लेकिन पाँचवें पद के अन्त में पाट के बाद स्वर गाना चाहिये, ऐसा कल्लि० ने कहा है, ताकि पदपंचक के बाद पाटों से अन्तर धातु गाए जाने पर वे पाट और पदपंचक के पाट मिल न जायँ, अलग बने रहें।

'अन्तर' पटह नामक अवनद्ध वाद्य के पाटों से युक्त होता है। कल्लि० ने कहा कि 'अन्तर' में पटह के पाटों के नियम से यह समझना चाहिये कि अन्यत्र (यानी उद्ग्राह और ध्रुव में) किसी भी वाद्य के शुद्ध या मिश्र पाट रखे जा सकते हैं। 'अन्तर' में ताल की आवृत्ति विशेष रूप से कहने में यह अन्वित है कि स्वर-पाट युक्त पदों में यह नियम नहीं है।

पटह और उसके पाटों का निरूपण वाद्याध्याय में हुआ है। चच्चत्पुट गुरु, गुरु, लघु, प्लुत लक्षण वाला ताल है।

ततश्चाचपुटेन पदपञ्चकम्।
तद्वत्तेन स्वराः पाटास्तद्द्विमानेन चान्तरः॥ २५८॥
हुडुक्कपाटैः,

२५८ क-२५९ क. (अ०) ततः उसके बाद **चाचपुटेन** चाचपुट (मार्गताल) से **पदपञ्चकं** पदपंचक **तद्वत्** उसी प्रकार से **तेन** उसी (ताल) से **स्वराः पाटाः** स्वर और पाट **तत् च द्विमानेन** (और) उस (चाचपुट) के (ही) दो मानों से **हुडुक्कपाटैः** हुडुक्का के पाटों से **अन्तरः** अन्तर (धातु करनी चाहिये)।

(सर०) **तद्वत्** से तात्पर्य पहले खण्ड के पदपंचक से है। इसलिये जिस तरह पहला पदपंचक गाया गया उसी तरह इसे भी गाना चाहिये। लेकिन यहाँ चाचपुट ताल रहेगा और अन्तर धातु हुडुक्का नामक अवनद्ध वाद्य के पाटों से रचित होगी। चाचपुट ताल में गुरु, लघु, लघु, गुरु के क्रम से कला होती हैं।

हुडुक्का में पटह के ही पाट होते हैं।

तदनु षट्पितापुत्रकेण च।
पृथक् पदानि पञ्च द्विस्तेनैव स्वरपाटकम्॥ २५९॥
तद्द्विमानाच्छङ्खपाटैरन्तरः स्यात्,

२५९ क-२६० ख. (अ०) **तत् अनु** उसके बाद **षट्पितापुत्रकेण च** षट्पितापुत्रक (मार्गताल) से भी **पृथक् पञ्च पदानि द्विः** अलग(-अलग) पाँच पद दो बार, **तेन एव** उसी (ताल) से **स्वरपाटकं** स्वर (और) पाट, **तत् द्विमानात्** उसी (ताल) के दो मानों से **शङ्खपाटैः** शंख के पाटों से **अन्तरः स्यात्** 'अन्तर' होता है।

(सर०) तीसरा पदपंचक षट्पितापुत्रक मार्गताल से गाया जाता है और अन्तर शंख वाद्य के पाटों से बद्ध होता है, शेष सब पूर्ववत् रहता है। इस ताल में प्लुत, लघु, गुरु, गुरु, लघु, प्लुत का क्रम रहता है।

शंख के पाटों में 'धुं धुं थो दिगि' का बाहुल्य होता है।

ततस्तु षट्।
प्रत्येकं द्विः पदानि स्युः संपक्वेष्टाकतालतः॥ २६०॥

ततस्तद्वत् स्वराः पाटास्तद्द्विमानेन चान्तरः।
कांस्यतालोद्भवैः पाटैः,

२६० ख-२६१ ग. (अ०) **ततः तु** उसके बाद तो **संपक्वेष्टाकतालतः** संपक्वेष्टाक ताल से **प्रत्येकं षट् पदानि** प्रत्येक ६ पद (अर्थात् ६ पदों का पूरा समूह) **द्विः स्युः** दो बार होते हैं। **ततः** उसके बाद **तद्वत्** उसी तरह (पूर्व खण्डों की तरह) **स्वराः पाटाः** स्वर (और) पाट **तत् द्विमानेन च** उस (संपक्वेष्टाक) के ही दो मानों से **कांस्यताल-उद्भवैः पाटैः** कांस्यताल से उत्पन्न पाटों से **अन्तरः** अन्तर (खण्ड गाना चाहिये)।

(सर०) चौथे खण्ड में ५ के बजाय ६ पद होते हैं जो प्लुत, गुरु, गुरु, गुरु, प्लुत लक्षण वाले संपक्वेष्टाक नामक मार्गताल से गाए जाते हैं, कांस्यताल के पाटों से अन्तर होता है, शेष सब पूर्ववत् रहता है। कांस्यताल के पाटों में 'ततकट' वर्णों की प्रमुखता होती है।

उद्घट्टेन पदानि षट्॥ २६१॥
प्राग्वत्तथा स्वराः पाटाः पाटैर्मुरजसंभवैः।
अन्तरः पूर्ववत्,

२६१ घ-२६२ ग. (अ०) **उद्घट्टेन** उद्घट्ट (ताल) से **प्राक्-वत् षट् पदानि** पहले की तरह ६ पद, **स्वराः तथा पाटाः** स्वर और पाट, **मुरज-संभवैः पाटैः अन्तरः पूर्ववत्** मुरज से उत्पन्न पाटों से 'अन्तर' पूर्ववत् (अर्थात् दो मानों से होता है)।

(सर०) पाँचवें खण्ड में भी सब पिछले खण्ड की तरह ही है, लेकिन तीन गुरु वाला उद्घट्ट नामक मार्गताल और मुरज अवनद्ध वाद्य के पाट रहते हैं जिनमें 'तकिटतों' अक्षरों की प्रधानता होती है।

तस्मादाभोगश्चाविलम्बितः॥ २६२॥

प्रबन्धनाम्ना प्राङ्मानं नेतृनामाथ मङ्गलम्।
वाक्यमालापके न्यासः पञ्चतालेश्वरो भवेत्॥ २६३॥

२६२ ग-२६३. (अ०) **तस्मात्** उस (अन्तर) के बाद **आभोगः च** आभोग भी (उसी उद्घट्ट ताल से) **अविलम्बितः** अविलंबित (द्रुत लय) से **प्रबन्धनाम्ना** प्रबन्ध के नाम से **नेतृनाम प्राक्-मानं** (और) नेता का नाम पिछले (अर्थात् उद्घट्टयुक्त पदों के अन्तर के) मान से (होता है)। **अथ** अब **मङ्गलं वाक्यं** मंगलवाक्य होता है (और) **आलापके न्यासः** आलाप में न्यास (समाप्ति होने पर) **पञ्चतालेश्वरः भवेत्** 'पंचतालेश्वर' (प्रबन्ध) होता है।

(सर०) कल्लि० ने ध्यान दिलाया कि आभोग के साथ **च** लगने से आभोग को भी उद्घट्ट ताल से गाना अभिप्रेत है। **अविलम्बितः** से द्रुत का ग्रहण करना चाहिये जैसे लोक में भी अविलंबित, अचिर शब्दों से शीघ्रता की ही प्रतीति होती है। इससे यह भी सूचित होता है कि पदों के बाद गाए जाने वाले अन्तरों में मध्य या विलंबित लय होनी चाहिये। आभोग में प्रबन्ध और वर्ण्य के नाम के साथ, अनुक्त होते हुए भी, वाग्गेयकार का नाम होना चाहिये क्योंकि उसी से कर्तृत्व पता चलता है कि अमुक प्रबन्ध इसके द्वारा गाया गया। **प्राक् मानं** से अर्थ अन्तर के ही मान से यानी उद्घट्ट ताल की दो आवृत्तियों से, स्तुत्यनाम को गाना समझना चाहिये।

सिंह० के सम्मुख **वाक्यमालापके न्यासः** के स्थान पर 'वाक्यमेलापके न्यासः' पाठ है और इसका उसने यह अर्थ किया है कि आशीर्वादनामों (मंगल) का प्रयोग करने के बाद वाक्यरूप 'प्रयोग'बहुल मेलापक में न्यास करना चाहिये। लेकिन उसकी व्याख्या संगत नहीं लगती क्योंकि एक तो इस प्रबन्ध में ग्रन्थकार ने मेलापक कहा नहीं है और दूसरे मंगलवाक्य के रूप में **वाक्यं** का अन्वय **मङ्गलं** के साथ ही संगत है। तीसरे, इस प्रबन्ध के शुरू में आलाप का नियम है ही। इसलिये, कल्लि० के अनुसार, उस आलाप को शुरू करके उसी से समाप्ति उचित प्रतीत होती है।

'तेन' अंग के लक्षण में ग्रन्थकार इस शब्द को मंगल का प्रकाशक कह चुके हैं और कल्लि० ने, उसी संदर्भ में, तेन को ब्रह्म का वाचक कहा है। उसी के अनुसार कल्लि० ने मंगलवाक्य के संदर्भ में कहा कि अकेला तेन पद ब्रह्म का वाचक होते हुए भी बार-बार 'तेन-तेन' कहने पर पदों का समुदाय हो जाने से अथवा अन्विताभिधान मत से उसका वाक्यत्व हो जाता है।

मीमांसकों के मत में वाक्यार्थ के ग्रहण के बारे में दो मत हैं—१. अभिहितान्वयवाद और २. अन्विताभिधानवाद। पहले के अनुसार पदों को सुनते ही सबसे पहले बिना अन्वित हुए पदार्थ (शब्दों के अर्थ) ही उपस्थित होते हैं। बाद में, पदों की आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के बल से 'तात्पर्याख्या' शक्ति के द्वारा उन पदार्थों का परस्पर संबन्ध स्थापित होकर वाक्यार्थ का बोध होता है। अन्विताभिधानवाद में पहले से अन्वित पदार्थों का अभिधा शक्ति से बोध होता है क्योंकि पदार्थों का अन्वय पहले से ही सिद्ध रहता है। जैसे, 'तत्सत्' एक तेन पद है जिसका अर्थ है 'वह सत्य है'। 'तत्त्वमसि' भी 'वह तू है' का वाचक एक पद है। लेकिन इन पदों के उक्त अर्थ 'अन्वित' यानी पूर्वसिद्ध हैं। इसलिये एक पद होते हुए भी इनके अन्वित वाक्यार्थ का ही बोध वाक्य के रूप में होता है।

वीरावतारः श्रृङ्गारतिलकश्चेति स द्विधा।
वीरश्रृङ्गारयोस्तेन प्रीयन्ते सर्वदेवताः॥ २६४॥

२६४. (अ०) **वीर-श्रृङ्गारयोः** वीर और श्रृंगार (रसों) से **सः** वह (पंचतालेश्वर प्रबन्ध) **वीरावतारः श्रृङ्गारतिलकः च** वीरावतार और श्रृंगारतिलक **इति द्विधा** ये दो प्रकार से (होता है)। **तेन** उसके द्वारा **सर्वदेवताः प्रीयन्ते** सब देवता प्रसन्न होते हैं।

(सर०) वीररस में गाने पर वीरावतार और श्रृंगार से श्रृंगारतिलक होता है।

इस प्रबन्ध में पहले तीन तालों में ५-५ और अन्तिम दो में ६-६ पद कुल २७ पद पाँच मार्गतालों से स्वर तथा पाटयुक्त होते हैं। हर पदखण्ड के बाद 'अन्तर' होता है। इस तरह ५ अन्तर हैं। कल्लि० के अनुसार धातुओं में विभाजन इस प्रकार है। शुरू के अताल आलाप को छोड़ कर १० पदों से उद्ग्राह और शेष १७ पदों से ध्रुव माना जाता है। अन्त में आभोग है

इसलिये त्रिधातु है। 'अन्तर' अलग धातु है इसलिये हर पदपंचक में से शुरू के दो पदों को उद्ग्राह और बाद के तीन को ध्रुव कह सकते हैं। ध्रुव के बाद अन्तर है। इस तरह हरेक त्रिधातु पदपंचक और अन्त में आभोग के साथ यह महाप्रबन्ध चतुर्धातुक है।

ग्रन्थकार पहले यह नियम कह चुके हैं कि अन्तर धातु केवल सालगसूडस्थ रूपकों में ही होती है (४/९-१०) और पंचतालेश्वर सालगसूड नहीं है। कल्लि० ने कहा कि फिर भी किसी प्रबन्ध में सामान्य नियम से अलग कोई नियम स्पष्ट रूप से कहा जाय तो उसका सामान्य नियम से खंडन नहीं हो सकता। इसलिये इस प्रबन्ध में अन्तर धातु का रहना कोई नियमभंग नहीं है।

तालनियम होने से निर्युक्त है और बिरुद को छोड़ कर शेष पाँच अंगों से युक्त पंचांग आनन्दिनी जाति का है।

(२४. तालार्णवः)

तालार्णवो भूरितालः स द्वेधा गद्यपद्यतः।

२४-तालार्णव

२६५ क-ख. (अ०) **तालार्णवः भूरितालः** 'तालार्णव' बहुत तालों वाला (प्रबन्ध है)। **सः** वह **गद्य-पद्यतः** गद्य और पद्य से **द्वेधा** दो प्रकार से (होता है)।

(सर०) कल्लि० ने **भूरितालः** की व्याख्या करते हुए कहा कि एक-एक आवृत्ति वाले तालों की बहुलता विवक्षित है और इसी के द्वारा इसका पंचतालेश्वर आदि से भेद हो जाता है। इसमें इच्छानुसार कुछ तालों से उद्ग्राह और कुछ से ध्रुव करना चाहिये, ऐसा माना जाता है। आभोग गाता, नेता और प्रबन्ध के नाम से अंकित करना चाहिये और उसमें कई तालों का नियम नहीं होता। यह त्रिधातु प्रबन्ध है। अनेक ताल होते हुए भी तालों का स्वरूप निर्दिष्ट न होने से अनिर्युक्त है। पद आदि अंगों का नियम भी कहा नहीं है इसलिये २ से ६ तक अंगों की योजना की जा सकती है और तदनुसार जाति होगी।

यहाँ तक आलि प्रबन्धों का निरूपण हुआ। इसके बाद विप्रकीर्ण प्रबन्ध शुरू होते हैं।

आलि वर्ग के अधिकांश प्रबन्ध छन्दोबद्ध हैं।

(विप्रकीर्णप्रबन्धाः)

(१. श्रीरङ्गः)

तालै रागैश्चतुर्भिः स्याच्छ्रीरङ्गोऽन्ते पदान्वितः॥ २६५॥

(इ) विप्रकीर्ण प्रबन्ध

१-श्रीरंग

२६५ ग-घ. (अ०) **श्रीरङ्गः** 'श्रीरंग' (प्रबन्ध) **चतुर्भिः तालैः रागैः** चार तालों (और चार) रागों से (तथा) **अन्ते** अन्त में **पद-अन्वितः स्यात्** पद से अन्वित होता है।

(सर०) कल्लि० ने ध्यान दिलाया कि आगे यह कहा जाने वाला है कि ये सब प्रबन्ध सारे अंगों से युक्त हैं इसलिये इसमें भी सब अंगों की योजना करते हुए अन्त में पद होना चाहिये। अन्य अंगों का प्रयोग इच्छित क्रम में किया जा सकता है। सभी रागों में छहों अंगों का प्रयोग होता है लेकिन सबका अन्त पद से ही होता है। उद्ग्राह आदि विभाग और प्रबन्धनाम आदि की छाप रागकदम्ब की तरह करनी चाहिये। रागकदम्ब में चार ताल और चार रागों वाले हरेक पद का पूर्वार्ध उद्ग्राह और उत्तरार्ध ध्रुव होता है तथा अन्तिम राग में वाग्गेयकार की छापयुक्त पदों से आभोग होता है। श्रीरंग में भी इसी तरह करना

अभिप्रेत है। तदनुसार यह त्रिधातु है, ६ अंगों से बद्ध मेदिनी जाति का है। कल्लि० के अनुसार तालों की संख्या का नियम होते हुए भी स्वरूप का नहीं है इसलिये तालनियम है ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये। तदनुसार श्रीरंग अनिर्युक्त प्रबन्ध है।

(२. श्रीविलासः)

स्वरान्तः श्रीविलासः स्यात्तालै रागैश्च पञ्चभिः।

२-श्रीविलास

२६६ क-ख. (अ०) **श्रीविलासः** 'श्रीविलास' **पञ्चभिः तालैः रागैः च** पाँच तालों और रागों से (तथा) **स्वर-अन्तः** स्वर से अन्त होने वाला (प्रबन्ध है)।

(सर०) यह प्रबन्ध श्रीरंग के समान ही है लेकिन राग और ताल ५ हैं तथा स्वर से अन्त होता है।

(३, ४, ५. पञ्चभङ्गि-पञ्चानन-उमातिलकानि)

तेनकान्तः पञ्चभङ्गिः पाटैः पञ्चाननोऽन्तिमैः॥ २६६॥

रागाभ्यामपि तालाभ्यां स्यादुमातिलकः पुनः।
बिरुदान्तस्त्रिभिस्तालै रागैः सर्वाङ्गिका इमे॥ २६७॥

३, ४, ५-पंचभंगि, पंचानन, उमातिलक

२६६ ग-२६७. (अ०) **पञ्चभङ्गिः** 'पंचभंगि' **तेनक-अन्तः** तेन से समाप्ति वाला (है)। **पञ्चाननः** 'पंचानन' **अन्तिमैः पाटैः** अन्त में पाटों से (और) **तालाभ्यां रागाभ्याम् अपि** (दोनों ही प्रबन्ध) दो तालों और दो रागों से (होते है)। **पुनः** फिर **उमातिलकः** 'उमातिलक' **त्रिभिः तालैः रागैः** तीन तालों (और तीन) रागों से (तथा) **बिरुद-अन्तः** बिरुद से अन्त वाला **स्यात्** होता है। **इमे** ये (सभी प्रबन्ध) **सर्व-आङ्गिकाः** सभी अंगों से युक्त (होते हैं)।

(सर०) इमे से दोनों टीकाकारों ने श्रीरंग आदि पाँचों प्रबन्धों का ग्रहण किया है। शेष सब कुछ पञ्चभंगि आदि तीनों में भी पूर्ववत् रहता है।

कल्लि० ने यह उल्लेख किया है कि श्रीरंग आदि में समाप्ति के लिये अंगविशेष के नियम के अलावा अन्य अंगों का क्रम अनुक्त होने से कुछ लोग इन प्रबन्धों में कूटतानों की तरह प्रस्तारों की कल्पना करते हैं। लेकिन स्वरों का एक निश्चित मूल क्रम सिद्ध होने से वहाँ तो प्रस्तार शोभित होते हैं किन्तु अंगों में नियत क्रम का अभाव होने से अंगों के क्रम परिवर्तन से प्रस्तार बनाना भित्तिरहित चित्र के समान है।

(६. त्रिपदी)

आद्यौ द्विद्विगणौ पादौ तृतीयश्च चतुर्गणः।
चतुर्थस्त्रिगणः पादेष्वेकादश गणा इमे॥ २६८॥

रतेः षष्ठश्च दशमः शेषाः स्युर्मान्मथा गणाः।

६-त्रिपदी

२६८-२६९ ख. (अ०) **आद्यौ पादौ** शुरू के दो पाद **द्वि-द्वि-गणौ** दो-दो गण वाले **तृतीयः च चतुर्गणः** और तीसरा चार गण वाला, **चतुर्थः त्रिगणः** चौथा तीन गण वाला (इस प्रकार) **पादेषु** (चार) पादों में **इमे** ये **एकादश गणाः** ग्यारह गण

(होते हैं)। **षष्ठः दशमः च** छठा और दसवाँ (गण) **रतेः** रति संबन्धी (और) **शेषाः** शेष **मान्मथाः गणाः स्युः** मन्मथ संबन्धी (अर्थात् कामगण) होते हैं।

(सर०) इस प्रबन्ध में ४ पाद हैं जिनमें से पहले और दूसरे पादों में २-२, तीसरे में ४ और चौथे में ३—इस तरह कुल ११ गण होते हैं। इनमें से छठा और दसवाँ यानी तीसरे पाद का दूसरा और चौथे पाद का दूसरा रतिगण हैं और शेष कामगण हैं। रतिगण दो अक्षर वाला और कामगण ३ अक्षर वाला होता है। इसके अनुसार पहले दो पादों में ६-६ अक्षर, तीसरे पाद में (३ + २ + ३ + ३ =) ११ अक्षर और चौथे पाद में (३ + २ + ३ =) ८ अक्षर होते हैं। दो अक्षर वाले ४ भेद (रतिगण) और तीन अक्षर वाले ८ भेद (कामगण) एला प्रबन्ध में कहे जा चुके हैं जिनमें से किसी भी भेद का प्रयोग गणनियम के अनुसार इस प्रबन्ध में किया जा सकता है।

गीत्वाद्यपादौ तदनु किञ्चिच्छेषं तृतीयकम्॥ २६९॥

ततः समग्रं तं गीत्वा चतुर्थो यदि गीयते।
तदा स्यात् त्रिपदी तालहीना कर्णाटभाषया॥ २७०॥

२६९ ग-२७०. (अ०) **आद्यपादौ गीत्वा** शुरू के दो पादों को गाकर **तत् अनु** उसके बाद **किञ्चित् शेषं तृतीयकं** तीसरा (पाद, शुरू का थोड़ा गाकर बाद का) कुछ छोड़ कर **ततः** तब **तं समग्रं गीत्वा** उस पूरे (तीसरे पाद) को गाकर **यदि** अगर **चतुर्थः गीयते** चौथा (पाद) गाया जाता है **तदा** तो **तालहीना** तालरहित (और) **कर्णाटभाषया** कर्णाट (प्रदेश की) भाषा से (रचित होने पर) **त्रिपदी स्यात्** 'त्रिपदी' होती है।

(सर०) त्रिपदी प्रबन्ध के रचना-संबन्धी लक्षण देकर इस अंश में उसे गाने की विधि बताई है।

त्रिपदी के पहले और दूसरे पादों को गाने के बाद तीसरे पाद का शुरू का थोड़ा सा अंश गाकर फिर पूरे तीसरे पाद को गाकर चौथा पाद गाया जाता है।

इसमें चार पाद होते हुए भी 'त्रिपदी' (तीन पद वाली) संज्ञा इसलिये दी गई है कि शुरू के दो पाद इतने छोटे होते हैं कि उन्हें मिला कर एक पाद की प्रतीति होती है।

शुरू के दो पाद उद्ग्राह और अन्तिम दो ध्रुव कहलाते हैं। कल्लि० ने कहा कि यद्यपि आगे ओवी आदि चार प्रबन्धों को ग्रन्थकार आभोगवर्जित कहने वाले हैं; लेकिन जहाँ अनुक्त हो वहाँ पदों से आभोग की रचना करने के लिये भी कहा है इसलिये त्रिपदी में भी आभोग की रचना करनी चाहिये। इस प्रकार यह त्रिधातु प्रबन्ध है।

गण और भाषा का नियम है इसलिये निर्युक्त है। कल्लि० ने कहा कि यह प्रबन्ध द्विपदी की प्रकृति जैसा है इसलिये उसी की तरह इसमें भी ध्रुव के बाद स्वर प्रयोग कर लेना चाहिये अन्यथा केवल एक अंग—पद—होने के कारण इसकी प्रबन्धता सिद्ध नहीं होगी। इस तरह दो अंगों से बद्ध यह तारावली जाति का प्रबन्ध है।

(७. चतुष्पदी)

समे षोडश मात्राः स्युः पादे पञ्चदशायुजि।
यस्यां भिन्नार्थयमकावर्धौ सा तु चतुष्पदी॥ २७१॥

स्वरतेनकसंयुक्ता तेनकन्याससंयुता।

७-चतुष्पदी

२७१-२७२ ख. (अ०) **यस्यां** जिसमें **समे** सम (पादों) में **षोडश मात्राः स्युः** सोलह मात्राएँ होती हैं, **अयुजि पादे**

विषम पादों में **पञ्चदश** पन्द्रह (और) **भिन्न-अर्थ-यमकौ अर्धौ** भिन्न अर्थ वाले यमकों से युक्त दो अर्ध (हों), **स्वर-तेनक-संयुक्ता** स्वर (और) तेनक से संयुक्त (अर्धों वाली और) **तेनक न्याससंयुता** तेनक में समाप्ति से संयुत (अर्थात् समाप्ति वाली) **सा तु चतुष्पदी** वह तो 'चतुष्पदी' (है)।

(सर०) चतुष्पदी के चार चरणों में से पहले और तीसरे चरण में १५-१५ तथा दूसरे और चौथे में १६-१६ मात्रा होती हैं।

इसमें भिन्न अर्थ वाले यमक कहे हैं। यमक नामक अलंकार में अक्षरों या पदों की उसी क्रम में आवृत्ति होती है लेकिन हर बार अर्थ भिन्न होता है। इस तरह भिन्नार्थता यमक का सामान्य लक्षण है फिर कारिका में विशेष रूप में भिन्नार्थ यमक कहना व्यर्थ है, यह शंका होती है। कल्लि० ने यह कह कर इसका समाधान किया है कि जिस मत में शब्दों का अर्थ यानी वाच्यार्थ भिन्न नहीं होता लेकिन तात्पर्य नामक शक्ति के द्वारा उनका व्यंग्यार्थ भिन्न हो जाने से यमकत्व स्वीकार किया जाता है उसकी दृष्टि से ग्रन्थकार ने भिन्नार्थ यमक कहा है।

प्रथम दो चरणों में स्वर और अन्तिम दो चरणों में तेनकों का प्रयोग करके फिर से तेनक अंश शुरू करके समाप्त करना चाहिये। स्वरयुक्त अर्ध उद्ग्राह और तेनयुक्त द्वितीयार्ध ध्रुव होता है। आभोग का ग्रहण कर लेना चाहिये।

त्रिपदी, चतुष्पदी, षट्पदी समानधर्मा हैं इसलिये तालहीन, कर्णाट भाषा आदि लक्षण इनमें कहे न जाने पर भी अनुक्त का अन्यत्र से ग्रहण करने के नियम के आधार पर द्विपदी से उनका ग्रहण कर लेना चाहिये। तदनुसार चतुष्पदी भी तालरहित और कर्णाट भाषा में रचित होती है।

यह त्रिधातुक प्रबन्ध है, मात्रासंख्या और भाषा नियम से निर्युक्त है तथा पद, स्वर, तेनबद्ध त्र्यंग भावनी जाति का है।

(८. षट्पदी)

षष्ठस्तृतीयस्त्रिगणः पृथग् द्विद्विगणाः परे॥ २७२॥

चत्वारश्चरणा बाणप्रान्तौ षष्ठतृतीयकौ।
शेषास्तु मान्मथगणा यस्यां सा षट्पदी मता॥ २७३॥

कर्णाटभाषया तालवर्जिता नादमुक्तिका।
भेदा वेद्यास्त्रिपद्यादेश्छन्दोलक्ष्मणि भूरयः॥ २७४॥

८. षट्पदी

२७२ ग-२७४. (अ०) **तृतीयः षष्ठः त्रिगणः** तीसरा (और) छठा तीन(-तीन) गण वाला, **परे** अन्य **चत्वारः चरणाः** चार चरण **पृथक् द्वि-द्वि गणाः** अलग(-अलग) दो-दो गण वाले, **षष्ठ-तृतीयकौ** तीसरे और छठे **बाणप्रान्तौ** बाण (गण) से अन्त (होने) वाले (और) **शेषाः तु** शेष तो **मान्मथगणाः** कामगण **यस्यां** जिसमें (हों) **सा** वह **कर्णाटभाषया** कर्णाट भाषा से, **तालवर्जिता** तालरहित **नादमुक्तिका** नाद से समाप्ति वाली **षट्पदी मता** 'षट्पदी' मानी गई (है)। **त्रिपदी-आदेः** त्रिपदी आदि के **भूरयः भेदाः** बहुत भेद **छन्दोलक्ष्मणि वेद्याः** छन्दःशास्त्र से जानने चाहियें।

(सर०) ६ पादों वाली षट्पदी का तीसरा और छठा चरण ३-३ गणों से युक्त होता है जिनके अन्त में बाणगण होता है और शेष चार यानी पहले, दूसरे, चौथे और पाँचवें चरणों में २-२ गण होते हैं।

कल्लि० के अनुसार नादमुक्तिका में 'नाद' शब्द से स्थायी स्वर विवक्षित है यानी स, रि, ग आदि वर्णों के उच्चारण के बिना नाद के रूप में ही स्थायी स्वर को गाकर समाप्त करना चाहिये।

त्रिपदी की तरह षट्पदी भी गाथा प्रबन्ध है इसलिये इसके भी अनेक भेद गाथा छन्द के भेदों की तरह होते हैं। षट्पदी के पूर्वार्ध के तीन चरणों से उद्ग्राह और उत्तरार्ध के तीन चरणों से ध्रुव होता है। आभोग पूर्ववत् होता है। अतः त्रिधातुक है,

गण और भाषा के नियम से निर्युक्त है और त्रिपदी की तरह स्वरप्रयोग होने से पद और स्वर दो अंगों से तारावली जाति का है।

(९. वस्तु)

मात्राः पञ्चदशाद्येऽङ्घ्रौ तृतीये पञ्चमे तथा।
सूर्यास्तुर्ये द्वितीये च स्वरपाटान्तमादिमम्॥ २७५॥

अपरं स्वरतेनान्तमर्धं तदनु दोधकः।
यस्य स्यात्तेनके न्यासस्तद्वस्तु कवयो विदुः॥ २७६॥

९-वस्तु

२७५-२७६. (अ०) **आद्ये तृतीये तथा पञ्चमे अङ्घ्रौ** पहले, तीसरे और पाँचवें पाद में **पञ्चदश मात्राः** पन्द्रह मात्राएँ **द्वितीये तुर्ये** च (और) दूसरे तथा चौथे में **सूर्यः** बारह (मात्रा हों), **आदिमं स्वर-पाट-अन्तं** पहला (अर्ध) स्वर और पाट से अन्त वाला (हो), **अपरम् अर्धं** दूसरा अर्ध **स्वर-तेन-अन्तं** स्वर और तेन से अन्त वाला (हो), **तत् अनु** उसके बाद **दोधकः** दोधक (हो और) **यस्य न्यासः** जिसका समापन **तेनके स्यात्** तेन में होता है **तत्** वह (उसे) **कवयः** कवि **वस्तु विदुः** 'वस्तु' (प्रबन्ध) जानते हैं।

(सर०) वस्तु प्रबन्ध में ५ चरण होते हैं। पहले, तीसरे और पाँचवें में १५-१५ और दूसरे तथा चौथे चरण में १२-१२ मात्रा होती हैं। पहले दो चरणों से एक और अन्तिम तीन चरणों से दूसरा अर्ध बनता है। पूर्वार्ध के अन्त में स्वर और पाट तथा दूसरे अर्ध के अन्त में स्वर और तेन होते हैं। दोनों अर्ध मिला कर उद्ग्राह और उसके बाद दोधक (दोह) ध्रुव कहलाता है। अन्त में आभोग गाकर तेन से समाप्त होता है।

यह त्रिधातु प्रबन्ध है। मात्रा नियम होने से निर्युक्त है। कल्लि० ने कहा कि ताल का निषेध न होते हुए भी नियत ताल न होने से अनिर्युक्त भी है। लेकिन इस तरह एक ही प्रबन्ध का निर्युक्त और अनिर्युक्त होना असंगत लगता है। लोक से एकं उदाहरण देते हुए कल्लि० ने फिर कहा कि अपेक्षा के आधार पर भिन्नता हो जाती है जैसे देवदत्त नाम का एक ही व्यक्ति अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता समझा जाता है और अपने पिता की अपेक्षा से पुत्र भी समझा जाता है। उसी तरह निश्चित नियम होने या न होने की अपेक्षा से वस्तु प्रबन्ध की निर्युक्तता और अनिर्युक्तता दोनों संगत कही जा सकती हैं।

बिरुद् को छोड़ कर पाँच अंगों से युक्त होने से आनन्दिनी जाति का प्रबन्ध है।

(१०. विजयः)

यत्र तेनैः स्वरैः पाटैः पदैर्विजयतालतः।
गीयते विजयस्तेनैर्न्यासः स विजयो मतः॥ २७७॥

१०-विजय

२७७. (अ०) **यत्र** जहाँ **तेनैः स्वरैः पाटैः पदैः** तेन, स्वर, पाट और पदों के द्वारा **विजयतालतः** विजय (नामक) ताल से **विजयः गीयते** विजय गाया जाता है (और) **तेनैः न्यासः** तेनों से समापन (होता है) **सः** वह **विजयः मतः** 'विजय' (प्रबन्ध) माना गया (है)।

(सर०) तेन आदि चार अंगों को उसी क्रम से रख कर विजय ताल में राजा की विजय का गान करके तेन से समाप्त करने पर 'विजय' प्रबन्ध होता है। तालाध्याय के लक्षण के अनुसार विजय ताल में प्लुत, गुरु, प्लुत, लघु होते हैं लेकिन कल्लि० ने प्लुत, लघु कहा है।

तेन और स्वर से उद्ग्राह तथा पाट और पद से ध्रुव होता है। न्यास तेन से यानी उद्ग्राह के तेन वाले अंश से किया जाता है। आभोगसहित त्रिधातुक है, तालनियम होने से निर्युक्त है और बिरुद को छोड़ कर पाँच अंगों से युक्त आनन्दिनी जाति का प्रबन्ध है।

प्रबन्धाध्याय में कई जगह कल्लि० की व्याख्या में दिए गए तालों के लक्षण और ग्रन्थ के तालाध्याय में प्राप्त लक्षण में अन्तर दिखाई देता है। इस अन्तर का उल्लेख (सर०) व्याख्या में वहीं-वहीं कर दिया गया है। ग्रन्थकार और कल्लि० के बीच के दो सदियों के काल में ताल के प्रयोग में हुआ परिवर्तन इस अन्तर का कारण लगता है।

(११. त्रिपथः)

पादत्रयं त्रिपथके पाटैश्च बिरुदैः स्वरैः।

११-त्रिपथ

२७८ क-ख. (अ०) त्रिपथके 'त्रिपथ' (प्रबन्ध) में **पाटैः बिरुदैः स्वरैः च** पाट, बिरुद और स्वरों से **पादत्रयं** तीन पाद (होते हैं)।

(सर०) त्रिपथ के तीन पादों में से पहले में पाट, दूसरे में बिरुद और तीसरे में स्वर होते हैं। पहले दो चरणों से उद्ग्राह और तीसरे से ध्रुव होता है, अन्त में आभोग रहता है इसलिये त्रिधातुक है। तालादि के नियम से रहित अनिर्युक्त है लेकिन ताल का निषेध न होने से ताल अंग रहता है। इस प्रकार तेन छोड़ कर शेष पाँच अंगों से आनन्दिनी जाति का प्रबन्ध है।

(१२. चतुर्मुखः)

स्वरैः पाटैः पदैस्तेनैर्वर्णैः स्थाय्यादिभिः क्रमात्॥ २७८॥
चत्वारश्चरणा गेया ग्रहे न्यासश्चतुर्मुखे।

१२-चतुर्मुख

२७८ ग-२७९ ख. (अ०) चतुर्मुखे 'चतुर्मुख' (प्रबन्ध) में **स्थायी-आदिभिः वर्णैः** स्थायी आदि (चार) वर्णों के द्वारा **क्रमात् स्वरैः पाटैः पदैः तेनैः** क्रम से स्वर, पाट, पद (और) तेन से **चत्वारः चरणाः गेयाः** चार चरण गाए जाने चाहियें (और) **ग्रहे न्यासः** उद्ग्राह में समाप्त (करना चाहिये)।

(सर०) चतुर्मुख प्रबन्ध के चार चरणों में से पहला चरण स्थायी वर्ण में स्वरों से, दूसरा चरण आरोही वर्ण में पाटों से, तीसरा अवरोही वर्ण में पदों से और चौथा संचारी वर्ण में तेनों से गाकर उद्ग्राह में समाप्त किया जाता है। 'स्थायी वर्ण में स्वरों से' कहने का आशय स्वर नामक अंग से है।

प्रथम दो चरणों से उद्ग्राह और अन्तिम दो चरणों से ध्रुव तथा उसके बाद आभोग होने से त्रिधातुक है, तालनियम न होने से अनिर्युक्त है और बिरुद के सिवा पाँच अंगों से आनन्दिनी जाति का प्रबन्ध है।

(१३. सिंहलीलः)

स्वरैः पाटैश्च बिरुदैस्तेनकैर्यो विरच्यते॥ २७९॥
सिंहलीलेन तालेन सिंहलीलः स उच्यते।

१३-सिंहलील

२७९ ग-२८० ख. (अ०) यः जो **स्वरैः पाटैः बिरुदैः तेनकैः च** स्वर, पाट, बिरुद और तेनकों से (तथा) **सिंहलीलेन तालेन** सिंहलील ताल से **विरच्यते** रचा जाता है **सः** वह **सिंहलीलः उच्यते** 'सिंहलील' (प्रबन्ध) कहा जाता है।

(सर०) 'सिंहलील' प्रबन्ध में भी चतुर्मुख की तरह चार-चरण हैं और दो चरणों से उद्ग्राह तथा दो से ध्रुव होता है। चार चरण क्रम से स्वर, पाट, बिरुद और तेन से बद्ध होते हैं। तालाध्याय में सिंहलील ताल का लक्षण तीन द्रुत, एक लघु है लेकिन कल्लि० ने 'तालाद्यन्तं दत्रयं सिंहलील:' उद्धृत किया है। आभोग पदबद्ध होता है। इस तरह त्रिधातु प्रबन्ध है, तालनियम होने से निर्युक्त है और छहों अंगों से बद्ध मेदिनी जाति का है।

(१४. हंसलील:)

स्वनामतालके हंसलीलेऽङ्घ्री पदपाटकैः॥ २८०॥

१४-हंसलील

२८० ग-घ. (अ०) **हंसलीले** 'हंसलील' (प्रबन्ध) में **स्वनाम-तालके** अपने नाम वाले ताल (अर्थात् हंसलील ताल) में **पद-पाटकैः अङ्घ्री** पद (और) पाटों से दो पाद (होते हैं)।

(सर०) हंसलील प्रबन्ध में दो चरण होते हैं, पहला पदबद्ध और दूसरा पाटयुक्त, जो क्रम से उद्ग्राह और ध्रुव कहे जाते हैं। पदों से आभोग होता है। इसलिये त्रिधातु है, तालनियम से निर्युक्त और पद, पाट, तालबद्ध होने से भावनी जाति का प्रबन्ध है।

तालाध्याय में हंसलील ताल का लक्षण विरामान्त दो द्रुत है, कल्लि० ने 'यगणश्च लघुर्गुरुः' उद्धृत किया है जिसके अनुसार लघु, दो गुरु, लघु, गुरु होता है।

(१५. दण्डकः)

पदैः स्वैरर्दण्डकेन छन्दसा दण्डको मतः।
तस्य भूरितरा भेदाश्छन्दोलक्ष्मणि भाषिताः॥ २८१॥

१५-दण्डक

२८१. (अ०) **पदैः स्वैरः** पदों, स्वरों (और) **दण्डकेन छन्दसा** दण्डक छन्द से **दण्डकः मतः** 'दण्डक' (प्रबन्ध) माना गया (है)। **तस्य** उसके **भूरितराः भेदाः** बहुत भेद **छन्दोलक्ष्मणि भाषिताः** छन्दःशास्त्र में कहे गए हैं।

(सर०) दण्डक छन्द का सामान्य लक्षण दो नगण और रगण है। वर्णवृत्तों में प्रति चरण २६ से ज़्यादा अक्षर वाले और मात्रावृत्तों में ३२ से ज़्यादा मात्रा वाले छन्द दण्डक कहलाते हैं। कल्लि० के अनुसार दो नगणों (।।।) के अलावा वार्णिक दण्डक में कम से कम ७ रगण और मात्रिक में कम से कम २७ मात्रा होनी चाहियें। यति चरण के अन्त में होती है।

पदों से बद्ध पूर्वार्ध उद्ग्राह और स्वरों से बद्ध उत्तरार्ध ध्रुव कहलाता है। अन्त में पदों से आभोग होता है इसलिये त्रिधातुक है। छन्दनियम होने से निर्युक्त है और स्वर, पद, तथा ताल से युक्त भावनी जाति का प्रबन्ध है।

(१६. झम्पटः)

झम्पटच्छन्दसा गेयः क्रीडातालेन झम्पटः।

१६-झम्पट

२८२ क-ख. (अ०) **झम्पटः** 'झम्पट' (प्रबन्ध) **झम्पटच्छन्दसा** झम्पट छन्द से (और) **क्रीडातालेन गेयः** क्रीडाताल से गाया जाना चाहिये।

(सर०) कल्लि० के अनुसार झम्पट छन्द को तीन पदों वाला गाथा भेद कहा गया है। क्रीडाताल का लक्षण तालाध्याय में विरामयुक्त दो द्रुत है। झम्पट छन्द के शुरू के दो चरणों से उद्ग्राह और तीसरे से ध्रुव होता है, आभोग पूर्ववत् पदों से कल्पित होता है। इस प्रकार झम्पट प्रबन्ध त्रिधातुक है, छन्द और तालबद्ध होने से निर्युक्त है और पद, ताल युक्त तारावली जाति का है।

(१७. कन्दुकः)

पदैः पाटैश्च बिरुदैः कन्दुकः परिगीयते॥ २८२॥

१७-कन्दुक

२८२ ग-घ. (अ०) **कन्दुकः** 'कन्दुक' (प्रबन्ध) **पदैः पाटैः बिरुदैः च** पदों, पाटों और बिरुदों से **परिगीयते** गाया जाता है।

(सर०) कल्लि० ने 'कन्दुक' को भी गाथाभेद कहा है। इसके तीन चरणों में से पहला पदों से, दूसरा पाटों से और तीसरा बिरुदों से बद्ध होता है। दो चरणों से उद्ग्राह और तीसरे से ध्रुव होता है और आभोग पूर्ववत् रहता है। सिंहलील आदि पाँच प्रबन्धों में उद्ग्राह में न्यास होता है क्योंकि जहाँ न्यास का स्थान अनुक्त हो वहाँ सर्वत्र ऐसा करना सामान्य नियम है, ऐसा समझना चाहिये।

कन्दुक त्रिधातुक है, तालादि के अनियम से अनिर्युक्त है और स्वर तथा तेनरहित चार अंग वाला दीपनी जाति का प्रबन्ध है।

(१८. त्रिभङ्गिः)

स्वरैः पाटैः पदैरुक्तस्त्रिभङ्गिः स च पञ्चधा।
एकस्त्रिभङ्गितालेन वृत्तेनान्यस्त्रिभङ्गिना॥ २८३॥

तालै रागैस्त्रिभिर्यद्वा यद्वा वृत्तत्रयान्वितः।
यद्वा देवत्रयस्तुत्या तालद्वैगुण्यमुक्तकः॥ २८४॥

१८-त्रिभंगि

२८३-२८४. (अ०) **त्रिभङ्गिः** 'त्रिभंगि' (प्रबन्ध) **स्वरैः पाटैः पदैः उक्तः** स्वरों, पाटों और पदों से कहा गया (है) **स च पञ्चधा** और वह पाँच प्रकार से (होता है)। **एकः** एक **त्रिभङ्गितालेन** त्रिभंगि ताल से, **अन्यः** दूसरा **त्रिभङ्गिना वृत्तेन** त्रिभंगि छन्द से **यत् वा** अथवा **त्रिभिः तालैः रागैः** तीन तालों (और तीन) रागों से, **यत् वा** अथवा **वृत्त-त्रय-अन्वितः** तीन छन्दों से अन्वित, **यत् वा** अथवा **देवत्रयस्तुत्या** तीन देवताओं की स्तुति से (युक्त होता है और) **तालद्वैगुण्यमुक्तकः** ताल को दुगना करके समाप्त होने वाला प्रबन्ध है।

(सर०) त्रिभंगि ताल में दो लघु, दो गुरु होते हैं। त्रिभंगि वृत्त को कल्लि० ने गाथाभेद कहा है। जयकीर्ति के छन्दोऽनुशासन में इसका लक्षण यह है—'नसभनतजतसय' (२/२६८)। ये सभी वर्णगण हैं। तदनुसार ।।। ।।ऽ ऽ।। ।।। ऽऽ। ।ऽ। ऽऽ। ।।ऽ ।ऽऽ के क्रम से लघु-गुरु योजना वाला वृत्त है।

कल्लि० ने कहा कि त्रिभंगि के सभी भेदों में क्रम से स्वर, पाट और पदों का प्रयोग होता है। उद्ग्राह आदि विभाग भी पूर्ववत् कर लेना चाहिये और अन्य पदों से आभोग होना चाहिए। इस प्रकार यह प्रबन्ध त्रिधातुक है, छन्द-ताल आदि का नियम हो तो निर्युक्त अन्यथा अनिर्युक्त है, बिरुद और तेनरहित चार अंग वाला दीपनी जाति का प्रबन्ध है।

(१९. हरविलासः)

पदैः सबिरुदैः पाटैस्तेनैर्हरविलासकः।

१९-हरविलास

२८५ क-ख. (अ०) **सबिरुदैः पदैः** बिरुद सहित पदों से, **पाटैः** पाटों से (और) **तेनैः** तेनों से **हरविलासकः** 'हरविलास' (प्रबन्ध होता है)।

(सर०) 'सबिरुद' 'पद' का विशेषण है इसलिये बिरुद वाले पदों से एक खण्ड, पाटों से दूसरा और तेनों से तीसरा खण्ड गाना चाहिये। पहले खण्ड से उद्ग्राह तथा शेष दो से ध्रुव होता है और पदान्तर से आभोग रहता है। इस प्रकार त्रिधातु है, तालादि के अनियम से अनिर्युक्त और स्वर के अभाव में पंचांग आनन्दिनी जाति का प्रबन्ध है।

(२०. सुदर्शनः)

पदैश्च बिरुदैस्तेनैर्निर्दिशन्ति सुदर्शनम्॥ २८५॥

२०-सुदर्शन

२८५ ग-घ. (अ०) **पदैः बिरुदैः तेनैः** पदों, बिरुदों (और) तेनों से **सुदर्शनं** 'सुदर्शन' (प्रबन्ध) का **निर्दिशन्ति** निर्देश किया जाता है।

(सर०) हरविलास की तरह तीनों अंगों का क्रम नियत समझ सकते हैं और उसी तरह पहले खण्ड को उद्ग्राह और शेष दो को ध्रुव कह सकते हैं, पदों से आभोग अलग होगा। तदनुसार त्रिधातु प्रबन्ध है, तालादि के अनियम से अनिर्युक्त और चार अंगों से युक्त दीपनी जाति का है।

(२१. स्वराङ्कः)

पदैः स्वरैश्च बिरुदैरुद्ग्राहादित्रयं क्रमात्।
एकद्वित्राश्च तालाः स्युः स्वराङ्के न्यसनं स्वरैः॥ २८६॥

२१-स्वरांक

२८६. (अ०) **स्वराङ्के** 'स्वरांक' (प्रबन्ध) में **पदैः स्वरैः बिरुदैः च** पदों, स्वरों और बिरुदों से **उद्ग्राह-आदित्रयं क्रमात्** उद्ग्राह आदि तीन के क्रम से **एक-द्वि-त्राः च** एक, दो और तीन **तालाः स्युः** ताल होते हैं (और) **न्यसनं स्वरैः** समाप्ति स्वरों से (होती है)।

(सर०) 'स्वरांक' प्रबन्ध में उद्ग्राह पदों और किसी एक ताल से, मेलापक स्वरों और दो तालों से तथा ध्रुव बिरुदों और तीन तालों से होता है। प्रबन्ध की समाप्ति स्वरों से होती है जो संभवतः मेलापक में समाप्त करना सूचित करता है।

कल्लि० ने कहा कि यहाँ विशेष रूप से उद्ग्राह आदि तीन कहने से मेलापक का भी ग्रहण होता है। लेकिन अन्य प्रबन्धों में जहाँ कहा नहीं गया वहाँ इसका अभाव समझना चाहिये। आभोग पूर्ववत् रहता है।

कल्लि० के सामने न्यसनं स्वरैः के बजाय 'मालवश्रिया' पाठ है इसलिये उसने कहा कि इस प्रबन्ध को मालवश्री राग में गाना चाहिये। सिंह० का पाठ 'न्यसनं स्वरैः' है तदनुसार उसने स्वरों से समाप्ति कही है। साथ ही उद्ग्राहादि तीन से उसने उद्ग्राह, ध्रुव और आभोग का ग्रहण किया है, मेलापक का नहीं।

स्वरांक चतुर्धातु प्रबन्ध है, कल्लि० के अनुसार, रागनियम होने से निर्युक्त और पाट और तेन को छोड़ कर चार अंगों से दीपनी जाति का है।

(२२. श्रीवर्धनः)

श्रीवर्धनः स्याद्बिरुदैः पाटैरपि पदैः स्वरैः।
तालमानद्वयन्यासो निःशङ्केन प्रकीर्तितः॥ २८७॥

२२-श्रीवर्धन

२८७. (अ०) श्रीवर्धनः 'श्रीवर्धन' (प्रबन्ध) **बिरुदैः पाटैः** बिरुदों (और) पाटों से **पदैः स्वरैः अपि** और पदों (तथा) स्वरों से **स्यात्** होता है। **निःशङ्केन** निःशंक (शार्ङ्गदेव) के द्वारा **तालमानद्वयन्यासः** ताल की दो आवृत्तियों से समाप्त होने वाला **प्रकीर्तितः** कहा गया (है)।

(सर०) श्रीवर्धन में बिरुद और पाटों से उद्ग्राह, पदों और स्वरों से ध्रुव और पूर्ववत् पदों से आभोग होता है इसलिये त्रिधातुक, तेन को छोड़ कर पाँच अंगों से युक्त आनन्दिनी जाति का और तालादि का नियम न होने से अनिर्युक्त कहा जायगा। ताल की दो आवृत्तियों से, सामान्य नियम के अनुसार, उद्ग्राह में समाप्त किया जायगा।

(२३. हर्षवर्धनः)

पदैश्च बिरुदैर्हर्षवर्धनः स्वरपाटकः।

२३-हर्षवर्धन

२८८ क-ख. (अ) हर्षवर्धनः 'हर्षवर्धन' (प्रबन्ध) **पदैः बिरुदैः च** पदों और बिरुदों से (तथा) **स्वरपाटकः** स्वर (और) पाट वाला (होता है)।

(सर०) 'हर्षवर्धन' का उद्ग्राह पद और बिरुदों से तथा ध्रुव स्वर और पाटों से रचित होता है। पदों से आभोग की योजना सामान्य नियम के अनुसार होती है। अतः त्रिधातुक है, तालादि के नियम के अभाव में अनिर्युक्त है और तेनरहित पंचांग आनन्दिनी जाति का कहा जायगा।

सिंह० ने हर्षवर्धन को पद और बिरुद मात्र से रचित कहा है जब कि मूल लक्षण में ही स्वर और पाट भी कहे गए हैं।

(२४. वदनम्)

छपद्वयं दो वदनं स्वरपाटयुतान्तरम्॥ २८८॥
तथोपवदनं प्रोक्तं छगणाच्चदतैर्युतम्।
तथैव वस्तुवदनं छयुगाद्दचतैः कृतम्॥ २८९॥

२४-वदन

२८८ ग-२८९. (अ०) छ-पद्वयं दः छगण, दो पगण, दगण (से एक चरण और) **स्वर-पाटयुत-अन्तरं** (उन्हीं गणों से) स्वर और पाटयुक्त 'अन्तर' वाला **वदनं** वदन (प्रबन्ध होता है) **तथा** और **छगणात्** छगण के बाद **च-द-तैः युतं** चगण, दगण और तगण से युक्त **उपवदनं प्रोक्तं** 'उपवदन' कहा गया (है)। **तथा एव** उसी प्रकार **छ-युगात्** छगण के जोड़े (अर्थात् दो छगण) से **द-च-तैः** दगण, चगण, तगण से **वस्तुवदनं कृतं** 'वस्तुवदन' किया गया (है)।

(सर०) **छपद्वयं** की दोनों टीकाकारों की व्याख्या भिन्न हैं। सिंह० ने एक छगण और दो पगण कहा है और कल्लि० ने दो छगण और दो पगण कहा। **युतं** का सिंह० ने सामान्य रूप से 'युक्त' अर्थ किया लेकिन कल्लि० ने पहले खण्ड में प्रयुक्त दो छगण, एक पगण तथा एक दगण का दूसरे खण्ड में भी प्रयोग बताया है। **अन्तरं** से सिंह० ने 'मध्यप्रदेश' अर्थ लेकर कहा

कि जिसका मध्यभाग स्वर और पाटों से युक्त हो। कल्लि० ने कहा कि 'अन्तर' का अर्थ ध्रुव है क्योंकि वह उद्ग्राह और आभोग के मध्य में स्थित होता है, ध्रुव और आभोग के बीच रहने वाली 'अन्तर' धातु नहीं। इस तरह कल्लि० के अनुसार दो छगण, दो पगण और एक दगण वाला उद्ग्राह, इन्हीं गणों से स्वर-पाटयुक्त ध्रुव वाला वदन प्रबन्ध होता है। पदों से आभोग होने से त्रिधातुक है और बिरुद, तेन के अभाव में चतुरंग दीपनी जाति का प्रबन्ध है। कल्लि० ने छन्द, तालादि के अनियम से इसे अनिर्युक्त कहा है लेकिन गण नियम है इसलिये इसे निर्युक्त कहना उचित होगा।

उपवदन और वस्तुवदन में सिर्फ़ गणों का भेद है, शेष सब वदन की तरह ही है।

(२५. चच्चरी)

रागो हिन्दोलकस्तालश्चच्चरी बहवोऽङ्घ्रयः।
यस्यां षोडशमात्राः स्युर्द्वौ द्वौ च प्रासंयुतौ॥ २९०॥
सा वसन्तोत्सवे गेया चच्चरी प्राकृतैः पदैः।

२५-चच्चरी

२९०-२९१ ख. (अ०) **यस्यां** जिसमें **हिन्दोलकः रागः** हिन्दोल राग, **चच्चरी तालः** चच्चरी ताल, **षोडशमात्राः** सोलह मात्राएँ, **बहवः अङ्घ्रयः** कई पाद **द्वौ द्वौ च प्राससंयुतौ** और (उनमें से) दो-दो प्रासयुक्त **स्युः** होते हैं **सा** वह **चच्चरी** 'चच्चरी' **प्राकृतैः पदैः** प्राकृत (भाषा) के पदों से **वसन्त-उत्सवे गेया** वसन्तोत्सव में गाई जानी चाहिये (अर्थात् गाई जाती है)।

(सर०) तालाध्याय में चच्चरी ताल के लक्षण के अनुसार द्रुतों के आठ जोड़ों में से हर जोड़े का अन्तिम द्रुत विरामान्त होता है और अन्त में एक लघु रहता है। दो-दो पाद प्रासयुक्त कहने से आशय पादान्त तुक से है जो दो-दो पादों में एकसी होनी चाहिये।

चच्चरीच्छन्दसेत्यन्ये क्रीडातालेन वेत्यपि॥ २९१॥
घत्तादिच्छन्दसा वा स्याच्छन्दोलक्ष्मोदिताभिधा।

२९१ ग-२९२ ख. (अ०) **चच्चरीच्छन्दसा** चच्चरी छन्द से **इति अन्ये** ऐसा अन्य (आचार्य मानते हैं)। **क्रीडातालेन वा** अथवा क्रीडाताल से **इति अपि** ऐसा भी (मानते हैं)। **घत्ता-आदिच्छन्दसा वा स्यात्** अथवा घत्ता आदि छन्द से होती है। **छन्दः-लक्ष्म-उदिता-अभिधा** (अन्य छन्दों में गाई जाने पर) छन्दःशास्त्र में कहे गए नाम वाली होती है।

(सर०) अन्य मतों के अनुसार चच्चरी प्रबन्ध चच्चरी छन्द में या क्रीडाताल से या घत्ता आदि छन्दों से बद्ध भी हो सकती है। जब अन्य छन्दों में बद्ध होती है तो उसी छन्द के नाम से कहलाती है।

चच्चरी प्राकृत परम्परा का प्रसिद्ध छन्द है। कल्लि० ने उसमें १६ मात्रा वाले चरण कहे हैं। कल्लि० ने घत्ता के साथ आदि शब्द का यह अर्थ किया है कि क्रीडाताल का प्रयोग हो तो उसके योग्य छन्द का ग्रहण करना चाहिये।

प्रबन्ध का पूर्वार्ध उद्ग्राह और उत्तरार्ध ध्रुव होता है। पदों से आभोग रहता है इसलिये यह त्रिधातुक है, छन्द और ताल के नियम से निर्युक्त है और पद तथा तालबद्ध होने से तारावली जाति का प्रबन्ध है।

यह उल्लेखनीय है कि चच्चरी छन्द के अनेक भेद प्राकृत छन्दों के लक्षणग्रन्थों में दिए गए हैं। उसी तरह अलग-अलग ग्रन्थों में ताल के अन्तर्गत भी चच्चरी ताल के कई रूप मिलते हैं।

(२६. चर्या)

पद्धडीप्रभृतिच्छन्दाः पादान्तप्रासशोभिता॥ २९२॥
अध्यात्मगोचरा चर्या स्याद् द्वितीयादितालतः।

२६-चर्या

२९२ ग-२९३ ख. (अ०) चर्या 'चर्या' **पद्धडीप्रभृतिच्छन्दाः** पद्धडी आदि छन्दों वाली, **पादान्तप्रासशोभिता** पादों के अन्त में प्रास से शोभित, **अध्यात्मगोचरा** अध्यात्म में दिखाई देने वाली (अर्थात् अध्यात्मविषयक और) **द्वितीय-आदितालतः स्यात्** द्वितीय आदि ताल से होती है।

(सर०) पद्धडी आदि छन्दों में से किसी एक छन्द से चर्या प्रबन्ध बद्ध होता है। 'प्रभृति' का अर्थ है आदि। कल्लि० ने प्रभृति की कोई व्याख्या नहीं की है और आदि से किन छन्दों का ग्रहण किया जाय इस बारे में कुछ नहीं कहा है। लेकिन कलहंस प्रबन्ध में झम्पाताल पर व्याख्या में कल्लि० ने कहा कि झम्पाताल जितनी मात्रा वाले किसी दूसरे ताल का प्रयोग हो सकता है। उसी आधार पर छन्द के बारे में भी ऐसा समझ सकते हैं कि पद्धडी छन्द में जितनी मात्रा हैं उतनी मात्रा वाले अन्य छन्दों का प्रयोग अभिप्रेत है।

पद्धडी छन्द में प्रति चरण १६ मात्रा होती हैं, अन्तिम गुरु होता है और जगण नहीं होता।

चर्या प्रबन्ध में पादान्त प्रास होता है। द्वितीय ताल में दो द्रुत और एक लघु होता है। द्वितीय के साथ 'आदि' शब्द पर कल्लि० ने कहा कि द्वितीय ताल के बराबर मात्रा वाले किसी अन्य ताल का ग्रहण होता है।

सा द्विधा छन्दसः पूर्त्या पूर्णापूर्णा त्वपूर्तितः॥ २९३॥

समध्रुवा च विषमध्रुवेत्येषा पुनर्द्विधा।
आवृत्त्या सर्वपादानां गीयते सा ध्रुवस्य वा॥ २९४॥

२९३ ग-२९४. (अ०) **सा** वह **द्विधा** दो प्रकार से (होती है)—**छन्दसा पूर्त्या पूर्णा** छन्द की पूर्ति से पूर्णा (और) **अ-पूर्तितः तु** अपूर्ति से तो **अपूर्णा** अपूर्णा। **एषा** यह **समध्रुवा विषमध्रुवा च** समध्रुवा और विषमध्रुवा इति यों **पुनः द्विधा** फिर दो प्रकार से (होती है)। **सा** वह **सर्वपादानां ध्रुवस्य वा** सभी पादों अथवा ध्रुव की **आवृत्त्या गीयते** आवृत्ति से गाई जाती है।

(सर०) चर्या के दो भेद हैं—छन्द पूरा हो तो पूर्णा और अधूरा हो तो अपूर्णा। ये दोनों फिर से दो प्रकार की हैं—समध्रुवा और विषमध्रुवा। दोनों टीकाकारों ने श्लोक २९४ की व्याख्या अलग-अलग तरह से की है। सिंह० ने सारे पादों की यानी उद्ग्राह और ध्रुव की आवृत्ति वाली को समध्रुवा बताया है और सिर्फ़ ध्रुव की आवृत्ति वाली को विषमध्रुवा। कल्लि० ने समध्रुवा उसे कहा है जिसमें ध्रुव उद्ग्राह के बराबर होता है और जिसमें उद्ग्राह की अपेक्षा ध्रुव छोटा या बड़ा होता है उसे विषमध्रुवा कहा है।

उद्ग्राह, ध्रुव और आभोग होने से त्रिधातुक है, छन्द और ताल के नियम से निर्युक्त है और पद, तालबद्ध होने से तारावली जाति का प्रबन्ध है।

(२७. पद्धडी)

चरणान्तसमप्रासा पद्धडीच्छन्दसा युता।
बिरुदैः स्वरपाटान्तै रचिता पद्धडी मता॥ २९५॥

२७-पद्धडी

२९५. (अ०) चरणान्तसमप्रासा चरणों के अन्त में समान प्रासवाली, **पद्धडीच्छन्दसा युता** पद्धडी छन्द से युक्त, **स्वर-पाट-अन्तैः बिरुदैः रचिता** स्वर और पाट से अन्त होने वाले बिरुदों से रचित **पद्धडी मता** 'पद्धडी' मानी गई (है)।

(सर०) 'पद्धडी' प्रबन्ध में चरणों के अन्त में समान प्रास होता है। सिंह० का पाठ चरणान्तसमप्रासा के स्थान पर 'युग्मपादान्तगप्रासा' है। युग्म का अर्थ सम होता है इसलिये उसने दूसरे और चौथे चरणों के अन्त में प्रास कहा है। कल्लि० ने यह स्पष्ट किया कि प्रथमार्ध को बिरुदों से रच कर स्वरों का प्रयोग करना चाहिये और द्वितीयार्ध में बिरुदों और फिर पाटों का। प्रथमार्ध उद्ग्राह और द्वितीयार्ध ध्रुव होता है तथा पदों से आभोग रचा जाता है। अतः त्रिधातु प्रबन्ध है, छन्द के नियम से निर्युक्त है और तेनकरहित पंचांग आनन्दिनी जाति का है।

(२८. राहडी)

यत्र वीररसेन स्यात् संग्रामरचितस्तुतिः।
बहुभिश्चरणैः सात्र राहडी परिकीर्तिता॥ २९६॥

२८-राहडी

२९६. (अ०) यत्र जहाँ **बहुभिः चरणैः** बहुत से चरणों से **वीररसेन** वीर रस से **संग्रामरचितस्तुतिः स्यात्** युद्ध से रचित स्तुति होती है **सा अत्र** वह यहाँ (अर्थात् प्रबन्धों में) **राहडी परिकीर्तिता** 'राहडी' जानी गई है।

(सर०) बहुत से चरणों में से कुछ से उद्ग्राह और कुछ से ध्रुव करना चाहिये, ऐसा कल्लि० ने कहा। आभोग अलग से होना चाहिये। इस तरह 'राहडी' त्रिधातुक है, तालादि का नियम न होने से अनिर्युक्त है और पद तथा तालबद्ध होने से तारावली जाति का प्रबन्ध है।

(२९. वीरश्रीः)

पदैश्च बिरुदैर्बद्धा वीरश्रीरिति गीयते।

२९-वीरश्री

२९७ क-ख. (अ०) वीरश्रीः 'वीरश्री' **पदैः बिरुदैः च बद्धा** पदों और बिरुदों से बँधी हुई **इति गीयते** इस प्रकार गाई जाती है।

(सर०) पद से उद्ग्राह, बिरुद से ध्रुव और फिर से पदों से आभोग होता है। 'वीरश्री' त्रिधातुक है, छन्द-ताल आदि के अनियम से अनिर्युक्त है और पद, बिरुद तथा तालयुक्त त्र्यंग भावनी जाति का प्रबन्ध है।

(३०. मङ्गलाचारः)

यस्तु गद्येन पद्येन गद्यपद्येन वा कृतः॥ २९७॥
कैशिक्या मङ्गलाचारः सनिःसारुः स्वरान्वितः।

३०-मंगलाचार

२९७ ग-२९८ ख. (अ०) यः तु जो (प्रबन्ध) तो **गद्येन** गद्य से, **पद्येन** पद्य से **गद्यपद्येन वा कृतः** अथवा गद्य (और)

पद्य (दोनों) से किया गया (अर्थात् रचित) हो, **कैशिक्या** कैशिकी (राग) से **स-निःसारुः** निःसारु (ताल) सहित (गाया जाता हो और) **स्वर-अन्वितः** स्वरों से अन्वित हो (वह) **मङ्गलाचारः** 'मंगलाचार' (होता है)।

(सर०) 'मंगलाचार' प्रबन्ध तीन तरह का होता है—केवल गद्य में रचित गद्यज, केवल पद्य से पद्यज और गद्य तथा पद्य दोनों से गद्यपद्यज। कैशिकी शुद्ध पंचम ग्रामराग से उत्पन्न भाषा राग है। निःसारु ताल का लक्षण विरामान्त दो लघु है। इसके ६ भेद आगे निःसारु सालगसूड प्रबन्ध में कहे जायँगे। कल्लि० ने कहा कि स्वरान्वित अर्थात् पदान्त में या अर्धान्त में स्वरों का प्रयोग करना चाहिये। प्रथमार्ध उद्ग्राह और दूसरा अर्ध ध्रुव होता है, आभोग अलग से पदयुक्त होता है। इसलिये त्रिधातुक प्रबन्ध है, तालनियम से निर्युक्त है और पद, स्वर तथा तालबद्ध त्र्यंग भावनी जाति का है।

(३१. धवलः)

त्रिविधो धवलः कीर्तिविजयो विक्रमस्तथा॥ २९८॥
चतुर्भिश्चरणैः षड्भिरष्टभिश्च क्रमादसौ।

३१-धवल

२९८ ग-२९९ ख. (अ०) **असौ धवलः** यह 'धवल' (प्रबन्ध) **क्रमात्** क्रम से **चतुर्भिः षड्भिः अष्टभिः च चरणैः** चार, छ और आठ चरणों से **कीर्तिः विजयः तथा विक्रमः** कीर्ति, विजय और विक्रम (यों) **त्रिविधः** तीन प्रकार का (होता है)।

(सर०) चार चरण वाला कीर्तिधवल, छ चरणवाला विजयधवल और आठ चरण वाला विक्रमधवल कहलाता है।

विषमे तु छयुग्मं स्यात् तो वा दो वाधिकः समे॥ २९९॥
तदा स्यात् कीर्तिधवलो,

२९९ ग-३०० क. (अ०) **विषमे तु** विषम (चरणों) में तो **छ-युग्मं स्यात्** छगण का (एक) जोड़ा (अर्थात् दो छगण) होता है (और) **समे** सम (चरणों) में **तः वा दः वा अधिकः** या तो (एक) तगण या (एक) दगण अधिक (हो) तदा तो **कीर्तिधवलः स्यात्** कीर्तिधवल होता है।

(सर०) चार चरण वाले कीर्तिधवल के विषम यानी पहले और तीसरे चरणों में ६ मात्रा वाले दो गण यानी १२-१२ मात्रा होती हैं और सम यानी दूसरे और चौथे चरणों में दो छगण के अलावा एक तगण यानी ३ मात्रा अथवा एक दगण यानी दो मात्रा ज़्यादा होती हैं। इस प्रकार सम चरणों में १४ या १५ मात्रा होती हैं। ऐसे गणनियम वाला भेद कीर्तिधवल कहलाता है।

विजये त्वाद्यतुर्ययोः।
दौ द्वौ षष्ठे द्वितीये च शेषौ द्वौ छेन पेन वा॥ ३००॥

३०० ख-घ. (अ०) **विजये तु** विजय (धवल) में तो **आद्य-तुर्ययोः** पहले और चौथे (चरण) में **द्वितीये षष्ठे च** और दूसरे (तथा) छठे में **द्वौ दौ** दो दगण (और) **शेषौ द्वौ** शेष दो (अर्थात् तीसरा और पाँचवाँ चरण) **पेन छेन वा** पगण अथवा छगण से (होता है)।

(सर०) विजयधवल के ६ चरणों में से पहले, दूसरे, चौथे और छठे चरणों में दो छगणों के बाद दो मात्रा वाले दो-दो गण यानी ४-४ मात्राएँ ज़्यादा होती हैं। इस तरह इन चरणों में १६-१६ मात्रा होती हैं। तीसरे और पाँचवें चरणों में एक ५ या ६ मात्रिक गण ज़्यादा होने से १७ या १८ मात्राएँ होती हैं।

सिंह० ने तीसरे और पाँचवें चरणों में एक छगण या पगण ज़्यादा कहा है, अन्य चरणों में ज़्यादा का ग्रहण नहीं किया है। लेकिन कल्लि० ने कारिका में कहे गए गण अधिक बताये हैं।

प्रथमे चास्त्रयो दः स्यात् तृतीये दास्त्रयस्तु च।
तुर्यद्वितीययोश्चैतत् पञ्चमे सप्तमे तथा॥ ३०१॥

षष्ठेऽष्टमे दाश्चत्वारो यस्यासौ विक्रमो मतः।

३०१-३०२ ख. (अ०) **प्रथमे** पहले (चरण) में **त्रयः चाः** तीन चगण (और) **दः स्यात्** एक दगण होता है **तृतीये तु च** और तीसरे (चरण) में तो **त्रयः दाः** तीन दगण, **तुर्य-द्वितीययोः च** चौथे और दूसरे में भी **एतत्** यही, **पञ्चमे सप्तमे तथा** पाँचवें और सातवें में (भी) वैसा (ही और) **यस्य** जिसके **षष्ठे अष्टमे** छठे (और) आठवें (चरणों) में **चत्वारः दाः** चार दगण (हों) **असौ** यह **विक्रमः मतः** विक्रम (धवल) माना गया (है)।

(सर०) ८ चरण वाले विक्रम धवल के पहले चरण में तीन चगण और एक दगण के द्वारा १४ मात्रा होती हैं। तीसरे चरण में तीन दगणों से ९ मात्रा होती हैं। चौथा पहले चरण की तरह और दूसरा तीसरे चरण की तरह होता है। पाँचवाँ चौथे जैसा और सातवाँ दूसरे जैसा तथा छठा और आठवाँ चार दगण वाला होता है। इस तरह इस भेद का पहला, चौथा, पाँचवाँ चरण एक जैसा होता है; दूसरा, तीसरा और सातवाँ एक सा होता है तथा छठा और आठवाँ एक जैसा होता है।

आशीर्भिर्धवलो गेयो धवलादिपदान्वितः॥ ३०२॥
यदृच्छया वा धवलो गेयो लोकप्रसिद्धितः।

३०२ ग-३०३ ख. (अ०) **धवलः** धवल (प्रबन्ध) **आशीर्भिः** आशीर्वाद (युक्त वचनों) से, **धवल-आदि-पद-अन्वितः** धवल आदि पदों (शब्दों) से अन्वित **गेयः** गाना चाहिये। **लोकप्रसिद्धितः वा** अथवा लोक के प्रचलन से **यदृच्छया** स्वेच्छानुसार **धवलः गेयः** धवल गाना चाहिये।

(सर०) धवल के साथ 'आदि' से विमल आदि शब्दों का ग्रहण होता है। कल्लि० के अनुसार **यदृच्छया** का अर्थ बताये गए गणनियम को छोड़ कर गाना है।

कल्लि० के अनुसार धवल के तीनों भेदों में पूर्वार्ध उद्ग्राह, उत्तरार्ध ध्रुव और अलग से आभोग रहने से त्रिधातुक है, तालादि का नियम न होने से अनिर्युक्त है और पद तथा ताल से बद्ध तारावली जाति का प्रबन्ध है।

डॉ० तारळेकर के उल्लेख के अनुसार उच्चवर्गीय (मराठी) वाङ्मय में महदम्बे के 'ढवळ' प्रसिद्ध हैं और कुछ जातियों में विवाह के अवसर पर 'ढवळ' बोलने की प्रथा है (सं० र०, प्रथम खण्ड, अनु० डॉ० ग० हा० तारळेकर, पृ० ४९७, पाद-टिप्पणी)।

(३२. मङ्गलम्)

कैशिक्यां बोट्टरागे वा मङ्गलं मङ्गलैः पदैः॥ ३०३॥
विलम्बितलये गेयं मङ्गलच्छन्दसाथवा।

३२-मंगल

३०३ ग-३०४ ख. (अ०) **मङ्गलं** 'मंगल' (प्रबन्ध) **कैशिक्यां** कैशिकी **बोट्टरागे वा** अथवा बोट्टराग में, **मङ्गलैः पदैः** मंगल पदों से, **विलम्बितलये** विलम्बित लय में **अथवा मङ्गलच्छन्दसा** अथवा मंगल छन्द से **गेयं** गाया जाना चाहिये।

(सर०) बोट्ट ग्रामराग है। कल्लि० के द्वारा उद्धृत लक्षण के अनुसार मंगल छन्द में पाँच चगण होते हैं। मंगल पद, कल्लि० के अनुसार, शंख, चक्र, अब्ज (कमल), कोक (गुलाबी हंस/चक्रवाक), कैरव (श्वेत कुमुद) आदि मंगलसूचक शब्द होते हैं।

उद्ग्राह आदि पूर्ववत् समझने चाहियें।

(३३. ओवी)

खण्डत्रयं प्राासयुतं गीयते देशभाषया॥ ३०४॥

ओवीपदं तदन्ते चेदोवी तज्ज्ञैस्तदोदिता।
त्रयाणां चरणानां स्युरेकाद्यावृत्तितो भिदाः॥ ३०५॥

आदिमध्यान्तगैः प्रासैरेकाद्यैश्च पदे पदे।
छन्दोभिर्बहुभिर्गेया ओव्यो जनमनोहराः॥ ३०६॥

३३-ओवी

३०४ ग-३०६. (अ०) प्रासयुतं खण्डत्रयं प्रासयुक्त तीन खण्ड, **देशभाषया गीयते** देशीभाषा से गाये जाते हैं (और) **तत् अन्ते** उसके अन्त में **ओवीपदं चेत्** यदि 'ओवी' शब्द (हो) **तदा** तो **तत्-ज्ञैः** उसके ज्ञाताओं के द्वारा **ओवी उदिता** 'ओवी' कही गई (है)। **त्रयाणां चरणानां** तीनों चरणों में (से) **एक-आदि-आवृत्तितः** एक आदि (चरण) की आवृत्ति से **भिदाः स्युः** भेद होते हैं। **पदे पदे** प्रत्येक पद में **आदि-मध्य-अन्तगैः** शुरू, बीच या अन्त में रहने वाले **एक-आद्यैः प्रासैः च** और एक आदि प्रासों से **जनमनोहराः ओव्यः** लोगों के चित्त का हरण करने वाली ओवियाँ **बहुभिः छन्दोभिः गेयाः** बहुत से छन्दों से गाई जानी चाहियें।

(सर०) 'ओवी' प्रबन्ध में तीन खण्ड होते हैं जिनकी तुक मिलती है, देशी भाषाओं में रचित होता है और अन्त में 'ओवी' शब्द रहता है। तीन चरणों में से एक या दो या तीनों की आवृत्ति होती है और शुरू या मध्य या अन्त में एक आदि प्रासों से बद्ध करके अनेक छन्दों में गाया जाता है।

ओवी मराठी का अत्यन्त प्रचलित और प्राचीन छन्द है जिसके चार चरणों में से शुरू के तीन चरणों में समान प्रास होता है। यहाँ ओवी प्रबन्ध में कुल तीन चरण कहे हैं जो प्रासयुक्त होते हैं।

ओवी, लोली ढोल्लरी और दन्ती—इन चार प्रबन्धों में आभोग नहीं होता, दन्ती प्रबन्ध के लक्षण में ग्रन्थकार यह कहने वाले हैं। कल्लि० ने कहा कि ये चारों मेलापक और आभोगरहित द्विधातु प्रबन्ध हैं। प्रथम दो खण्डों से उद्ग्राह और अन्तिम खण्ड से ध्रुव होता है। तालादि का नियम न होने से अनिर्युक्त है और पद तथा तालबद्ध होने से तारावली जाति का है।

(३४. लोली)

सानुप्रासैस्त्रिभिः खण्डैर्मण्डिता प्राकृतैः पदैः।
प्रान्ते लोलीपदोपेता लोली गेया विचक्षणैः॥ ३०७॥

३४-लोली

३०७. (अ०) विचक्षणैः विशेषज्ञों के द्वारा **लोली** 'लोली' **प्राकृतैः पदैः** प्राकृत (भाषा के) पदों से, **स-अनुप्रासैः मण्डिता** अनुप्रासों से शोभित **त्रिभिः खण्डैः** तीन खण्डों से (और) **प्रान्ते** अन्त में **लोलीपद-उपेता** लोली शब्द से युक्त **गेया** गाई जाती है।

(सर०) सिंह० के अनुसार ओवी के लक्षणों से किन्तु अन्त में ओवी पद के स्थान पर लोली पद का प्रयोग होने से 'लोली' प्रबन्ध होता है।

जाति आदि ओवी की तरह समझनी चाहियें।

(३५. ढोल्लरी)

दोहडः स्याद्यदा प्रान्ते प्रोल्लसद्ढोल्लरीपदः।
ढोल्लरी नाम सा प्रोक्ता लाटभाषाविभूषिता॥ ३०८॥

३५-ढोल्लरी

३०८. (अ०) **यदा** जब **ढोल्लरीपदः प्र-उल्लसत्** ढोल्लरी शब्द से अलंकृत **दोहडः** दोहड **प्रान्ते स्यात्** अन्त में होता है (ऐसी) **लाटभाषाविभूषिता** लाट (प्रदेश की) भाषा से विभूषित **सा** वह **ढोल्लरी नाम** 'ढोल्लरी' नाम वाली **प्रोक्ता** कही गई है।

(सर०) सिंह० ने कहा कि दोहड का पहले लक्षण दिया जा चुका है। लेकिन इस नाम से कोई छन्द पहले नहीं कहा है बल्कि दोह, दोहा, दोधक नाम आये हैं। इस प्रबन्ध के अन्त में ढोल्लरी शब्द रहता है और लाट प्रदेश की भाषा होती है।

शेष सब पूर्ववत् समझना चाहिये।

(३६. दन्ती)

अनुप्रासप्रधानं चेत् खण्डत्रयसमन्वितम्।
दन्तीपदान्वितं प्रान्ते तदा दन्ती निगद्यते॥ ३०९॥

३६-दन्ती

३०९. (अ०) **अनुप्रासप्रधानं** (जब) अनुप्रासों की प्रधानता वाले **खण्डत्रयसमन्वितं** तीन खण्डों से समन्वित (और) **प्रान्ते** अन्त में **चेत् दन्तीपद-अन्वितं** यदि दन्ती शब्द से अन्वित हो **तदा** तब **दन्ती निगद्यते** 'दन्ती' प्रबन्ध कहा जाता है।

(सर०) पिछले प्रबन्धों की तरह तीन खण्ड, अनुप्रासों से युक्त और अन्त में दन्ती शब्द होने पर 'दन्ती' प्रबन्ध होता है। जाति आदि पूर्ववत् ग्रहण करनी चाहियें।

अनुक्ताभोगवस्तूनां पदैराभोगकल्पना।
ओव्यादयस्तु चत्वारो भवन्त्याभोगवर्जिताः॥ ३१०॥

३१०. (अ०) **अनुक्त-आभोगवस्तूनां** (जिन प्रबन्धों में) आभोग की वस्तु अनुक्त (अर्थात् कही न गई हो उन) में **पदैः** पदों के द्वारा **आभोगकल्पना** आभोग की रचना (करनी चाहिये)। **ओवी-आदयः** ओवी आदि **चत्वारः तु** चार (अर्थात् ओवी, लोली, ढोल्लरी और दन्ती) तो **आभोगवर्जिताः** आभोग रहित होती हैं।

(सर०) ग्रन्थकार ने प्रबन्धों में आभोग धातु के बारे में यहाँ एक सामान्य नियम दिया कि जिन प्रबन्धों में आभोग के बारे में ऐसा कहा न गया हो कि वह हो या न हो उनमें पदों से उसकी रचना कर लेनी चाहिये। कल्लि० ने पहले इसका उल्लेख और स्पष्टीकरण यत्र-तत्र किया है। इस सामान्य नियम का ओवी आदि चार में बाध करने की दृष्टि से ग्रन्थकार ने यहाँ आभोग का निषेध किया है।

मानसोल्लास में प्रबन्ध-निरूपण के अन्त में सोमेश्वर ने उल्लेख किया है कि त्रिपदी, षट्पदी, धवल, मंगल, ओवी, चच्चरी, चर्या, राहडी और दन्ती सूडों में नहीं गाने चाहियें क्योंकि ये फुटकर रूप से विभिन्न कार्यों में गाये जाते हैं। ग्रन्थकार ने इन्हें गाने के अवसर भी बताए हैं। कण्डन (अनाज छड़ने) में और विप्रलम्भ शृंगार में त्रिपदी, कथा में षट्पदी, विवाह में धवल, उत्सव में मंगल, योगियों के द्वारा चर्या, महाराष्ट्र में स्त्रियों के द्वारा कंडन में ओवी, होली में चच्चरी, वीरवर्णन में राहडी,

ग्वालों के वार्तालाप में अपनी भाषा में दन्ती—इस प्रकार विषयभेद से ये प्रबन्ध समझे जाते हैं (मान०, १६/४/५४८-५६६)।

सोमेश्वर ने यह भी कहा कि प्रबन्ध गाने की विधि के अनुसार ही उसे गाना चाहिये क्योंकि विधि के उल्लंघन से दोष होता है। देवी-देवताओं की स्तुति में; नृप, युवराज, महादेवी, प्रिया आदि की प्रसन्नता के लिये गायक की जिसमें प्रवृत्ति हो उस प्रबन्ध को गाना चाहिये लेकिन अर्थ (धन) के लोभ में कभी नहीं क्योंकि यह निन्दनीय है। जो देवताओं की स्तुति में गाता है उसकी मुक्ति निश्चित होती है और जो राजाओं के लिये गाता है उसकी निरन्तर भुक्ति होती है।

प्रबन्धों के लक्षणों पर पुनः दृष्टि डालें तो यह स्पष्ट रूप से समझ में आता है कि शुद्ध सूडों में गाने की विधि संबन्धी लक्षण प्रमुखता से कहे गए हैं यानी किस धातु (खण्ड) को कब, कैसे और कितनी बार गाया जाय, प्रबन्ध को कहाँ समाप्त किया जाय आदि। दूसरी ओर आलि प्रबन्धों में विविध प्रकार से लक्षण दिये गये हैं। उनमें छन्द, ताल, गद्य-पद्य, अंगों और रागों की संख्या और क्रम के आधार पर भेद-प्रभेदों की रचना और कहीं-कहीं गाने की विधि दी गई है। इस वर्ग में विशिष्ट छन्दों पर आधारित बहुत से प्रबन्ध हैं। विप्रकीर्ण प्रबन्धों में दो प्रकार के प्रबन्ध देखे जा सकते हैं—एक तो वे जिनमें स्वर आदि अंगों का क्रम और कुछ में रागों तालों की संख्या नियत है, जैसे—त्रिपदी, चतुष्पदी, षट्पदी और वस्तु को छोड़ कर श्रीरंग, श्रीविलास, पंचभंगि, पंचानन से लेकर हर्षवर्धन इत्यादि। दूसरे, इनसे भिन्न वे प्रबन्ध जो विभिन्न अवसरों से जुड़े हुए हैं।

यहाँ विप्रकीर्ण प्रबन्धों का निरूपण समाप्त होता है। इसके बाद ग्रन्थकार ने सालगसूड कहे हैं।

(सालगसूडप्रबन्धाः)

शुद्धश्छायालगश्चेति द्विविधः सूड उच्यते।
एलादिः शुद्ध इत्युक्तो ध्रुवादिः सालगो मतः॥ ३११॥

(ई) सालगसूड प्रबन्ध

३११. (अ०) **शुद्धः छायालगः च** शुद्ध और छायालग **इति सूडः द्विविधः उच्यते** यों सूड दो प्रकार से कहा जाता है (अर्थात् शूद्धसूड और छायालग सूड)। **एला-आदिः** एला आदि (पूर्वोक्त ८) **शुद्धः इति उक्तः** शुद्ध इस प्रकार कहा (है और) **ध्रुव-आदिः** (अब कहे जाने वाले) ध्रुव आदि **सालगः मतः** सालग (छायालग सूड) माना गया (है)।

(सर०) सूड प्रबन्ध दो प्रकार के होते हैं—शुद्ध सूड और छायालग या सालगसूड। संस्कृत छायालग शब्द का ही अपभ्रंश रूप सालग है जो लोक में प्रचलित होने से छायालग का पर्याय ही है। कल्लि० के अनुसार शुद्ध का लक्षण शास्त्रोक्त नियमों से प्रवर्तित है और जिसमें शुद्ध की छाया लगती है वह छायालग है। छाया का अर्थ है सादृश्य। एला से एकताली तक जो ८ सूड शुरू में कहे जा चुके हैं वे शुद्ध सूड हैं और ध्रुव से एकताली तक ७ सालगसूड हैं जो अब कहे जायँगे।

छायालगत्वमेलादेर्यद्यप्याचार्यसंमतम्।
लोके तथापि शुद्धोऽसौ शुद्धसादृश्यतो मतः॥ ३१२॥

३१२. (अ०) **यद्यपि** यद्यपि **एला-आदेः छायालगत्वम्** एला आदि का (भी) छायालगत्व **आचार्यसंमतम्** आचार्य-संमत है **तथापि** फिर भी **शुद्धसादृश्यतः** शुद्ध के सादृश्य से **असौ** यह **लोके** लोक में **शुद्धः मतः** शुद्ध माना गया (है)।

(सर०) ग्रन्थकार ने एक शंका ध्यान में रख कर यहाँ उसका उत्तर दिया है जिसकी कल्लि० ने व्याख्या में चर्चा की है। शंका यह है कि जाति आदि को ही शुद्ध माना गया है, एलादि में तो उनकी छाया के कारण सालगत्व ही है, फिर एलादि को शुद्ध कैसे कहा? ग्रन्थकार का उत्तर यह है कि जाति आदि शुद्ध हैं, उनकी छाया का अनुकरण होने से यद्यपि एलादि को छायालग मानना ही आचार्यों ने उपयुक्त समझा है लेकिन शुद्ध जातिगीतों के नियमों का बहुत उल्लंघन न होने से उनके बहुत सदृश हैं इसलिये एलादि को भी उपचार से शुद्ध कहा जाता है। ध्रुव आदि में तो जातिनियमों का खूब उल्लंघन हुआ है इसलिये

वे तो सालग ही हैं।*

सिंह० ने उल्लेख किया है कि भरत ने एलादि का सालगत्व कहा है। किन्तु उपलब्ध ना० शा० में देशी प्रबन्धों का कोई उल्लेख या निरूपण नहीं है।

जात्याद्यन्तरभाषान्तं शुद्धं प्रकरणान्वितम्।
तत्रोक्तः शुद्धसूडः प्राक् सालगस्त्वधुनोच्यते॥ ३१३॥

३१३. (अ०) **जाति-आदि-अन्तरभाषान्तं** जाति आदि से अन्तर भाषा के अन्त तक (और) **प्रकरण-अन्वितं** प्रकरण (गीतकों) से अन्वित **शुद्धं** शुद्ध (हैं)। **तत्र** उनमें से **शुद्धसूडः प्राक् उक्तः** शुद्धसूड पहले कहा गया **सालगः तु** सालग(सूड) तो **अधुना उच्यते** अब कहा जा रहा है।

(सर०) कल्लि० के अनुसार जाति 'आदि' से जाति, कपाल और कम्बल गीति, ग्रामराग, उपराग, राग, भाषा, विभाषा और अन्तरभाषा का ग्रहण करना चाहिये। इनका निरूपण ग्रन्थकार स्वराध्याय और रागाध्याय में कर चुके हैं। १४ प्रकरण गीतों के लक्षण तालाध्याय में कहे जाने वाले हैं जो नियमों के पूरी तरह पालन से प्रवृत्त होते हैं इस कारण शुद्ध ही माने जाते हैं इसलिये उन्हें भी यहाँ 'शुद्ध' वर्ग में सम्मिलित कर लिया है।

जात्यादि के स्थान पर सिंह० का पाठ 'श्रुत्यादि' है, तदनुसार उसने श्रुति प्रकरण से लेकर अन्तर भाषा तक सारे का ग्रहण किया है। उसने यह भी कहा कि प्रकरण गीतों के साथ एलादि का सादृश्य अनियत है तथा सम्यक् प्रयोग से फल प्राप्त होता है और असम्यक् प्रयोग से दोष होता है, ऐसा समझना चाहिये।

आद्यो ध्रुवस्ततो मण्ठप्रतिमण्ठनिःसारुकाः।
अड्डतालस्ततो रास एकतालीत्यसौ मतः॥ ३१४॥

३१४. (अ०) **आद्यः ध्रुवः** पहला ध्रुव **ततः** उसके बाद **मण्ठ-प्रतिमण्ठ-निःसारुकाः** मण्ठ, प्रतिमण्ठ और निःसारुक, **अड्डतालः** अड्डताल **ततः** तब **रासः एकताली इति** रास (और) एकताली ये **असौ मतः** यह (सालगसूड) माना गया (है)।

(सर०) ध्रुव के अलावा शेष ६ अपने ही नाम वाले तालों और उनके भेदों में बद्ध हैं, ध्रुव के भेदों में विभिन्न तालों का प्रयोग होता है।

(१. ध्रुवः)

एकधातुर्द्विखण्डः स्याद्यत्रोद्ग्राहस्ततः परम्।
किञ्चिदुच्चं भवेत् खण्डं द्विरभ्यस्तमिदं त्रयम्॥ ३१५॥

ततो द्विखण्ड आभोगस्तस्य स्यात् खण्डमादिमम्।
एकधातु द्विखण्डं च खण्डमुच्चतरं परम्॥ ३१६॥

---

* 'सूड' शब्द के इतिहास, सूड प्रबन्धों के विकास आदि के बादे में यहाँ अनुवाद और व्याख्या की सीमा में विशेष कहने की गुंजाइश नहीं है। इनके बारे में ये प्रकाशन द्रष्टव्य हैं—.

1. Suḷadis and Ugabhogas of Karnataka Music—R. Sathyanarayana, Varalakshmi Academy, Mysore.
2. Sri Purandaradāsa and his Sūḷādis and Ugābhogas, Sri N. Cennakesava, Article published in the Jl. of the Madras Music Academy, 1964, Part I-IV.
3. Musical Forms in Saṅgītaratnākara, N. Ramanathan, Pub. Sampradāya, Chennai.

स्तुत्यनामाङ्कितश्चासौ क्वचिदुच्चकखण्डकः।
उद्ग्राहस्याद्यखण्डे च न्यासः स ध्रुवको भवेत्॥ ३१७॥

१-ध्रुव

३१५-३१७. (अ०) **यत्र** जहाँ **एकधातुः द्विखण्डः** एकसी धातु (गेय) युक्त दो खण्ड वाला **उद्ग्राहः स्यात्** उद्ग्राह होता है, **ततः** उसके बाद **किञ्चित् उच्चं परं खण्डं भवेत्** कुछ ऊँचा (ऊँची धातु वाला) दूसरा खण्ड होता है, **इदं त्रयं** ये तीनों **द्विः अभ्यस्तं** दो बार प्रयुक्त हों (गाए जायँ), **ततः** तब **द्विखण्डः आभोगः** दो खण्ड वाला आभोग, **तस्य** उसका **आदिमं खण्डं** पहला खण्ड, **द्विखण्डं एकधातुः च** दो खण्ड और एक धातु वाला **स्यात्** होता है (और) **परं खण्डं** दूसरा खण्ड **उच्चतरम्** उच्चतर (अर्थात् पिछले खण्ड से ज़्यादा ऊँचा हो और) **असौ** यह **क्वचित् उच्चक-खण्डकः** कुछ ऊँचा वाला खण्ड **स्तुत्यनाम-अङ्कितः च** स्तुत्य के नाम से अंकित भी (हो), **उद्ग्राहस्य** उद्ग्राह के **आद्यखण्डे** पहले खण्ड में **न्यासः च** समाप्ति भी हो, **सः** वह **ध्रुवकः भवेत्** 'ध्रुव' (प्रबन्ध) होता है।

(सर०) ध्रुव प्रबन्ध में उद्ग्राह और आभोग—ये दो ही धातुएँ हैं। उद्ग्राह में दो मुख्य खण्ड हैं जिनमें से पहले में फिर से दो प्रखण्ड हैं जो एक ही स्वरयोजना में शब्दभेद से गाए जाते हैं और दूसरा खण्ड पहले खण्ड की अपेक्षा कुछ ऊँचा यानी ऊपर के स्वरों में गाया जाता है। सिंह० के अनुसार उद्ग्राह के बाद वाला खण्ड अन्तर धातु है।

आभोग में भी खण्ड-विभाजन उद्ग्राह जैसा ही है क्योंकि उसमें भी दो खण्ड, पहले खण्ड में दो प्रखण्ड, दोनों के शब्द भिन्न लेकिन गेय एकसा और दूसरा खण्ड पहले खण्ड से कुछ ऊँचे स्वरों में गेय होता है और इसमें स्तुत्य का नाम भी रहता है। गीत की समाप्ति उद्ग्राह के पहले खण्ड में होती है।

एकादशाक्षरात् खण्डादेकैकाक्षरवर्धितैः।
खण्डे ध्रुवाः षोडश स्युः षड्विंशत्यक्षरावधि॥ ३१८॥

३१८. (अ०) **खण्डे** (ध्रुव प्रबन्ध के) एक खण्ड में **एकादश-अक्षरात् खण्डात्** ग्यारह अक्षर वाले खण्ड से **षड्विंशति-अक्षर-अवधि** छब्बीस अक्षर तक **एक-एक अक्षरवर्धितैः** एक-एक अक्षर बढ़ाए हुए (खण्डों) से **षोडश ध्रुवाः स्युः** सोलह (प्रकार के) ध्रुव होते हैं।

(सर०) ध्रुव के हर खण्ड में ग्यारह अक्षर से शुरू करके क्रमशः एक-एक अक्षर बढ़ाते हुए छब्बीस अक्षर करने से ध्रुव प्रबन्ध के १६ भेद बनते हैं। इस प्रकार प्रति चरण अक्षरसंख्या में वृद्धि पर इसके भेद आधारित हैं।

जयन्तशेखरोत्साहास्ततो मधुरनिर्मलौ।
कुन्तलः कामलश्चारो नन्दनश्चन्द्रशेखरः॥ ३१९॥

कामोदो विजयाख्यश्च कन्दर्पजयमङ्गलौ।
तिलको ललितश्चेति संज्ञाश्चैषां क्रमादिमाः॥ ३२०॥

३१९-३२०. (अ०) (१) जयन्त, (२) शेखर, (३) उत्साह, (४) मधुर, (५) निर्मल, (६) कुन्तल, (७) कामल, (८) चार, (९) नन्दन, (१०) चन्द्रशेखर, (११) कामोद, (१२) विजय, (१३) कन्दर्प, (१४) जयमंगल, (१५) तिलक और (१६) ललित **इति** इस प्रकार **क्रमात् इमाः** क्रम से ये **एषां संज्ञाः च** इनकी संज्ञाएँ हैं।

(सर०) जयन्त में एक खण्ड में ११ अक्षर, शेखर में १२ और इसी क्रम से १-१ अक्षर बढ़ा कर अन्तिम भेद ललित में २६ अक्षर होते हैं।

कल्लि० ने शंका उठाई कि इन भेदों में ग्रन्थकार ने अक्षरसंख्या का जो नियम कहा है वह उसके समय में प्रचलित कई ध्रुवभेदों में दिखाई नहीं देता। फिर लक्षणयुक्त न होने पर उनमें लोक अर्थात् लक्ष्य का ग्रहण कैसे हो? इस नियमोल्लंघन का परिहार कैसे हो? इसका जो समाधान दिया उसका सार यह है कि यह ठीक है कि कहीं-कहीं लक्ष्य में इस नियम का भंग दिखाई देता है। लेकिन ग्रन्थकार द्वारा प्रयुक्त 'अक्षर' से पदों का भी ग्रहण करना चाहिये क्योंकि प्रचार में अक्षरार्थ से पदार्थ समझा जाता है इसलिये अक्षरों या पदों की संख्या का नियम अभिप्रेत है। जहाँ यह नियम भी न हो वहाँ अक्षरों की संख्या के नियम से ग्रन्थकार ने जो अदृष्ट फल कहे हैं वे प्राप्त नहीं होंगे लेकिन दृष्टफल, जनरंजन, की प्राप्ति तो फिर भी होगी।

आदितालेन शृङ्गारे जयन्तो गीयते बुधैः।
स नेतृश्रोतृगातृणामायुःश्रीवर्धनो मतः॥ ३२१॥

३२१. (अ०) जयन्तः जयन्त बुधैः बुद्धिमानों के द्वारा आदितालेन आदिताल से शृङ्गारे गीयते शृंगार (रस) में गाया जाता है। सः वह नेतृ-श्रोतृ-गातृणां नेता, श्रोता और गाता की आयुः श्रीवर्धनः मतः आयु और श्री (संपन्नता) को बढ़ाने वाला माना गया (है)।

ऋद्धिसौभाग्यदो वीरे निःसारौ शेखरो भवेत्।

३२२ क-ख. (अ०) शेखरः शेखर ऋद्धि-सौभाग्यदः ऋद्धि (समृद्धि और) सौभाग्य देने वाला वीरे वीर रस में निःसारौ निःसारु (ताल) में भवेत् होता है।

प्रतिमण्ठेन हास्ये स्यादुत्साहो वंशवृद्धिकृत्॥ ३२२॥

३२२ ग-घ. (अ०) वंशवृद्धिकृत् वंश में वृद्धि करने वाला (और) हास्ये हास्य (रस) में उत्साहः उत्साह प्रतिमण्ठेन स्यात् प्रतिमण्ठ (ताल) से होता है।

मधुरो भोगदो गेयः करुणे हयलीलया।

३२३ क-ख. (अ०) भोगदः मधुरः भोग देने वाला मधुर करुणे करुण (रस) में हयलीलया गेयः हयलीला (ताल) से गाया जाता है।

क्रीडातालेन शृङ्गारे निर्मलस्तनुते प्रभाम्॥ ३२३॥

३२३ ग-घ. (अ०) निर्मलः निर्मल शृङ्गारे शृंगार (रस) में क्रीडातालेन क्रीडाताल से प्रभां तनुते कान्ति को फैलाता है।

लघुशेखरतालेन कुन्तलोऽभीष्टदोऽद्भुते।

३२४ क-ख. (अ०) अभीष्टदः कुन्तलः अभीष्ट को देने वाला कुन्तल अद्भुते अद्भुत (रस) में लघुशेखरतालेन लघुशेखर ताल से (गाया जाता है)।

कामलो विप्रलम्भे स्याज्झम्पातालेन सिद्धिदः॥ ३२४॥

३२४ ग-घ. (अ०) झम्पातालेन झम्पाताल से विप्रलम्भे विप्रलंभ (शृंगार) में कामलः कामल सिद्धिदः स्यात् सिद्धि देने वाला होता है।

हर्षोत्कर्षप्रदश्चारो वीरे निःसारुतालतः।

३२५ क-ख. (अ०) हर्ष-उत्कर्षप्रदः हर्ष (और) उत्कर्ष (उन्नति) देने वाला चारः चार वीरे वीर (रस) में निःसारुतालतः निःसारु ताल से (गाया जाता है)।

नन्दनो वीरशृङ्गार एकताल्येष्टसिद्धिदः॥ ३२५॥

३२५ ग-घ. (अ०) अष्टसिद्धिदः नन्दनः आठ सिद्धियाँ देने वाला नन्दन वीरशृङ्गारें वीर (और) शृंगार (रसों) में एकताल्या एकताली (ताल) से (गाया जाता है)।

वीरे हास्ये च शृङ्गारे प्रतिमण्ठेन गीयते।
अभीष्टफलदः श्रोतृगातॄणां चन्द्रशेखरः॥ ३२६॥

३२६. (अ०) श्रोतृ-गातॄणां श्रोता और गाता को अभीष्टफलदः इच्छित फल देने वाला चन्द्रशेखरः चन्द्रशेखर वीरे हास्ये शृङ्गारे च वीर, हास्य (और) शृंगार (रसों) में प्रतिमण्ठेन गीयते प्रतिमण्ठ (ताल) से गाया जाता है।

प्रतिमण्ठेन शृङ्गारे कामोदोऽभीष्टकामदः।

३२७ क-ख. (अ०) अभीष्टकामदः अभीष्ट इच्छा देने वाला (अर्थात् पूरी करने वाला) कामोदः कामोद शृङ्गारे शृंगार (रस) में प्रतिमण्ठेन प्रतिमण्ठ (ताल) से (गाया जाता है)।

हास्ये द्वितीयतालेन विजयो नेतुरायुषे॥ ३२७॥

३२७ ग-घ. (अ०) विजयः विजय नेतुः आयुषे नेता की आयु (बढ़ाने) के लिये (और) हास्ये हास्य (रस) में द्वितीयतालेन द्वितीय ताल से (गाया जाता है)।

हास्यशृङ्गारकरुणेष्वादितालेन गीयते।
कन्दर्पो भोगदो नृणां,

३२८ क-ग. (अ०) नृणां भोगदः मनुष्यों को भोग देने वाला कन्दर्पः कन्दर्प हास्य-शृङ्गार-करुणेषु हास्य, शृंगार और करुण (रसों) में आदितालेन गीयते आदिताल से गाया जाता है।

श्रीसदाशिवसंमतः॥ ३२८॥

क्रीडातालेन शृङ्गारे वीरे च जयमङ्गलः।
जयोत्साहप्रदः पुंसां,

३२८ घ-३२९ ग. (अ०) पुंसां मनुष्यों को जय-उत्साहप्रदः विजय और उत्साह प्रदान करने वाला श्रीसदाशिव-संमतः श्रीसदाशिव का संमत जयमङ्गलः जयमंगल शृङ्गारे वीरे च शृंगार (और) वीर (रस) में क्रीडातालेन क्रीडाताल से (गाया जाता है)।

ध्रुवकस्तिलकाभिधः॥ ३२९॥
रसे वीरे च शृङ्गार एकताल्या प्रगीयते।

३२९ घ-३३० ख. (अ०) तिलक-अभिधः ध्रुवकः तिलक नाम वाला ध्रुव वीरे शृङ्गारे च रसे वीर और शृंगार रस में एकताल्या प्रगीयते एकताली (ताल) से प्रकर्ष से गाया जाता है।

प्रतिमण्ठेन शृङ्गारे ललितः सर्वसिद्धये॥ ३३०॥

३३० ग-घ. (अ०) सर्वसिद्धये सारी सिद्धियों के लिये (और) शृङ्गारे शृंगार (रस) में ललितः ललित प्रतिमण्ठेन प्रतिमण्ठ (ताल) से (गाया जाता है)।

स्याद्वर्णनियमः सर्वखण्डे खण्डद्वये तथा।
यथोक्तान् यो जयन्तादीन् गायेन्निपुणया धिया॥ ३३१॥

सर्वक्रतुफलं तस्येत्यवोचन्मुनिसत्तमः।

३३१-३३२ ख. (अ०) **वर्णनियमः** वर्ण का नियम **सर्वखण्डे** सभी खण्डों में **तथा** और (विकल्प से केवल) **खण्डद्वये स्यात्** दो खण्डों में होता है। **यः** जो (गाता) **जयन्त-आदीन्** जयन्त आदि (ध्रुवों) को **यथा-उक्तान्** कहे गए लक्षणों के अनुसार (तथा) **निपुणया धिया** निपुण बुद्धि से **गायेत्** गाता है **तस्य** उसका (अर्थात् उसे) **सर्वक्रतुफलम् इति** सारे यज्ञों का फल (प्राप्त होता है) ऐसा **मुनिसत्तमः** मुनिश्रेष्ठ ने **अवोचन्** कहा (है)।

(सर०) आदिताल में एक लघु होता है। मण्ठ के ४ भेद तालाध्याय में हैं और अन्य ६ भेद मण्ठ प्रबन्ध में कहे जायँगे। लघुशेखर में विरामान्त एक लघु होता है। ध्रुव भेदों में आए अन्य तालों के लक्षण प्रबन्धों में पहले दिए जा चुके हैं।

ध्यान देने योग्य है कि ध्रुवभेदों को दृष्ट के साथ-साथ यज्ञों के फल देने वाला अर्थात् अदृष्टदायक भी कहा गया है। स्मरणीय है कि पहले अध्याय के चौथे प्रकरण में शुद्ध तानों के द्वारा भी विभिन्न यज्ञों के फलों की प्राप्ति कही गई है। ध्रुव भी लक्षणों के अनुसार सम्यक् रूप से गाए जायँ तो उनसे भी यज्ञों के फल प्राप्त होते हैं।

(२. मण्ठः)

द्वियत्येकविरामं वा यस्योद्ग्राहाख्यखण्डकम्॥ ३३२॥

ततः खण्डं ध्रुवाख्यं द्विस्ततो वैकल्पिकोऽन्तरः।
तं गीत्वा ध्रुवमागत्य वाभोगो गीयते सकृत्॥ ३३३॥

ध्रुवे न्यासस्ततः प्रोक्तः स मण्ठो मण्ठतालतः।

२-मण्ठ

३३२ ग-३३४ ख. (अ०) **यस्य** जिस (प्रबन्ध) का **उद्ग्राह-आख्य-खण्डकम्** उद्ग्राह नामक खण्ड **द्वियति-एकविरामं वा** एक विराम (यति) या दो यति वाला (हो), **ततः** उसके बाद **ध्रुव-आख्यं खण्डं द्विः** ध्रुव नामक खण्ड दो बार, **ततः** तब **वैकल्पिकः अन्तरः** विकल्प से अन्तर (हो), **तं गीत्वा** वा अन्तर हो तो उसे गाकर **ध्रुवम् आगत्य** ध्रुव तक आकर **आभोगः सकृत् गीयते** आभोग एक बार गाया जाता है **ततः** तब **ध्रुवे न्यासः** ध्रुव में समाप्त (हो तो) **सः** वह **मण्ठतालतः** मण्ठ ताल से **मण्ठः प्रोक्तः** 'मण्ठ' (प्रबन्ध) कहा गया (है)।

(सर०) इस 'अन्तर' को लोक में 'उपान्तर' कहा जाता है, ऐसा कल्लि० ने उल्लेख किया है और इसे ध्रुवखण्ड ही समझना चाहिये, जैसा स्वयं ग्रन्थकार ने भी एकताली सालगसूड प्रबन्ध में **सकृद्द्वियतिरुद्ग्राहोऽन्तरस्त्वक्षरनिर्मितः** के द्वारा किया है। यहाँ भी उद्ग्राह के बाद 'अन्तर' शब्द के ग्रहण से अन्तर का अर्थ ध्रुवखण्ड ही है, ध्रुव और आभोग के बीच रहने वाली अन्तर नामक धातु नहीं।

जयप्रियो मङ्गलश्च सुन्दरो वल्लभस्तथा॥ ३३४॥

कलापः कमलश्चेति षड् भेदा मण्ठके मताः।
षट्प्रकारो मण्ठतालो रूपकं तेन भिद्यते॥ ३३५॥

३३४ ग-३३५. (अ०) **मण्ठके** मण्ठ में **जयप्रियः मङ्गलः च** जयप्रिय और मंगल, **सुन्दरः तथा वल्लभः** सुन्दर तथा

वल्लभ, कलापः कमलः च कलाप और कमल **इति** ये **षट् भेदाः मताः** ६ भेद माने गए (हैं)। **मण्ठतालः षट्प्रकारः** मण्ठताल ६ प्रकार वाला (है)। **तेन** उसके द्वारा **रूपकं** (मण्ठ) प्रबन्ध **भिद्यते** भिन्न होता है (अर्थात् भेद होते हैं)।

(सर०) मण्ठताल के ६ भेद यहाँ कहे हैं जिनसे युक्त होकर मण्ठ प्रबन्ध के ६ भेद होते हैं। इनके लक्षण अगले श्लोकों में दिए हैं।

वीरे जयप्रियो गेयो मण्ठेन जगणात्मना।
मङ्गलो भेन शृङ्गारे सुन्दरः सेन तद्रसे॥ ३३६॥

वल्लभो रेण करुणे कलापो नगणेन तु।
विरामान्तेन गातव्यो रसे हास्ये विचक्षणैः॥ ३३७॥

विरामान्तद्रुतद्वन्द्वाल्लघुना कमलोऽद्भुते।

३३६-३३८ ख. (अ०) **जयप्रियः** जयप्रिय **वीरे** वीर (रस) में **जगण-आत्मना मण्ठेन गेयः** जगणात्मक मण्ठ (ताल) के द्वारा गाया जाना चाहिये। **मङ्गलः** मंगल **शृङ्गारे** शृंगार में **भेन** भगण से, **सुन्दरः** सुन्दर **तत् रसे** उसी (अर्थात् शृंगार) रस में **सेन** सगण से, **वल्लभः** वल्लभ **करुणे** करुण (रस) में **रेण** रगण से, **विचक्षणैः** विचक्षणों के द्वारा **हास्ये रसे** हास्य रस में **विरामान्तेन** विराम से अन्त होने वाले **नगणेन तु** नगण से तो **कलापः गातव्यः** कलाप गाया जाना चाहिये। **कमलः** कमल **अद्भुते** अद्भुत (रस) में **विरामान्तद्रुतद्वन्द्वात्** विरामान्त द्रुत के जोड़े के बाद **लघुना** लघु के द्वारा (गाना चाहिये)।

(सर०) जगण मण्ठ अर्थात् ।ऽ।, भगण मण्ठ ऽ।।, सगण मण्ठ ।।ऽ, रगण मण्ठ ऽ।ऽ, विरामान्त नगण ।।।, विरामान्त द्रुतद्वन्द्व और लघु ०ऽ।—मुख्यतः वर्णगणों पर आधारित मण्ठताल के इन ६ भेदों से मण्ठ प्रबन्ध के ६ भेद होते हैं।

कल्लि० ने कहा कि ध्रुव आदि सातों प्रबन्धों में मेलापक का अभाव होने से त्रिधातुक हैं। लेकिन मण्ठ आदि ६ में विकल्प से जो अन्तर कहा गया है उसे भिन्न धातु मानने वाले पक्ष के आधार पर अन्तर को लेकर चतुर्धातु है और भिन्न न मानने वाले पक्ष के अनुसार त्रिधातु है। इसी धातु को उपान्तर भी कहा जाता है जिसकी चर्चा ध्रुव प्रबन्ध की व्याख्या में की जा चुकी है। तालादि के नियम से सभी निर्युक्त हैं और पद तथा ताल—दो अंगों से बद्ध तारावली जाति के हैं।

(३. प्रतिमण्ठः)

मण्ठवत् प्रतिमण्ठादेर्लक्ष्मोद्ग्राहादिकं मतम्॥ ३३८॥

तथाप्येषां विशेषस्तु प्रत्येकं प्रतिपाद्यते।
तत्र च प्रतिमण्ठेन तालेन प्रतिमण्ठकः॥ ३३९॥

३-प्रतिमण्ठ

३३८ ग-३३९. (अ०) **प्रतिमण्ठ-आदेः** प्रतिमण्ठ आदि (प्रबन्धों) के **उद्ग्राह-आदिकं लक्ष्म** उद्ग्राह आदि लक्षण **मण्ठवत् मतं** मण्ठ (प्रबन्ध) के समान माने गए (हैं)। **तथापि** फिर भी **एषां प्रत्येकम्** इनमें से हरेक का **विशेषः तु** विशेष (लक्षण) तो **प्रतिपाद्यते** प्रतिपादित किया जा रहा है। **तत्र च** और उनमें से **प्रतिमण्ठकः** 'प्रतिमण्ठ' **प्रतिमण्ठेन तालेन** प्रतिमण्ठ ताल से (होता है)।

(सर०) प्रतिमण्ठ आदि पाँच सालगसूड प्रबन्धों में उद्ग्राह आदि धातुओं का संनिवेश मण्ठ जैसा ही है, उससे भिन्न नहीं। कल्लि० ने कहा कि इन प्रबन्धों के जो विशेष लक्षण हैं वे कहने के लिये 'प्रतिमण्ठ ताल से प्रतिमण्ठ प्रबन्ध होता है'—ग्रन्थकार के इस कथन का यह अर्थ है कि तालों के द्वारा भेद सूचित होने से यहाँ केवल रसों का भेद ही विवक्षित नहीं है

अर्थात् भेद मुख्य रूप से तालों का है। फिर उसने शंका उठाई कि मण्ठ के कलाप नामक भेद में विरामान्त नगण ताल कहा है और प्रतिमण्ठ के विचार नामक भेद में विरामान्त तीन लघु वाला ताल है; इस प्रकार दोनों में सिर्फ़ शब्दों का ही अन्तर है, अर्थ का नहीं इसलिये मण्ठ और प्रतिमण्ठ में पुनरुक्ति दोष है। इसका कल्लि० ने यह स्पष्टीकरण दिया कि तालाध्याय में कहे गए १२० तालों में सालगसूड स्थित तालों की दो-दो तीन-तीन तालों के साथ परस्पर पुनरुक्ति दिखाई देती है जिसका परिहार वहीं करेंगे। वहाँ कल्लि० ने जो परिहार किया है उसका यहाँ प्रासंगिक मुख्य बिन्दु यह है कि देशीतालों में लघु आदि अवयवों का माप एक नियत सीमा में कम या ज़्यादा हो सकता है और उसके आधार पर लय भिन्न हो जाने से, लक्षण समान होते हुए भी, तालों में परस्पर भिन्नता आ जाती है। इसके उदाहरण भी वहाँ कल्लि० ने दिये हैं।

चतुर्धा सोऽमरस्तारो विचारः कुन्द इत्यपि।

३४० क-ख. (अ०) **सः** वह (प्रतिमण्ठ प्रबन्ध) **अमरः तारः विचारः कुन्दः अपि** अमर, तार, विचार और कुन्द **इति** यों **चतुर्धा** चार प्रकार से (होता है)।

अमरो गुरुणैकेन शृङ्गारे स विधीयते॥ ३४०॥

३४० ग-घ. (अ०) **अमरः** अमर **एकेन गुरुणा** एक गुरु से (होता है और) **सः** वह (उसका) **शृङ्गारे विधीयते** शृंगार में विधान होता है।

विरामान्तद्रुतद्वन्द्वाल्लघुद्वन्द्वेन जायते।
ताराख्यः प्रतिमण्ठोऽसौ रसयोर्वीररौद्रयोः॥ ३४१॥

३४१. (अ०) **विरामान्तद्रुतद्वन्द्वात्** विरामान्त द्रुत के जोड़े के बाद **लघुद्वन्द्वेन** लघु के जोड़े से **तार-आख्यः प्रतिमण्ठः** तार नामक प्रतिमण्ठ **जायते** उत्पन्न होता है (और) **असौ** यह **वीर-रौद्रयोः रसयोः** वीर और रौद्र रसों में (प्रयुक्त होता है)।

लघुत्रयाद्विरामान्ताद्विचारः करुणे भवेत्।

३४२ क-ख. (अ०) **विरामान्तात् लघुत्रयात्** विरामान्त तीन लघु से **विचारः** विचार **करुणे भवेत्** करुण में होता है।

कुन्दो विराममध्येन लत्रयेणाद्भुते भवेत्॥ ३४२॥

३४२ ग-घ. (अ०) **विराममध्येन ल-त्रयेण** मध्य में विराम वाले तीन लघु से **कुन्दः** कुन्द **अद्भुते भवेत्** अद्भुत (रस) में होता है।

ते शृङ्गारेऽपि चत्वारो गीयन्ते लक्ष्मवेदिभिः।

३४३ क-ख. (अ०) **लक्ष्मवेदिभिः** लक्षण जानने वालों के द्वारा **ते चत्वारः** वे चारों **शृङ्गारे अपि गीयन्ते** शृंगार में भी गाए जाते हैं।

(सर०) ये ४ भेद तालभेद पर ही आधारित हैं।

(४. निःसारुकः)

बद्धो निःसारुतालेन प्रोक्तो निःसारुको बुधैः॥ ३४३॥

वैकुन्दानन्दकान्ताराः समरो वाञ्छितस्तथा।
विशालश्चेति स प्रोक्तः षड्विधः सूरिशार्ङ्गिणा॥ ३४४॥

४-निःसारुकः

३४३ ग-३४४. (अ०) **बुधैः** बुद्धिमानों के द्वारा **निःसारुकः** 'निःसारुक' (प्रबन्ध) **निःसारुतालेन बद्धः** निःसारु ताल से बद्ध **प्रोक्तं** कहा गया (है)। **सः** वह **सूरिशार्ङ्गिणा** विद्वान् शार्ङ्गदेव के द्वारा **वैकुन्द-आनन्द-कान्ताराः** वैकुन्द, आनन्द और कान्तार, **समरः वाञ्छितः** समर, वांछित तथा **विशालः च इति** और विशाल भी—यों **षड्विधः प्रोक्तः** ६ प्रकार से कहा गया (है)।

(सर०) इस प्रबन्ध के ६ भेद निःसारु ताल के ६ प्रकारों पर आधारित हैं।

द्रुतद्वंद्वाल्लघुद्वंद्वाद्वैकुन्दो मङ्गले भवेत्।

३४५ क-ख. (अ०) **द्रुतद्वन्द्वात् लघुद्वन्द्वात्** द्रुत के जोड़े के बाद लघु के जोड़े से **वैकुन्दः** वैकुन्द **मङ्गले भवेत्** मंगल में होता है।

कुर्यादानन्दमानन्दे विरामान्तद्रुतद्वयात्॥ ३४५॥

३४५ ग-घ. (अ०) **आनन्दम्** आनन्द (नामक निःसारु भेद) **विरामान्तद्रुतद्वयात्** विराम से अन्त होने वाले दो द्रुत से **आनन्दे कुर्यात्** आनन्द में करना चाहिये।

कान्तारो लगुरुभ्यां स्याद्विप्रलम्भे स गीयते।

३४६ क-ख. (अ०) **कान्तारः** कान्तार **ल-गुरुभ्यां स्यात्** लघु, गुरु से होता है। **सः** वह **विप्रलम्भे गीयते** विप्रलम्भ (-शृंगार) में गाया जाता है।

लघुद्वयाद्विरामान्तात् समरो वीरगोचरः॥ ३४६॥

३४६ ग-घ. (अ०) **विरामान्तात् लघुद्वयात्** विरामान्त लघु के जोड़े से **समरः** समर **वीरगोचरः** वीर (रस) में दिखाई देने वाला (है)।

लघुत्रयाद् द्रुतद्वन्द्वाद्वाञ्छितो वाञ्छितप्रदः।

३४७ क-ख. (अ०) **लघुत्रयात्** तीन लघुओं के बाद **द्रुतद्वन्द्वात्** द्रुत के जोड़े से **वाञ्छितः** वांछित **वाञ्छितप्रदः** वांछित (फल) देने वाला (होता है)।

संभोगे स्याद्विशालाख्यो लाद् द्रुतद्वयतो लघोः॥ ३४७॥

३४७ ग-घ. (अ०) **लात्** लघु के बाद **द्रुतद्वयतः** दो द्रुत से (तथा) **लघोः** लघु से **विशाल-आख्यः** विशाल नामक (भेद) **संभोगे स्यात्** संभोग(-शृंगार) में होता है।

(सर०) मंगल में ताल का स्वरूप ००।।, आनन्द में ०δ, कान्तार में ।ऽ, समर में ।ſ, वांछित में ।।।०० और विशाल में ।००। होता है। सिंह० ने उल्लेख किया है कि आनन्द में प्रयुक्त ताल लोक में रूपक और समर का ताल जम्बुनाल कहलाता है।

(५. अड्डतालः)

अड्डतालेन तालेनाड्डतालः परिकीर्तितः।
निःशङ्कशङ्कशीलाश्च चारोऽथ मकरन्दकः॥ ३४८॥

विजयश्चेति स प्रोक्तः षोढा सोढलसूनुना।

५-अड्डताल

३४८-३४९ ख. (अ०) अड्डतालेन तालेन अड्डताल (नामक) ताल से अड्डतालः अड्डताल (प्रबन्ध) परिकीर्तितः भली प्रकार से जाना गया (है)। सः वह सोढलसूनुना सोढल के पुत्र (शार्ङ्गदेव) के द्वारा निःशङ्क-शङ्क-शीलाः च निःशंक, शंक और शील, चारः चार, अथ इसके बाद मकरन्दकः मकरन्द विजयः च और विजय इति षोढा प्रोक्तः यों ६ प्रकार से कहा गया (है)।

(सर०) 'अड्डताल' प्रबन्ध के भेदों में निःशंक, शंक नामों से ऐसा लगता है कि संभवतः ये भेद स्वयं ग्रन्थकार द्वारा रचित हैं।

लगुरुभ्यां द्रुतद्वन्द्वान्निःशङ्को विस्मये भवेत्॥ ३४९॥

३४९ ग-घ. (अ०) ल-गुरुभ्यां लघु और गुरु के बाद द्रुतद्वन्द्वात् द्रुत के जोड़े से निःशङ्कः निःशंक (नामक भेद) विस्मये भवेत् विस्मय में होता है।

लघोर्द्रुतद्वयेन स्याच्छङ्कः शृङ्गारवीरयोः।

३५० क-ख. (अ०) लघोः लघु के बाद द्रुतद्वयेन दो द्रुतों से शङ्कः शंक शृङ्गारवीरयोः शृंगार और वीर (रसों) में (होता है)।

शान्ते शीलो विरामान्तद्रुतद्वन्द्वाल्लघोर्भवेत्॥ ३५०॥

३५० ग-घ. (अ०) विरामान्तद्रुतद्वन्द्वात् विरामान्त द्रुत के जोड़े के बाद लघोः लघु से शीलः शील शान्ते भवेत् शान्त (रस) में होता है।

द्रुतद्वन्द्वाल्लगाभ्यां स्याच्चारो वीरेऽद्भुते रसे।

३५१ क-ख. (अ०) द्रुतद्वन्द्वात् द्रुत के जोड़े के बाद ल-गाभ्यां लघु और गुरु से वीरे अद्भुते रसे वीर (और) अद्भुत रस में चारः स्यात् चार होता है।

शृङ्गारे मकरन्दः स्याद् द्रुतद्वन्द्वात् परे गुरौ॥ ३५१॥

३५१ ग-घ. (अ०) द्रुतद्वन्द्वात् परे द्रुत के जोड़े के परे (अर्थात् बाद) गुरौ गुरु होने पर शृङ्गारे शृंगार (रस) में मकरन्दः स्यात् मकरन्द होता है।

विजयाख्यो रसे वीरे द्रुताभ्यां लघुना भवेत्।

३५२ क-ख. (अ०) विजय-आख्यः विजय नामक वीरे रसे वीर रस में द्रुताभ्यां दो द्रुतों के बाद लघुना भवेत् लघु से होता है।

(सर०) उक्त लक्षणों के अनुसार निःशंक में ताल का स्वरूप ।ऽ००, शंक में ।००, शील में ०δ।, चार में ००।ऽ, मकरन्द में ००ऽ और विजय में ००। है।

(६. रासकः)

रासको रासतालेन स चतुर्धा निरूपितः॥ ३५२॥
विनोदो वरदो नन्दः कम्बुजश्चेति शार्ङ्गिणा।

(६-रासक)

३५२ ग-३५३ ख. (अ०) **रासकः** 'रासक' **रासतालेन** रासताल से (होता है और) **सः** वह **शार्ङ्गिणा** शार्ङ्गदेव के द्वारा **विनोदः वरदः नन्दः कम्बुजः च** विनोद, वरद, नन्द और कम्बुज इति यों **चतुर्धा निरूपितः** चार प्रकार से निरूपित हुआ (है)।

आलापान्तध्रुवपदाद्विनोदः कौतुके भवेत्॥ ३५३॥

३५३ ग-घ. (अ०) **विनोदः** विनोद **आलाप-अन्त-ध्रुवपदात्** आलाप से अन्त होने वाले ध्रुव (खण्ड) के पद से **कौतुके** जिज्ञासा में **भवेत्** होता है।

ध्रुवादालापमध्यात्तु वरदो देवतास्तुतौ।

३५४ क-ख. (अ०) **आलापमध्यात् ध्रुवात् तु** मध्य में आलाप वाले ध्रुव से तो **देवतास्तुतौ** देवता की स्तुति में **वरदः** वरद (होता है)।

खण्डमाद्यं द्विखण्डस्योद्ग्राहस्यालापनिर्मितम्॥ ३५४॥
यस्यासौ रासको नन्दो गीयतेऽभ्युदयप्रदः।

३५४ ग-३५५ ख. (अ०) **यस्य** जिसके **द्विखण्डस्य उद्ग्राहस्य** दो खण्ड वाले उद्ग्राह का **आद्यं खण्डं** पहला खण्ड **आलापनिर्मितं गीयते** आलाप से बना हुआ गाया जाता है **असौ** यह **नन्दः रासकः** नन्द (नामक) रासक **अभ्युदयप्रदः** अभ्युदय (कल्याण) देने वाला (होता है)।

आलापादेर्ध्रुवपदात् कम्बुजः करुणे भवेत्॥ ३५५॥

३५५ ग-घ. (अ०) **आलाप-आदेः ध्रुवपदात्** शुरू में आलाप वाले ध्रुवपद से (युक्त) **कम्बुजः** कम्बुज **करुणे भवेत्** करुण (रस) में होता है।

सर्वेषु रासकेष्वेषु द्विखण्डोद्ग्राहकल्पना।

३५६ क-ख. (अ०) **एषु सर्वेषु रासकेषु** इन सभी रासकों में **द्विखण्ड-उद्ग्राह-कल्पना** उद्ग्राह की संरचना दो खण्ड वाली (होती है)।

(सर०) पूर्वोक्त सालगसूड प्रबन्धों के भेद विभिन्न तालों अथवा तालविशेष के विभिन्न प्रकारों पर आधारित थे किन्तु रासक प्रबन्ध में किस भाग में आलाप का संनिवेश है इस आधार पर भेदों की रचना होती है। ध्रुव के पद के अन्त में आलाप होने पर विनोद, मध्य में आलाप होने पर वरद, आरम्भ में आलाप हो तो कम्बुज और उद्ग्राह के पहले खण्ड में आलाप होने पर नन्द नामक भेद होता है।

(७. एकताली)

एकताली भवेत्तालेनैकताल्या त्रिधा च सा॥ ३५६॥
रमा च चन्द्रिका तद्वद्विपुलेति,

७-एकताली

३५६ ग-३५७ ख. (अ०) **एकताली** एकताली (प्रबन्ध) **एकताल्या तालेन** एकताली ताल से **भवेत्** होती है **सा च** और वह **रमा चन्द्रिका च** रमा और चन्द्रिका **तद्वत्** उसी प्रकार **विपुला इति** विपुला यों **त्रिधा** तीन प्रकार से (होती है)।

अथ लक्षणम्।
सकृद्द्वियतिरुद्ग्राहोऽन्तरस्त्वक्षरनिर्मितः॥ ३५७॥

यस्यामसौ रमा सा च गातृश्रोत्रोः श्रिये भवेत्।

३५७ ख-३५८ ख. (अ०) **अथ** अब **लक्षणं** (इनके) लक्षण (कहते हैं)। **यस्यां** जिसमें **द्वियतिः उद्ग्राहः** दो खण्ड वाला उद्ग्राह **सकृत्** एक बार (गाया जाय), **अन्तरः तु** अन्तर तो **अक्षरनिर्मितः** अक्षरों से बना हुआ हो **असौ रमा** यह रमा (है) **सा च** और वह **गातृश्रोत्रोः** गायक और श्रोता की **श्रिये भवेत्** श्री (समृद्धि) के लिये होती है।

(सर०) रमा के लक्षण की पहली पंक्ति का पाठ आड्यार संस्क० और कल्लि० की टीका में 'सकृद्विरतिरुद्ग्राहः' है। लेकिन इसके अनुसार अर्थ की संगति नहीं बैठती। सिंह० की टीका के आधार पर यहाँ **सकृद्द्वियतिरुद्ग्राहः** पाठ बनता है जिसके द्वारा सही अर्थ प्राप्त हो जाता है। अन्वय में इसी पाठ को लेकर अर्थ दिया है।

कल्लि० ने **अन्तरः तु** में 'तु' के प्रयोग के लिये कहा कि इस शब्द के प्रयोग से यह समझना चाहिये कि उद्ग्राह आलापरचित होता है। इस प्रकार उद्ग्राह में आलाप होता है और अन्तर यानी ध्रुव पदरचित होता है। अन्तर का अर्थ कल्लि० ने ध्रुवखण्ड किया है जिस पर चर्चा मण्ठ प्रबन्ध की व्याख्या में की जा चुकी है।

उद्ग्राहो द्विदलो यस्यामालापरचितोऽन्तरः॥ ३५८॥

घनद्रुता घनयतिर्घनानुप्रासयोगिनी।
चन्द्रिका सैकताली स्याद् भूरिसौभाग्यदायिनी॥ ३५९॥

३५८ ग-३५९. (अ०) **यस्यां** जिसमें **द्विदलः उद्ग्राहः** दो दल (खण्ड) वाला उद्ग्राह (और) **आलापरचितः अन्तरः** आलाप से रचित अन्तर (हो), **घन-द्रुता** अत्यन्त द्रुत लय वाली, **घन-यतिः** घनी यति वाली (और) **घन-अनुप्रास-योगिनी** घने अनुप्रासों के योग वाली (हो) **सा** वह **चन्द्रिका एकताली** चन्द्रिका एकताली **भूरिसौभाग्यदायिनी स्यात्** बहुत सौभाग्य देने वाली होती है।

(सर०) **घनद्रुता** का अर्थ अनेक द्रुतों से युक्त भी हो सकता है लेकिन उसका परिणाम भी लय की द्रुतता ही होगा। **घनयति** अर्थात् अनेक यतियों से युक्त समझ सकते हैं। यति का अर्थ छन्दशास्त्र के अनुसार विराम होता है। प्रबन्ध के सन्दर्भ में इस शब्द का प्रयोग खण्ड-विभाजन के लिये पहले भी हुआ है। रमा में उद्ग्राह को दो खण्ड वाला कहा जा चुका है इसलिये यति को इन खण्डों के अन्तर्गत विराम के आधार पर बनने वाले खण्ड के रूप में समझा जा सकता है। घने अनुप्रास को अनेक अनुप्रासों से युक्त समझ सकते हैं।

आलापपूर्वकोद्ग्राहा विपुलानन्ददायिनी।

३६० क-ख. (अ०) **आनन्ददायिनी विपुला** आनन्द देने वाली विपुला **आलापपूर्वक-उद्ग्राहा** आलाप जिसके शुरू में हो ऐसे उद्ग्राह वाली (होती है)।

(आलापलक्षणम्)

आलापो गमकालप्तिरक्षरैर्वर्जिता मता॥ ३६०॥
सैव प्रयोगशब्देन शार्ङ्गदेवेन कीर्तिता।

'आलाप' का लक्षण

३६० ग-३६१ ख. (अ०) **अक्षरैः वर्जिता** अक्षरों से रहित **गमकालप्तिः** गमक वाली आलप्ति **आलापः मता** आलाप मानी गई (है)। **स एव** वही **शार्ङ्गदेवेन** शार्ङ्गदेव के द्वारा **प्रयोगशब्देन** 'प्रयोग' शब्द से **कीर्तिता** जानी गई (है)।

(सर०) प्रबन्धलक्षणों में ग्रन्थकार ने 'प्रयोग' शब्द विशेष अर्थ में प्रयुक्त किया है इसलिये पारिभाषिक है। उसी का यहाँ लक्षण दिया है। 'प्रयोग' शब्द से अक्षररहित गमकालप्ति समझनी चाहिये। यहाँ 'अक्षर' शब्द से सार्थक शब्द का निषेध तो होता ही है लेकिन मुख्यतः व्यंजन ध्वनियाँ समझनी चाहियें क्योंकि व्यंजनध्वनि के बिना सिर्फ़ स्वरध्वनि (अ, इ आदि) से ध्वनि का मुख से उच्चारण संभव है लेकिन अ, इ आदि भी न हों तो ध्वनि उच्चरित ही नहीं होती। आज की भाषा में 'प्रयोग' को आकार में गमकों से युक्त आलाप कह सकते हैं।

प्रबन्धों के लक्षण-निरूपण में सबसे पहले एला आदि ८ शुद्ध सूडों का और अन्त में ७ सालगसूडों का निरूपण किया गया है। शुद्ध और सालग संज्ञाओं की सार्थकता की चर्चा यथास्थान की जा चुकी है। यहाँ इतना कहना ज़रूरी है कि सूड शब्द सबसे पहले मानसोल्लास में आया है जो १२वीं सदी का ग्रन्थ है (मान०, ४/१६/५४८, ५५०)। इसमें एला आदि को सूड कहा है लेकिन उनमें वर्तनी नहीं है इसलिये ७ ही सूड हैं। वहाँ न तो 'सालग' शब्द है और न सालग सूड वर्ग के ध्रुव आदि प्रबन्धों का ही उल्लेख है। इस आधार पर यह लगता है कि सूड संज्ञा तो मान० से पहले से रही है लेकिन ध्रुव आदि प्रबन्ध और उनके लिये सालगसूड संज्ञा का प्रयोग मान० और सं० र० के बीच के काल में आया या शास्त्र में प्रतिष्ठित हुआ है।

यहाँ सालगसूड प्रबन्धों का और उसके साथ ही सारे प्रबन्धों के लक्षणों का निरूपण भी पूरा होता है। अब ग्रन्थकार ने रूपक यानी प्रबन्धों की उत्तम, मध्यम, अधम श्रेणियाँ और उनके सामान्य लक्षण अगले श्लोकों में दिये हैं।

(त्रिविध रूपकप्रबन्धाः)

(१. उत्तमरूपकम्)

गुणान्वितं दोषहीनं नवं रूपकमुत्तमम्॥ ३६१॥

त्रिविध रूपकप्रबन्ध

१—उत्तम रूपक

३६१ ग-घ. (अ०) **गुण-अन्वितं** गुणों से अन्वित (और) **दोषहीनं** दोषरहित **नवं रूपकं** नया रूपक **उत्तमम्** उत्तम (होता है)।

(सर०) ग्रन्थकार ने रूपक अर्थात् प्रबन्ध के तीन वर्ग बनाए हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। सबसे पहले उत्तम प्रबन्ध के लक्षण कहे हैं। इसी अध्याय के अन्त में ग्रन्थकार गीत यानी प्रबन्ध के दस गुणों और दस दोषों का निरूपण करने वाले हैं। उन गुणों से युक्त और दोषों से रहित नया प्रबन्ध उत्तम माना गया है। नए प्रबन्ध से आशय उसी तरह के पूर्व प्रचलित प्रबन्धों की अपेक्षा नयापन यानी उनसे भिन्न होना है। यह भिन्नता किस तरह आती है यह अगले श्लोक में बताया जा रहा है।

ग्रन्थकार ने प्रबन्धों के लक्षणों का निरूपण करने के बाद उनमें नवीनता लाने के उपाय बताते हुए उनके उत्तम आदि भेद कहे। लेकिन यहाँ प्रबन्ध के बजाय रूपक शब्द का प्रयोग किया है, प्रबन्ध का नहीं। इसका कारण तो स्पष्ट नहीं है लेकिन

यह ज़रूर स्पष्ट है कि यहाँ प्रबन्ध के ही उत्तम आदि प्रकार कहे गए हैं। यह स्मरणीय है कि इस अध्याय के शुरू में वस्तु और रूपक शब्द प्रबन्ध के पर्याय ही कहे गए हैं।

रागेण धातुमातुभ्यां तथा ताललयौडुवैः।
नूतनै रूपकं नूत्नं,

३६२ क-ग. (अ०) **रागेण** राग से, **धातु-मातुभ्यां** धातु (स्वरयोजना) और मातु (पदरचना) तथा **नूतनैः ताल-लय-औडुवैः** तथा नई ताल, लय और औडुव के द्वारा **रूपकं नूत्नं** रूपक नया (होता है)।

(सर०) किसी प्रबन्ध में नयापन कितनी तरह से लाया जा सकता है उसके हेतु यहाँ बताए हैं। राग, धातु, मातु, ताल, लय और औडुव—इन ६ में, उसी प्रकार के पूर्वप्रबन्धों की तुलना में, नवीनता आने पर प्रबन्ध नया हो जाता है। इनके लक्षण अगली कारिकाओं में हैं।

'रागः स्थायान्तरैर्नवः॥ ३६२॥

धातू रागांशभेदेन मातोस्तु नवता भवेत्।
प्रतिपाद्यविशेषेण रसालङ्कारभेदतः॥ ३६३॥

३६२ घ-३६३. (अ०) **स्थाय-अन्तरैः** अन्य स्थायों (के प्रयोग) से **रागः नवः** राग नया (होता है)। **रागांशभेदेन** रागांश के भेद से **धातुः** धातु (गेय, नवीन होती है)। **मातोः तु नवता** मातु की तो नवीनता **प्रतिपाद्यविशेषेण** प्रतिपाद्य (विषय) की विशेषता से (और) **रस-अलंकारभेदतः** रस (तथा) अलंकार के भेद से (होती है)।

(सर०) अन्य स्थायों के प्रयोग का यह तात्पर्य है कि पूर्वरचित प्रबन्ध में जिन स्थायों का प्रयोग किया गया हो उनसे भिन्न स्थायों के प्रयोग से राग का स्वरूप नया हो जाता है। इसी प्रकार रागांश बदल देने से धातु नवीन हो जाती है। रागांश नामक स्थायविशेष का लक्षण प्रकीर्णकाध्याय में दिया जा चुका है। पूर्वप्रयुक्त रागांश के स्थान पर अन्य रागांश का प्रयोग करने से धातु यानी गेय में नवीनता उत्पन्न होती है।

गीत का विषय या शृंगारादि रस और उपमादि अलंकार बदल देने से मातु में नयापन आता है।

लयग्रहविशेषेण तालानां नवता मता।
तालविश्रामतोऽन्येन विश्रामेण लयो नवः॥ ३६४॥

३६४. (अ०) **लय-ग्रहविशेषेण** लय (और) ग्रह की विशेषता से **तालानां नवता मता** तालों की नवीनता मानी गई (है)। **तालविश्रामतः** ताल के (अपने) विश्राम से **अन्येन विश्रामेण** अन्य विश्राम के द्वारा **लयः नवः** लय नई (होती है)।

(सर०) ताल की द्रुत, मध्य आदि लय बदल देने से अथवा सम, अतीत आदि ग्रह (उठान के प्रकार) को बदल देने से ताल में नवीनता आ जाती है। तालाध्याय में कल्लि० यह स्पष्ट करने वाले हैं कि स्वरूप एकसा होते हुए भी तालों में लयभेद के कारण भिन्नता आने से वे भिन्न हो जाते हैं।

लय की नवीनता के हेतु की व्याख्या करते हुए कल्लि० ने कहा कि ताल के जिस अवयव पर विश्राम होता है अर्थात् ताल समाप्त होता है उससे भिन्न किसी अवयव पर समाप्त किया जाय अथवा विपर्यय से विश्राम किया जाय तो लय नई हो जाती है।

छन्दोगणग्रहन्यासप्रबन्धावयवैर्नवैः।
औडुवापरपर्याया रचना नवतां व्रजेत्॥ ३६५॥

३६५. (अ०) **नवैः छन्दः-गण-ग्रह-न्यास-प्रबन्ध-अवयवैः** नये छन्द, गण, ग्रह, न्यास और प्रबन्ध के अवयव से **औडुव-अपरपर्याया रचना** 'औडुव' (—इस) अन्य पर्याय वाली रचना **नवतां** नवीनता को **व्रजेत्** जाती है (अर्थात् नवीनता को प्राप्त होती है)।

(सर०) प्रबन्ध में नवीनता लाने वाले हेतुओं में अन्तिम 'औडुव' का लक्षण यहाँ दिया है। 'औडुव' शब्द ५ की संख्या का सूचक है इसलिये कारिका में ५ तत्त्व कहे हैं और उन पाँच में नयेपन से बनने वाली रचना अर्थात् गीत या प्रबन्ध का पर्याय 'औडुव' कहा है।

गण संभवतः पूर्वोक्त वर्णगण या मात्रिकगणों को सूचित करता है। ग्रह और न्यास शब्द राग के संदर्भ में आरम्भक और समाप्ति करने वाले स्वर के सूचक हैं लेकिन प्रबन्ध के संदर्भ में जिस खण्ड से प्रबन्ध आरंभ हो उसके लिये ग्रह का और प्रबन्ध की समाप्ति जिस खण्ड से हो उसके लिये न्यास शब्द का प्रयोग ग्रन्थकार ने प्रबन्ध लक्षणों में कई बार किया है। इसलिये यहाँ ग्रह और न्यास प्रबन्ध के संदर्भ में प्रयुक्त हुए समझने चाहियें।

उद्ग्राह आदि धातुएँ प्रबन्ध का अवयव कही गई हैं, उन्हीं से संभवतः तात्पर्य है। इस प्रकार छन्द, गण, ग्रह, न्यास और प्रबन्ध के अवयवरूप धातु में से किसी में परिवर्तन कर देने से प्रबन्ध में नवीनता आ जाती है।

रूपकं त्रिविधं ज्ञेयं परिवृत्तं पदान्तरम्।
भञ्जनीसंश्रितं चेति शार्ङ्गदेवेन कीर्तितम्॥ ३६६॥

खल्लोत्तारानुसारौ तु रूपकेष्वधमौ मतौ।

३६६-३६७ ख. (अ०) **रूपकं** रूपक **परिवृत्तं पदान्तरं भञ्जनीसंश्रितं च** परिवृत्त, पदान्तर और भंजनीसंश्रित (यों) **त्रिविधं ज्ञेयं** तीन प्रकार का जाना गया (है) **इति** ऐसा **शार्ङ्गदेवेन कीर्तितं** शार्ङ्गदेव के द्वारा कहा गया (है)। **खल्लोत्तार-अनुसारौ तु** खल्लोत्तार और अनुसार तो **रूपकेषु** रूपकों में **अधमौ मतौ** अधम माने गए (हैं)।

(सर०) कल्लि० ने परिवृत्त आदि तीन को मध्यम रूपक के भेद कहा है। लेकिन सिंह० ने इन्हें उत्तम रूपक के भेद बताया है। ग्रन्थकार द्वारा **खल्लोत्तारानुसारौ तु** में **तु** का प्रयोग करके इन्हें अधम रूपक कहना यह सूचित करता है कि परिवृत्त आदि तीन अधम से भिन्न हैं।

(२. मध्यमरूपकम्)

(परिवृत्तरूपकम्)

रूपकं पूर्वसंसिद्धं स्वस्थानेन नवेन यत्॥ ३६७॥
यद्वा रागेण तालेन कृतं तत् परिवृत्तकम्।

२—मध्यम रूपक

(१) परिवृत्त रूपक

३६७ ग-३६८ ख. (अ०) **यत्** जो **पूर्वसंसिद्धं रूपकं** पहले से सम्यक् रूप से सिद्ध रूपक **स्व-स्थानेन नवेन** अपने स्वस्थान से नये (स्वस्थान से) **यत् वा** अथवा **रागेण तालेन** (नए) राग (या नए) ताल से **कृतं** किया गया (बनाया गया हो) **तत्** वह **परिवृत्तकं** 'परिवृत्त' (रूपक होता है)।

यत्र स्थायिनि यत्स्थानं रूपकं रचितं पुरा॥ ३६८॥

तत् स्वस्थानं तदन्यत्त्वं स्थाय्यन्यपरिवर्तनम्।
परिवृत्तं रागतालपरिवर्तभवं स्फुटम्॥ ३६९॥

३६८ ग-३६९. (अ०) **यत्र स्थायिनि** जिस स्थायी स्वर में पुरा पहले से **यत् स्थानं** जिस स्थान वाला (अर्थात् जिस स्थान में) **रूपकं रचितं** रूपक रचा गया (हो) **तत्** वह (उसका) **स्व-स्थानं** 'स्वस्थान' (होता है)। **तत् अन्यत्त्वम्** उस (स्वस्थान) का अन्यत्व (भिन्नता) **स्थायि-अन्य-परिवर्तनं** स्थायी से अन्य का परिवर्तन (करने से होता है)। **परिवृत्तं** परिवृत्त **राग-ताल-परिवर्तभवं** राग और ताल के परिवर्तन से होने वाला (है, यह) **स्फुटं** स्पष्ट (है)।

(सर०) परिवृत्त शब्द का अर्थ घूमा हुआ, मोड़ा हुआ होता है। सन्दर्भप्राप्त अर्थ है कुछ लौटा हुआ अर्थात् कुछ पुराना रखते हुए नयापन लाना। परिवृत्त रूपक स्वस्थान, राग या ताल में कुछ परिवर्तन से बनता है। स्वस्थान शब्द यहाँ विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। आलप्ति के अन्तर्गत स्वस्थान आलप्ति के चार खण्डों का सूचक है। यहाँ ठीक यही अर्थ नहीं है। जिस स्थायी स्वर के आधार पर जिस स्थान में प्रबन्ध बना हो उसे यहाँ स्वस्थान कहा है। स्थायी को बदले बिना स्थान भिन्न करके स्वस्थान बदलना यहाँ अभिप्रेत है। अथवा स्थायी स्वर वही रखते हुए राग या ताल में परिवर्तन करने से परिवृत्त रूपक होता है।

श्लोक ३६९ में आनन्दाश्रम संस्क० का पाठ 'स्थाय्यैव' है। सिंह० की व्याख्या के आधार पर आड्यार संस्क० में संपादक द्वारा रखा गया पाठ 'स्थाय्यन्य' उचित लगता है। उसी के अनुसार ऊपर अनुवाद किया गया है। सिंह० की व्याख्या में इस अंश का पाठ कुछ अस्तव्यस्त है जिसे संपादक ने संशोधन करके पादटिप्पणी में दिया है। लेकिन सिंह० की व्याख्या का आशय वही है जो यहाँ व्याख्या में दिया गया है।

यद्यपि ग्रन्थकार ने परिवृत्त, पद्मान्तर और भंजनीसंश्रित भेदों को स्पष्टतः मध्यम रूपक नहीं कहा है लेकिन इनके लक्षणों से यह स्पष्ट है कि गुणों से युक्त और दोषों से रहित पूर्वोक्त रूपक उत्तम होता है और उनमें से कुछ में परिवर्तन करने से बनने वाले परिवृत्त आदि तीन मध्यम रूपक हैं।

(पदान्तररूपकम्)

तस्मिन्नेव रसे रागे ताले च रचितं भवेत्।
मातुस्थायविचित्रत्वाद् गुणोदारं पदान्तरम्॥ ३७०॥

(२) पदान्तर रूपक

३७०. (अ०) **तस्मिन् एव** उसी **रसे रागे ताले च रचितं** रस, राग और ताल में रचित (किन्तु) **मातु-स्थायविचित्रत्वात्** मातु और स्थायों में भिन्नता से **गुण-उदारं** गुणों से संपन्न **पदान्तरं भवेत्** 'पदान्तर' होता है।

(सर०) 'पदान्तर' का शब्दार्थ है जिसमें पद भिन्न हो। तदनुसार पदान्तर रूपक में मातु (शब्दरचना) भिन्न होती है।

(भञ्जनीसंश्रितरूपकम्)

केनापि रूपकं गीतं निजादन्येन धातुना।
येन तस्यान्यधातुत्वाद्भञ्जनीसंश्रितं मतम्॥ ३७१॥

(३) भंजनीसंश्रित रूपक

३७१. (अ०) **येन** यदि **रूपकं** (कोई) रूपक **निजात् अन्येन** अपनी (धातु) से भिन्न **केन-अपि-धातुना** किसी भी धातु के द्वारा **गीतं** गाया गया (हो) **तस्य** उस (रूपक) का **अन्यधातुत्वात्** अन्य धातुत्व होने (अर्थात् धातु बदल जाने) से (वह) **भञ्जनीसंश्रितं मतं** 'भंजनीसंश्रित' (रूपक) माना गया (है)।

(सर०) कोई प्रबन्ध जिस धातु में रचित हो उससे भिन्न धातु में उसे गाया जाय तो धातु का भंजन होने से भंजनीसंश्रित संज्ञा सार्थक है। आलप्ति का एक भेद भी भंजनी कहा गया है जिसमें विविधता और विस्तार की दृष्टि से उसके कुछ शब्दों या पूरे रूपक के शब्दों को भिन्न-भिन्न प्रकार से गाया जाता है। इस प्रकार रूपक के किसी अंश के स्थाय या पूरे रूपक का भंजन होने के कारण वह भंजनी आलप्ति कही गई है। रूपक के किसी छोटे अवयव यानी स्थाय के भंजन से स्थायभंजनी और पूरे रूपक की धातु का भंजन होने पर रूपकभंजनी होती है। पूर्वरचित न होकर तत्काल मूल धातु बदलने के कारण इसे आलप्ति भेद कहा गया है। लेकिन पद के शब्द और उनका मान मूल रूपक जैसा ही रहने के कारण ऐसी अनुभूति होती है कि मूल गीत का ही विस्तार किया जा रहा है। लेकिन भंजनीसंश्रित रूपक में गीत की मूल रचना ही बदल जाती है। यों भंजनी रूपकालप्ति भी स्वर, पद और तालबद्ध स्वरूप में रूपक ही है। भंजनीसंश्रित रूपक के लक्षण में पदों का मान बदलने या न बदलने के बारे में कोई उल्लेख नहीं है। इस प्रकार दोनों के लक्षणों में विवक्षा का ही भेद मालूम होता है। रूपक-भंजनी आलप्ति में धातु के तत्काल स्फूर्त नए-नए रूपों को प्रमुखता दी गई है और भंजनीसंश्रित रूपक में पूर्वरचित धातु के अन्यत्व को।

(३. अधमरूपकम्)

(खल्लोत्ताररूपकम्)

प्राग्रूपकगता स्थायाः स्थानान्तरगता यदि।
मात्वन्तरेण रच्यन्ते खल्लोत्तारस्तदा भवेत्॥ ३७२॥

३—अधम रूपक

(१) खल्लोत्तार रूपक

३७२. (अ०) **यदि** अगर **प्राक् रूपकगताः स्थायाः** पहले वाले रूपकगत (अर्थात् रूपक में रहे हुए) स्थाय **स्थान-अन्तरगता** अन्य स्थान में गए हुए (हों अर्थात् चले जायँ और) **मातु-अन्तरेण** अन्य मातु से **रच्यन्ते** रचे जाते हैं **तदा** तब **खल्लोत्तारः भवेत्** 'खल्लोत्तार' (रूपक) होता है।

(सर०) पूर्वरचित रूपक की शब्दरचना बदल दी जाय और स्थाय वही रहें लेकिन उनका स्थान बदल दिया जाय तो खल्लोत्तार रूपक होता है। इसमें स्थाय या धातु में कोई नवीनता न होने से इसे अधम कोटि में रखा गया है।

(अनुसाररूपकम्)

रागे ताले च तत्रैव किञ्चिद्धातुविलक्षणः।
मात्वन्तरेणानुसारो गुणोत्कर्षविवर्जितः॥ ३७३॥

(२) अनुसार रूपक

३७३. (अ०) **तत्र एव** उसी **रागे ताले च** राग और ताल में **किञ्चित् धातुविलक्षणः** धातु कुछ नई (हो), **मातु-अन्तरेण** नई मातु से (किन्तु) **गुण-उत्कर्षविवर्जितः** गुण के उत्कर्ष से रहित **अनुसारः** 'अनुसार' (रूपक होता है)।

(सर०) रूपक जिस राग और ताल में पहले से रचित हो उसमें परिवर्तन न किया जाय लेकिन धातु कुछ नई हो और मातु भिन्न हो तो 'अनुसार' रूपक होता है।

पदान्तर और अनुसार के लक्षण एक से हैं लेकिन पदान्तर में गुणों का उत्कर्ष कहा गया है जब कि अनुसार गुणोत्कर्षरहित है।

उत्तम रूपक गुणों से युक्त, दोषों से रहित और राग, धातु, मातु, ताल, लय, छन्द, गण, ग्रह न्यास और अवयव—हर दृष्टि से नवीन होता है। इन्हीं गुणों में से केवल राग, ताल, स्थान, धातु अथवा पद में नयापन आने से मध्यम रूपक हो जाता है। जिस रूपक में सिर्फ़ मातु ही नई हो और स्थाय या धातु नई न हो उसे अधम रूपक कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि शब्दरचना की अपेक्षा गेय का उत्कर्ष प्रबन्ध के उत्तम होने की कसौटी है। प्रबन्धों के रचयिता—वाग्गेयकार—के प्रसंग में भी मातु की अपेक्षा धातु को ज़्यादा महत्त्व दिया गया है यह अधम वाग्गेयकार के लक्षण से स्पष्ट है।

(गीतगुणाः)

व्यक्तं पूर्णं प्रसन्नं च सुकुमारमलङ्कृतम्।
समं सुरक्तं श्लक्ष्णं च विकृष्टं मधुरं तथा॥ ३७४॥

दशैते स्युर्गुणा गीते,

गीत के गुण

३७४-३७५ क. (अ०) व्यक्त, पूर्ण, प्रसन्न, सुकुमार, अलंकृत, सम, सुरक्त, श्लक्ष्ण, विकृष्ट और मधुर **गीते** गीत में **एते** ये **दश गुणाः स्युः** दस गुण होते हैं।

(सर०) ना० शा० के ध्रुवाध्याय के अन्त में दिए गए गान के गुणों से सं० र० के इन गीतगुणों की बहुत समानता है (ना० शा०, ३२/४३५)। ना० शा० में गायक और गायिका दोनों के गुण हैं हालाँकि गान को स्त्रियों का और पाठ्य को पुरुषों का धर्म माना गया है। इसलिये गायिकाओं के गुणों का ज़्यादा विस्तार है। वहाँ गान नाट्य का अंग है इसलिये ये गुण सिर्फ़ कण्ठ से संबन्धित न होकर रूप-संबन्धी भी हैं। उसमें गान के दोष भी अलग से कहे गए हैं। ना० शि० में गान के जो दस गुण हैं वही सं० र० में भी हैं और लक्षण भी लगभग वैसे ही हैं (ना० शि०, ३/१-१०)।

तत्र व्यक्तं स्फुटैः स्वरैः।
प्रकृतिप्रत्ययैश्चोक्तं छन्दोराग पदैः,

३७५ ख-घ. (अ०) **तत्र** उनमें से **स्फुटैः स्वरैः प्रकृति-प्रत्ययैः च** स्पष्टता के साथ स्वरों (अ, इ आदि) और प्रकृति (शब्द की धातु) प्रत्यय से युक्त, **छन्दः रागपदैः** पदों, छन्द और राग से **व्यक्तम् उक्तं** 'व्यक्त' कहा गया (है)।

स्वरैः॥ ३७५॥
पूर्णं पूर्णाङ्गगमकं,

३७५ घ-३७६ क. (अ०) **स्वरैः** स्वरों से **पूर्णाङ्ग-गमकं** पूर्ण अंगों (और) गमक वाला **पूर्णं** 'पूर्ण' (होता है)।

प्रसन्नं प्रकटार्थकम्।

३७६ ख. (अ०) **प्रसन्नं** 'प्रसन्न' **प्रकट-अर्थकं** प्रकट अर्थ वाला है।

सुकुमारं कण्ठभवं,

३७६ ग. (अ०) **कण्ठभवं सुकुमारं** कंठ में होने वाला (कोमलता से युक्त) 'सुकुमार' (कहलाता है)।

त्रिस्थानोत्थमलङ्कृतम्॥ ३७६॥

३७६ घ. (अ०) त्रिस्थान-उत्थं तीन स्थानों से उठने वाला (अर्थात् त्रिस्थानव्याप्ति वाला) **अलङ्कृतम्** 'अलंकृत' (होता है)।

समवर्णलयस्थानं सममित्यभिधीयते।

३७७ क-ख. (अ०) समवर्ण-लय-स्थानं वर्ण (अक्षर), लय (और) स्थान की समानता वाला **समम् इति अभिधीयते** 'सम' इस प्रकार कहा जाता है।

सुरक्तं वल्लकीवंशकण्ठध्वन्येकतायुतम्॥ ३७७॥

३७७ ग-घ. (अ०) वल्लकी-वंश-कण्ठध्वनि-एकतायुतं वीणा, वंश (और) कण्ठध्वनि की एकरूपता से युक्त **'सुरक्तं'** सुरक्त (होता है)।

नीचोच्चद्रुतमध्यादौ श्लक्ष्णत्वे श्लक्ष्णमुच्यते।

३७८ क-ख. (अ०) नीच-उच्च-द्रुत-मध्य-आदौ नीचे, ऊँचे (स्थानों और) द्रुत, मध्य आदि (लयों) में **श्लक्ष्णत्वे** (स्वरों की) श्लक्ष्णता (ध्वनि टूटे बिना तेल की धारा की तरह एकसी बनी रहने) से **श्लक्ष्णम् उच्यते** 'श्लक्ष्ण' कहा जाता है।

उच्चैरुच्चारणादुक्तं विकृष्टं भरतादिभिः॥ ३७८॥

३७८ ग-घ. (अ०) भरत-आदिभिः भरत आदि (पूर्वाचार्यों) के द्वारा **उच्चैः उच्चारणात्** ऊँचे (स्वरों के सम्यक्) उच्चारण से **विकृष्टम् उक्तं** 'विकृष्ट' कहा गया है।

मधुरं धुर्यलावण्यपूर्णं जनमनोहरम्।

३७९ क-ख. (अ०) जनमनः-हरं लोगों के चित्त का हरण करने वाला **धुर्य-लावण्यपूर्णं** लावण्य की धुरी (अर्थात् पराकाष्ठा) से पूर्ण **मधुरं** 'मधुर' होता है।

(सर०) ये गुण तीन पक्षों से संबद्ध हैं—१. गीत की रचना, २. गीत की प्रस्तुति अथवा गाने के ढंग और ३. कण्ठ। व्यक्त का रचना और प्रस्तुति से; पूर्ण, अलंकृत, सम और सुरक्त का प्रस्तुति से; सुकुमार, विकृष्ट और मधुर का कण्ठ से; श्लक्ष्ण का कण्ठ और प्रस्तुति से तथा प्रसन्न का रचना से संबन्ध है। इनके अवलोकन से यह प्रकट होता है कि गीत के गुणों में व्यापक तत्त्वों का निरूपण हुआ है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि प्रकीर्णकाध्याय में ग्रन्थकार 'शब्द' के निरूपण में कण्ठ के गुण अलग से कह चुके है तथा उनमें और यहाँ कहे गए कुछ गीतगुणों में समानता भी है फिर प्रबन्ध के गुणों में कण्ठसंबन्धी गुण के निरूपण की क्या ज़रूरत है? किन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि यहाँ प्रबन्ध के गुण कहने के बजाय गीत के गुण कहा है। गीत शब्द यहाँ सिर्फ़ प्रबन्ध के अर्थ में सीमित न मान कर संपूर्ण स्वरपक्ष के व्यापक रूप में प्रयुक्त समझें तो इस दृष्टि से गीत के गुणों में कंठगुणों को सम्मिलित करना उचित है कि प्रबन्ध या आलप्ति में से किसी भी रूप में स्वरोत्पत्ति मूलतः कण्ठ से होती है और प्रबन्ध को गाते समय कंठगुण का उस पर प्रभाव ज़रूर पड़ता है।

(गीतदोषाः)

दुष्टं लोकेन शास्त्रेण श्रुतिकालविरोधि च॥ ३७९॥

पुनरुक्तं कलाबाह्यं गतक्रममपार्थकम्।
ग्राम्यं संदिग्धमित्येवं दशधा गीतदुष्टता॥ ३८०॥

गीत के दोष

३७९ ग-३८०. (अ०) **लोकेन शास्त्रेण दुष्टं** लोक (अथवा) शास्त्र (की दृष्टि) से दोषयुक्त, **श्रुति-कालविरोधि च** और श्रुति (अथवा) काल का विरोधी, **पुनरुक्तं** बार-बार (उसी बात को) कहा हुआ, **कलाबाह्यं** (ताल की) कला से बाहर, **गतक्रमं** क्रम जिसमें से चला गया हो (अर्थात् उचित क्रम से रहित), **अप-अर्थकं** ग़लत अर्थ देने वाला (या निरर्थक), **ग्राम्यं** ग्राम्य (अभद्र या अश्लील कथन और) **संदिग्धं** संदेह से युक्त—**इति** एवं इस प्रकार ये **दशधा** दस प्रकार से **गीतदुष्टता** गीत की दोषयुक्तता (होती है अर्थात् गीत दोषयुक्त होता है)।

(सर०) लोक से तात्पर्य लक्ष्य अथवा प्रचलन से है। श्रुतिविरोधी यानी स्वर की श्रुतियों का सही प्रयोग न होना और कालविरोधी अर्थात् निषिद्ध समय पर गान है। कलाबाह्य से आशय ताल की कलाओं से बाहर हो जाना है। क्रमरहित को अव्यवस्थित कहा जा सकता है। अपार्थक यानी ग़लत अर्थ निकलना या अर्थहीन होना है।

इनमें से अधिकांश दोष प्रस्तुति-संबन्धी हैं; जैसे—श्रुतिकाल-विरोधी, पुनरुक्त, कलाबाह्य, गतक्रम, संदिग्ध। रचनासंबन्धी अपार्थक और ग्राम्य हैं। इनमें कण्ठ के दोष नहीं हैं। संभवतः गुणों का न होना दोष समझा गया है, यद्यपि दोष का रहना और गुणों का न होना समान नहीं कहे जा सकते। गुणों से रहित गीत तो सहनीय हो सकता है लेकिन दोषयुक्त गीत ख़राब ही कहा जायगा। इसके विपरीत दोष न हों और गुणों से युक्त हो तो गीत उत्तम होगा।

गीत के गुण-दोषों के निरूपण का अभिप्राय यह है कि पद और गेय के रचयिता वाग्गेयकार, जो उसका प्रस्तोता यानी गायक भी होता है, के कर्म का एकसाथ समावेश हो। फिर भी गायक के गुण-दोष अलग से कहे क्योंकि गायक स्वयं वाग्गेयकार न हो, यह भी संभव है। दूसरे, गीत या रचना को गायक ही प्रस्तुत करता है और वही गीत के वांछित प्रभाव को उत्पन्न करने का साधक है; इसलिये ऐसे गुण-दोष छूट न जायँ जो मुख्यतः गायक से ही संबन्धित हों।

एला प्रबन्ध के दस प्राणों पर दृष्टि डालें तो यह स्पष्ट होगा कि वे भी ऊपर कहे गए तीन पक्षों से ही संबन्धित हैं। प्राणों और गीत के गुणों को मिला कर देखने पर उनमें कुछ समानता भी दृष्टिगोचर होती है, जैसे—प्रसन्न नामक प्राण और व्यक्त, पूर्ण तथा प्रसन्न गुणों में, दोनों के सुकुमार में, दीप्त नामक प्राण और विकृष्ट गुण में, कान्तसंज्ञक प्राण और मधुर गुण में।

श्रीमदनवद्यविद्याविनोदश्रीकरणाधिपतिश्रीसोढलदेवनन्दननिःशङ्कश्रीशार्ङ्गदेवविरचिते

संगीतरत्नाकरे प्रबन्धाध्यायश्चतुर्थः

श्रीमत् अनवद्य-विद्याविनोद श्रीकरणाधिपति श्रीसोढलदेवनन्दन

निःशङ्क श्रीशार्ङ्गदेव द्वारा रचित संगीतरत्नाकर का

चौथा प्रबन्धाध्याय समाप्त

*

संदर्भग्रन्थ-सूची

१. औमापतम्, संपा०, के० वासुदेव शास्त्री, गवर्नमेण्ट ओरियण्टल सीरीज़, मद्रास, १९५७

२. काव्यप्रकाश, मम्मट, आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, १९६०

३. गवेषणा पत्रिका, संगीत रिसर्च अकादमी, कलकत्ता

४. छन्दोऽनुशासन, जयकीर्ति, } जयदामन् में प्रकाशित, संपा, ह०दा० वेलणकर, हरितोष समिति, बंबई

५. छन्दोऽनुशासन, हेमचन्द्र }

६. ध्वन्यालोक, आनन्दवर्धन, संपा०, आ० जगन्नाथ पाठक, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, द्वितीय संस्क०, १९७९

७. नाट्यशास्त्र, भरत, (१) अभि० सहित, ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट; बड़ौदा,

प्रथम खण्ड, संपा०, ऍम्० रामकृष्ण कवि, १९५६

चतुर्थ खण्ड, संपा०, ऍम् रामकृष्ण कवि और जे० ऍस्० पदे, १९६४

८. नारदीयशिक्षा, नारद, व्याख्या शोभाकर भट्ट, पीताम्बर पीठ, संस्कृत पाठशाला, दतिया, १९६४

९. बृहद्देशी, द्वितीय खण्ड, मतंग, संपा०, प्रेमलता शर्मा, इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्र, दिल्ली, १९९२

१०. भरत का संगीत सिद्धांत, कैलासचन्द्र देव बृहस्पति, प्रकाशन विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनऊ, १९५९

११. भरतभाष्य, नान्यदेव, गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मैन्युस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी, मद्रास की प्रतिलिपि

१२. भारतीय संगीत में ताल और रूप-विधान, सुभद्रा चौधरी, कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर, १९८४

१३. मन्त्र और मातृकाओं का रहस्य, डॉ० शिवशंकर शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९८६

१४. मानसोल्लास, भाग-३, सोमेश्वर, संपा०, जी०के० श्रीगोंडेकर, ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, १९६१

१५. वृत्तरत्नाकर, भट्टकेदार, जयदामन् में प्रकाशित, संपा०, ह०दा० वेलणकर, हरितोष समिति, बंबई

१६. संगीतरत्नाकर, शार्ङ्गदेव, (१) संपा०, मंगेश रामकृष्ण तेलंग, आनन्दाश्रम, पुणे, १९४२

(२) आड्यार लाइब्रेरी, मद्रास, संपा०, ऍस् सुब्रह्मण्य शास्त्री,

प्रथम खण्ड, १९४३

तृतीय खण्ड, १९५१

चतुर्थ खण्ड, १९५३

(३) प्रथम खण्ड, मराठी अनुवाद, डा० ग० हा० तारळेकर, महाराष्ट्र राज्य साहित्य संस्कृति मण्डल, सचिवालय, मुंबई, १९७५

(४) प्रथम खण्ड, हिन्दी अनुवाद और व्याख्या, सुभद्रा चौधरी, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, २०००

१७. संगीतराज, कुम्भकर्ण, संपा०, प्रेमलता शर्मा, काशी विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९६३

१८. संगीत-संचयन, सुभद्रा चौधरी, कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर,

१९. संगीतसमयसार, पार्श्वदेव, संपा०, आचार्य बृहस्पति, श्री कुन्द कुन्द भारती, दिल्ली, १९७७

२०. Indian Music Journal, No.4 and 5, Delhi Sangit Samaj, Delhi.

२१. Musical Forms In Saṅgītaratnākara, N. Ramanathan, Sampradāya, Chennai, 1999.

२२. Sangitasampradayapradarshini of subbarama Dikshitar, Part I, Tamil Seript, Ed., S. Ramanath & B. Rajan Ayyar, The music Academy, Madras, 1961.

२३. Śārṅgadeva And His Saṅgītaratnākara, Ed., Prem Lata Sharma, Sangeet Natak Akademi, Delhi, 1998.

२४. Suḷādis and Ugābhogas of Karnātaka Music, R. Sathyanarayana, Varalakshmi Academy, Mysore.

२५. The Journal of the Madras Music Academy, Part I-IV, 1964.

२६. Time Measure and Compositional Types in Indian Music, Subhadra Chaudhary, Aditya Prakashan, Delhi, 1997.

२७. Transformation As creation, vol.I, Mukund Lath, Aditya Prakashan, Delhi, 1998.

सुभद्रा चौधरी (जन्म १९३६)। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के संगीतशास्त्र (म्यूज़िकॉलोजी) विभाग से ऍम्. म्यूज़िकॉलोजी, पीएँच्. डी.। पं. ओंकारनाथ ठाकुर से ५ साल तक गायन की शिक्षा।

संगीत की ३० से ज़्यादा विचारगोष्ठियों में शोधपत्र प्रस्तुत। यू. जी. सी. के अनुदान से 'भारतीय संगीत में अनुसन्धान की समस्याएँ और क्षेत्र' विषय पर विचारगोष्ठी का आयोजन। कई विश्वविद्यालयों के संगीत विभागों में और संगीत शिक्षकों के रिफ़्रेशर कोर्सेज़ में व्याख्यान। हॉलेण्ड में सप्रयोग व्याख्यान। रेडियो से वार्ता और फ़ीचर का प्रसारण।

इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ के संगीतशास्त्र विभाग की पूर्व अध्यक्षा। सेवानिवृत्त प्रौफ़ेसर व विभागाध्यक्षा, संगीतशास्त्र विभाग, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय।

८ पुस्तकों का प्रकाशन। प्रमुख—१. भारतीय संगीत में ताल और रूप-विधान, २. संगीत-संचयन, ३. Time Measure and Compositional Types in Indian Music, ४. संगीतरत्नाकर, प्रथम खण्ड, 'सरस्वती' व्याख्यासहित हिन्दी अनुवाद। ५. संगीतरत्नाकर, द्वितीय खण्ड, 'सरस्वती' व्याख्यासहित हिन्दी अनुवाद। संपादित—१. भारतीय संगीत में अनुसन्धान की समस्याएँ और क्षेत्र, २,३. पं. ओंकारनाथ ठाकुर की 'प्रणवभारती' और 'संगीताञ्जलि, भाग ५' का द्वितीय संस्करणों के लिये संशोधन व संपादन।

ISBN : 81-7487-265-X
RS. 750 /-

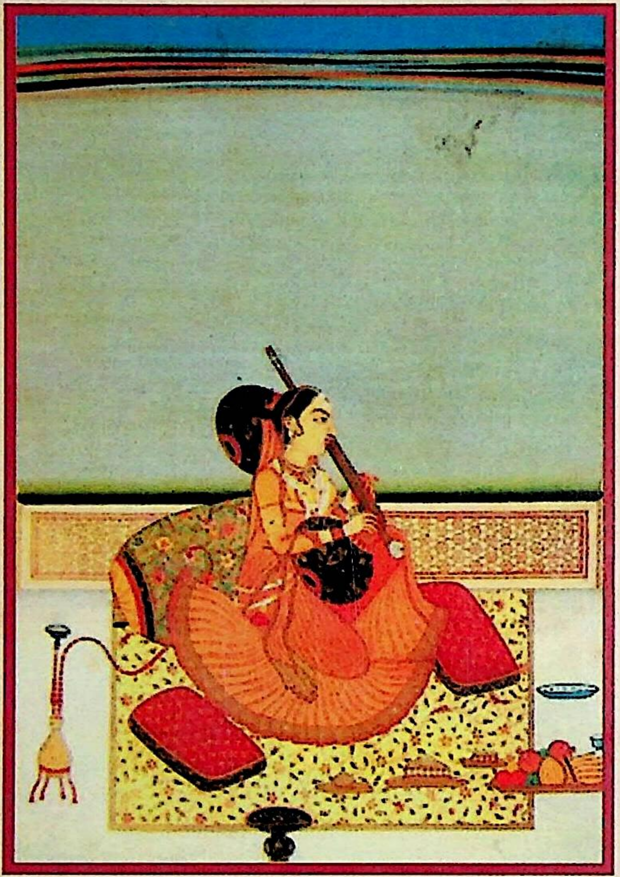

राधा पब्लिकेशन्स

4378/4B, अंसारी रोड, दरिया गंज, नई दिल्ली- 110002
फोन : 3261839, 3254306